दिल्ली सल्तनत

(1200 से 1526 ई० तक)

डॉ० आर. के. सक्सेना
इतिहास विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक : पंचशील प्रकाशन
फिल्म कालोनी, जयपुर-302003

संस्करण : 1986

मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपये

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स,
फिल्म कालोनी, जयपुर-302003

DELHI SULTANAT Rs. 125.00
By : Dr. R K. Saxena

दो शब्द

दिल्ली सल्तनत का अध्ययन स्वयं में ही रुचिकर है, क्योंकि दो विभिन्न और विरोधी सभ्यताएँ एक दूसरे के निकट आते हुए न केवल संघर्ष-रत होती हैं अपितु स्वाभाविक रूप से एक दूसरे को प्रभावित करने की चेष्टा करती हैं। फिर ये अध्ययन देश-काल के बहुआयामी परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से किया जावे तो शासन के उद्देश्य और उसका क्रियात्मक रूप अधिक स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत रचना इसी आधार पर इल्बरियों के उदय से अफगानों के अन्त तक के भारतीय इतिहास का अध्ययन है जो मौलिक ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। राजनीतिक इतिहास के अतिरिक्त इसमें सल्तनतकालीन संस्थाओं, सुल्तानों और अमीरों तथा सुल्तानों और उलेमा-वर्ग के बीच होने वाले संघर्षों के अतिरिक्त जनसाधारण और शासक वर्ग के बीच सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्तिम अध्याय में समकालीन इतिहासकारों के ग्रन्थों की समीक्षा की गई है जो साधारण पुस्तकों में नहीं मिल पाती है।

लेखक आशा करता है कि विद्यार्थी और अध्यापक वर्ग के लिये यह पुस्तक लाभकारी सिद्ध होगी। इस रचना को मैं अपने स्वर्गीय पुत्र संजय व पत्नी सरोज की स्मृति में सादर समर्पित करता हूं।

लेखक, श्री मूलचन्द गुप्ता, प्रोप्राईटर, पंचशील प्रकाशन, जयपुर का आभारी है जिन्होंने अत्यधिक शीघ्रता से इसे प्रकाशित कर पाठकों तक पहुँचाया।

आर. के. सक्सेना

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

अध्याय—1

तुर्की सत्ता की स्थापना

दिल्ली सल्तनत—1206 से 1526 ई. तक के युग को 'सल्तनत काल', 'दिल्ली सुल्तनत' अथवा साधारण भाषा में 'दिल्ली सल्तनत' की संज्ञा से पुकारा जाता है। 1206 ई से 1290 ई के बीच दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों को गुलाम-वंश से जाना जाता है परन्तु न तो वे एक वंश के थे और न ही सुल्तान बनने के समय इनमें से कोई गुलाम ही था। ये सभी सुल्तान तुर्क थे और तीन अलग-अलग वंशों से सम्बन्धित थे। कुतुबुद्दीन ऐबक ने 'कुतबी' शमशुद्दीन इल्तुतमिश ने 'शम्शी' व गयासुद्दीन बलबन ने 'बलबनी' राजवंश की स्थापना की थी। इसी तरह इन विभिन्न वंशों के संस्थापक सुल्तान बनने के पहले अपनी दासता से मुक्ति पा चुके थे। इस आधार पर इनको गुलाम-वंश के सुल्तान कहना न्यायसंगत नहीं होगा। प्रो. हबीब व निजामी[1] इस वंश के शासकों को 'प्रारम्भिक तुर्क सुल्तान' कहते हैं, जो अधिक उचित है।

1290 ई. में खल्जियों ने दिल्ली सल्तनत पर अपना अधिकार जमा लिया और तीस साल तक (1290-1320 ई.) प्रभुसत्ता का उपयोग किया। जलालुद्दीन फीरोज खल्जी व अलाउद्दीन खल्जी इस वंश के प्रमुख शासक हुए। यद्यपि यह ठीक है कि खल्जी-वंश का कार्यकाल सल्तनत काल में सबसे न्यून रहा परन्तु उपलब्धियों के आधार पर वे किसी प्रकार से भी पीछे नहीं थे। साम्राज्य-विस्तार और प्रशासनिक व्यवस्था के क्षेत्र में जो प्रयोग इस वंश के राज्यकाल में हुए उनका इससे पहले कहीं नामो-निशान तक नहीं था।

1320 ई. में गयासुद्दीन ने अन्तिम खल्जी सुल्तान, नासिरुद्दीन खुसरो शाह को अपदस्थ कर तुगलक-वंश की स्थापना की जिसने 1414 ई. तक शासन किया। गयासुद्दीन का शासन-काल यद्यपि केवल पांच वर्ष (1320-25 ई.) ही रहा, परन्तु उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलक व फीरोज तुगलक ने 1325ई. से 1388ई. तक शासन किया और अपनी योजनाओं और शासन-आदर्श से अनेक श्लाघनीय परिवर्तन किये। फीरोज के निर्बल उत्तराधिकारियों का लाभ उठाकर सैय्यद-वंश ने शासन की बागडोर अपने हाथ ले ली।

1. हबीब व निजामी, दिल्ली सल्तनत, (संपादित), पृ. 168

1414 ई से 1451 ई तक दिल्ली सल्तनत का अधिकारी सैय्यद-वंश रहा, जिसका पहला सुल्तान खिज्र खां बना। सैयदों का राज्यकाल तुगलकों व लोदियों के बीच एक अवश्यम्भावी परन्तु अत्यन्त बेजोड़ कड़ी के रूप में ही रहा जिसकी उपलब्धियां नगण्य थीं।

1451 ई मे बहलोल लोदी ने, लोदी वंश की स्थापना की जो 1526 ई मे मुगल सम्राट बाबर द्वारा मुगल-वंश की स्थापना तक बना रहा। इसमे तीन सुल्तान बहलोल लोदी (1451-89 ई), सिकन्दर लोदी (1489-1518 ई) व इब्राहीम लोदी ने (1518-26 ई.) शासन किया। अन्तिम लोदी सुल्तान पानीपत के प्रथम युद्ध (1526 ई) मे न केवल बाबर द्वारा पराजित हुआ अपितु युद्ध-क्षेत्र मे मारा गया। इस प्रकार से तराइन के युद्ध (1192 ई) म प्रत्यक्ष रूप से जन्मित दिल्ली सल्तनत पानीपत के युद्ध के आघात को सहन न कर सकी और उसकी तथा उसके अन्तिम शासक की अन्त्येष्टि इस ऐतिहासिक मैदान मे सम्पन्न हुई। यद्यपि शेरशाह ने 1540 ई मे इसे पुनर्जीवित किया और 16 वर्ष का (1556 ई) तक जीवन-दान दिया परन्तु व्यावहारिक रूप में 1200 ई से 1526 ई तक का काल ही सल्तनत-युग के कार्य-कलापों का युग माना जाता है।

तुर्क-आक्रमण के समय भारत की दशा

महमूद गजनवी के भारत पर अन्तिम आक्रमण (1027 ई.) तथा मुहम्मद गोरी के प्रथम आक्रमण (1175 ई) के बीच यद्यपि 148 वर्ष का अन्तर था परन्तु इसके बाद भी गजनवी और गोरी वंश के समय के भारत मे कोई अन्तर नहीं आ पाया था। विभिन्न राजवंशों म प्राकृतिक प्रक्रिया के कारण परिवर्तन अवश्य हुए, परन्तु केवल वंश अथवा नाम-परिवर्तन के अतिरिक्त कोई ऐसी बात न थी जिससे यह निर्णय लिया जा सके कि भारतीयों ने महमूद के आक्रमणों से कुछ सीखा है।

राजनीतिक दशा—महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों म बटा हुआ था और ऐसा अनुभव होता था कि यह देश विभिन्न राष्ट्रों का एक समूह-मात्र था जो प्रत्येक दृष्टि से स्वतन्त्र थे। यद्यपि इनमे से अनेक राज्य न केवल क्षेत्र और साधनों के आधार पर महमूद के राज्य से विशाल और सम्पन्न थे परन्तु आपसी प्रतिस्पर्द्धा और फूट इतना घर कर चुकी थी कि भारतीय राज्यों के लिए यह सम्भव न हो सका कि आपातकाल में भी एकजुट होकर शत्रु के विरुद्ध सगठित मोर्चा ले सकें। इसी कारण वे महमूद और मुहम्मद गोरी की सेनाओं के सामने धराशायी होते चले गये।

गजनवी के समय उत्तरी भारत मे मुल्तान और सिंध मे दो मुसलमानी ज्य थे। स्वाभाविक रूप मे इनकी सहानुभूति गजनवी और मध्य एशिया के मी राज्यों से थी और उन्हीं से वे प्रेरणा लेते थे। व्यावहारिक रूप मे ये स्वतन्त्र

राज्य थे और प्रचलित मान्यताओं के अनुसार खलीफा को अपना अधीक्षक मानते थे।

शेष भारत में हिन्दूशाही-राज्य चिनाब नदी से हिन्दूकुश तक फैले हुए थे, जिनमें जयपाल का राज्य तुलनात्मक आधार पर अधिक महत्वपूर्ण था। गजनी से आने वाले आक्रमणकारियों का पहला प्रहार उसे ही झेलना पड़ा। 986-87 ई. में उसने सुबुक्तगीन का साहस और सफलता से विरोध किया, परन्तु केवल चार वर्ष बाद ही 991 ई. में उसे उसके हाथों पराजय का मुँह देखना पड़ा। 1001 ई. में उसने पेशावर के निकट महमूद गजनवी की सेनाओं का डटकर मुकाबला किया परन्तु पराजित होने के साथ ही साथ अपने अनेक सम्बन्धियों के साथ बन्दी बना लिया गया। महमूद ने उसकी राजधानी वैहन्द को लूटा और जयपाल ने महमूद से संधि करना ही उचित समझा। जयपाल इन लगातार पराजयों से इतना अधिक अपमानित अनुभव करता था कि उसने स्वयं को चिता में जला दिया। जयपाल के बाद आनन्दपाल त्रिलोचनपाल आदि के समय में यह संघर्ष बराबर चलता रहा, परन्तु महमूद गजनवी के पैर यहाँ पर जमते चले गये।

पंजाब के उत्तर में कश्मीर का राज्य था जहाँ शासन की सत्ता रानी दिद्दा के हाथों में थी। वह यद्यपि योग्य स्त्री थी परन्तु आंतरिक विद्रोहों के कारण शक्तिहीन थी। 1003 ई में उसकी मृत्यु के बाद शासन सूत्र लोहर-वंश के हाथों में चला गया। इस प्रकार गजनवी के आक्रमण के समय कश्मीर में लोहर-वंश सत्तारूढ़ था। इस वंश के शासक हर्ष (1089 -से 1101 ई.) ने अपनी अदूरदर्शिता व अधार्मिक कार्यों से राज्य भर में अशान्ति का वातावरण पैदा कर दिया था।

कन्नौज में प्रतिहार-वंश सत्तारूढ़ था। वत्सराज और नागभट्ट के समय में यह राज्य उत्तरी-भारत में शक्तिशाली राज्य था, परन्तु पड़ौसी राज्यों में निरन्तर संघर्ष और दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश से वैमनस्य के कारण महमूद गजनवी के समय तक इसकी शक्ति छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और इसके अधीन प्रदेश इसका लाभ उठा कर स्वतन्त्र से हो गये थे जिनमें बुन्देलखण्ड के चन्देल, मालवा के परमार व गुजरात के चालुक्य प्रमुख थे। रही-सही शक्ति मुस्लिम आक्रमणकारियों के आक्रमणों की मार से अपनी अन्तिम सांसें गिन रही थी। इसलिए राज्यपाल, महमूद गजनवी के आक्रमण (1019 ई.) का मुकाबला करने में असफल रहा।

बंगाल में पाल-वंश का राज्य था जिसका कन्नौज के साथ निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। महमूद के आक्रमण के समय यहां का शासक महीपाल प्रथम था, परन्तु वह अत्यन्त दुर्बल शासक था। सुदूरपूर्व में स्थिति होने के कारण बंगाल अपनी इस दुर्बलता को छिपा सका और क्योंकि तुर्क उत्तरी-भारत की राजनीति में ही अधिक फंसे रहे इसलिए वे आरम्भ में बंगाल की ओर ध्यान न दे सके। गुजरात, मालवा व बुन्देलखंड के भी स्वतंत्र राज्य थे जिनमें बुन्देलखंड का राज्य दूसरे राज्यों की अपेक्षा

शासक जयचन्द की पुत्री संयोगिता से बलपूर्वक विवाह करके उसने उसके रोष को अर्जित किया। पृथ्वीराज अपने समय का महान् साहसी योद्धा था और उसने अन्य राजपूत राज्यों को आतंकित कर रखा था, परन्तु चारणों के यश-बखान के कारण वह अत्यधिक दम्भी हो गया था। इसी कारण मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय उसे अकेले ही लड़ना पड़ा। राजपूत शासक मेंढ पर बैठे हुए प्रतिद्वन्द्वियों के बीच निर्णयात्मक युद्ध को देखते रहे और अपनी पराजय की बारी की प्रतीक्षा करते रहे। कन्नौज का गहड़वार-वंश उत्तरी भारत में अत्यधिक विस्तृत था और मुहम्मद गोरी के आक्रमण के समय जयचन्द वहाँ का शासक था। पृथ्वीराज से अपने अपमान का बदला चुकाने के प्रति वह जागरुक था और उस पर ऐसा आरोप लगाया जाता है कि स्वयं कमजोर होने के कारण वह असहाय था, इसीलिये उसने मुहम्मद गोरी को आक्रमण के लिए आमन्त्रित किया था। समकालीन इतिहास में हमें कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिल पाया है जिससे इसकी सत्यता को आँका जावे। सम्भावना यही है कि चारणों ने पृथ्वीराज के गौरव को बढ़ाने के लिए ही ऐसी दन्त-कथायें जोड़ दी हों। **मजूमदार व रायचौधरी**[1] के इस विचार में अधिक सत्यता मालूम पड़ती है कि "इस देश पर किया गया आक्रमण पंजाब के गजनवियों पर मुहम्मद की पूर्ण विजय का प्रायः एक अनिवार्य परिणाम था।"

उत्तरी भारत में इन दो-राजपूत-राज्यों के अतिरिक्त बुन्देलखण्ड का चन्देल वंश व कलचुरी का चेदि वंश भी थे, परन्तु इनकी शक्ति नगण्य थी। उत्तरी भारत से हटकर पूर्व में बंगाल का सेन वंश महत्वपूर्ण था। सेन वंश के शासक लक्ष्मण सेन ने उत्तरी बंगाल के कुछ प्रदेशों को छोड़कर समस्त बंगाल और बिहार पर अपना अधिकार जमा लिया था। उत्तरी भारत की तरह ही पूर्व के राज्यों में आपसी फूट थी जिसके कारण उनमें निरन्तर संघर्ष चलता रहता था। दक्षिण भारत पहले की ही तरह उत्तरी भारत की राजनीति से पूर्णतया उदासीन था।

इन राजपूत राज्यों में एक विशिष्ट सामंत व्यवस्था थी। प्रत्येक राज्य जागीरों में बंटा हुआ था जो उसी वंश के विभिन्न सदस्यों के अधिकार में थीं। डा. अलतेकर ने इन सामंतों के दायित्व का वर्णन करते हुये लिखा है कि इन्हें (1) शिलालेखों में शासक के नाम का उल्लेख करना पड़ता था, (2) परम्परागत शाही समारोहों में अपनी उपस्थिति दिखानी पड़ती थी, (3) नियमित रूप से खराज भेजना पड़ता था, (4) त्योहारों व पुत्रियों के विवाह पर उपयुक्त उपहार देने पड़ते थे और (5) एक निश्चित संख्या से सैनिक सेवा करनी पड़ती थी। परन्तु दिल्ली-सल्तनत के समय तक इन दायित्वों की अवहेलना की जाने लगी थी जबकि सामंतों द्वारा निजी सेना की भर्ती, नये कर लगाने और वसूल करने के अधिकार मिल जाने के कारण विकेन्द्रीयकरण अधिक प्रबल हो

1. मजूमदार, रायचौधरी व दत्त, मध्यकालीन भारत, भाग II पृ. 2

चुका था। राज्य के उच्च पदों पर इस जमींदार-अभिजात वर्ग के एकाधिकार के कारण राजा की शक्ति क्षीण हो गई थी और उसी अनुपात में इनकी शक्ति में बढ़ोतरी हुई थी।

प्रो हबीब व निज़ामी ने लिखा है कि[1] 'जब तुर्क भारतीय रंगमंच पर उपस्थित हुये तो सामंतशाही अपने अंतिम और अपने इतिहास के सबसे चिंताजनक चरणों में पदार्पण कर चुकी थी तथा उपसामन्तशाही के व्यवहार को आधार मिल गया था। अधिकांश बड़े बड़े सामन्तों के अपने अधीनस्थ जमींदार थे जैसे सामंत, ठाकुर रावत इत्यादि जिनके अधीन उनके अपने सामन्त थे।' यह राजनीतिक प्रणाली उस युग के सामाजिक संगठन के दोष प्रतिबिंबित करती थी।

सामाजिक दशा—सामाजिक आधार पर भारत की दशा अच्छी न थी। हिन्दुओं में समन्वयकारी प्रवृत्ति का अन्त हो चुका था और विदेशियों को आत्मसात करने की उनकी क्षमता समाप्त हो चुकी थी। जातियों और उपजातियों का बनना, स्त्रियों की निरन्तर गिरती हुई स्थिति और अनैतिक आचार-विचार इसके प्रमाण थे। परम्परागत चार वर्णों के अतिरिक्त समाज का एक बहुत बड़ाभाग ऐसा था जिसे 'अन्त्यज' कहते थे। इनमें चमार, जुलाहे, मछेरे, टोकरी बुनने वाले, शिकारी आदि आते थे, जिनका समाज के किसी वर्ण में स्थान न था। इनमें भी नीचे हादी डोम, चाण्डाल, बधाटू आदि लोगों का वर्ग था जो मोटे रूप से सफाई का काम करते थे, परन्तु इन्हें नगरों और गांवों से बाहर ही रहना पड़ता था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि ये वर्ग सम्मानित जीवन व्यतीत करने के लिये इस्लाम स्वीकार करने के प्रति आकर्षित हों, क्योंकि कम से कम सैद्धान्तिक आधार पर इस्लाम में समानता अवश्य थी।

वैश्यों और शूद्रों के साथ भी इसी प्रकार का अपमानजनक व्यवहार किया जाता था। इनको धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने का अधिकार न था और यदि अलबरूनी के कथन पर विश्वास किया जावे तो ऐसे अपराधियों की ज़बान काट ली जाती थी। इस जातिप्रथा के कारण समाज का जो विभाजन हुआ उसमें ऊँच-नीच की भावना अत्यधिक प्रबल थी, जिसने समाज में विष घोल दिया था और इसी कारण एक-दूसरे के प्रति घृणा की भावना ने अपना घर बना लिया था।

अलबरूनी के विवरण से स्पष्ट है कि समाज में अनेक ऐसी कुरीतियां विद्यमान थीं जो अन्दर ही अन्दर से खोखले समाज को और अधिक खोखला करने में जुटी थीं। बाल-विवाह, बहु विवाह एक साधारण सी बात थी जो प्रत्येक वर्ग में विद्यमान थी, परन्तु इसके साथ ही पति की मृत्यु के बाद जो स्त्री की दुर्दशा होती थी उसमें उच्च वर्गों में सती प्रथा प्रचलित हो गई थी। विधवा-विवाह समाज के उच्च वर्ग में अकालानित था। समाज के जिस वर्ग को नेतृत्व देना था यदि वही इस प्रकार

1. हबीब व निज़ामी, वही, पृ. 118

की कुप्रथाओं का शिकार हो तो समाज की स्थिति का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है।

गोरी के आक्रमण के समय सामाजिक अवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आ पाया था। परिवर्तन के नाम पर स्थिति बद से बदतर हो गई थी और जटिलता ने अधिक घर कर लिया था। भारतीय समाज में मुसलमानों के तत्व ने समावेश कर लिया था और ये छोटी-छोटी बस्तियों में देश के विभिन्न भागों में बस चुके थे। बनारस और बहराइच में इनके मकबरे और मस्जिद थे जिससे सहज ही में ये अनुमान लगाया जा सकता है कि ये शान्तिपूर्ण ढंग से इन प्रदेशों में रह रहे थे। यद्यपि यह ठीक है कि राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से इनका कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इनकी सद्भावना और सहानुभूति अपने सहधर्मी आक्रमणकारियों के साथ थी, जो भौतिक व मनोवैज्ञानिक रूप में उनके लिये सहायक थी।

आर्थिक दशा—आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था और उसकी ये अत्यधिक सम्पन्नता ही उसके लिये अभिशाप सिद्ध हुई। विस्तृत व उपजाऊ भू-प्रदेश तथा विदेशों से उन्नत व्यापार इसके प्रमुख कारण थे। तटीय नगरों की समृद्धि का कारण कुछ तो विदेशी वणिकों का यहां बस जाना था, जो पश्चिमी एशिया के अधिकांश व्यापार पर नियन्त्रण रखते थे। अरब व्यापारियों ने चीन और दक्षिणपूर्वी एशिया से व्यापार भी बढ़ा दिया था। भारत के पश्चिमी तट पर स्थित बन्दरगाह जैसे-कैम्बे, थाना, सुपारा आदि विदेशी व्यापार के प्रमुख केन्द्र थे। आर्थिक सम्पन्नता के इस विशाल सागर में आर्थिक असमानता व्याप्त थी क्योंकि देश की सम्पत्ति कुछ विशेष वर्गों के हाथों में थी, अथवा मंदिरों में संचित थी। मन्दिरों की संचित सम्पत्ति का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि नगरकोट के मन्दिर से महमूद गजनवी को इतनी अधिक लूट मिली थी कि जितने भी ऊँट उसे मिल सके उन सब पर इस लूट को लाद दिया गया और फिर भी लूट बची रह गयी, जिसे पदाधिकारियों ने आपस में बांट लिया। लूट में 30 गज लम्बा व 15 गज चौड़ा श्वेत चांदी का एक घर भी मिला जो अमीरों के घर के समान था तथा जिसकी तह बनाई जा सकती थी। सोमनाथ का मन्दिर तो अपने ऐश्वर्य में अद्वितीय था जिसमें रत्नजड़ित मूर्तियां थीं और सोने तथा चांदी के घण्टे थे। सोमनाथ की प्रतिमा के कमरे में कोई प्राकृतिक रोशनी का प्रबन्ध न था परन्तु रत्नों की ज्योति इतनी अधिक थी कि अंधेरे का कभी आभास भी नहीं होता था।

यद्यपि आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था और मन्दिर इस समृद्धि और सम्पन्नता के केन्द्र थे, परन्तु इस धन की रक्षा करने का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया था। सम्भवतः हिन्दुओं की ये धारणा बन गई थी कि ईश्वर स्वयं धर्मान्ध आक्रान्ताओं के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकेंगे जैसा कि सोमनाथ पर महमूद के

आक्रमण के समय उन्होंने सोचा था, इसलिये इनकी रक्षा का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं किया गया था।

धार्मिक दशा—धार्मिक आधार पर भी गिरावट स्पष्ट थी और ऐसा होना स्वाभाविक भी था। समाज में जब इतनी अधिक मंहान थी तो धर्म का अछूता रह जाना नितान्त असम्भव था। मन्दिर और बौद्ध-विहार पवित्रता के केन्द्र न रहकर अनाचार और भोग-विलास के अड्डे बन चुके थे। मन्दिरों में देवदासियों की प्रथा ने इनको भ्रष्टाचार और अनैतिक क्रिया-कलापों का अखाड़ा बना दिया था और देवत्व की आड़ में ये निर्विरोध पनप रहे थे। बौद्ध-विहार भी किसी प्रकार से पीछे नहीं थे। शिक्षा-संस्थाएं भी इस भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं थीं। विक्रमशिला के विद्यालय में जब एक विद्यार्थी के पास शराब की बोतल पायी गई तो मालूम हुआ कि वह उसे एक भिक्षुणी से प्राप्त हुई थी। यहां तक भी इस गिरावट को सम्भवतः सहन किया जा सकता था परन्तु वह यहीं तक सीमित न थी। विद्यार्थी को दण्ड देने के सम्बन्ध में भी विद्यालय के अधिकारियों में मतभेद खड़ा हो गया। यदि इस अनाचार का पक्ष-विपक्ष हो सकता है तो गिरावट का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। धार्मिक और शिक्षण-संस्थाओं में इस प्रकार की अनैतिकता और अनाचार का विद्यमान होना समाज की अनैतिकता का कारण और परिणाम दोनों ही था। यह सम्भव है कि जन-साधारण इस अनैतिकता से अलग-अलग रहा हो, परन्तु शासक और शिक्षित-वर्ग की यह अनैतिकता देश को दुर्बल बनाने के लिये पर्याप्त थी। इसके साथ ही वाममार्गी सम्प्रदाय लोकप्रिय होते जा रहे थे जिनमें सुरापान, मांस-भक्षण उनके अनुयायियों की धार्मिक क्रियाओं में सम्मिलित थे। वास्तविकता यह थी कि धर्म की मूल भावना का गला घोट दिया गया था और इसके स्थान पर धार्मिक कर्मकाण्ड और अन्धविश्वास-जनित कायरता ने स्थान ले लिया था। इब्ने-असीर ने इसका एक रोचक चित्र इस प्रकार दिया है—

"भारत में यह मूर्ति (सोमनाथ की) सबसे बड़ी थी। जब भी चन्द्र-ग्रहण होता था तो हिन्दू इस मन्दिर की यात्रा करते थे और लाखों आदमी यहां एकत्रित होते थे।"……समुद्र में जो ज्वार-भाटा आता है उसका अर्थ यह है कि समुद्र मूर्ति की पूजा करने आता है। इस मन्दिर में बहुमूल्य भेंट चढ़ाई जाती थीं। इसमें सेवकों को भी बहुमूल्य भेंट मिलती थी। इस मन्दिर को दस हजार गांव दिये हुये थे और यहां उत्तम प्रकार के बहुमूल्य रत्नों का भण्डार था। भारत के लोग गंगा नदी पर बड़ा विश्वास करते हैं।……सोमनाथ और गंगा के बीच दो सौ परसंग का अन्तर है, परन्तु मूर्ति के स्नान के लिये प्रतिदिन गंगाजल लाया जाता था। पूजा करने के लिये प्रतिदिन एक हजार ब्राह्मण मन्दिर में उपस्थित रहते थे। वे ही लोगों को दर्शन कराते थे। यात्रियों के दाढ़ी और सिर मूंडने के लिये तीन सौ नाई तैयार रहते थे। मन्दिर के द्वार पर साढ़े तीन सौ मनुष्य भजन

गाते हुये नाचा करते थे। इनमें से प्रत्येक को प्रतिदिन नियत वृत्ति दी जाती थी। जब महमूद ने भारत में मूर्तियों को खण्डित किया तो हिन्दू लोग कहा करते थे कि सोमनाथ उन मूर्तियों से रुष्ट है। यदि वह सन्तुष्ट होता तो उन प्रतिमाओं को कोई भी व्यक्ति नष्ट नहीं कर सकता था। जब महमूद ने यह बात सुनी तो उसने निश्चय किया कि सोमनाथ की मूर्ति को तोड़ने के लिये अभियान किया जावे। उसका विश्वास था कि जब हिन्दुओं को ज्ञान होगा कि उनकी प्रार्थनाएं और उनके शाप असत्य और व्यर्थ हैं तो वे इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेंगे।"[1]

धर्म और समाज की ये स्थिति भारत की सांस्कृतिक विलासिता के लिये भी उत्तरदायी थी। कला और साहित्य इसी स्थिति के प्रतिरूप थे। स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, चित्रकला आदि में से इसी प्रवृत्ति की दुर्गन्ध आती थी। साहित्य में 'कुटिनी-मतम' और 'समय-मत्रक' (वेश्या की आत्मकथा) उस समय के साहित्य का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

सैनिक दृष्टि से भी भारत पिछड़ा हुआ था। भारतीय सैनिक अब भी आक्रामक युद्ध नीति की अपेक्षा रक्षात्मक नीति ही अपनाये हुये थे। उनके अस्त्र-शस्त्र भी परम्परागत थे और वे उन्हीं पर निर्भर थे। उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया था, न तो वहाँ किलों का ही निर्माण किया गया था और न ही चीनियों की तरह कोई रक्षा-दीवार ही बनाई गई थी।

इस प्रकार राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक धार्मिक, नैतिक व सैनिक दृष्टि से भारत अत्यन्त दुर्बल था। उसकी इस स्थिति का कारण था कि उसने विदेशियों से कभी कुछ सीखने का प्रयत्न ही नहीं किया। इसलिये भारतीयों में अज्ञानता और दम्भ पनपे और वे अपनी उन्नति के प्रति असावधान हो गये। इस स्थिति का वर्णन महमूद गजनवी के साथ आये हुये विद्वान **अलबरूनी** ने बड़े ही तीखे ढंग से किया है। उसने लिखा है कि, "भारतवासी विश्वास करते हैं कि उनके देश के अतिरिक्त और कोई देश नहीं है, उनके राष्ट्र जैसा कोई राष्ट्र नहीं है, उनके राजा जैसा कोई राजा नहीं है, उनके धर्म जैसा कोई धर्म नहीं है, उनके विज्ञान जैसा कोई विज्ञान नहीं है"""जो कुछ वे जानते हैं, उसे दूसरे को बताने में स्वभावतः वे संकोचशील हैं, और वे इस बात का बहुत ध्यान रखते हैं कि वे अपने ही लोगों में भी अन्य जाति के लोगों को न बताएँ और किसी विदेशी को तो कदापि न बतायें।"

इस प्रकार एक ऐसा वातावरण विद्यमान था जिसने आक्रमणकारियों को आमन्त्रित किया और क्योंकि वे तुलनात्मक आधार पर युद्ध-शैली में प्रवीण थे इसलिये उनका सफल होना स्वाभाविक था।

---

1. इलियट एवं डाउसन, वही, पृ. 338-39

उत्तरी भारत में तुर्की-सत्ता की स्थापना के लिए उत्तरदायी तत्व

भूमिका—तुर्कों के आक्रमण के पहले भी भारत एक नहीं अनेक जातियों के आक्रमणों का शिकार हुआ। शकों, कुषाणों और हूणों की तरह तुर्कों के बारे में भी यही समझा गया कि वे मध्य-एशिया की दूसरी जातियों की तरह ही पंजाब पर अपना नियन्त्रण बढ़ाना चाहते हैं। सतलज के दक्षिण में बसे हुए उत्तर-भारत के राज्य भी यह पूरी तरह नहीं भांप सके कि तुर्क लोग भारत में अपना राज्य स्थापित करना चाहते हैं। वे यही समझ पाये कि दूसरी मध्य-एशिया की जातियों की तरह महमूद गजनवी और उसकी सेनाएँ भी यहाँ के जीवन में आत्मसात हो जावेंगी। महमूद की मृत्यु के बाद विशेषकर उसके उत्तराधिकारियों की उत्तरी भारत में विशेष रुचि न होने के कारण, उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर सतर्क रहने की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी। इसीलिये जब बारहवीं शताब्दी के अन्त में मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में दूसरा आक्रमण उत्तर-पश्चिम की ओर से हुआ तो भारत व्यावहारिक रूप से इस आक्रमण का सामना करने के लिये उतना ही अतत्पर था जितना कि वह महमूद गजनवी के आक्रमण के समय था। 11 वीं व 12 वीं शताब्दी में जिस प्रकार वे तुर्कों से पराजित हुये, वह अस्वाभाविक था। हिन्दुओं के अनेक राज्य गजनवी और गोरी राज्यों की तुलना में किसी प्रकार से कम न थे, उनकी सैनिक संख्या तुर्कों की तुलना में अधिक भी थी, उनकी शक्ति भी कम न थी और शौर्य तथा साहस की दृष्टि से भी वे किसी प्रकार आक्रमणकारियों से कम न थे, परन्तु इन सब के होते हुए भी उनकी पराजय हुई यह बड़ी ही विचित्र पहेली है। इसका उत्तर विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न प्रकार से दिया है और किसी ने एक कारण पर तो किसी ने दूसरे कारण पर अधिक बल दिया है।

अहिंसा और कर्म-सिद्धान्त—इस गुत्थी को और अधिक जटिल, समकालीन इतिहासकारों के मौन ने बना दिया है, क्योंकि हसन निजामी से लेकर बरनी और फक्र-ए-मुदब्बिर तक के इतिहासकारों ने इन कारणों को ढूंढ निकालने की कोई चेष्टा ही नहीं की। इस कारण आधुनिक इतिहासकारों ने तुर्कों की विजय अथवा हिन्दू राजाओं की पराजय के जो विभिन्न कारण बताये हैं वे समस्या को समझने के विभिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित हैं और ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि उनमें मतभेद हो। सम्भवतः कुछ इतिहासकार भारत में व्याप्त अहिंसा और कर्म-सिद्धान्तों को प्रमुखता देते हैं, तो दूसरे सामाजिक व्यवस्था तथा जाति-भेद के अन्तरों को हिन्दुओं की दयनीय स्थिति का मुख्य कारण बताते हैं। यह ठीक है कि अहिंसा के सिद्धान्त ने समाज के एक वर्ग में हिंसात्मक प्रवृत्तियों के लिये घृणा पैदा कर दी थी और कर्म के सिद्धान्त ने उन्हें अधिक भाग्यवादी और अकर्मण्य बना दिया था, परन्तु इन आधारों पर उनकी पराजय को निश्चित करना उतना ही असंगत होगा जितना कि रोमन साम्राज्य के पतन में ईसाई-धर्म के उत्थान को उत्तरदायी मानना। दोनों ही दशाओं में पतन के अनेकानेक कारण विद्यमान थे, जिन्होंने जीवन-शक्ति

को झकझोर दिया था। जिस प्रकार से बगैर ईसाई-धर्म के अनुयायियों की संख्या में बढ़ोतरी होने के बाद भी रोमन साम्राज्य का पतन अवश्यंभावी था, उसी प्रकार से हिन्दुओं का बगैर अहिंसा और कर्म के सिद्धान्तों के तुर्कों के सम्मुख पराजित होना निश्चित था।

सामाजिक दुर्बलता—सामाजिक दुर्बलता के अन्तर्गत जाति-व्यवस्था, ऊँच-नीच की भावना ने समाज पर एक विनाशक प्रभाव डाला था। इसने समाज को असाध्य अवरोधों से छोटे-छोटे वर्गों में बांट दिया था, उनके चुनाव के क्षेत्र को सीमित कर दिया था, वर्गीय गुण-विशेषताओं को प्रोत्साहन दिया था और समान राष्ट्रीय चेतना पर कुठाराघात किया था, परन्तु इस आधार पर इसका समाधान निकालना एक अत्यधिक जटिल समस्या का साधारण हल ही है, जिसको घटनाओं की कसौटी पर खरा उतारना सम्भव नहीं है। जाति-व्यवस्था का व्यापक रूप विद्यमान होते हुये भी चन्द्रगुप्त मौर्य ने सैल्युकस को पराजित किया था और स्कन्द-गुप्त तथा यशोवर्मन ने हूणों को खदेड़ दिया था; विजयनगर राज्य ने लगभग दो शताब्दियों (1336 से 1556 ई.) तक मुसलमानों की सेनाओं के प्रवाह को रोके रखा था और मरहठे मुगल साम्राज्य की कब्र पर शक्तिशाली राज्य को स्थापित करने में समर्थ हुये थे। यदि जाति व्यवस्था के बाद यह सब सम्भव था तो उत्तरी भारत के हिन्दुओं में प्रचलित जाति-व्यवस्थाओं को इसका अपवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता है। प्रो. निजामी यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि जाति व्यवस्था ने राजपूत-राज्यों (हिन्दू-राज्यों) की सैनिक शक्ति को दुर्बल किया क्योंकि युद्ध करना एक विशेष वर्ग का कर्तव्य समझा गया। उन्होंने लिखा है कि, "भारतीयों की पराजय का मुख्य कारण उनकी सामाजिक अवस्था और अन्यायपूर्ण जाति भेद थे जिन्होंने उनके सम्पूर्ण सैनिक-संगठन को अरक्षित और दुर्बल बना दिया।" जाति-भेद और बन्धनों ने सामाजिक और राजनैतिक एकता की भावना को पूर्ण नष्ट कर दिया।" इसका अर्थ है कि इसके कारण समस्त हिन्दू राज्यों की सैनिक शक्ति कम हो गई थी और उन्हें 'युद्ध-हेतु तत्पर राज्य' (Nations in arms) के सिद्धान्त से विमुख कर दिया था। प्रथमतः यह आज मान्य नहीं है कि सैनिक केवल एक विशेष-वर्ग (क्षत्रियों) में से ही भर्ती किये जाते थे, क्योंकि राजतरंगणी[1] में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जबकि क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्राह्मण सैनिक, सेना में मौजूद थे। कल्हण[2] ने लिखा है कि, "समस्त सेना भाग खड़ी हुई और केवल ब्राह्मण कल्याण राजा जो युद्ध-कला में निपुण था शत्रु से लड़ता हुआ मारा गया।" कौटिल्य[3] भी वैश्यों और शूद्रों को सेना में भर्ती करने का अनुमोदन करता है और

1. कल्हण-राजतरंगणी, भाग आठ, पृ० 1345
2. वही, पृ. 1071
3. अर्थशास्त्र, IX, अध्याय 2

उनके शौर्य की प्रशंसा करता है। इसके अतिरिक्त 'युद्ध-हेतु तत्पर राज्य' का सिद्धान्त मूलरूप से फासीवादी शक्ति की देन है और उसको 11 वीं अथवा 12 वीं शताब्दी के सन्दर्भ में लागू करना उचित नहीं है। यह स्वीकार करना भी कठिन है कि जाति-प्रथा ने इस विचार के विकास में अवरोध पैदा किया कि युद्ध करना अथवा देश की सुरक्षा करना एक विशेष वर्ग का उत्तरदायित्व न होकर प्रत्येक वर्ग का कार्य है,[1] क्योंकि इस प्रकार की चेतना मध्यकाल में उन देशों में भी विद्यमान नहीं थी जहां भारतीय नमूने की जाति व्यवस्था नहीं थी। मध्यकालीन यूरोप में युद्ध का कार्य एकमात्र शूरवीर सामन्त ही करते थे। भारत की तरह यूरोप में भी 18 वीं शताब्दी के अन्त तक जनसमुदाय ने अपने स्वामियों के युद्धों में यदा-कदा ही भाग लिया था।

राजनैतिक कारण इस प्रकार हिन्दू राज्यों की पराजय के तात्कालीन कारणों को हम दो भागों में बांट सकते हैं—राजनैतिक कारण व सैनिक कारण। राजनैतिक कारणों में यह जान लेना अधिक हितकर होगा कि ग्यारहवीं शताब्दी का काल एक ऐसा काल था जब वंशों और राज्यों का लगातार पतन हो रहा था। गुर्जर-प्रतिहारों के पतन के बाद सम्पूर्ण उत्तरी-भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया था। इनमें से कुछ की स्थापना साहसिक योद्धाओं ने की थी तथा कुछ कबीले के सरदारों ने स्थापित किये थे, जिनकी सीमाएं आये दिन बदलती रहती थीं तथा सबसे बड़ा अभिशाप यह था कि वे सर्देव ही आपस में एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। प्राचीन और मध्य-युगीन परिस्थितियों में राजनैतिक एकता को स्थापित करना न तो साधारणतया सम्भव ही था और न ही आवश्यक। उत्तरी भारत के इस विभाजन के बाद भी अनेक ऐसे राज्य थे जो गजनवी और गोरी के राज्यों से शक्ति, समृद्धि, विस्तार और सैनिक-बल में किसी प्रकार कम न थे। परन्तु दुर्भाग्य यह था कि इनकी दुर्बलता का कारण एक संगठित राज्य का अभाव नहीं अपितु इनकी निरन्तर पारस्परिक प्रतिस्पर्धा व शत्रुता थी। इसी कारण वे एकजुट होकर शत्रु का सामना कर सकने में असमर्थ रहे। मेक क्रिन्डले का यह कथन कि अगर सिकन्दर ने भारत को संगठित रूप में पाया होता तो सम्भवतः उसका भाग्य-सितारा सिन्धु नदी की धारा तक ही डूब गया होता, किसी प्रकार से भी मुहम्मद बिन कासिम, महमूद गजनवी व मुहम्मद गोरी पर कम लागू नहीं होता है। इस पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और विरोध का आक्रमणकारियों ने पूरा लाभ उठाया, क्योंकि विदेशी शक्ति का भय एक शक्तिशाली पड़ोसी राज्य की तुलना में कम स्वीकार किया जाता था।

सामन्तवाद—यह विघटनकारी प्रवृत्ति यदि यहीं तक सीमित रहती तो भी सम्भवतः कुछ आशा बचती, परन्तु इनके अन्दर ही अन्दर ऐसे विनाशकारी तत्वों को उकसाया जिन्होंने राज्यों के ढांचों के अतिरिक्त उनकी जीवन-शक्ति को ही निचोड़

---

1 मार्डर्न रिव्यू, अगस्त 1930, पृ 158

दिया। गुप्त-युग के समय से ही उत्तरी भारत में सामन्तवादी प्रवृत्तियां उभर रही थी और ग्यारहवीं शताब्दी में ये अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गयी थीं। इसका परिणाम निकला कि पहले ही उत्तरी भारत जो अनेकों राज्यों में बंट चुका था अब इस प्रवृत्ति के कारण अनेक छोटे-छोटे भू-भागों में बंट गया, जिनके स्वामी नगण्य सामन्त अथवा जागीरदार थे। प्रत्येक सामन्त अथवा जागीरदार अपने कुल के सम्मान में वृद्धि तथा जागीर में बढ़ोतरी करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझता था। यद्यपि ये सामन्त अपने प्रदेशों में परोक्ष स्वशासन के अधिकारों का उपभोग करते थे, परन्तु उसके बाद भी उनका यह कर्तव्य था कि युद्ध के समय वे अपने स्वामी की सैनिक रूप में सहायता करेंगे। इनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा अत्यधिक थी और जब कभी आन्तरिक अथवा बाहरी कारणों से स्वामी की शक्ति का ह्रास होता था तो सामन्त अथवा जागीरदार या तो स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर देते थे अथवा आसपास के जागीरदारों को अपनी स्वामिभक्ति अन्तरण करने के लिये बाध्य कर स्वयं की शक्ति में वृद्धि कर लेते थे। अधिकतर हिन्दू राज्य इस अस्थिर आधार पर संगठित थे। ऐसे सामन्तों अथवा जागीरदारों से मिलकर बनी हुई राजा की सेना विभिन्न अलग-अलग टुकड़ों को जोड़कर बनायी गयी ऐसी सेना होती थी जिसमें एकता, अनुशासन नेतृत्व और सैन्य-संचालन का पूर्णतया अभाव होता था। इन गुणों के न होते हुये यह आशा करना कि हिन्दू राज्य तुर्कों के विरुद्ध सफलता प्राप्त कर लेंगे, केवल पत्थर में से पानी निकालने के समान था। यह ठीक है कि विभिन्न छोटे-छोटे जागीरदारों और हिन्दू राजाओं ने तुर्कों का कठोर मुकाबला किया, परन्तु न तो वे संगठित रूप में कभी एक मोर्चा बना सके और न ही वे सेना के आधार-भूत दोषों को ही दूर करने में समर्थ हुये।

सैनिक कारण—सेना की ये अव्यवस्था हमें हिन्दुओं की पराजय के दूसरे कारण के निकट लाती है। **वी. ए. स्मिथ** ने ठीक ही लिखा है कि, "शौर्य तथा मृत्यु के आलंगन में वे (हिन्दू) आक्रमणकारियों के समान थे, परन्तु युद्ध की कला में वे निश्चित ही उनसे निम्न थे।" युद्ध में सफलता के लिये मोटे रूप से तीन तत्व आवश्यक हैं—नैतिक गुण, संगठन व साज-सामान तथा नेतृत्व। इस आधारों पर हिन्दुओं तथा आक्रमणकारियों के बीच किसी प्रकार की तुलना करना कठिन है, क्योंकि समकालीन इतिहासकारों ने जो विवरण छोड़ा है वह इकतरफा है, परन्तु इसके बाद भी उनसे किसी प्रकार के अनुमान निकालना सम्भव है।

नैतिक गुण—नैतिक गुणों के अन्तर्गत हिन्दुओं में साहस, शक्ति व संकल्प की कमी न थी परन्तु उनके विरोधियों में इन गुणों की मात्रा अधिक थी। यह सर्व-मान्य है कि आदिकालीन सभ्यता ये साहस, आत्म-त्याग व व्यक्तिगत स्वार्थों को समुदाय के स्वार्थों में निहित करने के गुण स्वाभाविक थे और उनको कृत्रिम साधनों से पुष्पित व पल्लवित करने को कोई आवश्यकता ही अनुभव नहीं की गई थी।

एक सभ्य और सम्पन्न वर्ग इन गुणों के विकास के लिए उपयुक्त आधार नहीं होता और निश्चित ही हिन्दू, तुर्कों से इस क्षेत्र में आगे थे। तुर्कों के इस पिछड़ेपन के साथ उनमें धार्मिक उत्साह कूट-कूट कर भरा हुआ था और वे इस्लाम में नये समर्थकों को लाने के लिए आतुर थे। विजय के द्वारा इस्लाम को फैलाने की इस प्रवृत्ति ने उनके जोश को उभारा और वे शहीदों के रूप में स्वयं को समर्पित करने के लिए तत्पर हो गये। ऑलिवर कामवेल ने लिखा है कि "सबसे अच्छा सैनिक वह है जो यह जानता है कि वह किस कारण लड़ रहा है तथा इस उद्देश्य से पूर्णतया जुड़ा है।" इस्लाम और उसकी प्रतिष्ठा को फैलाने की भावना ने तुर्कों को वह प्रेरणा प्रदान की जिसकी हिन्दुओं में कमी थी। तुर्क यह समझते थे कि वे ईश्वरीय आज्ञाओं से युद्ध कर रहे हैं तथा ईश्वर की अनुकम्पा उनके पक्ष में है। हिन्दुओं में इस प्रकार की कोई प्रेरणा-शक्ति न थी जिसके वशीभूत हो वे युद्ध करें। राष्ट्रीयता और देश-भक्ति की भावनाएं अभी अर्ध-निद्रित थीं और धर्म की उदारता उन्हें एवं कट्टर असहिष्णु के रूप में नहीं ढाल पाई थी। यह ठीक है कि वे आक्रमणकारियों से जिन्होंने उनकी सम्पत्ति को लूटा हो, मन्दिरों को अपवित्र किया हो तथा उनकी समस्त प्रिय वस्तुओं को पैरों तले रौंदा हो, अत्यधिक क्षुब्ध थे। परन्तु इसके बाद भी वे ऐसे सशक्त तत्व नहीं थे जो उनके आपसी मतभेदों को भुला सकें अथवा इन विनाशकारी शक्तियों को रोकने के लिए एकजुट करने में समर्थ हों। संक्षिप्त में हिन्दुओं में एक एेसे आदर्श की कमी थी जिससे वे निरन्तर प्रेरणा प्राप्त कर सकें।

प्रो के ए. निजामी धार्मिक प्रेरणा को तुर्कों की सफलता का कारण नहीं मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि, "तुर्कों की सफलता का कारण मुसलमानों के धार्मिक जोश में तलाश करना अनैतिहासिक होगा।" यह ठीक है कि लूट की लालसा और राज्य-विस्तार की आकांक्षा भी तुर्कों के लिए प्रेरणादायक तत्व थे, परन्तु इन सब को इस्लाम रूपी सीमेन्ट ने दृढ़ता प्रदान की थी। शारीरिक शक्ति और साज-सज्जा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रेरणादायक विचार हैं, जो सैनिकों को युद्ध तथा उसमें विजय श्री प्राप्त करने के लिए सदैव तत्पर रख सकते हैं। मध्य-युग आस्था और धर्म का युग था और उसे नकारना स्वयं को आधुनिक से भी अधिक आधुनिकतम साबित करने का निरर्थक प्रयास है। मध्ययुग को मध्ययुग के मापदण्डों के आधार पर ही आंका जा सकता है और यदि उस पर आधुनिक युग की मांगों को लागू करने का प्रयास किया गया तो इतिहास को केवल झुठलाना होगा। आज हम धर्म-निरपेक्ष राज्य की बात को स्वीकार करते हैं, परन्तु मध्ययुग में इस धर्म-निरपेक्षता का कहीं नामो-निशान भी नहीं था और विशेषकर इस्लाम में जो धर्म होने के साथ ही सरकार को चलाने की एक पद्धति भी है। इस युग में धर्म का प्रभाव न अस्वाभाविक था, न तिरस्कृत और न ही आज के युग की भांति हानिकारक। मध्ययुग में यदि व्यक्ति में से धर्म को निकाल दिया जावे तो यह उसके प्रति अन्याय होगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में वह युग के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। यदि तुर्कों में

धार्मिक भावना थी तो हिन्दुओं और ईसाइयों में भी यह भावना मौजूद थी, अन्तर केवल इतना था कि प्रत्येक की परिस्थितियों और उदारता के अनुपात में इनमें न्यूनता अथवा अधिकता आ गई थी। इस्लाम की इस धार्मिक प्रेरणा को हम दोष के रूप में स्वीकार नहीं कर रहे हैं, अपितु यह उस युग की चारित्रिक विशेषता थी। 11 वीं शताब्दी के सल्जुक तुर्कों और 15 वीं शताब्दी के आटोमन-तुर्कों के उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाती है, जिन्होंने उस बाइजन्टाइन साम्राज्य को बरबाद करने और अन्त में समाप्त करने में पूर्ण सफलता पाई जो भारत में व्याप्त राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था की कमियों से मुक्त था।

नैतिक गुणों में हिन्दुओं की ये निम्नता धीरे-धीरे स्पष्ट होती गयी। जयपाल (1001 ई.) और आनन्दपाल (1008 ई.) ने महमूद का कठोर विरोध किया परन्तु जब महमूद ने भटिण्डा के शासक के विरुद्ध एक निर्णयात्मक विजय प्राप्त की तब अधिकतर हिन्दू शासक उसकी इस विजय से कांप उठे। उनका उत्साह भंग हो चुका था और वे आक्रमणकारी से डर कर जंगलों में भाग जाते थे। भीमपाल ने चन्देला शासक को सुल्तान महमूद के सम्बन्ध में जो पत्र लिखा वह इसका अकाट्य प्रमाण है।

युद्ध क्षमता–इस क्षेत्र में भी दोनों की तुलना करना सम्भव नहीं है। यद्यपि दोनों के ही द्वारा एक ही प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था, परन्तु साज-सामान के क्षेत्र में वे एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न थे। हिन्दू-सेना का मुख्य अंग हाथी थे और हिन्दू शासक उन पर अत्यधिक विश्वास करते थे। अनेक अवसरों पर हाथी तुर्कों के तीरों से घायल होकर पीछे भागते थे और अपनी ही सेना को अव्यवस्थित कर देते थे अथवा वे युद्ध-स्थल से भाग खड़े होते थे जिससे सेना को यह सन्देह हो जाता था कि राजा भाग गया है और वे भी ऐसी स्थिति में भाग खड़े होते थे। इस प्रकार हाथी-सेना रक्षक की अपेक्षा भक्षक हो जाती थी।

इसके साथ ही हिन्दू राजा हाथी के हौदे में ही बैठकर युद्ध का संचालन करते थे जिसके कारण शत्रु-पक्ष उनको आसानी से पहचान कर उनको ही अपना केन्द्र बिन्दु मानकर टूट पड़ते थे। दाहिर ने मुहम्मद बिन कासिम के विरुद्ध हाथी के हौदे में बैठकर युद्ध किया और शत्रु ने इसका लाभ उठाकर उसके हौदे को आग लगा दी और उसी के साथ सेना में भगदड़ मच गई। दूसरी बार 1008 ई. में जब महमूद गजनवी आनन्दपाल के विरुद्ध युद्ध कर रहा था और ऐसा जान पड़ता था कि हिन्दू विजित होंगे उसी समय फरिश्ता के अनुसार[1], "अचानक राजा का हाथी तीरों की बौछार से बेकाबू हो गया और युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़ा हुआ। इस स्थिति ने हिन्दू सेना में आतंक फैला दिया और अपने सेनापति के पलायन को देख वे स्वयं

1. फरिश्ता, भाग 1, पृ. 47

भी भाग खड़े हुए ।" वास्तविकता यह है कि हाथियों का युद्ध में भाग लेना सिद्धान्त गलत नहीं था, बल्कि हाथियों पर आवश्यकता से अधिक विश्वास करना घातक था। यदि युद्धों में हाथियों की अनुपयोगिता सिद्ध हो गई होती तो गयासुद्दीन बलबन अपने पुत्र बुगराखां को बंगाल से नियमित रूप से हाथी भेजने का आदेश न देता और न ही लोदी सुल्तानों के समय में हस्ती-सेना पर बल दिया जाता।

हिन्दुओं के विपरीत तुर्क आक्रमणकारी घुड़सवार सेना पर अधिक विश्वास करते थे। युद्ध-क्षेत्र की व्यापकता और भू-भाग की विशेषता को ध्यान में रखते हुए निश्चित ही तुर्कों को अपनी द्रुत-गामी घुड़सवार सेना से लाभ था। तुर्की घुड़सवार उस समय समस्त एशिया में सर्वश्रेष्ठ थे और जैसाकि प्रो० निज़ामी ने लिखा है कि, "उस युग में गतिशीलता तुर्की सैनिक-संगठन का मूल आधार थी। वह युग घोड़ों का युग था और अद्वितीय गतिशीलता तथा शस्त्र-सुसज्जित घुड़सवार-सेना उस समय की आवश्यकता थी।" सर जदुनाथ सरकार ने भी लिखा है कि, "सीमा पार के इन आक्रमणकारियों के शस्त्रों और घोड़ों ने उनको भारतीयों पर विवादरहित सैनिक श्रेष्ठता प्रदान की थी।" तुर्क, घोड़ों की पीठ पर बैठे हुये और गतिशील रहते हुए भी धनुष का प्रयोग कर लेते थे, जबकि हिन्दू एक स्थान पर खड़े होकर ही अथवा भागते हुए, धनुष का प्रयोग करने में समर्थ थे। स्वाभाविक था कि तेज घोड़ों पर से चलाये जाने वाले तीरों की मार अधिक प्रभावशाली थी। सुबुक्तगीन ने जयपाल को जिस सरलता से अपनी घुड़सवार सेना के आधार पर पराजित किया वह निस्सन्देह इस क्षेत्र में हिन्दू घुड़सवार-सेना की कमज़ोरी को प्रमाणित करती है। घुड़सवार सेना की तेज गति के कारण ही तुर्क आक्रमणकारी आकस्मिक आक्रमण की रणनीति को लागू कर सके और एक साथ एक नहीं अनेक दिशाओं से आक्रमण करने में सफल हुए। इस आकस्मिक रणनीति के आधार पर वे कभी पीछे हटने अथवा भागने का प्रदर्शन करते थे, परन्तु दूसरे ही क्षण वे फिर अचानक आक्रमण कर बैठते थे। महमूद गज़नवी और मुहम्मद गोरी ने इस आकस्मिक आक्रमण की नीति का खुलकर प्रयोग किया और हिन्दू शासक इसको देखकर अवाक् रह गये।

संगठन—संगठन के क्षेत्र में भी हिन्दू, तुर्कों के बराबर न थे। तुर्क केवल एक नेता के नेतृत्व में लड़ते थे तथा उसकी आज्ञाओं का अविलम्ब पालन करते थे। इस आधार पर सहायक नायकों के बीच आज्ञाकारिता की भावना को स्थापित कर उनमें स्थिति के अनुसार ताल-मेल बैठाकर एक गठित मोर्चा बनाना अधिक आसान था। इसके विपरीत हिन्दू राजाओं का सैनिक-संगठन सामन्ती-प्रथा पर आधारित था जिसमें प्रत्येक सैनिक टुकड़ी राजा की अपेक्षा अपने सामन्त को अधिनायक मानकर केवल उसकी आज्ञाओं को ही शिरोधार्य करने के लिए तत्पर रहती थी। स्थिति कभी-कभी इतनी गम्भीर हो जाती थी कि सामन्तों में आपसी प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण एक सम्भावित विजय, पराजय में परिवर्तित हो जाती थी। युद्ध-क्षेत्र

ँ एक सामन्त अपने प्रतिद्वन्द्वी की रण-कुशलता को देखकर तथा उससे सम्भावित नाभों की कल्पना.कर ऐसी विरोधी नीति अपनाता था जिसमें उसे पराजय का मुंह इले ही देखना पड़े परन्तु अपने विरोधी की उन्नति न हो सके। ऐसी बेमेल सेना में एकता, नेतृत्व और आदेशों की एकरूपता की कल्पना करना भी निरर्थक है। यह ठीक है कि जयपाल, आनन्दपाल व पृथ्वीराज ने आक्रमणकारियों के विरुद्ध संघ बनाये थे और ये संघ यद्यपि संख्या की दृष्टि से प्रभावशाली भी थे परन्तु युद्ध-क्षेत्र में संख्या की अपेक्षा गुणों और गति का ही अधिक महत्व होता है और हिन्दू शासकों ने इसमें अपनी अबोधता का परिचय दिया। विभिन्न प्रशिक्षण और विभिन्न संगठन के होते हुये उन्हें समुचित रूप मे एक संशक्तिशील सेना का रूप देना कठिन था। तुर्क आक्रमणकारी यद्यपि विभिन्न नस्लों और वर्गों के थे, परन्तु फिर भी वे एक सेनापति के नेतृत्व में अनुशासित होकर युद्ध करने के महत्व को जानते थे तथा प्रशिक्षण के आधार पर भी उनमें एक-समान प्रवृत्तियाँ थीं।

रक्षात्मक युद्ध—राजपूतों की रण-नीति में यह भी बड़ी कमी रही कि उन्होंने सदैव ही रक्षात्मक नीति अपनाई। हिन्दुओं ने व्यूह-रचना के आधार पर सदैव ही रक्षात्मक नीति अपनाई, जबकि तुर्क आक्रमणकारी आक्रामक आधार पर युद्ध करते रहे। तुर्क सामरिक दृष्टि के महत्वपूर्ण दुर्गों पर अधिकार करने का अत्यधिक प्रयत्न करते थे जिसके कारण हिन्दुओं को पहाड़ी प्रदेशों में रक्षात्मक युद्ध-नीति अपनानी पड़ती थी, जो अधिक कष्टदायक थी। तुर्कों को परेशान करने का एक अच्छा साधन गुरिल्ला (छापामार) युद्ध-नीति हो सकती थी परन्तु हिन्दू इसका सफलतापूर्वक उपयोग न कर सके। वे ये भूल गये कि विजय के पूर्वाभास की नैतिक शक्ति आक्रामक नीति अपनाने में निहित होती है। जयपाल के अतिरिक्त किसी भी हिन्दू शासक ने न तो आक्रमणकारी नीति का पालन किया और न ही अपनी विजय से पूर्ण लाभ उठाने का प्रयत्न ही किया, जैसा कि गुजरात के शासक मूलराज की अन्हिलवाड़ा और पृथ्वीराज चौहान की तराइन के प्रथम युद्ध की विजयों से साबित होता है। यह मानना तो उचित न होगा कि तुर्कों ने कोई त्रुटियां नहीं की परन्तु आक्रमणकारी नीति से लाभ यह हुआ कि उनकी छोटी-मोटी गलतियां इस नीति के आवरण में ढंक गई और वे विजय की दिशा में उचित दिशा प्राप्त करने में समर्थ रहे।

योग्य नेतृत्व—हिन्दुओं में योग्य नेतृत्व का अभाव रहा। डा. पी. सी. चक्रवर्ती ने लिखा है कि, "नेतृत्व के क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्वियों में जितना विरोध था उतना विरोध और कहीं नहीं दीखता।"[1] जयपाल, आनन्दपाल व पृथ्वीराज में शौर्य और व्यक्तिगत साहस की कोई कमी न थी, परन्तु उनमें रणनीति और सामरिक

1. पी. सी. चक्रवर्ती, द आर्ट आफ वार इन एनशियन्ट इण्डिया, पृ. 194

महत्त्व के गुणों का प्रभाव था। यह आश्चर्यजनक है कि यदि उनके लिये चीनियों की तरह उत्तरी पश्चिमी सीमा पर बड़ी दीवार बनाना सम्भव न था तो कम से कम दर्रों के किनारे पर दुर्गों का निर्माण कर वे आक्रमणकारियों की गति और दूसरी ओर से प्राप्त होने वाली सहायता को पूरी तरह काट तो सकते थे। निस्सन्देह पृथ्वीराज एक योग्य सेनापति था जिसने तुर्कों के आक्रमण के पहले पर्याप्त ख्याति प्राप्त करली थी परन्तु भाटों ने उसकी प्रशंसा कर उसे अत्यधिक अहमी बना दिया था और वो अपनी योग्यता में आवश्यकता से अधिक विश्वास करने लगा था। तराइन के प्रथम युद्ध में निर्णायक विजय प्राप्त करने के बाद उसने उस स्थिति का लाभ न उठाते हुए मुहम्मद गोरी का पीछा नहीं किया। बड़े ही आराम से सरहिन्द के किले पर घेरा डाला। इससे अधिक सोचनीय स्थिति यह रही कि उसने मुहम्मद गोरी के पुन लौटने की स्थिति का सामना करने के लिए कोई सावधानियां नहीं अपनाई। यह ठीक है कि जब दूसरे ही वर्ष मुहम्मद गोरी एक विशाल सेना के साथ लौटा तो पृथ्वीराज ने दृढ़ता और साहस से उसका विरोध किया परन्तु उसका शौर्य उसकी युद्ध के प्रति उपेक्षा की कमी को पूरा नहीं कर सकता था।

पृथ्वीराज एक योग्य सेनापति था परन्तु मुहम्मद गोरी की तुलना में वह फीका पड़ता था। महमूद गजनवी का तो किसी यशस्वी सेनापति से मुकाबला ही नहीं हुआ। हिन्दुओं के विरोध में दोनों ही तुर्क सेनापति न केवल योग्य थे, अपितु अपने अनुभव और कर्मठता से अपनी कमियों को पूरा करने में समर्थ थे, वे अपने सैनिकों को लूटमार का प्रलोभन देकर तथा धर्म के प्रति उनके कर्तव्य की भावनाओं को उभारकर उन्हें युद्ध के लिए प्रेरणा प्रदान करते थे। पार्थियन रणनीति से परिपूर्ण उन्होंने अपनी सैन्य व्यवस्था में समय की माग के अनुसार ऐसे परिवर्तन कर लिये थे जो उनके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुये। मध्यकालीन युद्धों का निर्णय बहुत हद तक सेनापति के व्यक्तित्व और उसकी योग्यता पर निर्भर करता था और इसमें कोई दो मत नहीं कि हिन्दू-पक्ष इस क्षेत्र में तुर्क-पक्ष का मुकाबला नहीं कर सकता था। महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी इस क्षेत्र में कहीं आगे थे और इसीलिये ये आश्चर्य नहीं है कि उन्होंने इतने कम सैनिकों के साथ भारत के बड़े प्रदेशों पर इतनी आसानी से अधिकार कर लिया। इसीलिये डा यू एन. घोषाल ने लिखा है कि, "सत्यता यह है कि भारतीय अपनी परम्परागत रणनीति को नवीन परिस्थितियों में ढालने में अपने सामाजिक व भौगोलिक एकाकीपन के कारण असफल नहीं हुये अपितु इस कारण असफल हुये कि उनमें पर्याप्त प्रतिभा-सम्पन्न नेताओं की कमी थी।"

युद्ध-नीति—तुर्कों की युद्ध-नीति हिन्दुओं की तुलना में श्रेष्ठ थी। मुहम्मद गोरी आज के इस नियम को जानता था कि अश्व-सेना के युद्ध में वही पक्ष विजयी होता है जो अन्त तक एक सुरक्षित टुकड़ी को रख सकता है। तराइन के दूसरे युद्ध

में उसने इस नियम का सहसा आक्रमण (shock tactics) की नीति से तालमेल बैठाकर इसको प्रमाणित किया। फरिश्ता ने लिखा है कि, "युद्ध सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक चलता रहा और जब शत्रु-पक्ष सहसा आक्रमण की नीति से थक चुका था तब मुहम्मद ने स्वयं 12,000 चुने हुए घुड़सवारों का नेतृत्व कर अपने विरोधियों पर भीषण आक्रमण किया और शत्रु के खेमे को ध्वंस और नरसंहार से रंग दिया। इस प्रकार तराइन का दूसरा युद्ध हाइडास्पीज के युद्ध की तरह मुख्यतः सेनापतियों के बीच युद्ध था जिसमें विजय शौर्य की अपेक्षा कुशल नेतृत्व की सहचरी थी।" हिन्दू अपनी सेना को परम्परागत तीन भागों में बांटते थे—केन्द्रीय भाग, दाहिना भाग और बायां भाग। सब ही भाग एक ही बार युद्ध करने में जुट जाते थे और शत्रु-पक्ष की थकावट का किसी प्रकार से भी लाभ उठाने में असमर्थ थे।

बौद्धिक एकाकीपन—इसके अतिरिक्त ऐसा अनुभव होता है कि भारत ने कभी भी युद्ध प्रणाली अथवा दूसरे क्षेत्रों में दूसरों से कभी कुछ सीखने का सोचा ही नहीं। मेगस्थनीज के आधार पर स्ट्रेबो ने लिखा है कि, "भारतीयों ने केवल चिकित्सा-शास्त्र के अतिरिक्त किसी दूसरे क्षेत्र में विशुद्ध ज्ञान-प्राप्ति का कोई प्रयास ही नहीं किया।" कौटिल्य ने भी इसका अनुमोदन किया है कि भारतीयों में पुरानी ग्रहण-शक्ति समाप्त होती जा रही थी। ग्यारहवीं शताब्दी तक आकर प्रत्येक स्तर पर संकुचित विचारों का होना उत्तरी-भारत की विशिष्टता बन गई। अलबरूनी ने इस दृष्टिकोण का श्रेष्ठ सार देते हुए लिखा है कि, "भारतवासी विश्वास करते हैं कि उनके देश के अतिरिक्त और कोई देश नहीं है, उनके राष्ट्र जैसा कोई राष्ट्र नहीं है, उनके राजा जैसा कोई राजा नहीं है, उनके धर्म जैसा कोई धर्म नहीं है। उनके विज्ञान जैसा कोई विज्ञान नहीं है·······जो कुछ वे जानते हैं, उसे दूसरों को बताने में स्वभावतः वे संकोचशील हैं, और वे इस बात का बहुत ध्यान रखते हैं कि वे अपने ही लोगों में भी अन्य जाति के लोगों को न बताएं और किसी विदेशी को तो कदापि न बताएं। उनका ज्ञान अस्त-व्यस्त है, इसमें कोई तर्क संगत क्रम नहीं है·······वे दूसरों से सीखने का भी कोई प्रयास नहीं करते हैं। वे इतने दंभी हैं कि अगर तुम उन्हें खुरासान अथवा फारस में किसी विज्ञान अथवा विद्वान का कहो तो वे तुम्हें अज्ञानी के साथ ही मिथ्याभाषी भी समझेंगे।" यह निराशाजनक मानसिक प्रवृत्ति जिसने कुछ सीखने और कुछ भूलने के गुण को त्यागा बोरबोन्स जाति की विशिष्टता·······बौद्धिक भावशून्यता की करुणाजनक स्थिति रोगलक्षण के साथ ही पतन का कारण भी थी। ईसा की पहली शताब्दी में टेशियास ने अपने देशवासियों को ये चेतावनी दी थी कि वे राईन और डेन्यूब नदी के दूसरी ओर रहने वाली बर्बर जाति से घृणा न करें क्योंकि उनमें ऐसे तात्विक गुण हैं जिनको सभ्य रोमन आसानी से सीख सकते हैं। रोमन लोगों ने उसकी चेतावनी की ओर कोई ध्यान न दिया जिसका परिणाम हुआ कि बलवान और बर्बर जाति ने कुछ ही समय में रोमन साम्राज्य को तहस-नहस कर दिया। हिन्दुओं ने भी ठीक यही गलती दोहराई। उन्होंने स्वयं

को एकाकीपन और ऐंठन के शिकंजे में इस बुरी तरह जकड़ लिया कि वे विदेशियों के प्रति उदासीन रहे, उनके सैन्य-कौशल और शस्त्र विधान से अपरिचित रहे और इस्लाम की भावना से अनभिज्ञ रहे। निश्चलता ने सड़न पैदा की और सड़न ने सकट। इमरसन की ये मान्यता सत्य के निकट है कि कोई बाहरी शक्ति एक आघात में ही किसी का मर्दन करने अथवा रौंदने में असमर्थ है जब तक कि वह आन्तरिक सड़न से स्वयं विनाश के लिए तत्पर न हो।[1]

आर्थिक कारण—इन प्रमुख कारणों के अतिरिक्त यहाँ की आर्थिक सम्पन्नता का सदुपयोग न करना भी हिन्दुओं की पराजय का कारण था। भारत में खाद्यान्नों के साथ ही फलों, कपड़ा, मसालों व मोतियों का बाहुल्य था। कश्मीर के अंगूर और केसर, गुजरात और वारंगल के सूती कपड़े, मलाबार के मसाले और दक्षिण के राज्यों के मोती अधिक प्रसिद्ध थे। मलाबार और गुजरात के बन्दरगाहों से विदेशों से व्यापार होता था। चीन, जावा, सुमात्रा, अरब आदि पूर्वी प्रदेशों और दक्षिण-पूर्वी और पश्चिमी प्रदेशों से व्यापार के कारण काफी धन संचित हो चुका था जिसका प्रमाण राजाओं और राज दरबारों तथा मन्दिरों की वैभवता थी। धन की अधिकता स्वयं अपने में कोई दुर्बलता का कारण नहीं था बल्कि इस धन का पूरी तरह सदुपयोग न किया गया। अपेक्षाकृत इसके कि इससे सैन्य शक्ति बढ़ाकर देश को सुरक्षित किया जाता, यह राज्यों और मन्दिरों की शोभा बढ़ाता रहा और इसीलिए मन्दिर तुर्कों के आक्रमण के बिन्दु बने।

धर्म में गिरावट—धर्म में गिरावट भी हिन्दुओं के पतन का कारण मानी जाती है। हिन्दू धर्म ने ससार के सम्मुख व्यक्ति का आदर्श, नैतिक और सामाजिक जीवन रक्खा है। इसके अन्तर्गत धर्म का अर्थ कर्तव्य है जो किसी व्यक्ति को समाज और उससे आगे मानवता के लिए उपयोगी बनाता है। इसीलिए हिन्दू धर्म एक धार्मिक ग्रन्थ, एक दर्शन एक ईश्वर अथवा एक देवता की मूर्ति पूजा पर आधारित नहीं है। हिन्दू धर्म की ये उदारता उसके गिरावट का कारण बनी। ब्राह्मणों के धार्मिक एकाधिपत्य ने जन-साधारण को धर्म से अलग कर दिया और हिन्दू धर्म विभिन्न सम्प्रदायों में बट गया। इससे धर्म की एकता नष्ट होने के साथ ही कर्मकाण्ड और मूर्ति-पूजा का महत्त्व बढ़ गया, वाम-मार्ग और तान्त्रिकवाद पनपे और धर्म में विशृंखलता आ गयी। जब धार्मिक एकता ही नहीं रही तो सामाजिक एकता भी छिन्न भिन्न हो गई और सकटकालीन स्थिति में जब विदेशी भारत के द्वार खटखटा रहे थे तब भी धर्म के नाम पर सब हिन्दुओं के लिये एक जुट होना सम्भव न हो सका। ऐसी स्थिति में जब तुर्क धर्म को एक साथ तलवार और ढाल बनाकर आगे बढ़ रहे थे तब हिन्दुओं का इस प्रकार से विभाजित और विमुख होना न तो न्याय-सगत था और न ही देश और धर्म के हित ही में था। ऐसे बेमेल और विरोधी

1 पी सी चक्रवर्ती वही पृ 197

वातावरण में पराजय के अतिरिक्त किसी और परिणाम की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी ।

इस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आर्थिक कारण हिन्दुओं की पराजय के कारण बने । इसीलिए डॉ आर. सी. मजूमदार ने लिखा है कि, "शत्रु की तुलना में हिन्दुओं के पास श्रेष्ठ और विस्तृत सासनों के होते हुए भी एक इतने प्राचीन और विस्तृत देश का इतनी शीघ्रता से पतन हो जाने का मुख्य कारण उसकी आन्तरिक गिरावट का परिणाम ही सम्भव है, न कि विदेशी आक्रमण जो उसके परिणाम तो थे परन्तु कारण नहीं ।"

अनेक इतिहासकार ये स्वीकार नहीं करते हैं कि राजनीतिक एकता का अभाव और जन-साधारण की उदासीनता हिन्दुओं की पराजय के प्रमुख कारण थे । वास्तविकता यह है कि इनको बढ़ा-चढ़ाकर दर्शाया गया है । हमने इन पृष्ठों में ये अध्ययन किया है कि हिन्दुओं के अनेक राज्य आक्रमणकारियों के राज्यों से क्षेत्र और साधन में कहीं अधिक थे और फिर किसी भी देश में समस्त जन-साधारण का युद्धों में भाग लेना सम्भव ही नहीं था । हिन्दुओं का कठोर संघर्ष और उनके आरम्भिक पतन के बाद भी लगातार तुर्कों से संघर्ष करते रहना इन कारणों के महत्व को कम कर देता है । इसी प्रकार गिरती हुई धर्म, समाज व नैतिकता की स्थिति को भी बढ़ा-चढ़ा कर बताया गया है । वास्तव में, तान्त्रिकवाद ने अपेक्षाकृत इसके कि जन-साधारण की धार्मिक भावना को दुर्बल किया, उनमें धार्मिक भावना को अधिक प्रबल किया और तुर्कों से मुकाबला करने की शक्ति को प्रज्ज्वलित किया । सामाजिक व्यवस्था यद्यपि जटिल थी परन्तु इसी जटिलता ने हमारी संस्कृति को बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया । इसलिये यद्यपि राजनीतिक और सांस्कृतिक दुर्बलता को नकारा तो नहीं जा सकता परन्तु इनको पराजय के प्रमुख कारणों में स्वीकार कर लेना भी सम्भव नहीं दिखता ।

इस आधार पर यह माना जा सकता है कि सामन्तवाद और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा पर आधारित भारत की राजनीतिक स्थिति किसी विदेशी आक्रमणकारी का सामना करने का सामर्थ्य नहीं रखती थी, परन्तु वह हिन्दुओं की पराजय का एकमात्र कारण भी नहीं थी । वह हिन्दुओं में एकता, उत्साह और सजगता पैदा नहीं कर सकी जो कि उनकी अन्य बुराइयों को ढक देती परन्तु स्थिति इतनी असहायता की भी नहीं थी, क्योंकि राष्ट्र की आत्मा का मूल आधार वहां के लोगों की मान्यताएं होती हैं । इस कारण यह कहना अधिक उचित है कि भारतीय सभ्यता में दुर्बलताएं तो थीं परन्तु वह पूर्णतया शक्तिहीन भी नहीं थी । भारतीय सभ्यता की दुर्बलता इससे स्पष्ट होती है कि वह तुर्कों के सफल आक्रमणों में कोई बाधा न डाल सकी और उसकी शक्ति इस तथ्य से स्पष्ट होती है कि लगातार पराजयों के बाद भी वह आक्रमणकारियों से संघर्षरत रही और फिर भी जीवित रही ।

इस तरह हमारी मान्यता है कि हिन्दुओं की पराजय में आन्तरिक दुर्बलताओं ने पृष्ठ-भूमि तैयार की और तुर्कों की सैनिक शक्ति, रणनीति और

धार्मिक उत्साह ने उसमे पूर्ण आहूति का कार्य किया और विजय श्री को वरने में व सफल हुये।

१८. कुतुबुद्दीन ऐबक (1206–1210 ई)

1206 ई से 1290 ई के काल को फारसी इतिहासकारो ने मुइज्जी कुत्बी शम्सी और बल्बनी वशो म बाटा है। यद्यपि वश वृक्ष की दृष्टि स यह विभाजन ठीक है परन्तु शासन की विभिन्न परिस्थितियो के पीछे जो निरतरता है वह इस विभाजन म नही मिल पाती है। आधुनिक विद्वानो न उन्ह पठान गुलाम वश आरम्भिक तुर्की सुल्तान तुर्क ममलूक और इल्बरी वश कह कर पुकारा है। क्योंकि वे निश्चित रूप से पठान नहीं थे और गद्दी प्राप्ति के पूर्व दासता स मुक्ति पा चुके थे इसलिये इन्हें पठान अथवा गुलाम वश के कहना उचित न होगा। तुर्क ममलूक अथवा इल्बरी तुर्क की तुलना म केवल ममलूक शब्द अधिक उपयुक्त है क्योकि इल्तुतमिश इल्बरी तुर्क था परन्तु कुतुबुद्दीन इल्बरी तुर्क नहीं था। इसके साथ ही हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते की बलबन इल्बरी तुर्क था अथवा नहीं। यह ठीक है कि इस युग के तीनो राज्य सस्थापक—कुतुबुद्दीन, इल्तुतमिश व बलबन ममलूक शब्द की कसौटी पर खरे उतरते हैं अर्थात् वे गुलाम व्यक्ति जो स्वतन्त्र माता पिता की सन्तान थे। इस आधार पर इन शासको को प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानो के नाम से पुकारना ही अधिक उचित होगा।

आरम्भिक जीवन—कुतुबुद्दीन, ऐबक नामक तुर्क जनजाति का था। बचपन म ही निशापुर के काजी फखरुद्दीन अब्दुल अजीज कूफी ने उसे एक दास के रूप म खरीदा था। तुर्कों म अपने गुलामो को योग्य बनाने की एक परम्परा थी। काजी कूफी म सुल्तान निशान अथवा शासक को पहचानने की अत्यधिक क्षमता थी और कुतुबुद्दीन मे ऐसे गुण विद्यमान थे जिसके कारण काजी ने अन्य दासो की तुलना म उसे अत्यधिक स्नेह से पाला और उसकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था अपने पुत्रों के समान की। काजी के लिये कुतुबुद्दीन की यथोचित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करना पूजीनिवेश था जिससे उसे लगाये गये धन की अपेक्षा कई गुना लाभ प्राप्ति की आशा थी। उस समय म उच्च सैनिक शिक्षा व विद्यालयी शिक्षा प्राप्त तुर्क दासो का अत्यधिक मूल्य था जिससे कि कुछ वास्तविक अनुभव के पश्चात् उन्ह जिम्मेदार पदो पर नियुक्त किया जा सके। ऐबक ने इल्तुतमिश को 1197 ई म खरीदा और वही इल्तुतमिश चार वर्ष के अल्प काल म ही ग्वालियर का राज्यपाल (अमीर) बना। इसी प्रकार इल्तुतमिश ने बहाउद्दीन बलबन को 1232 ई म खरीदा और वही बलबन चार वर्ष म सिंहासन की वास्तविक शक्ति बन गया। काजी कूफी की देखरेख में कुतुबुद्दीन न सुरीले स्वर में कुरान पढना सीखा और इसीलिये वह कुरानख्वा (कुरान का पाठ करने वाला) के नाम से प्रसिद्ध हो गया। सम्भवत काजी की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों ने ऐबक को गजनी मे बेच दिया जहा उस

मुईजुद्दीन मुहम्मद गोरी ने खरीदा। ऐबक ने अपनी योग्यता और बुद्धिमता से मुहम्मद गोरी को भी प्रभावित किया और शीघ्र ही वह अमीरे आखूर (शाही अश्वशाला का अधिकारी) बन गया जो उस समय में एक महत्वपूर्ण पद माना जाता था। इसके पश्चात् उसकी लगातार पदोन्नति होती रही जिसकी पूरी जानकारी नहीं मिल पाई है।

गोरी का सहायक—1192 ई. में ऐबक ने तराइन के दूसरे युद्ध में सक्रिय भाग लिया। तत्पश्चात् उसे कुहराम और समाना का प्रशासन सौंपा गया और यहीं से भारत में उसका राजनीतिक जीवन आरम्भ होता है। गोरी के लौट जाने के बाद उसने अजमेर व मेरठ के विद्रोहों को दबाया व दिल्ली को अपने अधिकार में किया। 1194 ई. में जब गोरी ने कन्नौज के शासक जयचन्द से चन्दवार नामक स्थान पर युद्ध किया, ऐबक गोरी के साथ था। तत्पश्चात् उसने गुजरात की राजधानी अन्हिलवाड़ा को लूटा, बुन्देलखण्ड के शासक परमर्दिदेव को पराजित किया और उसके कालिंजर, महोबा व खजुराहो के प्रदेशों पर अधिकार किया। सम्भवत: उसने राजस्थान के कुछ प्रदेशों पर भी अधिकार किया परन्तु इनके बारे में समकालीन स्रोतों में पूर्ण जानकारी नहीं मिल पाती है। इस प्रकार ऐबक ने अपने स्वामी गोरी को भारत में न केवल विभिन्न प्रदेशों को जीतने में सहायता दी अपितु समय-समय पर उन जीते हुये प्रदेशों पर अपना आधिपत्य बनाये रखने के साथ ही नये प्रदेशों को जीतकर राज्य-विस्तार भी किया।

गोरी की मृत्यु के समय ऐबक की स्थिति—यह संदिग्ध है कि गोरी ने तराइन के युद्ध के बाद ऐबक को अपने भारतीय साम्राज्य का वाइसराय बनाया अथवा नहीं? प्रो० हबीबुल्ला के अनुसार, "दिल्ली के निकट इंद्रपत में कुतुबुद्दीन ऐबक के नेतृत्व में एक अधिकृत सेना नियुक्त की गई जिसे मुईजुद्दीन के प्रतिनिधि की भांति कार्य करना था।" इसी प्रकार फखे मुदब्बिर का लेखक भी यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि खोखरों के दमन के बाद गोरी ने ऐबक को वाइसराय बनाया था। उसे मलिक का पद दिया गया था और उसे गोरी के भारतीय साम्राज्य का वली-अहद (उत्तराधिकारी) नियुक्त किया गया था। प्रो० हबीब व निजामी यह स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार दोनों ही मत ऐसी परिस्थिति को पूर्वव्यापी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं जो बहुत बाद में सामने आई। तराइन के युद्ध और खोखरों के अभियान के बाद ऐसी स्थिति नहीं थी कि ऐबक आसानी से वाइसराय के पद को प्राप्त कर सकता क्योंकि पृथ्वीराज एकमात्र भारत का सम्राट नहीं था। अनेक ऐसे शासक थे जो पृथ्वीराज की तरह ही गोरी से लोहा ले सकते थे। इसलिये अधिक उचित यह मालुम पड़ता है कि ऐबक ने कठिन संघर्ष के बाद ही इस प्रकार के अधिकार प्राप्त किये होंगे।

ऐसा अनुभव होता है कि गोरी ने अपने भारतीय साम्राज्य की व्यवस्था की कल्पना अपने अधीन तीन स्वतन्त्र अधिकारियों के रूप में की थी, क्योंकि उसे अपने

कुतुब्बी अथवा गोर के किसी जनजातीय सरदार की योग्यताओं में विश्वास नहीं रह गया था। उसकी मृत्यु अचानक हो गयी थी इसलिये वह प्रशासन की कोई निश्चित रूपरेखा भी तैयार नहीं कर सका था। ऐसी स्थिति में उसके तीनों विश्वासपात्र दासों—यल्दौज, कुबाचा और ऐबक ने अपने आपको एक समान स्थिति में पाया। इसी तरह से गोरी की मृत्यु के बाद बिहार तथा बगाल में मुहम्मद बख्तियार खल्जी की स्थिति थी। उसने पूर्वी प्रदेश में एक स्वतन्त्र अधिकारी के रूप में ही कार्य किया और वो किसी भी प्रकार से कुतुबुद्दीन ऐबक के अधीन नहीं था क्योंकि तिब्बत के अभियान के अन्त में जब वह अपनी आखरी सांसें गिन रहा था तब उसने अपने स्वामी के रूप में गोरी को ही याद किया और ऐबक की कहीं चर्चा भी नहीं की। यदि वह बच गया होता तो सम्भवत वह ऐबक के लिए एक चुनौती होता। वास्तविकता यह है कि गोरी ने अपनी मृत्यु के पहले अपने किसी दास को मुक्त नहीं किया था और न ही उसने कोई प्रशासन की रूपरेखा ही तैयार की थी। ऐबक को भारत में तथा यल्दौज को गजनी में अपना उत्तराधिकारी बनाने की बात प्रतिद्वन्द्वी पक्षों की मनगढ़त बात है जिससे वे सत्ता के सघर्ष में अपनी स्थिति की वैधानिकता को सिद्ध कर सकें। गोरी की मृत्यु ने यल्दौज, कुबाचा और ऐबक को शक्ति-सघर्ष में पूरी तरह स्वतन्त्र छोड दिया जिससे कि योग्यता उनके अधिकार को अन्तिम रूप दे सके। यदि मुहम्मद बख्तियार खल्जी व बहाउद्दीन तुग़रिल जीवित होते तो ऐबक के लिये चुनौतियां और अधिक विकट रूप धारण कर लेती।

गोरी की मृत्यु के बाद लाहौर के अमीरों ने ऐबक को दिल्ली से बुलाया तथा सप्रभुता ग्रहण करने की प्रार्थना की। यह सम्भवत इसलिये किया गया था कि दिल्ली की तुलना में लाहौर अधिक खतरे में था। ऐबक ने स्थिति को समझकर अपना मुख्यालय लाहौर स्थानान्तरित कर दिया। लाहौर के अमीरों द्वारा ऐबक को आमन्त्रित करना यह स्पष्ट करता है कि वह गोरी के दासों में सबसे योग्य था।

अनौपचारिक रूप में 17 जीकाद 602 हि (26 जून 1206 ई) को राज्याभिषेक हुआ, जबकि उसकी सत्ता की मान्यता और दासता से मुक्ति 1208-09 ई में प्राप्त हुई। इसका कारण गोरी राजनीति की जटिलताएं थीं। इसीलिये राज्यारोहण के समय उस समय की प्रचलित परिपाटी के अनुसार न तो उसने अपने नाम का खुतबा ही पढवाया और न ही अपने नाम के सिक्के चलाये। इस अवधि में वह केवल मलिक व सिपहसालार की पदवियां ही धारण कर सन्तुष्ट रहा। 1208 ई गोरी के उत्तराधिकारी गियासुद्दीन ने उसे सुल्तान स्वीकार किया लेकिन उस समय तक ऐबक अपनी शक्ति को दृढ कर चुका था। सम्भवत उसे इसी समय दासता से भी मुक्ति मिली। कानूनी रूप में उसकी स्थिति कुछ भी रही हो, परन्तु वास्तविकता यह है कि 1206 ई में लाहौर को अपनी राजधानी बनाकर उसने गोरी के भारतीय प्रदेश पर एक स्वतन्त्र सुल्तान की तरह व्यवहार करना आरम्भ कर दिया।

ऐबक की कठिनाइयां व उनका समाधान—ऐबक यद्यपि लाहौर को राजधानी बनाकर गोरी के भारतीय साम्राज्य का अधिकारी बन गया था, परन्तु इससे उसकी कठिनाइयों का अन्त न होकर आरम्भ होना था। उसकी सबसे चुनौती-पूर्ण समस्या मुहम्मद गोरी के दासों की ओर से थी जो उसी के समान उसके दास थे और सम्मानित पदों पर आसीन होने के साथ ही महत्वाकांक्षी भी थे। इनमें से मुल्तान और उच्छ का सूबेदार नासिरुद्दीन कुबाचा तथा गजनी का स्वतन्त्र शासक ताजुद्दीन यल्दौज प्रमुख थे। यल्दौज की एक पुत्री का विवाह ऐबक से हुआ था तथा वह ऐबक और उसके भारतीय राज्य को अपने अधीन मानता था। कुबाचा ने यल्दौज की एक पुत्री तथा ऐबक की एक बहन से विवाह किया था और वह भी दिल्ली की गद्दी का दावेदार था। इन दोनों में क्योंकि यल्दौज की महत्वाकांक्षाएं अधिक उग्र थीं और साथ ही साथ मध्य-एशिया की राजनीति में इतने प्रभावपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे कि ऐबक को सबसे पहले यल्दौज से लोहा लेना पड़ा।

ख्वारिज्मशाह के दबाव के कारण यल्दौज को गजनी छोड़कर भागना पड़ा और उसने पंजाब पर आक्रमण किया। ऐबक यह सहन करने के लिए तत्पर नहीं था कि उसकी राजधानी के निकट के प्रदेश मुल्तान पर यल्दौज आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर ले। इसलिये ऐबक ने उसका विरोध किया तथा पराजित कर पंजाब छोड़ने के लिए बाध्य किया। परन्तु गजनी उस समय अरक्षित था और यह सम्भावना थी कि ख्वारिज्मशाह उसको अपने अधिकार क्षेत्र में ले ले इसलिए गजनी के नागरिकों ने ऐबक को आमन्त्रित किया। ऐबक ने इस निमन्त्रण का लाभ उठा कर गजनी पर अधिकार कर लिया। दुर्भाग्य से ऐबक वहाँ भोग-विलास में लिप्त हो गया जिसके कारण वह गजनी की जनता की सद्भावना खो बैठा। उन्होंने यल्दौज को पुनः आमन्त्रित किया और ऐबक केवल चालीस दिन तक गजनी पर शासन करने के बाद भारत लौट आया। यद्यपि ऐबक का ये अभियान असफल रहा परन्तु इस असफलता के बाद भी उसे यह लाभ हुआ कि वह दिल्ली के स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाये रखने में सफल रहा। यल्दौज ने इसके बाद उसे कभी परेशान नहीं किया। इसका दूसरा लाभ यह हुआ कि वह अपनी दासता के कलंक को धो सकने में समर्थ हुआ। उसने गोरी के उत्तराधिकारी गयासुद्दीन महमूद से जो, यल्दौज के भय से फिरोजकोह में दिन काट रहा था, दासता-मुक्ति-पत्र प्राप्त कर लिया। इस प्रकार वह कानूनी रूप में सुल्तान कहलाने का अधिकारी हो गया क्योंकि शरा के अनुसार दास सुल्तान बनने का अधिकारी नहीं है।

वैवाहिक सम्बन्ध की नीति—ऐबक ने अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिए शक्तिशाली तुर्की सरदारों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की नीति अपनाई। उसने नासिरुद्दीन कुबाचा के साथ अपनी दो बहनों का विवाह किया (एक के बाद दूसरी) तथा ताजुद्दीन यल्दौज की लड़की से स्वयं ने विवाह कर लिया। बिहार के

गवर्नर इल्तुतमिश, जिसको उसने स्वयं खरीदा था, के साथ उसने अपनी एक लड़की की शादी कर दी। इस प्रकार से उसने तुर्की सरदारों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध कर उन्हें अपने पक्ष में किया तथा अपनी स्थिति को दृढ़ किया।

हिन्दू सरदार—ऐबक के सामने दूसरी समस्या हिन्दू सरदारों की थी। मुहम्मद गोरी ने इन्हें दुर्बल अवश्य बना दिया था परन्तु वह इनकी शक्ति को पूरी तरह कुचल नहीं पाया था। गोरी की मृत्यु की सूचना पाते ही इन्होंने भारत से तुर्की सत्ता को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया। कालिंजर के चन्देल शासक परमार्दी को कुतुबुद्दीन ने 1202 ई में पराजित किया था। वहां के नये शासक त्रिलोक्य वर्मन ने अपनी राजधानी कालिंजर के स्थान पर अजयगढ़ बनाई और 1206 ई. तक उसने कालिंजर को तुर्कों से छीन लिया। उसने 'कालंजराधिपति' की पैतृक उपाधि धारण की। फिर उसने उत्तरी बघेलखण्ड पर अधिकार किया और तुर्कों के दक्षिण की ओर के मार्ग को रोक दिया।

तुर्कों ने गहड़वार शक्ति को 1193-94 ई के चन्दावर के युद्ध में काफी हानि पहुंचाई थी, परन्तु उनकी शक्ति का अन्त न हो पाया था। 1197 ई. में मात्र 19 वर्ष की अवस्था में हरीश चन्द्र शासक बना। डा त्रिपाठी ने 'द हिस्ट्री ऑफ द गहड़वार डायनेस्टी' में लिखा है कि इस बालक के लिए चारों ओर से तुर्की प्रदेशों से घिरे होने के कारण सम्भवतः अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण बनाये रखना सम्भव नहीं था, परन्तु इसके बाद भी उसने फर्रुखाबाद व बदायूं के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। डा. ए. के श्रीवास्तव[1] के अनुसार जौनपुर से मिर्जापुर तक का प्रदेश उसके अधीन था और सम्भवतः बनारस पर भी उसने अपना अधिकार जमा लिया था। इतिहासकार मिनहाज बनारस को इल्तुतमिश की प्रारम्भिक विजयों में गिनाता है। ऐसा अनुभव होता है कि या तो तुर्क बनारस के विरुद्ध अभियान में असफल रहे अथवा हिन्दुओं ने उन्हें शीघ्र ही वहां से निकाल भगाया। इसी का बदला लेने के लिए ही इल्तुतमिश ने अपने प्रारम्भिक वर्षों में बनारस के विरुद्ध अभियान किया।

इसी प्रकार परिहारों ने तुर्कों से ग्वालियर का प्रदेश पुनः विजित कर लिया। यद्यपि 'ग्वालियर नामा' में 1231 ई तक परिहार शासकों का विस्तृत विवरण मिलता है परन्तु दुर्भाग्यवश 1220 ई. के पहले का परिहारों का कोई सिक्का नहीं मिल पाया है। मलयवर्मदेव के 1220 से 1232 ई तक के कुछ सिक्के मिल पाये हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि 1231-32 ई. तक परिहार वंश वहां राज्य कर रहा था। इल्तुतमिश ने 1231-32 ई में मलयवर्मदेव से ग्वालियर को छीन रशिदुद्दीन को वहां नियुक्त किया था। अनेक छोटे-छोटे राज्यों ने सुल्तान को वार्षिक

1. ए के श्रीवास्तव, द लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ कुतुबुद्दीन ऐबक, पृ 56

कर देना बन्द कर दिया था। रणथम्भौर का शासक गोविन्दराज ऐसा ही शासक था।

ऐबक ने इन विद्रोही हिन्दू राजाओं का दमन करने का प्रयास किया परन्तु वह इसमें सफल नहीं हो पाया क्योंकि यल्दौज का भय काफी साकार था और उसके रहते हुए इस ओर ध्यान देना उचित न होता।

बंगाल के इक्ता (सूबा) ने भी ऐबक को परेशान किया। अलीमर्दान खां ने बंगाल के शासक इख्तयारुद्दीन का वध करके शासन की सत्ता स्वयं अपने हाथों में ले ली थी, परन्तु खल्जी सरदार उससे घृणा करते थे। उन्होंने उसे बन्दी बना लिया, तथा मुहम्मद शेरा को इस शर्त पर शासक बनाया कि वह दिल्ली की आधीनता स्वीकार नहीं करेगा। बंगाल के प्रदेश का इस प्रकार हाथों से निकल जाना ऐबक को रुचिकर नहीं लगा। सौभाग्यवश अलीमर्दान खां कैद से भागकर ऐबक की शरण में पहुंचा। ऐबक ने इस आन्तरिक कलह का लाभ उठाकर अपने एक विश्वसनीय सरदार कैमाज रूमी को सेना सहित बंगाल भेजा और वह पुनः अलीमर्दान खां को बंगाल का सूबेदार बनाने में समर्थ हुआ। अलीमर्दान खां ने वायदा किया वह ऐबक के अधीन रहेगा तथा उसे वार्षिक कर भेजता रहेगा।

कुतुबुद्दीन जब इन समस्याओं को सुलझाने में ही व्यस्त था तब ही अचानक नवम्बर 1210 ई. लाहौर में चौगान (आधुनिक पोलों की तरह एक खेल) खेलते समय घोड़े से गिर जाने के कारण काठी का हत्था उसके सीने में घुस गया जिससे तत्काल ही उसकी मृत्यु हो गई। उसे लाहौर में ही 4 नवम्बर, 1210 ई. को दफना दिया गया और इल्तुतमिश ने उसकी कब्र पर एक साधारण सा स्मारक बनवा दिया।

ऐबक का मूल्यांकन—1192 से 1210 ई. तक के कुतुबुद्दीन के क्रियाशील जीवन की गतिविधियों को हम मोटे रूप से तीन भागों में बांट सकते हैं—1192 से 1206 ई. तक जब मुहम्मद गोरी के प्रतिनिधि के रूप में वह उत्तरी भारत की सैनिक गतिविधियों में व्यस्त रहा, 1206 से 1208 तक जबकि वह अनौपचारिक सत्ताधिकार सहित राजनयिक कार्यों में जुटा रहा (स्वामी अथवा सेनापति), और 1208 से 1210 तक का काल जो उसने स्वतन्त्र शासक के रूप में दिल्ली सल्तनत की रूपरेखा बनाने में व्यतीत किया।

इन तीनों ही युगों में कुतुबुद्दीन ने स्वयं को एक योग्य व कर्मठ सैनिक सिद्ध किया जो कि उसकी बड़ी विशेषता थी। उत्तरी भारत की विजयों में उसका योगदान मुहम्मद गोरी से किसी प्रकार कम न था। जैसा कि प्रो. हबीब व निजामी[1] ने लिखा है कि, "मुईजुद्दीन योजना करता था और निर्देशन करता था और ऐबक

1. हबीब व निजामी, दिल्ली सल्तनत, पृ. 179

उसकी योजनाएं कार्यान्वित करता था। ऐसे समय, जबकि मध्य एशिया के अभियान बार-बार मुईज्जुद्दीन के कार्यों में बाधक सिद्ध हो रहे थे, ऐबक ही था जिसने भारतवर्ष में अपने स्वामी की प्रसारवादी नीति चलाई।" प्रो. हबीबुल्ला ने भी इसी प्रकार लिखा है कि, "इस पर अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं है कि मुईज्जुद्दीन की भारत की सफलताओं का मुख्य श्रेय ऐबक के अथक परिश्रम और स्वामीभक्त सेना को था।"

ऐबक में व्यावहारिक बुद्धि के साथ ही कूटनीतिज्ञता की भी कमी न थी। उसने यह अनुभव किया कि सर्वप्रथम उसे भारत के तुर्की राज्य को मध्य-एशिया की राजनीति से दूर कर उसे गजनी के आधिपत्य से मुक्त रखना उसकी पहली आवश्यकता है। इसीलिये उसने यल्दोज की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया। इस क्षेत्र में उसने न तो यल्दोज की अधीनता ही स्वीकार की और न ही उसे पंजाब में प्रवेश ही करने दिया। इसके विपरीत एक बार तो उसने गजनी को भी अपने अधीन कर लिया। यदि भाग्य साथ देता तो वह गजनी को भी भारतीय राज्य का अंग बना लेता। ऐसा न होना ही उसके लिए अधिक हितकर सिद्ध हुआ, क्योंकि ऐसी स्थिति में भारत भी मध्य-एशिया की राजनीति का एक अंग बन जाता और ख्वारिज्मशाह की लालसा का शिकार बन कर अन्त में नष्ट हो जाता। ऐबक ने दिल्ली सल्तनत को न केवल एक स्वतन्त्र रूप ही दिया अपितु उसके स्वतंत्र अस्तित्व को कायम भी रखा। उसने अपने दूसरे प्रतिद्वन्द्वियों—कुबाचा, अलीमर्दानखां के साथ जिस प्रकार कुशलता का व्यवहार किया, वह उसकी व्यावहारिक बुद्धि व कूटनीतिज्ञता का प्रमाण है। यदि उसने कुशल व्यवहार न किया होता तो सम्भवतः तुर्की राज्य छोटी-छोटी जागीरों में विभक्त होकर स्वयं के नाश को आमन्त्रित करता। कुतुबुद्दीन ने इस व्यवहार-कुशलता के कारण ही अन्य तुर्की सरदारों पर अपनी श्रेष्ठता को स्थापित कर एक नवीन साम्राज्य की नींव रखी। प्रो. हबीब व निजामी ने लिखा है कि "वह मुईज्जुद्दीन द्वारा शासित भारतीय प्रदेशों को स्वतन्त्र राज्य की मान्यता दिलाने के उद्देश्य पर काम करता रहा और वह भी ऐसे समय में जबकि गजनी से लखनौती तक मुईज्जुद्दीन (मुहम्मद गोरी) के साम्राज्य का प्रत्येक भाग एक अनिश्चित वातावरण से गुजर रहा था, क्योंकि स्वर्गीय सुल्तान के अधिकारियों में अराजक महत्वाकांक्षाएं उभर रही थीं। जिन अनिश्चित परिस्थितियों से होकर गोरी साम्राज्य गुजर रहा था उसमें यह उपलब्धि कुछ कम नहीं है।"

कुतुबुद्दीन अपनी दिली और बौद्धिक विशेषताओं के लिए भी प्रसिद्ध था तथा दान देने में वह बड़ा ही उदार था। इतिहासकार मिनहाज[1] ने उसकी अत्यधिक प्रशंसा लिखी है। वह कहता है, "सुल्तान कुतुबुद्दीन दूसरा हातिम था। सर्वशक्ति-

---

1 इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री आफ इण्डिया, एज टोल्ड बाई इट्स हिस्टारियन्स, पृ 217

मान ईश्वर ने उसको ऐसा साहस और औदार्य प्रदान किया था कि उसके समय में उसकी समानता करने वाला पूर्व से पश्चिम तक कोई नहीं था। उसकी उदारता ने उसे 'लख बख्श' की उपाधि से सुशोभित किया।" फरिश्ता का कथन है कि जब जनसाधारण किसी व्यक्ति के असीमित दान की प्रशंसा करते थे तो वह उसे 'अपने समय का ऐबक' कहते थे। प्रो. हबीबुल्ला ने भी लिखा है कि, "उसमें एक तुर्क का साहस और एक ईरानी की उदारता तथा सुसभ्यता मिश्रित थी।" परन्तु इसके साथ ही हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि उसने लाखों व्यक्तियों की हत्या भी की तथा मन्दिरों और धर्म स्थानों का ध्वंस भी किया। इतिहासकार मिनहाज ने लिखा है कि "उसकी उदारता निरन्तर चला करती थी और इसी प्रकार उसका हत्या कार्य भी कभी बन्द नहीं होता था।"

कुतुबुद्दीन जब तक युद्धों में व्यस्त रहा तब तक उसने अपनी सैनिक प्रतिभा का परिचय दिया। परन्तु जब युद्ध की स्थिति समाप्त हो गयी तो उसने अपनी समस्त जनता के प्रति न्याय व उदारता प्रदर्शित की। फख्रे मुदब्बिर ने लिखा है कि यद्यपि उसके सैनिक विभिन्न जातियों के थे परन्तु फिर भी किसी सैनिक का यह साहस न था कि वह किसी किसान के घास का एक तिनका, रोटी का टुकड़ा, बकरी या चिड़िया लेता या उसके घर पर बलात् अधिकार करता। अबुल फजल[1] ने भी यद्यपि महमूद गजनवी की निर्दोष व्यक्तियों का रक्त बहाने के आधार पर कटु आलोचना की है परन्तु ऐबक के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि, "उसने भले और महान् कार्य किये।"

ऐबक को इतना समय नहीं मिल पाया कि वह कला अथवा साहित्य की ओर ध्यान दे सके क्योंकि पूर्णरूप से स्वतन्त्र सुल्तान बनने के बाद वह लगभग दो वर्ष ही जीवित रहा। फिर भी उसने अपने अल्पकाल के शासन में मुस्लिम स्थापत्य-कला को आरम्भ किया। अनेक हिन्दू मन्दिरों को तुड़वाकर उसने कुव्वात-उल-इस्लाम मस्जिद का निर्माण कराया। मार्शल के अनुसार दिल्ली विजय के उपलक्ष में तथा पर्सी ब्राउन के अनुसार इस्लाम धर्म को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से उसने इस मस्जिद का निर्माण करवाया था। इसी प्रकार अजमेर में अढ़ाई दिन का झोंपड़ा नामक मस्जिद भी मन्दिर की आधारशिला व अन्य ध्वस्त मन्दिरों की सामग्री से बनाई गई थी। कुतुबमीनार का आरम्भ भी कुतुबुद्दीन ने अपने गुरु कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी की पुण्य स्मृति में किया था। साहित्य में भी ऐबक की रुचि थी और उसके दरबार में हसन निजामी नाम का प्रसिद्ध इतिहासकार मौजूद था।

कुतुबुद्दीन ने इस प्रकार एक दास की साधारण स्थिति से उठकर सुल्तान बनने से अपनी योग्यता का परिचय दिया परन्तु इसके बाद भी उसे भारत का प्रथम तुर्की सुल्तान मानने में कुछ हिचकिचाहट है। समकालीन इतिहासकार मिनहाज

---

1. प्रो. हबीब व निजामी, दिल्ली सल्तनत (उद्धरित), पृ. 180

(मिनहाजुससिराज) तथा हसन निजामी उसे एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न शासक मानते हैं परन्तु इसके विरोध में दूसरे विद्वान उसको इस प्रकार स्वीकार नहीं करते हैं। चौदहवीं शताब्दी में आने वाले विदेशी यात्री इब्नबतूता ने उसे प्रथम तुर्की स्वतन्त्र सुल्तान नहीं माना है और फीरोज तुगलक का जो उसने दिल्ली सुल्तानों की सूची दी थी उसमें भी उसका नाम नहीं बताया है। एडवर्ड थामस का कथन है कि स्वतन्त्र सुल्तान होने की तरह उसने अपने नाम के सिक्के नहीं ढलवाये। डा. त्रिपाठी का भी कथन है कि उसके नाम के सिक्के अथवा खुतबा पढ़वाने के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिल पायी है। डा. त्रिपाठी के अनुसार समकालीन इतिहासकारों के द्वारा केवल औपचारिकता के आधार पर खुतबा पढ़वाने अथवा सिक्के ढलवाने की बात लिख दी गई है। इसलिये 1206 ई. में लाहौर में शक्ति प्राप्ति के बाद भी शासन में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आया क्योंकि उसने न तो शासकीय उपाधियां ही धारण की और न ही अपने नाम के सिक्के ढलवाये। 1208 ई. तक कुतुबुद्दीन कानूनी आधार पर दास ही था। इस आधार पर डा. त्रिपाठी ने लिखा है कि "भारत में मुस्लिम सम्प्रभुता का इतिहास इल्तुतमिश से आरम्भ होता है।"

इन सब विद्वानों की इस धारणा को बनाने में इब्नबतूता का दिल्ली के सुल्तानों में नाम न गिनाना एक मुख्य आधार है। परन्तु जैसा कि डा. ए. के. श्रीवास्तव[1] ने लिखा है कि इब्नबतूता ने केवल दिल्ली के सुल्तानों की सूची तैयार की थी न कि लाहौर के सुल्तानों की और क्योंकि कुतुबुद्दीन का राज्याभिषेक लाहौर में हुआ था परिणामस्वरूप दिल्ली के सुल्तानों की सूची में उसके नाम का न होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार सिक्कों का प्राप्त न होना अथवा खुतबा न पढ़वाने के प्रमाण न मिलना ऐतिहासिक तथ्य हैं परन्तु इनको निर्णय का आधार बनाना अधिक उचित नहीं होगा क्योंकि अगर कुतुबुद्दीन एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न शासक नहीं था तो आखिर वह क्या था? 1206 ई. में अपने स्वामी शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के मरने के बाद कुतुबुद्दीन केवल कानूनी रूप में ही दास था। उसने नवजात तुर्की सल्तनत की बागडोर अपने हाथों में ले ली और सर्वोच्च शक्ति का स्वामी बन बैठा। गियासुद्दीन महमूद से कानूनी रूप में दासता से मुक्ति प्राप्त कर उसने भारत में स्वतन्त्र तुर्की राज्य की स्थापना की जिसका गजनी से कोई सम्बन्ध नहीं था। डा. त्रिपाठी स्वयं स्वीकार करते हैं कि उसकी सर्वोच्च सेवा भारत को गजनी की सर्वोच्चता से मुक्त करना था जो लगभग दो शताब्दियों से चली आ रही थी। इस प्रकार से उसने भारत में एक स्वतन्त्र तुर्की राज्य की स्थापना के लिए आधारशिला रखी है। डा. त्रिपाठी इस प्रकार से भारत में कुतुबुद्दीन की स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार करते हैं। डा. मुहम्मद अजीज अहमद[2] ने 'अर्ली टर्किश एम्पायर ऑफ देहली' में लिखा है कि

1. ए. के. श्रीवास्तव, वही, पृ. 79

2. मुहम्मद अजीज अहमद, अर्ली टर्किश एम्पायर ऑफ देहली, पृ. 73

कुतुबुद्दीन दिल्ली की गद्दी पर बैठने वाला प्रथम मुस्लिम शासक था जिसने भारत में मुस्लिम राज्य की आधारशिला रखी।

आरामशाह (1210-1211 ई.)

कुतुबुद्दीन की अचानक मृत्यु पर उसके सरदारों ने उसके पुत्र आरामशाह को लाहौर में गद्दी पर बैठाया। इतिहासकार मिनहाज ने तबकात-ए-नासिरी[1] में आराम शाह के अध्याय में उसे कुतुबुद्दीन ऐबक का पुत्र बताया है, परन्तु कुछ ही पंक्तियों के पश्चात् वह लिखता है कि "कुतुबुद्दीन के तीन पुत्रियाँ थी जिनमें से दो का विवाह नासिरुद्दीन कुबाचा के साथ और तीसरी का विवाह इल्तुतमिश के साथ सम्पन्न हुआ था।" आरामशाह का इसमें कोई सन्दर्भ नहीं है। इससे यह आभास होता है कि स्वयं मिनहाज समकालीन इतिहासकार होते हुए भी आरामशाह की तादात्मयता (Identity) की कम जानकारी रखता था। अबुल फजल उसे कुतुबुद्दीन ऐबक का भाई स्वीकार करता है परन्तु उसके प्रमाण अत्यधिक शिथिल है। रेवर्टी उसे कुतुबुद्दीन का दत्तक पुत्र मानता है। ताज-उल-मासिर का लेखक हसन निजामी यद्यपि कुतुबुद्दीन ऐबक के बारे में विस्तृत विवरण देता है, परन्तु आरामशाह के बारे में पूरी तरह मौन है। इस आधार पर हमारे लिए यह सम्भव नहीं हो पाया है कि हम आरामशाह की वस्तु-स्थिति की जानकारी कर सकें।

आरामशाह के लाहौर में गद्दी पर बैठाने से दिल्ली के नागरिक सहमत नहीं थे। परिस्थितियों की माँग थी कि दिल्ली सल्तनत का नेतृत्व एक योग्य और कुशल व्यक्ति के हाथों में सौंपा जावे। इसलिए उन्होंने ऐबक के दामाद और बदायूं के सूबेदार, इल्तुतमिश को दिल्ली का सुल्तान बनाने के लिये आमन्त्रित किया। इल्तुतमिश ने आरामशाह को पराजित कर सुल्तान का पद ग्रहण किया। आरामशाह या तो मार डाला गया अथवा बन्दी के रूप में वह मर गया। उसका शासन-काल केवल आठ मास ही रहा।

---

1. तबकात-ए-नासिरी, पृ. 141

अध्याय—2

इल्बरी तुर्क

आरामशाह को पराजित करने पर सुल्तान शम्सुद्दीन वऊद्दीन अबुल मुजफ्फर अल्तमश (इल्तुतमिश) ने दिल्ली के सिंहासन पर एक नये राजवंश की स्थापना की जिसको साधारणतया हम प्रथम इल्बरी वंश की संज्ञा से पुकारते हैं। इस राजवंश की 1266 ई में नासिरुद्दीन महमूद की मृत्यु के साथ समाप्ति हुई जब गियासुद्दीन बलबन ने द्वितीय इल्बरी वंश की स्थापना की और जो 1290 ई के खल्जी विद्रोह के कारण समाप्त हुआ।

इल्तुतमिश दिल्ली की गद्दी पर बैठते समय स्वतन्त्र सुल्तान की समस्त शर्तों को पूरा करता था। यद्यपि वह गुलाम का गुलाम था, क्योंकि कुतुबुद्दीन ने उसे खरीदा था, परन्तु फिर भी अपनी योग्यता के कारण उसने अपने स्वामी कुतुबुद्दीन से पहले दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली थी। इसलिये गद्दी पर बैठते समय वह दास न होकर एक स्वतन्त्र व्यक्ति था। इसके साथ ही वह इस्लाम की इस मान्यता को 'शक्ति ही राजपद की सहचरी है' पूरा करता था। शक्तिशाली होने के साथ ही वह आरामशाह से अधिक योग्य व अनुभवी भी था जो कि उस समय की परिस्थितियों मे मूल शर्त थी। दिल्ली के अमीरों का, जो व्यावहारिक रूप मे मिल्लत के प्रभावशाली अंग थे, उस समर्थन प्राप्त था और उन्होंने ही उसे आमंत्रित भी किया था। तुर्की शासन की स्थापना म भी उसका विशेष योगदान था और फिर कुतुबुद्दीन उसे 'पुत्र' कह कर पुकारता था। उस युग मे बदायू का 'इक्ता' भी केवल संभावित उत्तराधिकारी को ही दिया जाता था और क्योंकि कुतुबुद्दीन ने इल्तुतमिश को यह इक्ता दिया था, इसका अर्थ था कि वह उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करना चाहता था। इसलिये परिस्थितियों तथा अपनी योग्यता और सेनाओं के आधार पर और प्रचलित इस्लामी मान्यताओं के आधार पर वह गद्दी का उचित उत्तराधिकारी था। ऐसे समय मे जब कि वंशानुगत अधिकार की परम्परा स्थापित नहीं हुई हो, केवल शक्ति और योग्यता ही शासक को चुनने की कसौटियां हों, इल्तुतमिश इन पर पूरी तरह खरा उतरता था। इस आधार पर यह मानना कि उसने गद्दी को हथियाया था अथवा उसने अवैध रूप से इसे प्राप्त किया था, उचित न होगा। वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसे सुल्तान-पद की स्वीकृति किसी गोर के शासक से न मिलकर खलीफा से प्राप्त हुई थी।

नाम सम्बन्धित विवाद—समकालीन और बाद के लेखकों ने इस शम्सी-वंश के संस्थापक के नाम का उच्चारण विभिन्न तरीकों से किया है। ईलियट ने 'अल्तमश', एल्फिन्स्टन ने 'अल्तमिश' व रैवर्टी ने 'ईयल्तिमिश' कह कर पुकारा है। बार्टहोल्ड का यह मत है कि वास्तव में उसका नाम 'इल्तुतमिश' अर्थात् 'राज्य का स्वामी' है। उनके मत की पुष्टि 'ताजुलमआसिर' की पीटर्सवर्ग विश्वविद्यालय में सुरक्षित 829 हिजरी की पांडुलिपि से होती है जिसमें 'उ' की मात्रा लगी हुई मिलती है। उनके मत की पुष्टि समकालीन फारसी साहित्य से भी होती है जिसमें 'इल्तुतमिश' का उच्चारण किये बगैर तुक नहीं मिल पाती है। 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम' ने हिकमत बयूर के मत को मानते हुये इसका उच्चारण 'इलेतिमश' किया। इन विभिन्न उच्चारणों के कारणों के बारे में प्रो. हबीब भी मौन है और इल्तुतमिश के अतिरिक्त किसी दूसरे उच्चारण को उस समय तक स्वीकार नही किया जा सकता, जब तक कि समकालीन ग्रन्थों मे दिये पदों और सुल्तान के शिलालेखों से उसका तालमेल न हो। इसलिये समकालीन विद्वान व सुल्तान स्वयं जिस प्रकार से इसका उच्चारण करते थे उसको ध्यान में रखकर 'इल्तुतमिश' ही कहना अधिक उचित होगा।

प्रारम्भिक जीवन—इल्तुतमिश इल्बारी–तुर्क था। उसका पिता ईलम खां अपने कबीले का प्रधान था। वह सुन्दर होने के साथ ही बुद्धिमान भी था, इसीलिये वह अपने परिवार के व्यक्तियों की ईर्ष्या का शिकार था। इसी कारण उसका पिता उसे घर से बाहर नही जाने देता था, परन्तु भाग्य को कुछ और ही मंजूर था। एक बार घोड़ों की दौड़ दिखाने के बहाने उसके भाइयों ने उसे एक गुलामो के व्यापारी के हाथों बेच दिया। वह लगातार दो बार इस तरह बेचा गया और अन्त में जमालुद्दीन मुहम्मद के हाथो पड़ा, जो उसे बेचने के लिये गजनी ले गया। अपने आकर्षक व्यक्तित्व व योग्यता के कारण मुहम्मद गोरी ने उसे तथा एक दूसरे दास को एक हजार स्वर्ण मुद्राओं मे खरीदना चाहा, परन्तु जमालुद्दीन महमूद ने इस मूल्य पर देने से मना कर दिया। गोरी ने गजनी में उसके क्रय-विक्रय पर रोक लगा दी। कुछ समय बाद कुतुबुद्दीन ने भी उसे देखा और प्रभावित होने के कारण उसे खरीदना चाहा। परन्तु क्योंकि गजनी में रोक के कारण यह सम्भव नही था इसलिये उसे दिल्ली ले जाया गया, जहां ऐबक ने उसे तथा उसके साथी दास को एक लाख जीतल में खरीद लिया।

इल्तुतमिश की शिक्षा-प्राप्ति के बारे में कोई जानकारी नही मिल पाई है, परन्तु इतना निश्चित है कि उसे कुतुबुद्दीन ने उत्तम शिक्षा दिलवाई थी। आगरे मे उसे 'सरजानदार' (शाही अंगरक्षको का सरदार) जैसा महत्वपूर्ण पद दिया गया और शीघ्र ही वह उन्नति करता हुआ 'अमीरे-शिकार' के पद पर पहुंच गया। 1200 ई. मे ग्वालियर की विजय के बाद उसे वहाँ का 'अमीर' बनाया गया।

इसके बाद उसे बरन (बुलन्दशहर) का 'इक्ता' मिला और उसके बाद दिल्ली सल्तनत का सबसे महत्वपूर्ण बदायूं का इक्ता मिला जो सम्भावित उत्तराधिकारी को दिया जाता था। कुतुबुद्दीन ने अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया। 1205-1206 ई में मोहम्मद गोरी के साथ खोक्करों को दबाने में उसने जिस साहस और कौशल का परिचय दिया, उससे प्रसन्न हो गोरी ने उसे दासता से मुक्त करने के आदेश भी दिये। यह एक अनन्य सम्मान था, क्योंकि इस समय तक गोरी ने अपने वरिष्ठ दासों जैसे ऐबक, कुबाचा अथवा यल्दौज को भी दासता से मुक्त नहीं किया था।

इल्तुतमिश की समस्याएं—इल्तुतमिश बड़ी ही असाधारण परिस्थितियों में सुल्तान बना था। चारों ओर से वह प्रतिद्वन्द्वियों से घिरा हुआ था जिनमें गजनी में यल्दौज, मुल्तान में कुबाचा और लखनौती में अलीमर्दान प्रमुख थे।

यल्दौज मुहम्मद गोरी के भारतीय प्रदेशों पर अपना अधिकार मानता था। ऐबक के समय भी उसने यह दावा किया था और ऐबक को उससे युद्ध करना पड़ा था। गजनी में चालीस दिन शासन करने के बाद ऐबक को उसे छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ा था, यदि यल्दौज अपने दामाद ऐबक से युद्ध कर सकता था तो इल्तुतमिश से लोहा लेने में उसके सामने कोई रुकावट नहीं थी। वह इल्तुतमिश को गजनी के एक सूबेदार के रूप में ही भारत के तुर्की राज्य का शासन करते हुए देखना चाहता था।

सिन्ध और मुल्तान के सूबेदार नासिरुद्दीन कुबाचा ने ऐबक की मृत्यु होते ही स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। इल्तुतमिश की कठिनाइयों का लाभ उठाकर उसने भटिण्डा, कुहराम तथा सरस्वती पर भी अधिकार जमा लिया। कुतुबुद्दीन ऐबक का बहनोई होने के नाते वह दिल्ली का भी दावेदार हो सकता था।

इसके अतिरिक्त दिल्ली के अनेक अमीर व तुर्क सरदार इल्तुतमिश को गद्दी के लिये आमन्त्रित करने के विरोधी थे। ये तुर्की सरदार इल्तुतमिश के लिये किसी समय भी घातक सिद्ध हो सकते थे। इसी समय बंगाल और बिहार के शासक अलीमर्दान खां ने दिल्ली से अपने प्रदेशों की दूरी का लाभ उठाकर व सल्तनत की तरल स्थिति को देखकर स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर दिया।

हिन्दू-राजपूत सरदार सल्तनत की कमजोर स्थिति का लाभ उठाकर तुर्की परतन्त्रता के बोझ को उतार फेंकने के लिये आतुर थे। जालौर, रणथम्भौर व ग्वालियर स्वतन्त्र हो गये थे और दोआब को तुर्की आधिपत्य में रखना कठिन हो रहा था।

इन कठिनाइयों को अधिक बोझिल बनाने का काम मंगोल आक्रमणों के भय ने पूरा किया। भारत पर सल्तनत काल में पहली बार मंगोलों के नेता चंगेजखां के नेतृत्व में आक्रमण की प्रबल सम्भावनाएं दिखाई देने लगीं।

इस प्रकार इल्तुतमिश के सामने कठिनाइयों का अम्बार था और दिल्ली का राज्य एक अस्थिर फौजी जागीर की भाँति था जिसमें स्थायित्व का पूर्णतया अभाव था और जिसे केवल शक्ति के आधार पर ही बनाये रक्खा जा सकता था। इल्तुतमिश ने अपनी विलक्षण शक्ति, कौशल और साहस के आधार पर न केवल इसे बनाये रक्खा अपितु इसके साथ ही इसे एक स्वरूप भी प्रदान किया।

ताज और अमीरों के बीच-संघर्ष

1. तुर्क अमीरों का दमन—इल्तुतमिश के सम्मुख तत्कालीन प्रमुख समस्या दिल्ली के अमीरों की थी। आरामशाह को पराजित करने के बाद जब वह गद्दी पर बैठा तो अनेक तुर्की सरदारों ने उसे सुल्तान मानने से इन्कार कर दिया। वे उसकी जगह पर प्राचीन राजवंश के किसी सदस्य को गद्दी पर बैठाना चाहते थे। इल्तुतमिश ने इन कुतबी (कुतुबुद्दीन के समय के) और मुइज्जी (मुइज्जुद्दीन मुहम्मद गोरी के समय के) अमीरों को दिल्ली के निकट जूद के युद्ध मे पराजित किया और उनमें से अधिकांश को मौत के घाट उतार दिया। शेष ने इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली। भविष्य मे तुर्की अमीरों के विद्रोहों को रोकने के उसने कूटनीति से काम लेकर बहुत-से तुर्क अमीरों को राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करके उन्हे साम्राज्य के विभिन्न भागों में नियुक्त कर दिया।

2. यल्दौज का दमन—इल्तुतमिश के प्रतिद्वन्द्वियों में ताजुद्दीन यल्दौज प्रमुख था, क्योंकि वह स्वयं को मुहम्मद गोरी का उत्तराधिकारी मानने के कारण भारतीय साम्राज्य को गजनी का एक भाग मानता था और इसलिये इल्तुतमिश को अपने अधीन स्वीकार करता था। यदि इल्तुतमिश इस स्थिति को स्वीकार कर लेता तो वह गजनी के एक सूबेदार के रूप मे ही भारत का शासन कर सकता था। परन्तु वह न तो इस मातहत स्थिति को स्वीकार करने के लिये तैयार था और न ही इस समय इस स्थिति मे था कि वह यल्दौज को मुंह तोड़ उत्तर ही दे सके। इसलिये उसने बड़ी कूटनीति का प्रदर्शन किया और यल्दौज द्वारा उसे अपने अधीन मानते हुये छत्र, दण्ड आदि राजचिन्हों को उसने चुपचाप स्वीकार कर लिया। 'ठहरो, और स्थिति का अध्ययन करो' की नीति अपनाकर वह ऐसे अवसर की तलाश में रहा जब वह इस छद्म आवरण को उतार फेंके।

शीघ्र ही उसे अवसर भी मिल गया। 1215 ई. में ख्वारज्मियों ने यल्दौज को पराजित कर उसे वहाँ से भागने के लिये बाध्य किया। वह भागकर लाहौर आया जहाँ उसने कुबाचा के कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसने थानेश्वर तक अपना अधिकार जमा लिया और पुनः दिल्ली की गद्दी पर अपने अधिकार का दावा प्रस्तुत किया। इल्तुतमिश के लिये ये दोहरी मार थी, क्योंकि अगर यल्दौज पंजाब मे अपनी शक्ति संगठित कर लेता तो इल्तुतमिश के लिये दिल्ली की रक्षा करना अत्यधिक कठिन हो जाता। दूसरी ओर यल्दौज अपने दिल्ली के दावे को

पुन दोहरा रहा था। इल्तुतमिश के सामने यल्दौज का ससैन्य विरोध करने के अतिरिक्त कोई चारा न था। 1215-16 ई में तराइन के मैदान मे दोनो के बीच युद्ध हुआ जिसमे यल्दौज की पराजय हुई। यल्दौज को कैद कर लिया गया तथा बदायू ले जाया गया जहाँ उसका वध कर दिया गया। प्रो. हबीब व निजामी[1] के अनुसार इल्तुतमिश को इससे दो लाभ हुए। उनके अनुसार, "उसकी सत्ता ललकारने वाला सबसे भयकर शत्रु का विनाश और गजनी से अन्तिम रूप मे सम्बन्ध विच्छेद जिसके फलस्वरूप दिल्ली का स्वतन्त्र अस्तित्व निश्चित हो गया।"

कुबाचा का अन्त– इल्तुतमिश ने अब अपने दूसरे प्रतिद्वन्द्वी कुबाचा की ओर ध्यान दिया। कुबाचा, इल्तुतमिश की तरह ही मोहम्मद गोरी का दास था। मिनहाजुस सिराज के अनुसार वह बुद्धिमान, चतुर, अनुभवी व विवेकशील व्यक्ति था और सैनिक तथा प्रशासनिक जानकारी रखता था। कुतुबुद्दीन ऐबक की दो पुत्रियों से विवाह करने के कारण उसने उसे तग नहीं किया परन्तु इल्तुतमिश उसका कोई सम्बन्धी नहीं था। वह स्वय को इल्तुतमिश से श्रेष्ठ समझता था। इल्तुतमिश के गद्दी पर बैठने के समय की परिस्थितियों का लाभ उठाकर उसने सरहिन्द, सरस्वती, भटिण्डा और लाहौर तक अपना अधिकार जमा लिया था। इस कारण वह उत्तर-पश्चिम व पजाब मे इल्तुतमिश का प्रबल विरोधी हो चुका था। वह पजाब को अपने अधिकार से छोडने के लिये तैयार न था। यल्दौज ने कुबाचा से लाहौर छीन लिया और थोडे ही समय मे इल्तुतमिश से पराजित होने के कारण कुबाचा ने पुन उस पर अधिकार कर लिया, तब भी वह अपनी व्यस्तता के कारण कुबाचा की ओर ध्यान न दे सका। 1217 ई मे यल्दौज के भय से मुक्त होकर उसने कुबाचा के प्रदेशों पर आक्रमण किया और कुबाचा लाहौर से भाग खड़ा हुआ। उसका पीछा किया गया और चिनाब पर स्थित मसूरा के निकट उसे पराजित कर इल्तुतमिश ने उससे अपनी अधीनता मनवाई। मुल्तान, कच्छ, सिन्ध आदि के प्रदेश कुबाचा के अधिकार मे ही रहे परन्तु लाहौर का प्रदेश उससे छीनकर, इल्तुतमिश ने अपने लडके नासिरुद्दीन महमूद को वहा का शासक नियुक्त किया।

यद्यपि कुबाचा ने इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार कर ली थी, परन्तु व्यावहारिक रूप मे 1227 ई तक वह इल्तुतमिश का प्रतिद्वन्द्वी बना रहा। इस बीच मगोलो के नेता चगेजखा तथा ख्वारिज्मशाह के पुत्र जलालुद्दीन मगबरनी के बीच पजाब, सिन्ध-सागर के दोआब के ऊपरी भाग मे जो सघर्ष चला उसके कारण कुबाचा की शक्ति अधिक क्षीण हो गई। मगोल 1221 ई मे अपने विरोधी जलालुद्दीन मगबर्नी का पीछा करते हुये सिन्ध नदी तक आ गये थे और लगभग चार वर्ष तक पजाब का प्रदेश मगोल आक्रमणकारियों, कुबाचा,

1. हबीब व निजामी, वही, पृ 184

जलालुद्दीन मंगवर्नी और खोक्खर जाति के बीच संघर्ष का रण-क्षेत्र बना रहा। यद्यपि मंगोल 1224 ई. में पुनः खुरासान लौट गये परन्तु जाते-जाते कुबाचा के प्रदेश मुल्तान पर आक्रमण कर उन्होंने कुबाचा की प्रतिष्ठा को एक और आघात लगाया। पहले ही उन्होंने उसके प्रदेश को काफी लूटा और तहस-नहस किया था। रही-सही कमी खल्जियों ने पूरी कर दी और सीमान्त के प्रदेशों में कुबाचा के लिये एक नया सिर-दर्द पैदा कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कुबाचा की स्थिति बड़ी कमजोर हो गई।

इल्तुतमिश ने इस स्थिति का लाभ उठाया। उसने स्वयं सरहिन्द के मार्ग से उच्छ पर आक्रमण किया तथा दूसरी सेना के साथ लाहौर के प्रान्तीय शासक ने मुल्तान पर धावा बोला। कुबाचा इस दोहरे आक्रमण से घबरा गया। उसने नीचले सिन्ध में स्थित भक्कर के किले में शरण ली। इसका परिणाम हुआ कि मुल्तान ने आत्म-समर्पण किया व दो माह सत्ताइस दिन के घेरे के पश्चात् उच्छ पर भी इल्तुतमिश का अधिकार हो गया। कुबाचा ने अलाउद्दीन मसूद बहरामशाह को सुल्तान की सेवा में भेज सम्मानजनक सन्धि करने का प्रस्ताव रक्खा, परन्तु इल्तुतमिश पूर्ण आत्मसमर्पण के अतिरिक्त किसी शर्त को स्वीकार करने के लिए तत्पर न था। कुबाचा को शंका थी कि उसके साथ भी यल्दोज जैसा व्यवहार न किया जावे इसलिये उसने नाव से सिन्धु नदी पारकर अपनी जान बचाने का प्रयास किया परन्तु दुर्भाग्य ने उसका यहां भी पीछा नहीं छोड़ा। सम्भवतः नाव डूब जाने से उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार इल्तुतमिश का एक और प्रतिद्वन्द्वी समाप्त हो गया। उसने मुल्तान और सिन्ध को दिल्ली राज्य में मिला लिया। दूसरे अनेक महत्वपूर्ण किलों को जीतकर उसने पंजाब और सिन्ध में अपनी स्थिति दृढ़ की और इस प्रकार दिल्ली सल्तनत की पश्चिमी सीमाओं को मकरान तक ले गया। निचले सिन्ध में देवल के शासक मलिक सिनानुद्दीन ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इल्तुतमिश ने इससे आगे अपनी सीमाओं को बढ़ाने का प्रयास नहीं किया क्योंकि उससे मंगोलों से झगड़ा होने की सम्भावना हो सकती थी।

मंगोल-आक्रमण तथा इल्तुतमिश—इल्तुतमिश के राज्यकाल में पहली बार 1221 ई. में मंगोल आक्रमणों की सम्भावना ने एक नये संकट को जन्म दिया। मंगोलों का नेता चंगेजखां ख्वारिज्म के शासक अलाउद्दीन मुहम्मद को पराजित कर उसके पुत्र जलालुद्दीन मंगवर्नी का पीछा करता हुआ सिन्धु नदी के तट तक आ गया। इस कारण पंजाब, सिन्ध सागर के दोआब का ऊपरी भाग मंगवर्नी, कुबाचा, मंगोलों और खोक्खर जाति के बीच संघर्ष का रणक्षेत्र बन गया। चंगेज खां ने इल्तुतमिश के पास अपना दूत इस आशय से भेजा जिससे कि मंगवर्नी को दिल्ली से कोई सहायता न मिल सके। इल्तुतमिश इस नयी कठिनाई में फंसने के लिए तैयार न था इसलिये उसने यह ध्यान रक्खा कि उसकी कार्यवाहियों से मंगोलों को उसके

विरुद्ध कोई आपत्ति का मौका न मिले। दूसरी ओर मगवर्नी ने अपने दूत आइनुल-मुल्क के द्वारा इल्तुतमिश से प्रार्थना की कि वह उसे कोई ऐसा स्थान दे दे जहां वह कुछ समय के लिये रह सके। इल्तुतमिश बड़ी दुविधापूर्ण स्थिति में था। एक शरणार्थी मुस्लिम शहज़ादे को मुस्लिम राज्य में सुल्तान द्वारा सहायता की प्रार्थना को ठुकरा देना एक अपवाद था परन्तु दूसरी ओर उसे शरण देकर चंगेज की क्रूरता तथा बर्बरता को निमन्त्रित करना भी कोई बुद्धिमता नहीं थी। इसलिए इल्तुतमिश ने जलालुद्दीन के दूत का वध करवा दिया तथा यह विनम्र संदेश भेजा कि उसके प्रदेश में ऐसा कोई अनुकूल जलवायु वाला प्रदेश नहीं जो उसे निवास के लिए दिया जा सके। उसने उससे पंजाब को खाली कर देने की भी प्रार्थना की और इसको क्रियान्वित करने के लिए उसने एक सेना के साथ मगवर्नी के विरुद्ध कूच भी किया। मगवर्नी युद्ध करना नहीं चाहता था इसलिये वह बलाला की ओर चला गया।

तत्पश्चात् मगवर्नी ने कुबाचा की ओर ध्यान दिया। उसने कुबाचा पर आक्रमण कर उसे मुल्तान के दुर्ग में खदेड़ दिया। उसने पंजाब और सिन्ध पर अपना प्रभाव बढ़ाने की कोशिश की और इस प्रकार कुबाचा की शक्ति को काफी हानि पहुंचाई। उसी समय उसे सूचना मिली कि खुरासान में उसके समर्थकों की संख्या बढ़ रही है, इसलिये वह 1224 ई में अपने कुछ अधिकारियों को भारत में छोड़ पर्शिया लौट गया।

जब तक मगवर्नी भारत में रहा तब तक इल्तुतमिश ने उसे कोई सहायता नहीं दी और जब तक चंगेज खा जीवित रहा (1227 ई), तब तक उसने सिन्ध नदी के पश्चिम में राज्य-विस्तार की कोई नीति नहीं अपनाई। यदि इल्तुतमिश ने मंगवर्नी की सहायता की होती तो स्वाभाविक था कि चंगेज खा दिल्ली सल्तनत पर अवश्य ही आक्रमण करता और नव-स्थापित दिल्ली सल्तनत के लिए चंगेज खां के आक्रमणों का सफल प्रतिरोध करना असम्भव था। भारत का तुर्की राज्य सम्भवत. चंगेज खा के सामने अकाल मृत्यु का शिकार होता। इस प्रकार इल्तुतमिश की दूरदर्शिता ने न केवल तुर्की राज्य की रक्षा की अपितु मंगोलो के आक्रमण से पंजाब में उत्पन्न परिस्थितियों का लाभ उठाकर वहाँ दिल्ली सल्तनत की जड़ों को मजबूत कर दिया।

बंगाल-विजय—कुतुबुद्दीन ऐबक के नैतिक समर्थन से अलीमर्दान खा ने बंगाल में अपनी सत्ता स्थापित की थी। इस कारण वह कुतुबुद्दीन की अधीनता मानता था। ऐबक की मृत्यु के पश्चात् उसने स्वयं को स्वतंत्र शासक घोषित कर दिया। वह इतना अधिक अत्याचारी सिद्ध हुआ कि दो वर्ष के शासन के पश्चात् ही उसके अमीरों ने उसकी हत्या कर दी और उसके स्थान पर हिसामुद्दीन एवाज खल्जी को शासक बनाया (1211 ई), जिसने गयासुद्दीन की उपाधि ग्रहण की और एक स्वतंत्र शासक की भांति शासन करने लगा। इल्तुतमिश इस समय अपनी

मंगोलों की नीति के लिए देखिये अध्याय 7

पश्चिमी सीमा की समस्या में इतना अधिक उलझा हुआ था कि वह गयासुद्दीन की ओर कोई ध्यान न दे सका। उसने इल्तुतमिश की व्यस्तता का लाभ उठाकर बिहार को अपने राज्य में मिला लिया तथा जाजनगर, तिरहुत, बंग और काम रूप के राजाओं से कर वसूल किया।

पश्चिमी सीमा की सुरक्षा करने के बाद इल्तुतमिश ने बंगाल, बिहार की ओर ध्यान दिया। दक्षिण बिहार को जीतकर वह गंगा नदी के किनारे आगे बढ़ा। गयासुद्दीन उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा परन्तु उसने आत्मसमर्पण करना ही अधिक उचित समझा। उसने इल्तुतमिश की अधीनता स्वीकार करली तथा भारी हर्जाना भी दिया। इल्तुतमिश ने मलिक जानी को बिहार का सूबेदार बनाया और वह वापिस आ गया। इल्तुतमिश के लौटते ही गयासुद्दीन ने मलिक जानी को पराजित कर बिहार से भगा दिया तथा पुनः एक स्वतंत्र शासक की भांति व्यवहार करने लगा। इल्तुतमिश ने इसके विरुद्ध तत्काल कोई कार्यवाही नहीं की किन्तु अपने पुत्र नासिरुद्दीन महमूद को जो अवध का सूबेदार था, सतर्क कर दिया और सुअवसर पाते ही आक्रमण के आदेश भी दिये। गयासुद्दीन ने तुरंत कार्यवाही न करने का कारण इल्तुतमिश की कमजोरी समझा और वह पूर्व की ओर एक अभियान पर निकल गया। नासिरुद्दीन महमूद ने यह अच्छा अवसर देख उसकी राजधानी लखनौती पर आक्रमण किया। गयासुद्दीन अपनी राजधानी की रक्षा के लिए वापिस लौटा परन्तु युद्ध में मारा गया। इस प्रकार 1226 ई. में बंगाल दिल्ली सल्तनत का एक इक्ता (सूबा) बन गया। 1229 ई. में नासिरुद्दीन महमूद की मृत्यु के बाद मलिक इख्तयारुद्दीन बल्का खल्जी ने बंगाल पर पुनः अधिकार कर लिया। इल्तुतमिश ने एक बार फिर उसे पराजित कर बंगाल को दिल्ली सल्तनत के अधीन किया। इस बार उसने बंगाल और बिहार की व्यवस्था के लिए अलग-अलग दो अधिकारियों की नियुक्ति की। बंगाल और बिहार के प्रदेश उसकी मृत्यु तक दिल्ली सल्तनत के अंग बने रहे।

हिन्दू राजाओं से संघर्ष—कुतुबुद्दीन ऐबक हिन्दू राजाओं की ओर ध्यान न दे सका था। इल्तुतमिश भी 1225 ई. तक पश्चिमी सीमा की सुरक्षा तथा तुर्क अमीरों की समस्या में इतना अधिक उलझा हुआ था कि वह इस ओर ध्यान न दे सका। हिन्दू राजाओं ने इस बीच तुर्कों की सत्ता को समाप्त करने का प्रयत्न किया। चंदेलों ने कालिजर और अजयगढ़ को जीत लिया, प्रतिहारों ने ग्वालियर, नरवर और झांसी पर अपना अधिकार जमा लिया तथा चौहानों ने रणथम्भौर को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले लिया। जालौर के चौहानों ने दक्षिण-पश्चिमी राजपूताने के अधिकांश भाग को हथिया लिया और भट्टी राजपूतों ने अलवर आदि के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। राजपूताना की तरह ही बदायूं, कन्नौज व कटेहर के प्रदेशों ने भी तुर्की परतंत्रता के जूड़े को उतार फेंका।

इल्तुतमिश ने हिन्दू राजाओं के प्रति आक्रमणकारी नीति अपनाई और कम से कम ऐसे प्रदेशों को पुनः अपने अधिकार क्षेत्र में लाने का प्रयास किया जो पहले कभी तुर्की राज्य के अंग रह चुके थे। उसने 1226 ई. में रणथम्भौर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया और अगले वर्ष 1227 ई. में शिवालिक प्रदेश में मंडोर पर भी अपना अधिकार जमा दिया। तत्पश्चात् उसने 1230 ई. के पूर्व जालौर, अजमेर, बयाना, तहनगढ़ व साम्भर पर अधिकार कर लिया।

1231 ई. में उसने ग्वालियर पर आक्रमण किया क्योंकि परिहार शासक मंगलदेव ने दिल्ली के अधिकार को मानने से इन्कार कर दिया था। लगभग ग्यारह महीने तक दुर्ग का घेरा चलता रहा। सुल्तान ने दुर्ग जीतने के लिए शाही डेरे पर धर्मोपदेश की व्यवस्था की जिससे दुर्ग को जीतने में आने वाली कठिनाइयों का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। दुर्ग न जीतने तक इसी प्रकार के धर्मोपदेशों की व्यवस्था की जाती रही जिनकी संख्या लगभग 95 थी। अन्त में 26 सफर 630 हिजरी (12 दिसम्बर 1232 ई.) को मंगलदेव भाग निकला और दुर्ग पर तुर्कों का अधिकार हो गया। विजय की खुशी में अधिकारियों को खिलअत प्रदान की गई। इल्तुतमिश ने नुसरतुद्दीन तायसी को ग्वालियर दुर्ग के शहना का पद दिया तथा उसे कालिंजर और चंदेरी के प्रदेशों को लूटने का आदेश दिया।

तायसी ने 1233-34 ई. में कालिंजर और उसके आस-पास के प्रदेशों पर आक्रमण किया। चन्देल शासक दुर्ग की सुरक्षा अपने अधिकारियों को सौंप कर भाग गया। लगभग पचास दिन तक तायसी उसके प्रदेश में लूटपाट करता रहा और उसे लगभग एक लाख पच्चीस हजार जीतल प्राप्त हुए।

इसके बाद इल्तुतमिश ने 1234-35 ई. में मालवा पर आक्रमण किया। भिलसा के दुर्ग और नगर पर अधिकार कर लिया गया। वहां उसने एक मंदिर को जो 300 वर्ष में बन पाया था विध्वंस किया। फिर वह उज्जैन की ओर बढ़ा जहां उसने हिन्दुओं के प्रसिद्ध महाकाल के मन्दिर को नष्ट किया तथा विक्रमाजीत की प्रतिमा को दिल्ली ले गया। परन्तु यह मालवा की विजय न होकर मात्र लूटमार थी। दोआब में उसने बदायूं, कन्नौज, बनारस, कटेहर और बहराइच को पुनः जीता। इस प्रकार इल्तुतमिश ने तुर्की सत्ता को पुनः स्थापित करने का सफल प्रयास किया।

यह सत्य है कि उसे गुहिलोतों और चालुक्यों के विरुद्ध कोई सफलता नहीं मिली परन्तु इसके बाद भी जिन परिस्थितियों में उसने तुर्की सत्ता पुनः स्थापित करने का प्रयास किया वह प्रशंसनीय है। जब वह शासक बना तो यह सम्भावना अधिक थी कि सल्तनत के टुकड़े टुकड़े हो जायेंगे और अन्ततोगत्वा उसका विनाश पूरा हो जायगा परन्तु उसने जिस दूरदर्शिता से आन्तरिक व बाहरी शत्रुओं का दमन किया वह उसकी कूटनीतिज्ञता की परिचायक है। राजपूतों की शक्ति पर वह

अंकुश अवश्य लगा सका परन्तु उनकी शक्ति का पूर्ण दमन नहीं कर पाया। पूरी तरह से राजपूतों की शक्ति को उन परिस्थितियों में नष्ट करना सम्भव भी नहीं था, जबकि वह स्वयं चारों ओर से कठिनाइयों से घिरा हो। बंगाल और सिन्ध से वह अपना आधिपत्य स्वीकार करवा कर ही सन्तुष्ट था।

खलीफा द्वारा उसके पद की स्वीकृति—18 फरवरी 1229 ई. को खलीफा ने इल्तुतमिश के लिये एक मानाभिषेक पत्र अपने राजदूत के द्वारा दिल्ली भेजा। इस पत्र के द्वारा खलीफा ने दिल्ली सल्तनत की स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार किया। इसका सीधा अर्थ था कि सुल्तान का अधिकार वैध बन गया और भारत के मुस्लिमों के लिए उसकी आज्ञाओं की अवज्ञा करना धर्म-विरुद्ध हो गया। इस वैधानिक स्वीकृति से उसका व्यक्तित्व और अधिक निखर गया। यह कहना कठिन है कि खलीफा से मान्यता प्राप्त करने के लिए उसने स्वयं प्रार्थना की थी अथवा खलीफा ने स्वेच्छा से अपनी स्वीकृति दी थी। परन्तु इतना निश्चित है कि इस मान्यता ने उसके उन विरोधियों का मुंह बन्द कर दिया जो उसके गुलाम होने के आधार पर उसे सिंहासन का अधिकारी नहीं मानते थे। खलीफा जो समस्त मुस्लिम जगत का धार्मिक नेता था, उसके द्वारा इस मान्यता ने स्थिति में समुचित परिवर्तन कर दिया था और अब वह इस स्थिति में था कि सुल्तान के पद को वंशानुगत बना सके।

इल्तुतमिश की मृत्यु—1236 ई. में इल्तुतमिश ने बनियान के शासक के विरुद्ध अभियान किया परन्तु मार्ग में ही वह बीमार पड़ गया, जिसके कारण उसे दिल्ली लौटना पड़ा। अप्रैल 1236 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

इल्तुतमिश का चरित्र व उपलब्धियां—इल्तुतमिश ने 1192 ई. में ऐबक के एक दास के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया और केवल बीस वर्ष के अल्पकाल में ही वह तुर्की साम्राज्य का अधिकारी बन गया। प्रो. हबीब व निजामी ने लिखा है, "निःसन्देह कई अन्य विशिष्ट मुइज्जी और कुतबी मलिक थे जिनके विषय में वह कहा करता था कि जब वह उन्हें अपने दरबार में खड़ा हुआ देखता था तो उसकी यह इच्छा होती थी कि वह अपने सिंहासन से उतर आए और उनके हाथ-पैर चूमे।" इससे यह स्पष्ट है कि उससे योग्य अथवा समान व्यक्तित्व के अमीर मौजूद थे और यदि वह सुल्तान बन सका तो यह केवल उसकी योग्यता ही थी। जिस समय वह गद्दी पर बैठा, राजनीतिक स्थिति इतनी तरल थी कि साधारण व्यक्ति के लिए उससे जूझना नितान्त कठिन था। एक ओर उसके पद को दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वियों के द्वारा चुनौती दी जा रही थी तो दूसरी ओर हिन्दू राजाओं की यह भरपूर कोशिश थी कि नव-स्थापित तुर्की सल्तनत को उखाड़ फेंका जावे। मंगोलों के आक्रमण ने स्थिति को और अधिक जटिल बना दिया था। इस विरोधी परिस्थितियों में उसका पथ-प्रदर्शन करने के लिये न तो कोई परम्परायें थीं और न ही मुहम्मद गोरी जैसा कोई नेता। उसने मात्र अपनी योग्यता और दूरदर्शिता से

इन विपरीत परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाया और अपनी मृत्यु के समय जिस सल्तनत को उसने छोड़ा उसकी स्पष्ट रूपरेखा उभर चुकी थी। एक राजवंश की स्थापना के साथ वंशानुगत उत्तराधिकार का सिद्धान्त पूरी तरह जड़ जमा चुका था। साधारण लोगों के मन में यह भावना जम चुकी थी कि केवल उसके वंशज ही शासन करने के अधिकारी हैं। इसीलिए उसकी मृत्यु के 36 वर्ष बाद भी जब सीदी मौला के समर्थकों ने जलालुद्दीन के राज्यकाल में राज-विद्रोह किया तो उन्होंने उसके अधिकार को अधिक ठोस बनाने के लिए यह प्रस्ताव रक्खा कि उसका विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की पुत्री से कर दिया जावे।

इल्तुतमिश सुसभ्य था जिसने ईरानी रीति-रिवाजों को अपने राज दरबार में अपनाया। उसने विद्वानों और योग्य व्यक्तियों का यथोचित सम्मान किया। मध्य-एशिया में मंगोल आतंक से पीड़ित अनेक विद्वानों व राज-पुरुषों ने उसके दरबार को सुरक्षित व उपयुक्त स्थान पाया। इसीलिये समकालीन विद्वान मिन्हाज-उस-सिराज, फखरुलमुल्क इसामी, निजामुल-मुल्क मुहम्मद जुनैदी, जो एक लम्बे समय तक उसका प्रधान-मन्त्री रहा, व मलिक कुतुबुद्दीन हसन गोरी जैसे योग्य और विद्वान व्यक्ति उसके दरबार में उपस्थित थे। उसने दिल्ली में विभिन्न तालाब, मीनार, मस्जिदें बनवायीं। उसने कुतुबमीनार को पूरा कराया तथा हौज-ए-शम्सी, शम्सी ईदगाह व जामा मस्जिद बनवायी। जोधपुर राज्य के नागौर में उसने एक विशाल-काय दरवाजा बनवाया जिसे अतारिकिन का दरवाजा कहते हैं। कुत्बी मस्जिद के पास दिल्ली में उसने 1235 ई. में अपने मकबरे का निर्माण प्रारम्भ किया। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में उसने रचनात्मक कार्य किये। इसीलिये प्रो. निजामी ने लिखा है कि उसने दिल्ली को न केवल राजनीतिक व प्रशासनिक केन्द्र बनाया बल्कि उसे सांस्कृतिक गतिविधियों का भी केन्द्र बनाया।

इल्तुतमिश धार्मिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति था। अपने प्रारम्भिक वर्षों में ही वह सूफी संतों के सम्पर्क में आ गया था और उनका प्रभाव उसके समस्त जीवन पर रहा। रात के समय वह काफी देर तक प्रार्थना और ध्यान में मग्न रहता था। वह सूफी सन्तों का जैसे शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी, शेख जलालुद्दीन तबरेजी, शेख बहाउद्दीन जकारिया आदि का बड़ा सम्मान करता था। परन्तु इस महज धार्मिक नीति का उसने साधारण रूप से उपयोग नहीं किया तथा समय-समय पर अपनी धार्मिक कट्टरता का परिचय दिया। भिलसा नगर के पुराने मन्दिर को नष्ट कर तथा उज्जैन के महाकाल मन्दिर की मूर्तियों को तोड़कर उसने अपनी धार्मिक कट्टरता बताई। शिया मुसलमानों के प्रति भी उसका व्यवहार असहिष्णुतापूर्ण रहा। इसीलिये दिल्ली के इस्माइली-शियाओं ने उसे दिल्ली की मस्जिद में कत्ल करने का प्रयत्न किया। सुल्तान यद्यपि भाग कर जान बचाने में समर्थ हुआ परन्तु उसके बाद जिस प्रकार से उसके सैनिकों ने इस्माइलियों का क्रूरता से वध किया वह उसके लिये शोभनीय नहीं था। युद्ध-काल में भी धर्म के प्रति वह अधिक झुकाव रखता

था जैसा कि ग्वालियर के अभियान से स्पष्ट होता है। परन्तु इस सब के बाद भी उसकी धार्मिक नीति कट्टर धार्मिक नेताओं के विचारों से प्रभावित नहीं थी। उसने आवश्यक मामलों के अतिरिक्त उलेमा-वर्ग से सलाह लेने की नीति नहीं अपनाई परन्तु रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित करते समय उसने उलेमाओं से सलाह लेना उचित समझा था।

परन्तु इल्तुतमिश की मुख्य सफलता भारत में नव-स्थापित तुर्की राज्य को सुरक्षा प्रदान कराने तथा उसे वैधानिक स्थिति दिलाने में है। प्रो. आर. पी. त्रिपाठी[1] के शब्दों में "भारत में मुस्लिम संप्रभुता का इतिहास उसी से आरम्भ होता है।" ऐबक ने जिस कार्य को आरम्भ किया था, इल्तुतमिश ने उसे पूरा किया। उसके गद्दी पर बैठते समय यल्दौज और कुबाचा ने उसकी प्रभुसत्ता को चुनौती दी थी और यदि इल्तुतमिश धैर्य और दूरदर्शिता से काम नहीं लेता तो सम्भवतः दिल्ली सल्तनत गजनी की अधीनता में एक प्रान्तीय राज्य बन कर रह जाती। उसने उनकी शक्ति को समाप्त कर दिल्ली सल्तनत के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित किया जिसका गजनी से कोई सम्बन्ध नहीं था। मंगोलों के आक्रमण तथा राजपूतों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति पर अकुंश लगाकर उसने न केवल छीने हुये प्रदेशों पर पुनः तुर्की अधिकार को जमाया अपितु उसने सल्तनत को इन संकटों से उभार कर एक मूर्त-रूप भी प्रदान किया। प्रो. निजामी ने लिखा है कि, "ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की रूपरेखा के बारे में सिर्फ दिमागी आकृति बनायी थी, इल्तुतमिश ने उसे एक व्यक्तित्व, एक पद, एक प्रेरणा-शक्ति, एक दिशा, एक शासन-व्यवस्था और एक शासक-वर्ग प्रदान किया।" प्रो. हबीबुल्ला भी इसकी पुष्टि करते हुये लिखते हैं कि, "ऐबक ने दिल्ली सल्तनत की सीमाओं और उसकी संप्रभुता की रूपरेखा बनायी। इल्तुतमिश निस्सन्देह, उसका पहला सुल्तान था।" इल्तुतमिश का कार्य निश्चित ही अधिक कठिन था, क्योंकि उसे न तो भारत के तुर्की सरदारों का नैतिक समर्थन ही प्राप्त था और न ही गोरी का समर्थन। ऐसी विरोधी परिस्थितियों में यदि उसने सल्तनत को मूर्त-रूप दिया तो यह उसकी सूझ-बूझ और योग्यता को प्रमाणित करती है। 1229 ई. में जब खलीफा ने उसे उसके पद की स्वीकृति दे दी तब उसकी वैधता अधिक प्रमाणित हो गयी। अब उसका अधिकार पूर्ण वैधानिक हो गया और जन्म अथवा पूर्व-पद के आधार पर जो आक्षेप उस पर लगाये जाते थे, समाप्त हो गये। इल्तुतमिश राज पद को अब अपने वंश में सुरक्षित रखने का अधिकारी हो गया था और इसी के साथ दिल्ली सल्तनत में स्थायित्व व अविच्छिन्नता आ सकी। तथाकथित गुलाम वंश में उसका स्थान इन प्राप्तियों के कारण अत्यधिक महत्वपूर्ण था।

---

1. आर. पी. त्रिपाठी, सम आस्पेक्टस आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया, पृ. 24

रुक्नुद्दीन फिरोजशाह (1236 ई.)

इल्तुतमिश तुर्कों के उत्तराधिकार के अनिश्चित नियमों से परिचित था और यह अनुभव करता था कि उसकी मृत्यु पर उत्तराधिकार के संघर्ष में दिल्ली सल्तनत का अस्तित्व खतरे में पड जावेगा। ऐसी स्थिति से बचने के लिये एक मात्र रास्ता था कि वह अपने उत्तराधिकारी की घोषणा कर अमीरों से उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ले। अतः उसने अपने बडे लडके नासिरुद्दीन महमूद को क्रमशः लाहौर, अवध और बंगाल का शासक नियुक्त किया। उसकी योग्यता और इल्तुतमिश का उसके प्रति झुकाव देखकर प्रत्येक अमीर यह समझता था कि वही उसका उत्तराधिकारी होगा। परन्तु मार्च-अप्रेल 1229 ई में नासिरुद्दीन की अचानक मृत्यु हो गई। इल्तुतमिश और दिल्ली सल्तनत के लिये यह बड़ा ही दुर्भाग्य था, इसलिये कि एक ओर तो उसके वंशीय हितों पर आंच आ रही थी और दूसरी ओर नवस्थापित तुर्की राज्य के लिये यह एक कठिन चुनौती थी। उसका दूसरा पुत्र रुक्नुद्दीन फीरोज आलसी और विलासी था तथा अल्पवयस्क पुत्रों के हाथों में राजसत्ता सौंपने के लिये यह समय उचित नहीं था। अतः उसने अपनी पुत्री रज़िया को चुना। ग्वालियर पर आक्रमण करने के अवसर पर (1231 ई.) उसने शासन भार रजिया के हाथों सौंपा था और जिस कुशलता से उसने अपने दायित्व को निभाया था उसमें उसकी योग्यता में कोई शका नहीं रह गई थी। उसने उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर मुद्रा पर अपने नाम के साथ ही उसका नाम भी अंकित करवाया। इस अवसर पर उसके कुछ अमीरों ने रजिया के स्त्री होने के नाते उसका विरोध किया मगर उसने उन्हें ये कहकर शान्त कर दिया कि, "मेरे पुत्र भोग-विलास में मस्त हैं...... मेरी मृत्यु के उपरान्त तुम्हें ज्ञात हो जावेगा कि उसके समान शासन कोई अन्य नहीं कर सकेगा।" परन्तु अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले वह फीरोज को लाहौर से ले आया, जिससे यह आभास होता है कि वह अपने अन्तिम समय में फीरोज को ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। प्रो निज़ामी ने इसे स्वीकार करते हुये चार तथ्यों को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार—(1) अपने अन्तिम समय में बीमार पड़ने पर वह फीरोज को लाहौर से अपने साथ ले आया था, (2) मिनहाज को उद्धरित करते हुये उन्होंने लिखा है कि, "यह इसलिये किया गया क्योंकि जनता की दृष्टि उस पर लगी थी और नासिरुद्दीन महमूद के बाद वही सुल्तान का ज्येष्ठ पुत्र था," (3) इसी समय सम्भवतः इल्तुतमिश के नाम के साथ फीरोज के नाम का भी सिक्का चलाया गया। (4) मलिको और अमीरो द्वारा फीरोज को निर्विवाद रूप से सुल्तान स्वीकार करना इल्तुतमिश के अन्तिम वर्ष में लिये गये निर्णय की पुष्टि करता है। इस प्रकार मगलवार, 29 शाबान, 633 हिजरी (मई 1236 ई.) को फीरोज का राज्याभिषेक हुआ।

ताज और अमीर-वर्ग में संघर्ष—रुक्नुद्दीन फीरोज विलासी और अयोग्य था तथा उसकी मां, शाह तुर्कान क्रूर सिद्ध हुई। मिनहाज ने लिखा है "वह

भोग-विलास में डूब गया और अनुचित रूप से राज्य के धन को नष्ट करने लगा। वह विलास और दुराचार में इतना व्यस्त हो गया कि राज-काज की उपेक्षा होने लगी और सब ओर गड़बड़ी फैलने लगी।" उसकी मां शाही परिवार की स्त्रियों आदि पर अत्याचार करने लगी और अपने पुत्र की विलासिता का लाभ उठाकर शासन की शक्ति का स्वयं उपभोग करने लगी। मिनहाज ने लिखा है कि, "शाह तुर्कान के पति की जीवित अवस्था में ही सारी पत्नियाँ उसके घृणा करती थीं.......उसने उनसे बदला लेना शुरू किया और उनमें से कई का वध करवा दिया.......उसने सुल्तान के युवा पुत्र कुतुबुद्दीन को अन्धा करवाकर मरवा दिया।" अमीरों को इसके बाद फीरोज और उसकी मां में कोई विश्वास नहीं रहा। अमीर और प्रान्तीय इक्तादार अब अत्यधिक असन्तुष्ट थे और इसीलिये अनेक स्थानों पर विद्रोह की तैयारियाँ होने लगी। मिनहाज ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि, "इन कार्यों के कारण सब ओर बड़े-बड़े लोगों के हृदय में वैर भाव उत्पन्न हो गया। मृतक सुल्तान के पुत्र मलिक गियासुद्दीन मुहम्मदशाह ने, जो रुकनुद्दीन से छोटा था, अवध में विद्रोह कर दिया। जब लखनौती का कोष राजधानी को जा रहा था तो उसने यह छीन लिया और अन्य कई कस्बे लूट लिये। बदायूं के सूबेदार मलिक इज्जुद्दीन मुहम्मद सालारी ने विद्रोह कर दिया। मुल्तान के सूबेदार मलिक इज्जुद्दीन कबीर खां ने, हांसी के सूबेदार मलिक सैफुद्दीन ने, लाहौर के सूबेदार मलिक अलाउद्दीन ने षड्यन्त्र कर विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। इन लोगों का दमन करने के लिये दिल्ली से सुल्तान रुकनुद्दीन ने सेना सहित कूच किया, परन्तु उसका मन्त्री निजामुलमुल्क जुनैदी भयभीत होकर कीलूगढ़ी के पास उसको छोड़ गया और फिर कोल की ओर जाकर वह बदायूं के इज्जुद्दीन सालारी से मिल गया। फिर ये दोनों मलिक जानी और कोची साथ हो गये। सुल्तान रुकनुद्दीन कुहराम की ओर कूच करता रहा।" बदायूं, मुल्तान, हांसी, लाहौर के इक्तादारों ने मिलकर विद्रोह किया और फीरोज को सिंहासन से उतारने के लिये वे अपनी सेनाओं सहित दिल्ली की ओर बढ़े। इस सम्मिलित विद्रोह की सूचना पाकर फीरोज के अधिकांश सैनिक जो उसके साथ कुहराम की ओर जा रहे थे उसका साथ छोड़कर विद्रोही हो गये। सुल्तान को मजबूर होकर दिल्ली की ओर लौटना पड़ा।

जब फीरोज कीलूगढ़ी पहुँचा तो उसने देखा कि विद्रोहियों ने उसकी माँ को बन्दी बना लिया है और रजिया को उसके स्थान पर सुल्ताना बना दिया है। ऐसा माना जाता है कि रजिया ने फीरोज की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर जुम्मे (शुक्रवार) की नमाज के समय लाल वस्त्र पहनकर जनता के सम्मुख गयी और न्याय की मांग की। उसने इल्तुतमिश की इच्छा की याद दिलाई, शाह तुर्कान के अत्याचारों को गिनाया और सम्भवतः यह वायदा भी किया कि शासक बनने पर यदि वह अयोग्य सिद्ध हो तो उसका सिर काट लिया जावे। दिल्ली की जनता ने उसका साथ दिया और उसे सुल्ताना मान लिया। गद्दी पर बैठकर उसने अपनी

सेना को फीरोज के विरुद्ध कीलूगढ़ी भेजा । वे फीरोज को बन्दी बनाकर दिल्ली ले आये जहां कारागार में नवम्बर 1236 ई में उसकी मृत्यु हो गई । उसने 6 मास व 29 दिन शासन किया ।

फीरोज को गद्दी पर बैठाने और हटाये जाने से हमें उस समय में ताज और अमीरों की शक्ति का आभास होता है । फीरोज को गद्दी पर बैठाने में तुर्क सरदारों का हाथ था और सुल्तान पद से हटाने में भी इन्हीं अमीरों और इक्तादारों ने सक्रिय भाग लिया था । इल्तुतमिश ने अपनी शक्ति के आधार पर अमीरों और इक्तादारों को अपने वश में कर रखा था और इस प्रकार से सुल्तान की प्रतिष्ठा में वृद्धि की थी परन्तु फीरोज विलासी और अकर्मण्य सुल्तान निकला और स्वाभाविक रूप से अमीरों की शक्ति में उसकी कीमत पर, वृद्धि हुई । अतः अमीर अधिक शक्तिशाली हो गये और उन्होंने फीरोज को गद्दी से हटाने में भी निर्णायक भूमिका निभाई । दोनों बार उनका हस्तक्षेप सफल रहा । इससे उनका उत्साह और आत्मविश्वास बढ़ा । रजिया को सुल्ताना बनाने में क्योंकि प्रान्तीय इक्तादारों का कोई हाथ न था इसलिये वे असन्तुष्ट थे, जिससे रजिया को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । वास्तव में परिस्थितियों ने कुछ इस प्रकार का मोड़ लिया था कि इक्तादार राजधानी के अमीरों के साथ सुल्तान के चयन में अपने अधिकार की माग कर रहे थे क्योंकि वे भी अमीरों के समान ही शक्ति के प्रतीक थे । राजधानी के अमीरों और इक्तादारों का ये रवैया सुल्तान की प्रतिष्ठा को कम करने वाला तथा तुर्की सिद्धान्तों के अनुसार सुल्तान की अविभाज्य प्रभुसत्ता के लिये चुनौती थी । सुल्ताना रजिया अमीरों के इस अतिक्रमण को सहन करने के लिये तत्पर नहीं थी, इसलिये उसका सम्पूर्ण शासनकाल अमीरों और इक्तादारों के साथ संघर्ष करने में ही व्यतीत हुआ । प्रारम्भिक दौर में ताज का पलड़ा भारी रहा लेकिन अन्त में अमीरों की विजय हुई और वे रजिया को गद्दी से अलग करने में समर्थ हुये ।

रजिया (1236-40 ई)

नासिरुद्दीन महमूद की आकस्मिक मृत्यु (1229 ई) के समय ही इल्तुतमिश ने अपनी बेटी रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था और इस दिशा में उसने सिक्कों पर अपने नाम के साथ ही उसका नाम भी अंकित करवाया था । परन्तु अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में उसने सम्भवतः अपने दूसरे लड़के रुकनुद्दीन फीरोज को उत्तराधिकारी मनोनीत कर दिया था । रुकनुद्दीन का शासन लगभग सात महीने ही रह सका और रजिया ने शक्ति हथिया ली । रजिया के राज्यारोहण से अनेक नये तत्व उभरे । सर्वप्रथम उसने इस्लामी परम्पराओं का उल्लंघन कर शासक के रूप में एक स्त्री को सत्तारूढ़ कराया । इस्लाम एक स्त्री को शासक बनने का अधिकार नहीं देता है । परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि रजिया के चुनाव में पहली बार दिल्ली सल्तनत की जनता ने निर्णय लिया था और

जनता ही उसके समर्थन और शक्ति का मुख्य आधार बनी रही। दिल्ली में रहते हुये उसे जनता का विश्वास प्राप्त होता रहा और इसीलिये उसके वहां रहते हुये उसके विरुद्ध कोई विद्रोह सफल नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त जैसाकि मिनहाज ने लिखा है कि उसने जनता से यह समझौता किया था कि यदि वह अयोग्य सिद्ध हो तो उसे पदच्युत कर दिया जावे। तुर्कों ने भी शासक के रूप में उसे स्वीकार कर अपने संतुलन तथा कठिन परिस्थितियों में स्वस्थ निर्णय लेने की योग्यता को साबित किया।

रजिया के राज्यारोहण में मुख्य भूमिका क्योंकि जनता ने निभाई थी इसलिये प्रान्तीय इक्तादार ये अनुभव करते थे कि अनेक अधिकारों की उपेक्षा की गई है। वे स्वयं को शासक के चयन में अत्यधिक महत्वपूर्ण इकाई मानते थे, और इसलिये इस उपेक्षा के कारण उन्होंने आरम्भ से ही रजिया का विरोध करना आरम्भ किया।

इस विरोध का आरम्भ वजीर निजामुलमुल्क जुनैदी से शुरु हुआ जबकि उसने रजिया को सुल्ताना मानने से मना कर दिया। वजीर के इस पहल को लाहौर के इक्तादार मलिक अलाउद्दीन जानी, हाँसी के मलिक सैफुद्दीन कूची, मुल्तान के मलिक ईजुद्दीन कबीर खां और बदायूं के मलिक ईजुद्दीन मुहम्मद सालारी का समर्थन मिला। उन सबने मिलकर रजिया का विरोध करने का निश्चय किया और दिल्ली की ओर रवाना हुये। रजिया के लिये इनका विरोध करने के अतिरिक्त कोई चारा न था और क्योंकि ये इक्तादार शक्ति के आधार पर शासक के चयन के अधिकार को पुनः प्राप्त करने की नीति के लिये दृढ़-संकल्प थे, इसलिये रजिया ने प्रथमतः शक्ति के आधार पर ही इनका विरोध करने का निश्चय किया। वह सेना लेकर राजधानी से बाहर निकली और यमुना नदी के किनारे अपना शिविर लगाया। छुटपुट के युद्ध से कोई लाभ नहीं निकला और उसने कूटनीतिज्ञता से विद्रोहियों के नेताओं में फूट डालने का सफल प्रयास किया। उसने बदायूं के इक्तादार मलिक सालारी और मुल्तान के इक्तादार मलिक कबीर खां ऐयाज को अपनी ओर मिला लिया। उन्होंने वजीर जुनैदी तथा अन्य मलिकों को बन्दी बनाने का वायदा किया। इन मलिकों को जब इस षड़यन्त्र की सूचना मिली तो उनका एक-दूसरे में विश्वास समाप्त हो गया और वे भाग खड़े हुये। उनका पीछा किया गया। मलिक सैफूद्दीन कूची और उसका भाई फखरुद्दीन पकड़े गये और कारागार में उनका वध कर दिया गया। लाहौर का इक्तादार, मलिक अलाउद्दीन जानी की हत्या कर दी गई और उसका कटा हुआ सिर दिल्ली लाया गया। वजीर जुनैदी जान बचाकर सिरमूर की पहाड़ियों में भाग गया जहां उसकी मृत्यु हो गई। इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली के अनुसार, "उन्हें इस प्रकार पराजित कर उसने एक हानिकारक संविधानीय परम्परा का विकास रोका," जिसमें इक्तादार शासक की नियुक्ति में सक्रिय भाग के अधिकारी बनना चाहते थे।

इस सरल और सगठित विद्रोह को समाप्त करने के बाद रजिया वास्तविक रूप में शासन की अधिकारिणी बनी। शासक की शक्ति को सुदृढ करने तथा भविष्य में ऐसे षडयन्त्रों से शासक की रक्षा करने हेतु उसने अपने विश्वासपात्रों को उच्च पद देने की तुर्कों की परम्परागत नीति को अपनाया। उसका उद्देश्य शासन से तुर्की गुलाम-सरदारों के प्रभाव को समाप्त कर एक ऐसे नये वर्ग को जन्म देना था जो उसकी कृपा पर निर्भर रहने के कारण उसके प्रति पूर्ण स्वामिभक्त बना रहे तथा तुर्क सरदारों की शक्ति को सतुलित करता रहे। उसने ख्वाजा मुहाज्जबुद्दीन को वजीर, मलिक सैफुद्दीन को सेना का प्रधान और मलिक इजुद्दीन कबीर खा का लाहौर का इक्तादार बनाया। मलिक-ए-कबीर इख्तियारुद्दीन एतगीन को 'अमीर-ए-हाजिब' व इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया को भटिण्डा का इक्तादार बनाया। ये दोनों ही रजिया की कृपा से इन महत्वपूर्ण पदो पर पहुच पाये थे।[1] ये दोनों ही रजिया के कृपापात्र थे परन्तु इन दोनो ने ही रजिया के पतन मे मुख्य भूमिका निभाई। सम्भवत कृतज्ञता तुर्क दास अधिकारियों का स्वभाव नही था। उसने जलालुद्दीन याकूत नामक एक ऐबीसीनियन को 'अमीर-ए-आखूर' (अश्वशाला का प्रधान) नियुक्त किया। तुर्क मलिको ने इस पर आपत्ति प्रकट की क्योंकि याकूत ऐबीसीनियन था और पूर्वकाल में यह पद केवल तुर्कों के लिये ही सुरक्षित था। सम्भवत इसी कारण वह तुर्क मलिकों की ईर्ष्या तथा घृणा का शिकार बना। इसीलिये उन्होंने रजिया पर याकूत से प्रेम करने का आरोप लगाया है, जो इतिहास सगत नहीं जान पड़ता है। रजिया ने तुर्की गुलाम सरदारो के एकाधिपत्य को समाप्त करने के लिये ही उसे यह पद दिया था जो शक्ति की तुलना में सम्मान का अधिक द्योतक था। रजिया ने इस प्रकार विद्रोही तत्वों को दबाकर अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया और जैसाकि मिनहाज[2] ने लिखा है कि, "लखनौती से देवल तक समस्त मलिको और अमीरो ने उसकी सत्ता स्वीकार कर ली।"

इसके बाद रजिया ने रणथम्भौर के विरुद्ध अपनी सेना भेजी परन्तु मलिक कुतुबुद्दीन को इसमें कोई सफलता नही मिली। चौहानो ने इसका लाभ उठाकर समस्त उत्तर-पूर्वी राजपूताना को हड़प लिया तथा वे लूटमार करने के लिए दिल्ली तक धावा बोलने लगे। ग्वालियर के विरुद्ध भेजा गया अभियान भी असफल रहा।

रजिया ने तत्पश्चात् शासन को शक्तिशाली बनाने और सुल्तान के सम्मान मे वृद्धि करने की दिशा मे कदम उठाये। उसने यह अनुभव किया कि बगैर पर्दे का त्याग किये हुये ये सम्भव नहीं होगा। इसलिये उसने पर्दा त्याग दिया और मर्दाने

1. ऐतगीन करा खिताई तुर्क था जिसे इल्तुतमिश ने खरीदा था। अल्तूनिया इल्तुतमिश की मृत्यु के समय 'सिर छत्रदार' (शाही छत्र उठाने वालों का मुख्य अधिकारी) था।
2. मिनहाज-उस-सिराज, तबकात-ए-नासिरी, पृ 187

कपड़े पहनकर दरबार लगाना शुरू किया, वह सार्वजनिक रूप से हाथी की सवारी करने लगी। शासन के कार्य को वह स्वयं देखने लगी तथा राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर गैर-तुर्कों को नियुक्त करने लगी। रजिया की ये कार्यवाहियां मलिकों को अप्रिय थीं क्योंकि वे अब तुर्की-राज्य में ही दूसरी श्रेणी के समझे जाने लगे थे। अतः उन्होंने रजिया को सिंहासन से हटाकर अपनी शक्ति को कायम रखने के लिए षड़यन्त्र आरम्भ किये।

रजिया का अमीरों से संघर्ष व उसका पतन—रजिया के शासन के तीसरे वर्ष तक अमीरों, मलिकों आदि की षड़यन्त्रकारी कार्यवाहियाँ तेज हो गईं। इस षड़यन्त्र के मूल में यह भय भी सन्निहित था कि रजिया केवल सन्देहास्पद स्थिति में भी किसी भी अमीर की हत्या करवा सकती है। 1238 ई. में उसने ग्वालियर के हाकिम जियाउद्दीन जुनैजी को दिल्ली बुलाया और क्योंकि उस पर विद्रोही होने की शंका-मात्र थी परन्तु फिर भी उसने उसकी हत्या करवा दी। इस घटना से वे सब लोग जिनको यह भय था कि उन पर भी इसी प्रकार की शंका की जा सकती है, बहुत आतंकित थे इसलिये वे स्वयं की रक्षा हेतु रजिया के विरुद्ध गुप्त रूप से विद्रोह की तैयारी करने लगे। एक अन्य घटना से भी तुर्क सरदार रजिया के अधिक विरोधी हो गये थे। रजिया ने लाहौर-मुल्तान के हाकिम ऐयाज के असफल विद्रोह के बाद (1239 ई.) उसे यद्यपि क्षमा कर दिया था परन्तु उसे केवल मुल्तान की हाकिमी ही सौंपी थी। जब गजनी के भगोड़े सरदार सैफुद्दीन ने मुल्तान पर आक्रमण किया, ऐयाज को निकाल दिया तो रजिया ने ऐयाज के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की।

तुर्क सरदार और अमीर अब यह समझने लगे कि उन्हें भी किसी आक्रमण-कारी के विरुद्ध केन्द्रीय सहायता नहीं मिल पायेगी। इसलिये उन्होंने संगठित होकर रजिया के विरुद्ध आक्रमण की योजना बनाई। षड़यन्त्र में दिल्ली और 'चहल' (चालीस सरदारों का गुट) सरदार सम्मिलित थे। 'अमीर-ए-हाजिब' इख्तयारुद्दीन एतगीन, लाहौर का इक्तादार कबीरखां, ऐयाज व भटिण्डा का इक्तादार इख्तियारुद्दीन अल्तूनिया इस षड़यन्त्र में प्रमुख थे। ये यह जानते थे कि दिल्ली के नागरिक रजिया के प्रति वफादार थे और महलों में उसकी सचेतता के कारण भी कोई षड़यन्त्र सफल नहीं हो सकता था, इसलिये इसकी सफलता के लिए रजिया को राजधानी से दूर ले जाना आवश्यक था। इस आशय से 1240 ई. में लाहौर के इक्तादार कबीरखां ने विद्रोह किया, लेकिन रजिया ने इस तत्परता से इस विद्रोह को दबाया कि अन्य षड़यन्त्रकारी कबीरखां की सहायता के लिए नहीं पहुंच सके। कबीरखां पराजित हुआ और रावी नदी पार कर सोदरा की ओर भाग गया। रजिया ने उसका पीछा किया और सोदरा के पार मंगोलों का प्रदेश होने के कारण कबीरखां के सामने आत्मसमर्पण के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहा। रजिया ने उससे लाहौर का प्रदेश छीन लिया और अब उसके पास केवल मुल्तान की इक्तादारी ही रह गयी।

प्रो निजामी की मान्यता है कि कबीरखां ने सयुक्त रूप मे षडयन्त्र मे कोई भाग नहीं लिया था। कबीरखा ने अन्य इक्तादारों के विद्रोह का पूर्वाभास कर उनसे आगे निकल जाने का निश्चय किया, इसीलिये अन्य षडयन्त्रकारी जो उसकी नीति से अनभिज्ञ थे, उसकी सहायता करने मे असमर्थ रहे।

रजिया के विरुद्ध वास्तविक विद्रोह कबीरखा के विद्रोह के बाद ही आरम्भ हुआ। उसे राजधानी वापिस आये हुए कठिनाई से दस ही दिन हुये थे कि भटिण्डा के इक्तादार अल्तूनिया ने विद्रोह किया जो 'अमीर-ए-हाजिब' एतगीन का घनिष्ठ मित्र था और रजिया का कृपापात्र था। रमजान की गर्मी की परवाह न करते हुए रजिया एक विशाल सेना लेकर निकल पड़ी। तबरहिन्द नामक स्थान पर पहुचने पर तुर्क अमीरो ने रजिया को धोखा दिया। उन्होंने उसके विश्वासपात्र जमालुद्दीन याकूत का वध कर दिया और रजिया को वन्दी बनाकर अल्तूनिया के सरक्षण में तबरहिन्द के कारागार म डाल दिया (अप्रैल 1240 ई)। षड्यन्त्रकारी अब दिल्ली की ओर चले और इस बीच रजिया के स्थान पर इल्तुतमिश के तीसरे लड़के मुईजुद्दीन बहरामशाह को गद्दी पर बैठाया जिसका निर्णय वे पहले ही ले चुके थे। षडयन्त्रकारियों के नेता एतगीन को दिल्ली पहुचन पर उसे 'नाइब ए-मुमलकत' बनाया गया और उससे यह आशा की गई कि इस नये पद के आधार पर वह शासन पर नियन्त्रण रखेगा। सुल्तान बहरामशाह एतगीन के व्यवहार से अत्यधिक असन्तुष्ट था, अत उसने दो माह के अन्दर ही उसका वध करवा दिया। अल्तूनिया को एतगीन की हत्या के बाद विद्रोह करके पुरस्कार पाने की कोई आशा न रही।

रजिया ने इस स्थिति का लाभ उठाकर अल्तूनिया से विवाह कर लिया। अल्तूनिया इससे अपना पुरस्कार पाने की इच्छा की पूर्ति होते देख रहा था, और रजिया स्वतन्त्रता तथा गद्दी-प्राप्ति के मूर्त रूप की कल्पना कर रही थी। खोक्खर, राजपूत और जाटो को सम्मिलित करके अल्तूनिया ने एक सेना एकत्रित की और रजिया के साथ दिल्ली की ओर बढना आरम्भ किया। बहरामशाह से असन्तुष्ट सरदार जैसे मलिक सालारी और कराकुश भी इसमे सम्मिलित थे। मिनहाज ने उनके अन्त का वर्णन इस प्रकार किया है "'रबीउल अव्वल 638 हि (सितम्बर-अक्टूबर 1240 ई) में मुइजुद्दीन बहराम ने सेना सहित उनके विरुद्ध कूच किया और सुल्ताना रजिया तथा मलिक अल्तूनिया पराजित हुये। जब वे भागते हुए कैथल के निकट पहुचे तो उनकी बची हुई सेना ने उनका साथ छोड दिया और हिन्दुओं द्वारा पकडे जाने के पश्चात् वे मार डाले गये। वे 24 रबीउल-अव्वल को पराजित हुए और अगले दिन रजिया शहीद हुई।' मिनहाज के अनुसार रजिया ने 3 वर्ष, 6 मास व 6 दिन तक शासन किया।

रजिया का पराभव वास्तव मे तुर्की सैनिक सरदार-वर्ग की विजय थी। इस विजय में अनेक परिस्थितियां तुर्की अमीरो के पक्ष म थीं। उनकी सैन्य शक्ति रजिया

से कहीं अधिक थी, रजिया के जितने विश्वासपात्र थे उन्होंने भी रजिया के साथ विश्वासघात किया। अल्तूनिया के विद्रोह को दबाने के लिए जब रजिया तबरहिन्द पहुंची तो तुर्की अमीरों ने उसके साथ धोखा कर उसे बन्दी बना लिया तथा अल्तूनिया के संरक्षण में कारावास में डाल दिया। चहल के सरदारों में रजिया के विरुद्ध गठजोड़ बन जाना उसकी पराजय के लिये काफी उत्तरदायी था। रजिया को प्रतिद्वन्द्वी दल तैयार करने में भी केवल आंशिक सफलता ही मिल सकी। इसके अतिरिक्त उसका नारीत्व ही उसकी सबसे बड़ी अयोग्यता थी, जिसने उसकी बौद्धिक और मानसिक योग्यताओं पर अंकुश लगा रक्खा था। कट्टर मुसलमान एक औरत को मर्दाने रूप में सहन नहीं कर सकते थे, अतः उन्होंने विरोधी तुर्की सरदारों का साथ दिया।

रजिया का चरित्र व मूल्यांकन—दिल्ली की सुल्ताना बनने वाली वह एकमात्र स्त्री थी जिसमें मिनहाज के अनुसार 'वे सभी प्रशंसनीय गुण थे जो एक शासक में होने चाहिए।' परन्तु मिनहाज ने आगे लिखा है कि 'ये सभी श्रेष्ठ गुण उसके किस काम के थे?' उसका यह संकेत था कि रजिया की एकमात्र दुर्बलता उसका स्त्री होना था। मिनहाज के इस कथन को स्वीकार करना उचित नहीं दिखाई पड़ता क्योंकि समस्त शासनकाल में रजिया ने स्त्री होने के बाद भी किसी स्त्री-दुर्बलता का परिचय नहीं दिया। वह योग्य, कुशल कूटनीतिज्ञ तथा राज्य के हितों को पूरी तरह समझती थी और उन्हीं की पूर्ति करना अपना कर्तव्य मानती थी। उसने सुल्तान के सम्मान और ताज की प्रतिष्ठा को स्थापित करने का प्रयत्न किया और जब आरम्भिक वर्षों में उसे इस क्षेत्र में सफलता मिलने लगी तो मलिकों तथा अमीरों का उसका विरोधी हो जाना स्वाभाविक ही था, क्योंकि वे शक्ति को अपने सामने अपने हाथों से निकलते हुए देख रहे थे। रजिया के विरुद्ध सनातनी मुसलमानों और अमीरों को उकसाने के लिये उन्होंने उसके चरित्र पर लांछन लगाना आरम्भ किया। इतिहासकार इसामी इसमें आगे था परन्तु जैसाकि प्रो. **निजामी**[1] ने लिखा है कि, "अविवाहित इसामी के नारी-द्वेषी विचारों पर कोई विश्वास नहीं किया जा सकता।" रजिया की अमीर-विरोधी नीति ही इसके लिए मूल आधार थी।

मोटे रूप से रजिया के काल को हम दो भागों में बांट सकते हैं। प्रथमतः 1236 से 1238 ई. तक जब वह निरन्तर सफल रही और उसने तुर्क अमीरों की शक्ति पर अंकुश लगाने में सफलता प्राप्त की। इस क्षेत्र में उसे गैर-तुर्की अमीरों का एक स्वतन्त्र दल बनाने में भी आंशिक सफलता मिली। इसके साथ ही उसने कुछ सम्मानित पद अपने विश्वासपात्रों को दिये जो इस काल में उसके प्रति स्वामिभक्त थे।

---

1. हबीब व निजामी, वही, पृ. 207

1238 ई. में मंगोलों के प्रति अपनाई गई नीति ने उसकी योग्यता को प्रमाणित कर दिया। ख्वारजम के राज्यपाल मलिक हसन कार्लिग ने, जिसके प्रदेशों पर मंगोलों ने अधिकार कर लिया था, जब उससे सैनिक सहायता की मांग की और इसके लिए अपने पुत्र को भी दिल्ली भेजा तब रजिया ने उसके प्रति सहानुभूति अवश्य प्रकट की परन्तु सैनिक सहायता देने से मना कर दिया। इस प्रकार अपने पिता की तरह वह दिल्ली सल्तनत को सम्भावित मंगोल आक्रमणों से बचाने में सफल हुई।

1238 से 1240 ई. के दूसरे काल में रजिया के विरुद्ध विद्रोहों की गति इतनी अधिक तीव्र हो गई कि उसे वह संभालने में असमर्थ रही। मलिक और अमीरों का यह अनुभव कि उसे दिल्ली में रहते हुए पराजित करना नितान्त असम्भव है इसका प्रमाण है कि राजधानी में वह कितनी अधिक शक्तिशाली थी। इसीलिए विद्रोहियों ने उसे दिल्ली के बाहर पराजित करने का षडयन्त्र रचा। रजिया सम्भवत उनको राजधानी के बाहर भी पराजित कर देती परन्तु उसके तुर्की सरदारों ने उसके साथ विश्वासघात कर उसे बन्दी बना लिया। रजिया का पतन मुख्यत इसलिये हुआ कि वह तुर्की अमीरों के हाथों कठपुतली शासक बनकर रहने के लिये तैयार नहीं थी।

मुईजुद्दीन बहरामशाह (1240–42 ई.)

रजिया के पतन के पश्चात् मलिकों और अमीरों ने अपनी योजनानुसार बहरामशाह को 11 शव्वाल 637 हिजरी (5 मई 1240) को गद्दी पर बैठाया। उसने मुईजुद्दीन की उपाधि धारण की। मुईजुद्दीन को गद्दी पर बैठाना तुर्की सरदारों की विजय का प्रतीक था। रजिया की नीति से तुर्की सरदार यह सीख सके कि सुल्तान के हाथों शासन के सम्पूर्ण अधिकार रहने से उनकी अपनी शक्ति और सत्ता को बनाये रखना सम्भव नहीं है, इसलिये शासक को दिखावे के लिए इस सर्वोच्च पद पर आसीन कर राज्य की समस्त शक्तियां उन्हीं में से किसी एक को सौंप दी जावें। सुल्तान के पद की समाप्ति से उन्हें 'मिल्लत' के विरोधी होने की सम्भावना थी। इस आधार पर बहरामशाह को सुल्तान इस शर्त पर बनाया गया कि वह शासन की समस्त शक्तियां 'नायब-ए-ममलकत' अथवा 'नायब' को सौंप दे जो इसका उपभोग करे। नायब का पद भारतीय इतिहास के संदर्भ में बिल्कुल नया था। सर्वप्रथम रजिया के विरुद्ध षडयन्त्र करने वालों के नेता एतगीन को यह पद दिया गया था। साथ ही वजीर के पद पर मुईजुद्दीन बना रहा। इस प्रकार अब सत्ता के लिये तीन दावेदार खड़े हो गये—सुल्तान, नायब व वजीर।

सुल्तान मुईजुद्दीन बहरामशाह यद्यपि स्वभाव से सरल और स्पष्टवादी था और अन्य सुल्तानों की तरह दिखावटी शान-शौकत में विश्वास नहीं करता था, परन्तु इसके साथ ही वह अत्याचारी व रक्तपात करने वाला शासक भी था। सुल्तान

बनने के दो माह पश्चात् ही उसने यह सिद्ध कर दिया कि तुर्की सरदारों की यह मान्यता कि वह शक्ति विहीन सुल्तान की तरह शासन करता रहेगा, नितान्त भूल थी। शासन के क्षेत्र में भले ही वह अयोग्य हो, परन्तु इसके बाद भी वह शासन का वास्तविक अधिकारी था और अपने इस अधिकार को वह सहज ही मे गंवाने को तैयार नहीं था। इसलिये उसके तथा तुर्की सरदारों के बीच संघर्ष अनिवार्य था।

नायब के पद पर नियुक्ति के साथ ही एतगीन ने शासन की शक्ति अपने हाथों में ले ली। अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिये उसने बहरामशाह की एक तलाकशुदा बहन से निकाह कर लिया। उसने अपने महल के आगे नौबत बजाने व हाथी रखने की भी व्यवस्था की। यह दोनों विशेषाधिकार केवल सुल्तान के ही थे और इसलिये बहरामशाह को उसका व्यवहार न केवल अनुचित अपितु सुल्तान की मर्यादा के विरुद्ध लगा। उसने शाही महल में धार्मिक गोष्ठी के समय उसकी हत्या करवा दी। वजीर पर भी आक्रमण किया गया, परन्तु वह बच निकला। तुर्की सरदारों में से एक प्रभावशाली सरदार की हत्या महत्वपूर्ण बात थी, परन्तु तुर्कों ने परिस्थिति-वश इसकी प्रतिक्रिया नहीं बताई क्योंकि इसी समय रजिया और अल्तूनिया दिल्ली पर अधिकार करने हेतु उस ओर बढ़ रहे थे।

एतगीन का वध करवाने पर भी बहरामशाह को शासन-शक्ति प्राप्त नहीं हुई। एक ओर तो वजीर मुईजुद्दीन जीवित था जो अपने पर किये गये घातक हमले को न भूला था, और दूसरी ओर 'अमीर-ए-हाजिब' बदरुद्दीन संकर रूमी ने नायब के पद पर किसी व्यक्ति की नियुक्ति न होने का लाभ उठाकर शासन के समस्त अधिकार हड़प लिये थे। वह सुल्तान से पूछे बिना आदेश देने लगा और वजीर को भी दबाकर रखने लगा। वजीर और सुल्तान दोनों ही बदरुद्दीन की इस बढ़ती हुई शक्ति से ईर्ष्या करते थे और स्वाभाविक रूप में एक दूसरे के अधिक निकट आ गए। उसने सुल्तान के कान भरने शुरू किये तथा सुल्तान, बदरुद्दीन का वध करने के लिए षड़यन्त्र रचाने लगा। बदरुद्दीन भी किसी प्रकार से पीछे नहीं था और वह भी सुल्तान को हटाकर उसकी जगह उसके किसी भाई को गद्दी पर बैठाने का प्रयास करने लगा। इसके लिए उसने दिल्ली के बड़े-बड़े सरदारों, अमीरों और मलिकों की सहायता प्राप्त करने के लिए अगस्त, 1241 में एक सभा बुलाई जिसमें प्रधान काजी जलालुद्दीन कासानी, काजी कबीरुद्दीन, शेख मुहम्मद सामी आदि उपस्थित थे। सभा काजी सदरूलमुल्क के यहां हुई। उसने ही वजीर को भी इसमें सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित किया, परन्तु क्योंकि वजीर, बदरुद्दीन की बढ़ती हुई शक्ति से अत्यधिक शंकित था इसलिये उसने तुरन्त षड़यन्त्र का भण्डाफोड़ कर दिया और सुल्तान ने अचानक आक्रमण कर षड़यन्त्रकारियों को रंगे हाथ पकड़ लिया। षड़यन्त्रकारी अधिक शक्तिशाली थे इसलिये सुल्तान ने यह उचित नहीं समझा कि उनका सामूहिक रूप में वध करा दिया जावे। इस आधार पर वह जनता के

आक्रोश को निमन्त्रित करने के लिय तैयार नही था। अत सुल्तान न उन्हें दूरस्थ स्थानों पर भेज देना उचित समझा। काजी जलालुद्दीन को उसके पद स हटा दिया गया तथा बदरुद्दीन सकर को बदायू भेज दिया गया। जब लगभग चार माह बाद वह बगैर अनुमति के दिल्ली लौट आया तो सुल्तान न उसे बन्दी बनाकर उसका तथा ताजुद्दीन अली मूसवी का वध करवा दिया।

इन दोना तुर्की सरदारा के वध स अमीर और अधिक भयभीत हुए और धीरे धीरे उनक तथा सुल्तान के बीच अविश्वास की खाई और अधिक गहरी होन लगी। वजीर अब बदला लेने के लिए अधिक सक्रिय हो गया और उसने उलेमा वग म व्याप्त असन्तोष का लाभ उठाया। उलेमा वग सुल्तान स इसलिय नाराज था कि उसने उनके कई नेताओ को दण्डित किया था। वजीर किसी अवसर की तलाश म था और मगोलों के आक्रमण (1241 ई) न उस यह अवसर दिया। 1241 ई में मगोलों ने पजाब पर आक्रमण कर लाहौर को घर लिया। उन्होन हजारों मुसलमाना को मौत के घाट उतार दिया तथा नगर को खूब लूटा। यह स्थिति सल्तनत के लिए खतरनाक थी। इसम तुर्की सरदारो के हित पर भी आच आ रही थी अत उन्होन सुल्तान के साथ मिलकर मगोलो का विरोध करना उचित समझा। वजीर भी इस सेना के साथ गया। माग म उसने तुर्की सुल्तान से बदला लने की अपनी योजना को कार्यान्वित करना चाहा। उसन एक ओर तो सुल्तान को अमीरा के विरुद्ध भडकाया और उसस आज्ञा चाही कि वह उन सबका वध कर दे। उसन धोखे से इस प्रकार का आदेश भी सुल्तान से प्राप्त कर लिया। वजीर ने इस आदेश को सरदारों और अमीरा के सम्मुख रख दिया। इसस सरदार सुल्तान के विरोधी हो गये और उसका साथ छोड दिल्ली की ओर रवाना हो गय। सुल्तान न शेखुल इस्लाम सईद कुतुबुद्दीन को उन्हें शान्त करने क लिए भेजा परन्तु विद्रोही बहराम शाह को गद्दी से हटान क लिए दृढ प्रतिज्ञ थ। सुल्तान ने युद्ध के अतिरिक्त कोई चारा न देखकर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। लगभग तीन मास तक राजधानी म युद्ध चलता रहा। अन्त म उसका वध कर दिया गया।

तुर्क सरदार इज्जुद्दीन किशनूखाँ न दिल्ली म सबसे पहले प्रवेश कर महल पर अपना अधिकार जमाया और स्वय को सुल्तान घोषित करवा दिया। अन्य तुर्की सरदार उस सुल्तान मानन के लिए तैयार नही थे। यह तय किया गया कि रुक्नुद्दीन फीरोज के पुत्र अलाउद्दीन मसूदशाह को सुल्तान बनाया जावे।

इस प्रकार एक बार फिर ताज और अमीरा के बीच सघर्ष म अमीर विजयी हुए। बहरामशाह न ताज की प्रतिष्ठा बनाये रखन के लिय अमीरा की शक्ति पर अकुश लगान का जो प्रयत्न किया उसम वह नितान्त असफल रहा। यह स्पष्ट हो गया कि राज्य की वास्तविक शक्ति तुर्की सरदारों म निहित थी और सुल्तान केवल नाम मात्र का सुल्तान बनकर ही रह सकता था। परन्तु इसक साथ ही यह भी स्पष्ट

हो गया कि तुर्क सरदार आपस में एक दूसरे प्रति अत्यधिक ईर्ष्यालु थे, और उनमें कोई इतना शक्ति सम्पन्न नहीं था कि वह स्वयं को सरदारों से सुल्तान स्वीकार करवा सके। इसलिये सुल्तान का पद इल्तुतमिश के एक वंशज को दिया गया।

अलाउद्दीन मसूदशाह (1242-46 ई.)

अलाउद्दीन मसूदशाह को सुल्तान इस शर्त पर बनाया गया था कि वह स्वयं राज्य की शक्ति का उपयोग नहीं करेगा। इसके लिये उन्होंने नायब के पद को पुनः स्थापित किया और गोर से भागकर आये हुये एक शरणार्थी, कुतुबुद्दीन हसन को यह पद दिया। परन्तु क्योंकि वह तुर्की सरदारों के दल का नहीं था, इसलिये अब इस पद का कोई वास्तविक महत्व नहीं रहा। अपनी स्थिति को और अधिक मजबूत बनाने के लिये उन्होंने दो उपाय किये—प्रथमतः उन्होंने इल्तुतमिश के दो बेटों—नासिरुद्दीन और जलालुद्दीन को बन्दी बना लिया जिससे कि राजवंश का कोई दूसरा दावेदार खड़ा न हो सके और सुल्तान को बनाने-बिगाड़ने में वे इन दोनों बन्दियों का उपयोग कर सकें, एवं द्वितीय उन्होंने समस्त ऊँचे पदों को इस प्रकार से अपने में बांट लिया कि सुल्तान को स्वेच्छाचारिता का कोई अवसर ही नहीं मिल पावे।

अलाउद्दीन मसूदशाह इल्तुतमिश के पुत्र फीरोजशाह का पुत्र था। उसे भी इस शर्त पर सिंहासन सौंपा गया था कि वह राज्य की शक्ति का प्रयोग नाइब के माध्यम से ही करेगा। मलिक कुतुबुद्दीन को, जो गोर से भागकर आया हुआ एक शरणार्थी था, यह पद दिया गया। परन्तु क्योंकि वह तुर्की सरदारों के दल का नहीं था इसलिये 'नाइब' के पद का कोई वास्तविक महत्व नहीं रहा, अन्य पदों पर तुर्की सरदारों को नियुक्त किया गया परन्तु साथ ही साथ कुछ नये सरदार भी अब उच्च पद प्राप्त करने में सफल हुये, जो यह संकेत देता है कि तुर्की सरदारों का गुट आपसी द्वेष के कारण दुर्बल हो रहा था। इसका लाभ उठाकर वजीर मुहज्जबुद्दीन ने राज्य की सम्पूर्ण सत्ता हथिया ली। उसने कोयल के इक्ता को अपनी जागीर में मिला लिया तथा अपने द्वार पर नौबत की व्यवस्था की और एक हाथी बांधने लगा। उसने तुर्की अमीरों को बहरामशाह के विरुद्ध भड़काया था, परन्तु अब वह तुर्कों के अधिकारों को सीमित करना चाहता था। इसीलिए उन्होंने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र कर दिया और अक्टूबर 1242 ई. में उसकी हत्या कर दी। उसके स्थान पर नज्मुद्दीन अबू बक्र को वजीर बनाया गया। इसी समय अन्य महत्वपूर्ण पदों का भी पुनः वितरण किया गया, जिसमें 'अमीर-ए-हाजिब' का पद बलबन को मिला।

सुल्तान ने इसके बाद अमीरों की सहमति से अपने चाचा के पुत्रों, जलालुद्दीन और नासिरुद्दीन को बन्दीगृह से मुक्त कर क्रमशः कन्नौज और बहराइच को राज्यपाल बनाया। वे अपने-अपने प्रदेशों में शान्तिपूर्वक कार्य करने लगे। परन्तु इसने एक नई समस्या को जन्म दिया। अब आवश्यकता पड़ने पर सरदार इल्तुतमिश

के परिवार के दो राजकुमारों में से किसी एक को गद्दी का दावेदार बनाकर उसका स्वयं के हितों में उपयोग कर सकते थे। बलबन ने इसका पूरा लाभ उठाया। उसने धीरे-धीरे तुर्की सरदारों का नेतृत्व प्राप्त कर लिया और शासन की सत्ता को अपने हाथों में करने का सफल प्रयास करने लगा।

सुल्तान ने यद्यपि दिल्ली और आसपास के प्रदेशों में शान्ति स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, किन्तु दूरस्थ प्रदेशों के सूबेदारों ने उसके आधिपत्य को मानने से इन्कार कर दिया। बंगाल और बिहार के सूबेदार तुगानखाँ ने स्वतन्त्र रूप से कार्य करना शुरू कर दिया। मुल्तान का हाकिम अयाजी दिल्ली की अधीनता मानने को तैयार नहीं था क्योंकि मंगोलों और करलुगों के विरुद्ध दिल्ली की सहायता प्राप्त न होने पर भी उसने स्वयं की रक्षा कर ली थी। ऐसी स्थिति में जब कि वह दिल्ली से अलग हो चुका था, मंगोल अधिकारी मंगूता उसके छिन्न-भिन्न राज्य पर आक्रमण कर उसकी सत्ता को ही समाप्त कर देना चाहता था। अयाजी-वंश के शेष लोग पुनः दिल्ली सल्तनत की सत्ता को स्वीकार करना चाहते थे। बलबन इस परिस्थिति का लाभ उठाकर सुल्तान को मंगोलों के विरुद्ध कूच का परामर्श दे रहा था परन्तु वह मंगोलों के साथ युद्ध करना नहीं चाहता था। उसका उद्देश्य था कि वह ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दे जिससे कि सुल्तान की सेना को देख मंगूता स्वयं भाग जावे। बलबन ने घटना-चक्र को इस प्रकार से व्यवस्थित किया कि जब सुल्तान की सेना लाहौर के निकट पहुँची तो मंगोल उच्छ का घेरा उठाकर भाग खड़े हुये। इस अभियान से यदि एक ओर लाहौर, मुल्तान और उच्छ दिल्ली के आधिपत्य में आ गये तो दूसरी ओर तुर्की सरदारों में बलबन का व्यक्तित्व निखर उठा। किन्तु बलबन अपने साथी तुर्क सरदारों की ईर्ष्या से परिचित था, इसलिये जब उसने सुल्तान को गद्दी से हटाने का षड्यन्त्र रचा तब उसने समस्त तुर्की सरदारों का विश्वास प्राप्त कर ही इसको पूर्ण करना चाहा। मिनहाज ने लिखा है, "सेना के बेकार लोगों का एक दल था जो शनैः-शनैः सुल्तान तक पहुँच गया था और उन लोगों ने उसमें बुरी आदतें डाल दी थीं। उसने मलिकों की हत्या तथा उन्हें बन्दी बनाने के विषय में सोचना आरम्भ कर दिया और इसका निश्चय कर लिया। इसके सारे सद्गुण दुर्गुण बन गये थे और वह भोग-विलास तथा शिकार में लिप्त हो गया था।" इन परिस्थितियों में सब ओर विद्रोह होने लगे। अमीरों और मलिकों ने इल्तुतमिश के पौत्र नासिरुद्दीन को शासन सम्भालने को आमन्त्रित किया। सुल्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र में बलबन का प्रमुख हाथ था, परन्तु समझदारी से काम लेते हुये उसने स्वयं के लिये कोई माँग नहीं रक्खी। ऐसा अनुभव हो रहा था कि समस्त अमीर और मलिक ही इस कार्य में आगे हैं। 23 मुहर्रम, 644 हिजरी (10 जून 1246) को सुल्तान को समस्त परिवार सहित बन्दी बना लिया गया, और सम्भवतः उसे कत्ल कर दिया गया। इस प्रकार चार वर्ष, एक मास व एक

दिन शासन कर अलाउद्दीन मसूदशाह के स्थान पर नासिरुद्दीन महमूद को सुल्तान बनाया गया।

नासिरुद्दीन महमूद (1246-1266)

वंशावली—नासिरुद्दीन महमूद शम्सुद्दीन इल्तुतमिश का पौत्र था न कि लड़का, जैसाकि भ्रमवश कहा गया है। इसामी जिसके पूर्वज दिल्ली दरबार में अधिकारी थे, इस विषय पर बिल्कुल स्पष्ट है। जब इल्तुतमिश के पुत्र शाहजहाँ नासिरुद्दीन का निधन हुआ उसने अपनी मृत्यु के पश्चात एक पुत्र छोड़ा जो उसकी मृत्यु के पश्चात उत्पन्न हुआ था। फरिश्ता का कथन है 'सुल्तान शम्सुद्दीन के ज्येष्ठ पुत्र का नाम नासिरुद्दीन था। जब वह (शहजादा नासिरुद्दीन) लखनौती में मर गया तो इस पुत्र (सुल्तान नासिरुद्दीन) का जन्म हुआ, जो शहजादा नासिरुद्दीन का सबसे छोटा पुत्र था। अपने मृतक पुत्र के प्रति स्नेह के फलस्वरूप इल्तुतमिश ने उसका वही नाम रखा।'

सिंहासनारोहण—तबकात-ए-नासिरी[1] के लेखक **मिनहाज सिराज** के अनुसार "सुल्तान मुइज्जुद्दीन नासिरुद्दुनिया वद्दीन (नासिरुद्दीन महमूद) दिल्ली के हरे महल में रविवार, 23 मुहर्रम, 644 हिजरी (10 जून, 1246 ई.) को गद्दी पर बैठा। यह बड़ा शुभ दिन था। शहजादे और सामन्त, मुखिया और बड़े लोग सैयद और विद्वान तुरन्त ही प्रसन्नता पूर्वक अपनी स्वामी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये एकत्रित हुए और सबने अपने-अपने पदानुसार उसको राज्यारोहण पर बधाइयाँ दीं। मंगलवार, 25 मुहर्रम को फिरोजी महल में उसने दरबार लगाया तो लोगों ने एक स्वर से उदार, गुणवान और सौम्यमूर्ति शहजादे का सुल्तान पद पर अभिनन्दन किया। उसके न्यायप्रिय शासन से सारे भारत को सुख और संतोष हुआ।" नासिरुद्दीन महमूद के सुल्तान बनने के समय से राज्य शक्ति के लिए जो संघर्ष सुल्तानों और तुर्की सरदारों में चल रहा था, वह समाप्त हो गया। सुल्तान ने स्वयं कभी शासन नहीं किया। वह शक्ति का अनुयायी रहा। तुर्की सरदार शक्तिशाली थे और बलबन उनका नेता था। उसने राज्य की शक्ति उन्हें और उनके नेता को सौंप दी। यह कहा जाता है कि सुल्तान नासिरुद्दीन महत्वाकांक्षाओं से रहित और धर्म परायण था।

सुल्तान और अमीर वर्ग के सम्बन्ध—अधिकांश इतिहासकारों का मत है कि एक सुल्तान के रूप में नासिरुद्दीन में तात्कालीन जटिल परिस्थितियों का सामना करने योग्य आवश्यक गुण नहीं थे और वे अपने प्रधानमंत्री बलबन के बलबूते पर ही उसकी नौका पार लगी।

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, भाग दो, वही, पृ. 250

डा ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि, "बलबन के रूप मे उसको ऐसा निपुण और दृढनिश्चयी मन्त्री मिला, जो स्वामी के शासन के आरम्भ से अन्त तक राज्य की आन्तरिक और वाह्य नीति का कुशलता पूर्वक संचालन करता रहा।"

नासिरुद्दीन महत्वाकांक्षी नहीं था, उसमे परिस्थितियों से समझौता करने का विवेक था। वह यह जानता था कि तुर्की सरदारों की नाराजगी मोल लेने पर पिछले सुल्तानो का क्या हाल हुआ था। इसीलिए उसने अपने शासन मे तुर्की सरदारों की शक्ति का विरोध करने का दुस्साहस नहीं किया। बलबन जो 'चहल' का नेता था उसके हाथों मे शासन-सत्ता सौंपकर वह केवल एक कठपुतली शासक की भूमिका निभाता रहा। इसामी ने उसकी प्रवृत्ति पर व्यंग्यात्मक रूप मे लिखा है कि, "वह बिना तुर्की सरदारों की पूर्व आज्ञा के कोई मत व्यक्त नहीं करता था और बिना उनके आदेश के अपने हाथ-पैर तक नहीं हिलाता था। वह बिना उनकी जानकारी के न पानी पीता था न सोता ही था।" प्रो निजामी के अनुसार आत्म-समर्पण पूर्ण था।

नासिरुद्दीन के गद्दी पर बैठने से सुल्तान और अमीरो के बीच संघर्ष समाप्त हो गया और इसका कारण था कि सुल्तान ने शासन करने की अपेक्षा शासन की शक्ति को हस्तान्तरित करने की नीति अपनाई और ऐसी स्थिति मे दोनों के बीच कोई संघर्ष का कारण बचा ही नही। शासन का ऐसी स्थिति में बडे सुचारु रूप से चलना स्वाभाविक था। डा ए. एल श्रीवास्तव[1] ने लिखा है कि, "बलबन जो सुल्तान के राज्याभिषेक के दिन से ही प्रधान मन्त्री का काम करता आया था, 1249 ई मे नाइब-ए-मुमालिकत बनाया गया। उसी वर्ष उसने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन के साथ कर दिया, जिससे उसकी स्थिति और अधिक दृढ हो गयी।" अन्य तुर्की अमीरों की तुलना मे उसने अधिक महत्व प्राप्त कर लिया। अब वह राजशक्ति का एकमात्र भोक्ता था। उसने इसका उपयोग अपने सम्बन्धियों की स्थिति सम्मानित करने तथा सल्तनत की नींव सुदृढ करने मे किया। लेकिन कुछ इतिहासकारो का मत है कि वह कठपुतली शासक न था। यह विचार तर्कसंगत भी लगता है कि नासिरुद्दीन महमूद कोई "गुडिया शासक" नहीं था बल्कि एक योग्य शासक था जिसका तुर्की सरदारों पर काफी प्रभाव था और जिसने शासन संचालन मे शक्ति और कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया। इस मत के समर्थन मे डा अवध बिहारी पाण्डेय का तर्क है कि, "नासिरुद्दीन के राज्य काल की घटनाओं की विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कम से कम सन् 1255 ई तक निश्चय ही नासिरुद्दीन शासन संचालन मे काफी प्रभाव रखता था और बाद के काल की घटनाओं का विस्तृत विवरण प्राप्त न होने

---

1 ए. एल श्रीवास्तव, दिल्ली सल्तनत, पृ. 66

पर भी बलबन के शासन काल की घटनाओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस समय भी उसका प्रभाव नगण्य नहीं था।"

मिनहाजुस सिराज लिखता है कि, "जब वह बहराइच का शासक था तब उसने स्थानीय हिन्दू राजाओं के विरुद्ध अनेक युद्ध किए और अपने कुशल शासन संचालन द्वारा उसने ऐसी शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित की जिससे वहां की जनता सुखी एवं समृद्ध हो गई। उसकी कीर्ति एवं शासन की सफलता की धाक चारों ओर फैल गई और इसलिए जब सरदार तथा अमीर अलाउद्दीन से असन्तुष्ट हो गए तो उन्होंने गुप्त पत्र भेजकर नासिरुद्दीन को राज्यारोहण के लिए आमन्त्रित किया। इस बात से प्रकट है कि नासिरुद्दीन युद्ध एवं शासन दोनों में ही योग्य था और इसके लिए ख्याति प्राप्त कर चुका था। वह दिल्ली स्त्री वेश में आया। इससे विदित होता है कि वह न केवल महत्वाकांक्षी वरन कार्य साधने में चतुर था। जब वह दिल्ली आ गया तब वह निर्विरोध सुल्तान घोषित कर दिया गया। इससे भी अनुमान होता है कि वह केवल कुरान की प्रतिलिपियाँ तैयार करने में लगा रहने वाला व्यक्ति ही न रहा होगा।"

सिराज ने आगे लिखा है कि, "राज्यारोहण के बाद उसने किसी को भी सहसा वकील अथवा नायब-ए-मुमालिकात का पद नहीं दिया, क्योंकि वह अपने पूर्ववर्ती शासकों के काल की घटनाओं से परिचित था। उसने उलुग खाँ तथा अबूबकर को पुराने पदों पर रहने दिया और अन्य अमीरों के पदों में भी कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया। नासिरुद्दीन ने तीन वर्ष तक सभी सरदारों के कार्यों का निरीक्षण करने के पश्चात जो उनमें सबसे योग्य था उसे वकील अर्थात् 'नायब-ए-मुमालिकात' का पद प्रदान किया। यह पद देने के बाद भी सुल्तान ने अपने हाथ कटा नहीं दिए। इसी कारण यह सम्भव हो सका कि चार वर्ष बाद 1253 ई. में वह अपने नायब को विश्वासपूर्वक पदच्युत कर हांसी का हाकिम नियुक्त कर सका। जिस व्यक्ति को 1253 ई. में शासन भार सौंपा गया, उसकी अयोग्यता सिद्ध होने पर नासिरुद्दीन के विरुद्ध नहीं वरन् उस व्यक्ति विशेष के विरुद्ध सैनिक प्रदर्शन किया गया और नासिरुद्दीन उस समय भी इतना सबल था कि उसने नए नायब को बदायूं भेज कर फिर पुराने नायब को वापस बुला लिया। इस प्रकार प्रारम्भिक वर्षों में सैनिक अभियानों में सुल्तान बराबर बलबन के साथ युद्ध-क्षेत्र में गया और वहां से वह रणनीति का निरीक्षण एवं संचालन करता रहा। इन सब घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि नासिरुद्दीन अपने पूर्ववर्ती शासकों की भांति सरदारों के हाथ की कठपुतली न होकर वास्तविक शासक था।"

फरिश्ता लिखता है कि, "वह अपने पिता के सिंहासन को अलंकृत करने के लिए अपने वंश के अतिरिक्त अपनी शूरवीरता, योग्यता, विद्वता एवं अपने अनेक अन्य सद्गुणों के कारण विशेष रूप से उपयुक्त था।" उसने बीस वर्ष तक केवल

बलबन की कृपा पर शासन नहीं किया वरन् अपनी योग्यता के बलबूते पर और बलबन उसका सेवक ही रहा न कि स्वामी।" बलबन की सुल्तान के रूप में सफलता को भी उसके नाइब की सफलता के साथ जोड दिया गया। इसका कारण यह था कि, "इल्तुतमिश के मत के अनुसार उसके सभी बेटे राज्य करने के लिए अयोग्य थे इसलिए नासिरुद्दीन को भी अयोग्य ही मान लिया गया और इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि 1232-1236 ई. में नासिरुद्दीन इतना छोटा था कि उसको राज्य देने का प्रश्न ही नहीं उठता था। नासिरुद्दीन जब बड़ा हुआ तो उसने अपनी योग्यता का परिचय देना शुरु किया। फलत: वह सुल्तान पद के लिए निर्वाचित किया गया। उसने अपने दीर्घ शासन में ऐसी कोई दुर्बलता नहीं दिखाई जिसके कारण उसके स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति सुल्तान बनाया जाता। 1255 ई में सुल्तान के हटाए जाने की सम्भावना हो सकती थी, उसके भाई जलालुद्दीन ने इसी आशा में यह विश्वास कर लिया कि वह स्वयं उसका उत्तराधिकारी होगा। परन्तु विद्रोही सरदारों ने नासिरुद्दीन से लोहा लेने का साहस नहीं किया। इस भांति यह प्रमाणित हो जाता है कि नासिरुद्दीन एक योग्य शासक था जिसके हाथ में शासन की वास्तविक शक्ति थी।"[1]

इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात विगत दशक (1236-1246) में राजवंश के चार राजकुमार सिंहासन पर बिठाए गए और तत्पश्चात पदच्युत कर मार डाले गए। सोलह वर्षीय इस युवक के लिए एक चेतावनी थी। शम्सी मलिक ही उसके विशेष समर्थक थे। वे ही उसके लिए एक मात्र खतरे का स्रोत थे। वह उनकी बात मानने के लिए विवश था क्योंकि उसके पास अन्य कोई विकल्प नहीं था।

इसामी "उसने सेना के सरदारों की सद्भावना प्राप्त करने का प्रयत्न किया और अन्त करण से वह उसका शुभ चिंतक था।" उसने पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण कर दिया था। वह एक मुक्त शासक की भांति राज्य करता था (अर्थात् एक मुक्त शासक की भांति व्यवहार करता था) न कि पहले की तरह शाहजादा (शहज़ादों) की भांति।

मिनहाज ने प्रथम पन्द्रह वर्षों की घटनाओं का वर्षानुसार वर्णन किया है। "शासन के पहले वर्ष में बहाउद्दीन बलबन ने पश्चिमोत्तर सीमा पर सैनिक प्रदर्शन का निश्चय किया। वहाँ किसी शत्रु से युद्ध नहीं करना था किन्तु खोखरो के सरदार ने मंगोलों का मार्गदर्शन किया था, केवल इस कारण कि दिल्ली शासन सिन्ध नदी की सीमाओं की रक्षा करने में असमर्थ था।" सेना ने 1246 ई. में दिल्ली से प्रस्थान किया। 10 मार्च 1246 को रावी नदी पार की और राजकीय पताकाएं सोदरा नदी के निकट गाडी गई। सेना के लिए कोई खाद्य सामग्री एक-

1. अवध बिहारी पाण्डेय, वही, पृ. 81-82

जित न की जा सकी। 15 मार्च 1247 को सुल्तान सोदरा नदी से वापस लौट पड़ा।

शासन का दूसरा वर्ष मंगोलों में गृह-युद्ध चल रहा था। कन्नौज में एक हिन्दू सरदार ने तलसंदा का सुदृढ़ दुर्ग बना लिया था। सुल्तान ने उससे युद्ध कर उसे जीत लिया। वहां से बलबन को मार्च, 1248 ई. में दल्की और मल्की के विरुद्ध भेजा गया जो यमुना और कालिंजर के बीच के प्रदेश का स्वामी था। उसने सुबह से शाम तक शत्रुओं का मुकाबला किया परन्तु यह समझकर कि उसके लिये और अधिक विरोध करना सम्भव नहीं है, वह रात में दुर्ग से निकल कर भाग गया और इस प्रकार एक सुदृढ़ दुर्ग बलबन के हाथ लग गया। 20 मई, 1248 ई. को सेनाएं वापिस दिल्ली आ गई।

शासन के तीसरे वर्ष में सुल्तान ने एक शक्तिशाली सेना सहित रणथम्भौर पर आक्रमण करने तथा मेवात पर्वतीय प्रदेश और बाहरदेव के प्रदेश को लूटने और विध्वंस करने के लिये भेजा। मिनहाज के विवरण से स्पष्ट है कि अभियान असफल रहा। जब बलबन एक ओर युद्ध कर रहा था, तभी दूसरी ओर बहाउद्दीन ऐवक को हिन्दुओं ने पराजित कर मार डाला। पराजित सेना 18 मई 1249 ई. को दिल्ली पहुँची।

शासन के चौथे वर्ष में (1249-50 ई.) बलबन ने अपनी लड़की का विवाह सुल्तान के साथ कर दिया। सुल्तान ने उसे 'नायब-ए-मुमालकात' बनाया तथा उलूग खाँ की उपाधि दी, बलबन की यह उन्नति बहुत ही शीघ्र हुई थी। बलबन के साथ ही दूसरे अमीरों को भी सम्मानित किया गया। सैफुद्दीन ऐवक को 'अमीर-ए-हाजिब' नियुक्त कर 'कश्लीखाँ' की उपाधि दी गई। इसी प्रकार मलिक ताजुद्दीन तबरखां और अलाउद्दीन अयाज रेहानी को भी ऊँचे पद दिये गये परन्तु इन सब में बलबन को ही अत्यधिक सम्मान मिला था। मिनहाज ने लिखा है कि बलबन की इन आरम्भिक उपलब्धियों के कारण अन्य तुर्की अमीर उससे ईर्ष्या करने लगे।

रायहान, वकीलदार 1251 ई.—बलबन के विरुद्ध षड्यन्त्र किये जाने लगा तथा उसके अपदस्थ करने के प्रयास किये गये जिसमें षड्यन्त्रकारी सफल भी हुये। इस दल में सुल्तान की मां के अतिरिक्त तुर्की सरदार व भारतीय मुसलमान भी थे। ऐसा अनुभव होता है कि सुल्तान नासिरुद्दीन भी अन्त समय में षड्यन्त्रकारियों के साथ हो गया था, इस दल का नेतृत्व रायहान कर रहा था। इनके कहने से सुल्तान नासिरुद्दीन ने बलबन को 'नायब-ए-मुमालाकात' के पद से हटा दिया और उसे अपने इक्ता हांसी में जाने की आज्ञा दी। तत्पश्चात् उसे नागौर भेज दिया गया। बलबन ने सुल्तान की आज्ञाओं का पूर्ण पालन किया और चुपचाप राजधानी की घटनाओं को देखता रहा। रायहान स्वयं 'वकीलदार' बना और शासन की समस्त शक्तियों को अपने हाथों में केन्द्रित कर लिया। उसने अपने विश्वासपात्रों को राज्य

के उच्च पदों पर नियुक्त किया और बलबन के समस्त सम्बन्धियों को उनके पदों से हटाकर शक्तिहीन कर दिया, मलिक मुहम्मद निजाम जुनैदी को वजीर बनाया व *मिन्हाज के स्थान पर* शमसुद्दीन को मुख्य काजी के पद पर नियुक्त किया। भटिण्डा तथा मुल्तान की सूबेदारी शेरखां की जगह अर्सलानखां को प्रदान की गयी।

परन्तु रायहान अधिक समय तक अपने पद पर न रह सका क्योंकि तुर्की सरदार ये सहन नहीं कर सकते थे कि वे एक भारतीय मुसलमान के द्वारा शासित हों। इसलिये अनेक तुर्क अमीर जो रायहान के साथ हो गये थे वे पुन बलबन से आकर मिल गये और रायहान के विरुद्ध *षड्यन्त्र करने लगे।* 1254 ई में इक्तादारों की सहायता से बलबन ने एक सेना इकट्ठी की। वह भटिण्डा से दिल्ली की ओर बढ़ा। रायहान ने बलबन की गतिविधियों की जानकारी कर सुल्तान के साथ दिल्ली से बाहर निकला। दोनों ही सेनायें समाना आ गयी और क्योंकि दोनों ही युद्ध करने के लिये तत्पर न थे इसलिये समझौते *की बातचीत शुरू हुई।* रायहान ने यद्यपि सुल्तान को युद्ध करने की सलाह दी, परन्तु सुल्तान देख रहा था कि अधिकतर तुर्क अमीर बलबन के साथ है इसलिये उसने रायहान की सलाह को न *माना। मुल्तान स्वयं अपनी* प्रवृत्ति से शांति के साथ रहना पसन्द करता था इसलिये भी वह युद्ध नहीं करना चाहता था। स्पष्ट था कि *रायहान की अपेक्षा* बलबन इस समय अधिक शक्तिशाली था। अत सुल्तान ने बलबन से समझौता कर उसे पुन 'नाइब' बनाया और रायहान को अपदस्थ कर पहले उसे बदायूं और फिर बहराइच भेज *दिया। इस प्रकार* रायहान लगभग एक वर्ष तक शक्तिशाली रहा, रायहान के पतन में मुख्य रूप से तुर्की अमीरों का हाथ था जो भारतीय मुसलमानों को हिन्दुओं की तरह से घृणा की दृष्टि देखते थे।

रायहान के पतन के पश्चात् बलबन ने निर्विवाद सत्ता का उपभोग किया। बलबन ने पुन अपने समर्थकों और विश्वासपात्रों को महत्वपूर्ण पद दिये। यद्यपि अधिकतर सरदारों ने बलबन की सत्ता को स्वीकार किया परन्तु इसके बाद भी यदि किसी ने विरोध का साहस किया तो बलबन ने उसे अपने रास्ते से हटा दिया जैसा कि मलिक कुतुबुद्दीन हसन के साथ किया था जिसने बलबन द्वारा सुल्तान के छत्र के प्रयोग का विरोध किया था।

नाइब के रूप में बलबन के कार्य—अपने 'नाइब' के काल मे बलबन के सम्मुख दो उद्देश्य थे—अपनी स्थिति को दृढ करना तथा दिल्ली सल्तनत की रक्षा करना। इनमें पहला उद्देश्य ही मुख्य था और दूसरा पहले की प्राप्ति के लिये साधन-मात्र था। इन कार्यों को करने के लिये वह *लगातार प्रयत्नशील* रहा और आंशिक रूप में सफल भी हुआ।

पूर्व में बंगाल का सूबा दिल्ली सुल्तानों के लिये एक समस्या ही रहा था। बलबन के नाइब के काल मे सूबेदार *तुगानखां* ने दिल्ली के विरुद्ध विद्रोह करके स्वयं

को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। परन्तु उड़ीसा में जाजनगर के शासक से पराजित होने पर उसने बलबन से सहायता मांगी। बलबन ने ये अच्छा अवसर देखा और तमरखां के नेतृत्व में एक सेना भेजी। परन्तु जब तक वह बंगाल पहुंचा तब तक उड़ीसा की सेना वापिस जा चुकी थी। बलबन के इशारे पर तमरखां ने तुगानखां से लखनौती को छीन लिया। तुगानखां को लखनौती का गवर्नर बनाया गया और बंगाल को दिल्ली के अधीन कर लिया गया। तत्पश्चात् 1255 ई. में तुगानखां के एक उत्तराधिकारी यूजबक-ए-तुगरिलखां ने स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया। परन्तु 1257 ई. में वह कामरूप के शासक से युद्ध करता हुआ मारा गया और बंगाल को पुनः दिल्ली के अधीन कर लिया गया। लगभग 1260-61 ई. में कड़ा के इक्तादार अर्सलाखां ने बंगाल पर अधिकार कर लिया और फिर यह नासिरुद्दीन के समस्त राज्यकाल में दिल्ली के अधीन न किया जा सका।

उत्तर-पश्चिम सीमा पर मंगोल आक्रमणों, बनियान के शासक सैफुद्दीन की महत्वाकांक्षाओं और किश्लूखां जैसे सरदारों के विद्रोहों ने सल्तनत की स्थिति अत्यन्त कमजोर बना दी। सिन्ध और मुल्तान पर सल्तनत का अधिकार ढीला-ढाला रहा और मंगोलों ने लाहौर तक अपना अधिकार कर लिया। 1259 ई. में मंगोल शासक हलाकू के साथ समझौता हो जाने पर ही उधर शान्ति स्थापित हो सकी।

बलबन को अनेक आन्तरिक विद्रोहों का भी सामना करना पड़ा। पश्चिम में खोक्खर, मेवात में मेव, दोआब और बुन्देलखण्ड में होने वाले विद्रोहों ने बलबन को अधिक व्यस्त रक्खा। इसके साथ ही राजपूतों के विद्रोह भी उसके लिये समस्या थे। बलबन को प्रत्येक वर्ष ही किसी न किसी दिशा में विद्रोहों के दबाने के लिये जाना पड़ता था। अपने इन प्रयत्नों के बाद में भी वह रणथम्भौर, ग्वालियर व बूंदी को जीतने में असफल रहा। जाजनगर और कामरूप के शासकों से तुर्की सेनायें पराजित हुई।

इस प्रकार 'नाइब' की दृष्टि से बलबन ने कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं किये। तुर्की अमीरों की आपसी प्रतिस्पर्धा और ताज के सम्मान में कमी आ जाने के कारण दिल्ली सल्तनत का प्रभाव अत्यधिक क्षीण हो गया था। बलबन के लिये यही कार्य यथेष्ट था कि उसने दिल्ली सल्तनत को नष्ट होने से बचा लिया तथा उसके प्रभाव को कायम रखने के लिये लगातार प्रयत्नशील रहा। परन्तु इन सब असफलताओं के बाद भी वह अपनी स्थिति को दृढ़ करने में पूर्ण सफल हुआ।

1265 ई. में सुल्तान नासिरुद्दीन का अकस्मात् देहान्त हो गया। इसामी के अनुसार बलबन ने सुल्तान को विष दिया था और फरिश्ता लिखता है कि उसने इल्तुतमिश के समस्त वंशजों का वध कर दिया जिससे कि वह निर्विरोध सुल्तान बन सके। प्रो. निजामी ने लिखा है कि बलबन ने नासिरुद्दीन महमूद को मरवा

दिया था क्योंकि बलबन उससे लगभग 20-25 साल आयु में बड़ा था और वे अनुभव करता था कि आयु के आधार पर सुल्तान के जीते-जी वह शासक न बन सकेगा। इसलिये उसने गद्दी प्राप्ति की जल्दी में ऐसा किया था। प्रो. हबीबुल्ला की मान्यता है कि सुल्तान की मृत्यु प्राकृतिक रूप से हुई थी, और क्योंकि उसके कोई सन्तान न थी अतएव बलबन स्वयं सुल्तान बन गया।

गयासुद्दीन बलबन (1261-87 ई.)

बहाउद्दीन बलबन ने एक नये राजवंश की नींव डाली, यद्यपि इल्तुतमिश के वंश के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। सुल्तान मसूदशाह और सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद दोनों ही उनके दामाद थे। नासिरुद्दीन की एक पुत्री से उसके पुत्र बुगराखाँ का विवाह हुआ था। सुल्तान नासिरुद्दीन के समय में वह नाइब था और अप्रत्यक्ष रूप से शासन की सम्पूर्ण शक्ति का उपभोग करता था।

सुल्तान नासिरुद्दीन की मृत्यु के सम्बन्ध में हमारे पास कोई समकालीन अभिलेख नहीं है। बरनी पूरी तरह से मौन है तथा 'तारीख-ए-मुबारकशाही' के अनुसार सुल्तान की मृत्यु बीमारी के कारण हुई। अधिकतर मध्यकालीन इतिहास-कारों ने इसे स्वीकार किया है परन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों का मूलोच्छेदन किस प्रकार हुआ। तारीख-ए-मुबारकशाही के विरोध में इब्नबतूता और इसामी का स्पष्ट मत है कि नायब बलबन ने सुल्तान को विष दिया था। बलबन की निगाह गद्दी पर थी, यह स्पष्ट है और इस आधार पर उसके द्वारा सुल्तान की हत्या की अधिक सम्भावना है।

प्रारम्भिक जीवन—बहाउद्दीन बलबन तुर्किस्तान की इल्बारी जाति का था। उसका पिता दस हजार परिवारों का खान था। मंगोलों ने युवावस्था में ही उसे पकड़कर बगदाद में ख्वाजा जमालुद्दीन बसरी के हाथों बेच दिया था। ख्वाजा उसे 1232-33 ई. में दिल्ली लाया। मिनहाज के अनुसार इल्तुतमिश को बहाउद्दीन पसन्द आ गया और उसी के कारण ही समस्त तुर्क दास खरीद लिये गये। इल्तुतमिश ने कुछ समय पश्चात् उसे 'खासादार' के पद पर नियुक्त किया और वह 'चेहलगान' (चालीस) के दल में सम्मिलित कर लिया गया। अपनी योग्यता के आधार पर रजिया के शासनकाल में वह 'अमीर-ए-शिकार' बनाया गया। रजिया के विरुद्ध षड्यन्त्र में उसने बहरामशाह का पक्ष लिया और उसने सुल्तान बनने पर उसे 'अमीर-ए-आखूर' का पद प्रदान किया। 'अमीर-ए-हाजिब' मलिक बदरुद्दीन रूमी की उस पर विशेष कृपा थी जिसके कारण उसे रेवाड़ी का इक्ता मिला। सुल्तान बहरामशाह के विरुद्ध उसने मसूदशाह का पक्ष लिया और पुरस्कार स्वरूप उसके सुल्तान बनने पर उसे हांसी का इक्ता प्रदान किया गया। जब वजीर मुहाजबुद्दीन और तुर्की सरदारों में झगड़ा हुआ और मुहाजबुद्दीन की हत्या कर अबू बक्र को वजीर बनाया गया, तो बलबन को 'अमीर-ए-हाजिब' का पद प्राप्त हुआ। अबू बक्र

बहुत सरल प्रकृति का व्यक्ति था। इसलिए वजीर का पद महत्वहीन हो गया था, और क्योंकि 'नायब-ए-ममलकत' के पद पर किसी की नियुक्ति नहीं की गई थी इसलिये अब बलबन का कोई प्रतिस्पर्धी नहीं रह गया था। इस कारण बलबन को अपने इस सम्मानित पद से स्वयं की शक्ति को बढ़ाने का अच्छा अवसर मिला। बलबन ने तुर्की सरदारों का ध्यान पारस्परिक झगड़ों से हटाकर राजपूतों और मंगोलों की ओर लगाया और धीरे-धीरे राज्य की समस्त शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित करने में लग गया। मसूदशाह को गद्दी से हटाकर नासिरुद्दीन महमूद को सुल्तान बनाने में उसने सक्रिय भाग लिया था, इसलिये सुल्तान ने राज्य की समस्त शक्ति उसे सौंप दी। वह सुल्तान का प्रतिनिधि 'नायब-ए-ममलकत' बन गया। अगस्त 1249 ई. में उसने अपनी पुत्री का विवाह सुल्तान नासिरुद्दीन से कर दिया। इस अवसर पर उसे 'उलुग खां' की उपाधि प्राप्त हुई। बीस वर्ष (1246-1266 ई.) के समय में उलुग खां से गयासुद्दीन बलबन का खिताब धारण कर गद्दी प्राप्त करने में उसे कोई कठिनाई नहीं हुई। अप्रत्यक्ष रूप से प्रभुसत्ता को धारण किये बगैर वह वास्तविक शासक था और किसी भी प्रतिद्वन्द्वी को सहन करने के लिये तत्पर नहीं था। फरिश्ता ने लिखा है कि, "खुलेआम या गुप्त पड्यन्त्रों से उसने शम्सुद्दीन इल्तुतमिश के अधिकांश वंशजों को, जिन्हें वह सिंहासन के लिए प्रतिपक्षी समझता था, मार डाला।" इसामी भी इसकी पुष्टि करता है। 1266 ई. में सुल्तान नासिरुद्दीन की मृत्यु पर वह शासक बन गया। 1287 ई. में अपनी मृत्यु तक वह अद्भुत योग्यता और शक्ति से शासन करता रहा। बरनी ने 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में लिखा है, "सुल्तान गयासुद्दीन बलबन को राज्य-कार्य का अनुभव था। तत्पश्चात् वह सुल्तान बन गया। जब गद्दी उसे प्राप्त हुई तो उसने उसे और अधिक सम्मानित बना दिया। उसने शासन की व्यवस्था की। जो राज-संस्थाएं हिल चुकी थीं अथवा नष्ट हो चुकी थीं उन्हें पुन: स्थापित किया। सरकार की प्रतिष्ठा और सत्ता स्थापित हो गई और कठोर नियमों के कारण सब लोगों के हृदय में उसका आतंक बैठ गया।"

बलबन की समस्याएं—बलबन को राजगद्दी जिस आसानी से मिल गई थी उतनी आसानी से उसे सुरक्षित रखना सम्भव नहीं था। राजसत्ता की गरिमा मोटे रूप से लुप्त प्रायः हो चुकी थी और स्वयं बलबन इसके लिए उत्तरदायी था, परन्तु वह सुल्तान बनने पर इस स्थिति को स्वीकार करने को तत्पर नहीं था। तुर्क सरदारों अथवा 'चहल' के सदस्यों की शक्ति समाप्त किये बगैर वह स्वयं को सुरक्षित नहीं रख सकता था। इसके अतिरिक्त दिल्ली सल्तनत का सुदृढ़ीकरण करना भी आवश्यक था, क्योंकि सुल्ताना रजिया के बाद लगातार अयोग्य और कठपुतली शासकों के कारण शासकीय व्यवस्था समाप्त हो चुकी थी और चारों ओर विद्रोह तथा पड्यन्त्रों का बोलबाला था। बरनी ने सल्तनत की हालत और उसकी समस्याओं का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है जिससे कि वह बलबन की सफलताओं के

आधार पर उसकी श्रेष्ठता को साबित कर सके, परन्तु इसके बाद भी इतना तो निश्चित है कि उसके सुल्तान बनते समय सल्तनत की स्थिति सुदृढ़ नहीं थी और सुल्तान के सामने अनेक जटिल समस्याएं थीं—

1. सुल्तान की प्रतिष्ठा व चहल का दल—बलबन ने सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने के कार्य को प्राथमिकता दी। उसने अनुभव किया कि ताज अथवा सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित किए बगैर शासन और सिंहासन के प्रति भय अथवा श्रद्धा प्राप्त करना सम्भव नहीं था, जो एक व्यवस्थित शासन के लिए आवश्यक शर्त थी। इसमें अमीर और विशेषकर चहल (चालीस) का दल अधिक क्रियाशील था और बलबन ने भी सुल्तान बनने के पहले अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा सुल्तान की मर्यादा और सम्मान को समाप्त करने में इसका समुचित उपयोग किया था। सुल्तान बनने के बाद परिस्थिति बिल्कुल बदल गई थी और वह यह देखने में असमर्थ था कि 'चहल' के सदस्य सुल्तान की कीमत पर उन्हीं साधनों और तरीकों का उपयोग करें जो शक्ति प्राप्त करने में उसने किये थे। उनकी शक्ति को स्वयं की रक्षा के लिए नष्ट करना जरूरी था। मलिक और अमीरों को वह यह बतला देना चाहता था कि सुल्तान का पद उनकी पहुंच के बाहर है और सुल्तान तथा उनमें किसी प्रतिस्पर्द्धा का प्रश्न ही नहीं है। इस आधार पर वह शक्ति के दिखावे से उन पर यह प्रभाव छोड़ना चाहता था कि वे सुल्तान के प्रति निष्ठावान बने रहें और ताज का ईरानी परम्परा के अनुसार सम्मान करें। शक्ति के दिखावे की असफलता के बाद वह नग्न शक्ति का उपयोग करने में भी नहीं हिचकिचायेगा, और यदि चहल के दल ने सुल्तानों को बनाने और बिगाड़ने की नीति बनाये रक्खी तो वे उसके कोपभाजक बनेंगे।

2. कानून और व्यवस्था—बलबन की दूसरी समस्या कानून और व्यवस्था की स्थापना थी। बलबन यह अनुभव करता था कि सुल्तान का मूल्यांकन राज्य में शांति और व्यवस्था के आधार पर ही किया जावेगा। इस क्षेत्र में उसके समक्ष चार समस्याएं थीं—दिल्ली का निकटवर्ती प्रदेश, दोआब का प्रदेश, व्यापारी मार्गों की असुरक्षा तथा कटेहर के विद्रोही। बलबन के लिये कानून और व्यवस्था का प्रश्न राज्य के अस्तित्व का प्रश्न था, इसलिये इसका तात्कालिक समाधान निकालना आवश्यक था।

बरनी ने लिखा है कि बलबन ने अपने शासन के प्रथम वर्ष में पहली तीन समस्याओं की ओर अपनी शक्ति लगाई। दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेशों में मेव जाति के लोग बसे हुए थे जो इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों की अयोग्यता तथा नासिरुद्दीन की दुर्बलता के कारण अत्यधिक शक्तिशाली और बेलगाम हो गये थे। उनके आतंक का अनुमान बरनी के इस कथन से लगाया जा सकता है कि, "नगर के पश्चिमी द्वार दोपहर की नमाज के बाद बंद कर दिये जाते थे और उसके पश्चात किसी

व्यक्ति को उधर की ओर से नगर के बाहर जाने का साहस नहीं होता था।" दोपहर की नमाज के पूर्व भी मेव लोग पानी भरने जाने वाली दासियों को सताते थे और उनके कपड़े छीन कर नग्न कर दिया करते थे। उनके भय से दिल्ली के नागरिकों का सोना हराम था। बलबन ने इस अव्यवस्था को देख वर्ष भर उनको दबाने और दिल्ली के आसपास के जंगलों को इनसे खाली कराने में लगाया। बरनी ने लिखा है, "बहुत सारे मेवाती तलवार के घाट उतार दिये गये। सुल्तान ने गोपालगीर में एक दुर्ग बनवाया और अनेक थाने स्थापित किये। इन चौकियों पर अफगानों को नियुक्त किया और उनके निर्वाह के लिये कर-रहित भूमि प्रदान की। सुल्तान ने अपनी तलवार के बल से अल्लाह के अनेक व्यक्तियों को (अर्थात् मुसलमान) शत्रु के आक्रमणों और बलात्कारों से बचाया।"

राजधानी को मेवों से सुरक्षित करने के बाद बलबन ने दोआब की ओर ध्यान दिया। दोआब में विद्रोहियों और लुटेरों की गतिविधियों के कारण आतंक फैला हुआ था। उसने दोआब के नगर और प्रदेश ऐसे अमीरों को दिये जिनके पास आवश्यक धन था और उन्हें आदेश दिया कि ऐसे समस्त गांवों के लोगों को जो सरकार विरोधी हैं नष्ट कर दिया जावे तथा उनके स्त्रियों और बच्चों को दास बना लिया जावे। अमीरों ने जंगल कटवा दिये, विद्रोहियों का विनाश किया और अराजकता फैलाने वालों को मृत्यु के घाट उतार दिया।

दोआब की समस्या के हल के बाद उसने अवध की ओर ध्यान दिया। इस क्षेत्र में कंपिल, पटियाली और भोजपुर डाकुओं के अड्डे थे, जिन्होंने हिन्दुस्तान की ओर से होने वाले व्यापार को बिलकुल ठप्प कर रक्खा था। बलबन स्वयं पांच अथवा छः माह इस क्षेत्र में रहा और नृशंस रूप में डाकुओं का संहार किया। तीनों ही स्थानों पर दृढ़ दुर्ग और विशाल मस्जिदों का निर्माण कराया और इनको अफगानों के सुपुर्द कर दिया। दुर्गों के पास की भूमि अफगानों को दे दी गई जिससे कोई कर वसूल नहीं किया जाता था। बलबन की इस नीति से शान्ति और व्यवस्था कायम हो गई तथा हिन्दुस्तान से व्यापार पुनः शुरू हो गया। इसीलिए 60 वर्ष बाद बरनी ने सन्तोषपूर्वक लिखा कि मार्ग डाकुओं से मुक्त हैं।

जिस समय बलबन दोआब व अवध में व्यस्त था तब उसे लगातार यह सूचना मिलती रही कि कटेहर में विद्रोहियों की गतिविधियां बढ़ रही हैं। ये बदायूं और अमरोहा के क्षेत्रों में लूटमार करते थे। इन प्रदेशों के इक्तादारों ने विद्रोहियों को दबाने का प्रयत्न किया परन्तु उसमें कोई सफलता न मिल सकी। अतः बलबन ने निश्चय किया कि वह व्यक्तिगत रूप में इनका अंत करेगा। वह कम्पिल और पटियाली से वापस दिल्ली लौटा और अपनी सेना के प्रमुख भाग के साथ कटेहर की ओर चल दिया। उसने यह खबर फैलाई कि वह शिकार के लिये पहाड़ियों की ओर जा रहा है। बलबन तेजी के साथ कटेहर की ओर बढ़ा। बरनी के विवरण से

ऐसा मालूम पड़ता है कि सुल्तान ने समस्त पुरुष आबादी का नरसंहार करने के आदेश दिये थे परन्तु प्रो निज़ामी इसे 'कोरी बकवास' मानते हैं क्योंकि बलबन वहां किसानों को डाकुओं के आतंक से बचाने के लिये ही गया था। यदि फरिश्ता[1] के विवरण को ठीक माना जावे तो, "विद्रोहियों के रक्त की धाराएं बहने लगीं। प्रत्येक गांव और जंगलों के समीप लाशों के ढेर लग गये और सड़ने वाली लाशों की दुर्गन्ध गंगा नदी के तट तक पहुँची" उस समय से जलालुद्दीन खलजी के शासन काल के अंत तक कटेहर में किसी विद्रोही ने सर न उठाया।"

इसके पश्चात् बरनी के अनुसार, "सुल्तान ने जूद के पर्वतों में अभियान करने का निश्चय किया। सेना को साथ लेकर उसने उस ओर प्रयाण किया, उस क्षेत्र को लूट लिया और सैनिकों ने बड़ी संख्या में घोड़े छीन लिये जिससे सेना में घोड़े का मूल्य घटकर तीस या चालीस टंका रह गया।"

3 **कमजोर आर्थिक स्थिति**—सल्तनत की स्थिति अधिक खराब थी। राज्य के विभिन्न भाग उपद्रवों के केन्द्र थे और राजकोष का एक बड़ा भाग इनको दबाने में व्यय किया जाता रहा था। इक्तादारों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति और तुर्की अमीरों की स्वेच्छाचारिता ने राजकोष की स्थिति अधिक नाजुक कर दी थी। हिन्दुओं के युद्धों के कारण राजकोष को काफी हानि उठानी पड़ी थी। इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों के अपव्यय ने इसको खोखला कर दिया था और सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद की दान प्रवृत्ति ने रही सही कसर पूरी कर दी। बरनी ने लिखा है कि, "राजकोष खाली हो गया, शाही दरबार में धन तथा घोड़ों का अभाव हो गया। शम्सी गुलाम खान बन गये और राज्य का धन और शक्ति उन्होंने आपस में बांट ली। बलबन के लिये यह समस्या भी गम्भीर थी क्योंकि राजकोष के रिक्त होने पर शासन को व्यवस्थित करना अपने आप में एक दुरुह प्रयास होता।

4 **मंगोलों का भय**—मंगोलों के आक्रमण का भय दिल्ली सल्तनत पर सदैव मंडराता रहता था। व्यास नदी पर दिल्ली के इतने निकट उनकी उपस्थिति सुल्तान के लिये चिन्ता का विषय था और उन्हें रोकने के लिये यदि समयानुकूल प्रयास नहीं किये गये तो वे किसी भी समय खतरनाक साबित हो सकते थे। उनकी बर्बरता ने इस समस्या को और अधिक गम्भीर बना दिया था।

5. **राजपूत राज्यों की चुनौतियां**—राजपूताना और बुन्देलखण्ड के स्वतन्त्र राजपूत राज्य तुर्की जूए को उतार फेंकने पर तुले हुये थे और वे पुन हिन्दुस्तान पर अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। परन्तु उनकी सबसे बड़ी कमजोरी थी कि वे एक सामान्य शत्रु के विरुद्ध भी स्वयं को, आपसी मत-भेद भुलाकर,

---

1. बरनी, तारीख-ए-फीरोजशाही, भाग 1, पृ 55-59

एकजुट नहीं कर पाये थे। बलबन के लिये उनकी शक्ति एक चुनौती थी और तुर्की सल्तनत की सुरक्षा के लिये उनको दबाना एक आवश्यक शर्त थी।

इस प्रकार बलबन चारों ओर से अनेक कठिनाइयों से घिरा पड़ा था। ऐसी विकट समस्याओं के होते हुए सुल्तान के लिए राज्य विस्तार की अपेक्षा उसे संगठित करना ही अधिक श्रेयकर था और बलबन यद्यपि साम्राज्यवादी भावनाओं से परिपूर्ण था, परन्तु फिर भी व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए उसने न केवल मंगोलों के आक्रमणों से सल्तनत को सुरक्षित रक्खा अपितु मेवातियों का दमन किया, राजपूत राजाओं के विद्रोह को दबाया और अन्ततोगत्वा ताज की प्रतिष्ठा और गरिमा को बढ़ाने में सफलता प्राप्त की।

बलबन का राजत्व सिद्धान्त तथा ताज के गौरव की पुन: स्थापना—बलबन सम्भवत: दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने राजत्व सम्बन्धी अपने विचारों को विस्तृत रूप से प्रकट किया। ताज की गरिमा में वृद्धि करने तथा अमीरों के संघर्ष से बचने के लिये यह आवश्यक था, परन्तु जैसा प्रो. निजामी ने लिखा है कि इसके पीछे उसकी हीनता की भावना भी थी जिसके कारण वह राज्यहंता के कलंक को धो डाले और सरदारों को यह विश्वास दिला दे कि वह दैवेच्छा से ही सुल्तान बना है न कि किसी हत्यारे के विष भरे प्याले अथवा छुरे से। इसका कारण यह था कि संभवत: उसे दासता से कभी मुक्ति मिली ही नहीं थी और इस आधार पर वह कानूनी रूप में शासक नहीं बन सकता था। अपनी इसी अयोग्यता को छिपाने के लिये ही वह 'दैवेच्छा' की आड़ में अपनी सत्ता का वैधानिकरूप साबित करने के लिये लालायित था।

बलबन के राजत्व सिद्धान्त की अनेक विशेषताएं थीं जिसके पीछे फारस का आदर्श अधिक सक्रिय था, क्योंकि वहाँ राजत्व उच्चतम स्तर को प्राप्त हो चुका था। उसके अनुसार सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिबिंब (जिल्ले अल्लाह) है और उसका स्थान केवल पैगम्बर के पश्चात् है। सुल्तान को कार्य करने की प्रेरणा और शक्ति ईश्वर से प्राप्त होती है। इसका स्पष्ट अर्थ था कि सुल्तान की शक्ति का स्रोत अमीर वर्ग न होकर केवल ईश्वर है और इसलिये वह अपने कार्यों के लिये उसी के प्रति उत्तरदायी है। बलबन इस आधार पर अपनी निरंकुश राजसत्ता को पवित्र जामा पहनाकर जनसाधारण या अमीरों की आलोचना के अधिकार से ऊपर रखना चाहता था। उसने अपने पुत्र बुगराखां से कहा भी था कि, "सुल्तान का पद निरंकुशता का सजीव प्रतीक है।" उसकी यह धारणा थी कि सुल्तान की विशेष स्थिति ही उसके नागरिकों को उसकी आज्ञा-पालन करने के लिये बाध्य कर सकती थी।[1]

1. हबीब व निजामी, वही, पृ. 235-36

अपने वंशानुगत कलंक को छिपाने के लिए उसने अपनी वंशावली फिरदौसी की रचना 'शाहनामा' के प्रसिद्ध पात्र अफ्रासियाब से जोड़ी और राज्य के समस्त कर्मचारियों के परिवारों के विषय में जाँच कराई। वह अकुलीन परिवार के व्यक्तियों से न तो मिलना ही चाहता था और न ही उन्हें शासन के किसी उच्च पद पर नियुक्त करने के पक्ष में था। दिल्ली के एक धनी व्यापारी फखरुबावनी, ने सुल्तान से मिलने के लिए अपनी समस्त सम्पत्ति की बाजी लगा दी परन्तु क्योंकि वह अकुलीन वंश का था इसलिए बलबन ने उससे मिलना अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझा। उसने कमाल महियार नामक एक नये मुसलमान को अमरोहा का 'मुतसरिफ' नियुक्त किये जाने पर दरबारियों को बहुत डाँटा।

दिखावटी मान-मर्यादा को भी वह राजत्व का महत्वपूर्ण अंग मानता था और इसलिए फारस के रहन-सहन और दरबारी परम्पराओं को उसने अपनाया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वह वहाँ की परम्पराओं से अत्यधिक प्रभावित था। राज्यारोहण के बाद उसने अपने पौत्रों के नाम फारस के सम्राटों की भाँति कैकुबाद, कैखुसरो आदि रखे। फारस के शासकों की तरह ही उसने 'सिजदा' (घुटनों पर बैठ कर शीश नवाना) और 'पैबोस' (चरण स्पर्श) की अभिवादन की रीतियाँ प्रारम्भ कीं, ऊँचे और भयानक व्यक्ति को अंगरक्षक बनाया, जो सिंहासन के दोनों तरफ चमचमाती हुई नंगी तलवारें लिये खड़े रहते थे। सिंहासन के पीछे केवल कुछ विश्वसनीय अमीर बैठते थे और अन्य लोगों को खड़े रहने के आदेश थे। दरबारियों के लिये शराब पीना निषिद्ध कर दिया गया और उन्हें विशेष वस्त्र पहनकर ही दरबार में आने के आदेश दिये गये। सुल्तान ने किसी के सामने न कभी अस्वाभाविक हर्ष प्रकट किया और न कभी अपना दुःख। कभी भी वह न दरबार में हँसता था और न ही किसी दरबारी की ये हिम्मत थी कि वह दरबार में हँसे अथवा मजाक कर ले। जब उसे उसके सबसे बड़े पुत्र और उत्तराधिकारी महमूद की मृत्यु की सूचना दरबार में मिली, वह बगैर विचलित हुये राज्य-कार्य करता रहा, यद्यपि एकान्त में वह उसके लिये फूट-फूट कर रोता था। प्रो. निजामी ने लिखा है कि, "इन व्यक्तिगत तूफानों ने उसके भीतर बैठे मनुष्य की हत्या कर दी किन्तु वे सुल्तान की दिनचर्या मिटा न सके।"

समारोहों के समय दरबार की शान-शौकत देखने लायक होती थी और विदेशों से आने वाले राजदूत इसे देखकर अवाक रह जाते थे। बरनी ने लिखा है कि, "इन समारोहों के कई दिन बाद तक लोग दरबार की सजावट के बारे में चर्चा किया करते थे।" जब सुल्तान बाहर निकलता तो भयानक सैनिक नंगी तलवारें लेकर उसके साथ चलते थे और जोर-जोर से 'बिस्मिल्ला! बिस्मिल्ला' (ईश्वर के नाम से) कहते थे। प्रो. निजामी का मत है कि शक्ति और सत्ता के इस प्रदर्शन का प्रभाव सरदारों और जनसाधारण पर पड़ा और उनके मन में सुल्तान के प्रति भय और आतंक बैठ गया और अत्यन्त उद्दण्ड को भी आज्ञाकारी बना

दिया। निश्चित ही बलबन ने इस सत्ता शक्ति और शान-शौकत के प्रदर्शन से सुल्तान की प्रतिष्ठा में बढ़ोतरी की।

बलबन और तुर्क अमीर—बलबन, सुल्तान बनने के पहले 'चालीस सरदारों' के गुट (तुर्काने चिहलगानी) का सक्रिय सदस्य रहा था, इसलिये वह भलीभांति जानता था कि सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा तथा उसके वंश की सुरक्षा उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि ये गुट शक्तिशाली है। सुल्तान की निरंकुशता के मार्ग में भी यह गुट बड़ी बाधा था, इसलिए उसने इस गुट को नष्ट करने का संकल्प किया और फिर सभी सम्भव साधनों का प्रयोग किया चाहे वह हत्यारे का छुरा हो अथवा जहर का प्याला।

सर्वप्रथम उसने इस गुट की महत्ता को समाप्त करने लिये निम्न कोटि के तुर्कों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करना आरम्भ किया, जिससे कि वो इनके समानान्तर नये दल को खड़ा कर सके जो उसकी कृपा पर निर्भर हो। तदुपरान्त उसने इस गुट के सदस्यों का दमन करने तथा जनसाधारण की दृष्टि में उनका महत्व गिराने के लिये उन्हें कठोर दण्ड दिये। बदायूं के इक्तादार, मलिक बकबक को जो 'चालीस' का सदस्य था, अपने एक नौकर को कोड़ों से पीटकर मारने के अपराध में जनसाधारण के सम्मुख उसे कोड़ों से पीटकर मार डालने के आदेश दिये। वह केवल इससे ही सन्तुष्ट नहीं था अपितु उन गुप्तचरों को भी जो मलिक के दुर्व्यवहार की सूचना उस तक नहीं पहुँचा सके थे, उन्हें कस्बे के दरवाजे पर लटकाकर प्राणदण्ड दिया। इसी प्रकार अवध के इक्तादार हैबतखां को शराब के नशे में अपने दास का वध करने के अपराध में 500 कोड़े लगाये जाने का आदेश दिया। उसने विधवा को धन देकर यद्यपि मुक्ति पाई, परन्तु वह इतना अधिक लज्जित हुआ कि आजन्म वह अपने घर के बाहर नहीं निकला। बलबन ने कठोरता का व्यवहार करते हुये उन सरदारों को भी मृत्यु-दण्ड दिया जो युद्ध में पराजित हो वापिस आ जाते थे। अवध के इक्तादार अमीनखां को फांसी पर लटकवा दिया क्योंकि वह बंगाल के विद्रोही शासक तुगरिल बेग से पराजित होकर लौटा था। यदि इक्तादारों के साथ इस प्रकार का कठोर व्यवहार किया जा सकता था तो साधारण अमीरों के साथ किये गये व्यवहार का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। प्रो. हबीबुल्ला ने न्याय की प्रशंसा की है और निसन्देह वह जनसाधारण के प्रति न्यायपूर्ण नीति का पालन करता था, परन्तु प्रभावशाली अमीरों के प्रति इस प्रकार का व्यवहार तो उनके प्रभाव और सम्मान को नष्ट करना ही हो सकता था। अपने वंश के अधिकार को सुरक्षित रखने के लिये वह किसी भी साधन को अपनाने के लिये तत्पर था। प्रो. निजामी ने लिखा है कि, "व्यक्ति और व्यक्ति के झगड़ों में बलबन न्यायपूर्ण था, परन्तु जब कभी व्यक्ति और राज्य-हित में टकराव होता अथवा उसके व्यक्तित्व या वंश के हितों से सम्बन्धित प्रश्न उठ खड़ा होता तो वह निष्पक्षता के सभी सिद्धान्तों को त्याग देता था।" इसी आधार पर उसने अपने

चचेरे भाई शेरखां को, जो सीमान्त प्रदेशों का सूबेदार था, विष देकर मरवा दिया क्योंकि वह अत्यधिक महत्वाकांक्षी था। इसी प्रकार अन्य अमीरों को भी उसने अनेकानेक आरोप लगाकर पदच्युत कर दिया और जेल में डाल दिया अथवा मरवा डाला।

बलबन ने इस तरह 'तुर्काने चिहलगानी' के गुट को नष्ट कर सुल्तान की प्रतिष्ठा और आतंक को अवश्य पुनर्स्थापित किया परन्तु जिस प्रकार उसने इनको नष्ट किया, उससे भारत में तुर्की नस्ल के योग्य व्यक्तियों का पराभव हो गया। श्री निजामी का मत है कि बलबन ने अपने वंश के हितों की रक्षा के लिये तुर्की अमीरों के हितों की लेशमात्र भी परवाह नहीं की। उसने तुर्की अमीरों की प्रतिभा को इतनी बुरी तरह से कुचल दिया कि जब खल्जी, सिंहासन के लिये उनके प्रतिद्वन्द्वी बनकर सामने आये तब वे बिलकुल विस्मित और असहाय हो पराजित कर दिये गये। भारत में तुर्की सत्ता के पतन के लिये बलबन के उत्तरदायित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।"

सेना का पुनर्गठन—बलबन की निरंकुशता और राज्य की सुरक्षा को बनाये रखने के लिये सेना का गठन करना वह आवश्यक समझता था। इसके साथ ही क्योंकि इल्तुतमिश के समय की परम्पराओं की गति मन्द पड़ गई थी इसलिये यह और भी आवश्यक हो गया था। बरनी ने इस पुनर्गठन का विस्तृत विवरण दिया है जिसके अनुसार-(1) बलबन ने सैनिकों की संख्या को बढ़ाया, उनके वेतन के बदले दिये जाने वाले मात्रा में वृद्धि की और उन्हें सुखी और सन्तुष्ट रखने का प्रयास किया, केन्द्रीय दल में अनेकों अनुभवी व वफादार सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति की; (2) सेना को सतर्क व चुस्त बनाये रखने के लिये उसने सैनिक अभ्यास पर बल दिया और सर्दियों में वह अक्सर एक हजार घुड़सवार और एक हजार पैदल सैनिकों को लेकर शिकार के बहाने रेवाड़ी की ओर निकल जाता था, (3) उसने अत्यन्त विश्वसनीय और ईमानदार व्यक्तियों को सेना की व्यवस्था के लिये नियुक्त किया। 'आरिज-ए-लश्कर' के पद पर अमीर खुसरो के नाना इमादुलमुल्क को नियुक्त किया जिसे सुल्तान और जनता दोनों का ही विश्वास प्राप्त था। उसे वजीर के आर्थिक नियन्त्रण से भी मुक्त कर दिया जिससे कि वह धन की कमी का अनुभव न करे। बलबन की सेना की व्यवस्था का श्रेय इमादुलमुल्क को ही है, वह स्वयं अभियानों की योजना बनाता था और अन्तिम दिन तक गुप्त रखता था। अभियान की योजना अथवा लक्ष्य बताये बगैर वह एक वर्ष पहले ही अपने सैनिक अधिकारियों को सेना तैयार रखने के आदेश दे देता था। युद्ध के लिये आवश्यक शस्त्र आदि तैयार करने का कार्य कारखानों को सौंप दिया जाता था, सेनाओं के कूच के समय वह यह ध्यान रखता था कि गरीब और असहाय व्यक्तियों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचे।

सेना के इस पुनर्गठन का कार्य बगैर शम्सी सैनिक जागीरदारों की व्यवस्था किये हुये अधूरा रह जाता इसलिये उसने इस ओर ध्यान दिया। अपने शासन के चौथे वर्ष में उसने यह निश्चित रूप से अनुभव किया कि शम्सी अमीर सुल्तान के प्रति पूरी तरह स्वामिभक्त नहीं हैं और वे अपनी सुदृढ़ स्थिति के कारण सेवा किये बगैर ही जागीरों का उपभोग कर रहे हैं। उसने इनकी एक सूची तैयार करवाई। इससे यह मालुम कि पड़ा अकेले दोआब में ही लगभग दो हजार सैनिकों की 'इक्ताए' मिली हुई थीं, परन्तु उनमें से अधिकतर या तो मर चुके थे अथवा वृद्ध होने के कारण सैनिक सेवा करने के अयोग्य थे। उनके स्थान पर उनके अयोग्य उत्तराधिकारियों ने 'दीवान-ए-अर्ज' के गुप्त सहयोग से अपना अधिकार कर लिया था और बगैर सेवा किये ही जागीरों का उपभोग कर रहे थे। यद्यपि ये जागीरें उन्हें सैनिक सेवाओं के बदले में दी गई थीं परन्तु अब वे इन पर अपना पैतृक अधिकार मानते थे। बलबन के लिये यह असह्य था क्योंकि यह अनुबन्ध की शर्तों के विरुद्ध था जिसमें सैनिक सेवा प्रथम और महत्वपूर्ण शर्त थी।

बलबन ने इस दिशा में सतर्कता से कार्य आरम्भ किया। उसने समस्त शम्सी अमीरों की जागीरों को तीन वर्गों में विभक्त किया—(1) पहले वर्ग में वृद्ध और अशक्त लोग रक्खे गये। इनकी भूमि राज्य ने ले ली और इन्हें जीवनयापन के लिये बीस अथवा तीस टंक दिया जाने लगा; दूसरे वर्ग में उनको रक्खा गया जो सैनिक सेवा के योग्य थे और उन्हें उनकी सेवा के अनुसार वृत्ति दी जाने लगी। उनकी जागीरें यद्यपि वापिस नहीं ली गई परन्तु यह अंकुश लगा दिया गया कि उनकी वृत्ति के अतिरिक्त जागीर से बाकी आय सरकारी कर्मचारी वसूल करेंगे; तीसरे वर्ग में उन विधवाओं और अनाथों को रक्खा जो जागीर के बदले अपने प्रतिनिधियों द्वारा सैनिक सेवा करवाते थे। इनकी जागीर वापिस ले ली गई परन्तु इनके निर्वाह की व्यवस्था कर दी गई।

बलबन की इन कठोर आज्ञाओं से बरनी के अनुसार, "प्रत्येक मोहल्ले में हाहाकार मच गया।" अनेक वृद्ध पुरुष और विधवा स्त्रियां सुल्तान के मित्र कोतवाल फखरुद्दीन की शरण में पहुँचे और सुल्तान से सिफारिश करने की प्रार्थना की। बरनी ने लिखा है कि कोतवाल को गम्भीर और उदास मुद्रा में देख सुल्तान ने इसका कारण पूछा और उसने कहा, "मैंने सुना है कि आरिज सब वृद्ध पुरुषों को सेवा-निवृत्त कर रहा है और सरकार उन जागीरों को वापिस ले रही है। मैं वृद्ध और निर्बल हूं। प्रलय के अन्तिम दिन का ध्यान कर मैं अपने भाग्य के विषय में दुःखी हो रहा हूँ कि क्या वृद्ध लोग ईश्वर की अनुकम्पा से वंचित हो जावेंगे।" सुल्तान, कोतवाल का आशय समझ गया और बरनी स्पष्ट लिखता है कि "समस्त इक्तादारों के अधिकार जैसे के तैसे बने रहने दिये गये।" परन्तु प्रो. हबीबुल्ला का कथन है कि केवल वृद्ध इक्तादारों से सम्बन्धित आदेश ही वापिस ले लिये गये, शेष पर सम्भवतः कार्यवाही की गई।

प्रशासनिक उपाय और शासन संगठन—बलबन का शासन उस समय की माग के अनुसार अर्ध-नागरिक और अर्ध-सैनिक था। प्रत्येक अधिकारी से यह आशा की जाती थी कि वह कुशल तथा तलवार का धनी होगा। बलबन ने शासन का नियन्त्रण अपने हाथों में ही रक्खा और अधिकतर नियुक्तियाँ वह स्वयं करने लगा अथवा उसकी अनुमति से की जाने लगी। अमरोहा में एक नये मुसलमान की साधारण पद की नियुक्ति पर उसका ध्यान जा सकता था तो इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वह किस प्रकार नियुक्तियों पर कड़ी दृष्टि रखता होगा। वह इस बात से सतर्क था कि किसी भी व्यक्ति के हाथों में अधिक शक्ति एकत्र न हो पावे। इसीलिये उसने वजीर से सैनिक व आर्थिक अधिकार छीन कर उसकी शक्ति पर अंकुश लगा दिया। इन अधिकारों के छिन जाने से उसे यह विश्वास हो गया कि वह (वजीर) राजसत्ता को हड़पने अथवा छीनने की बात मात्र भी नहीं सकेगा। इसके साथ बलबन के चरित्र की ये विशेषता थी कि वह अधिकारियों की नियुक्ति केवल उच्च वंश के व्यक्तियों में से ही करता था।

प्रशासनिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उसके विचारों की झलक उसके द्वारा अपने पुत्रों को दिये गये दो व्याख्यानों में मिलती है। उसने सलाह दी थी कि—

1. शासन के ऐसे नियम बनाना चाहिये जिनसे दुर्बलों की शक्तिशालियों से रक्षा की जा सके।

2. शासन न तो अधिक कठोर हो और न ही अधिक उदार। कर इतने अधिक न हों कि उनके भार से जनता निर्धन हो जावे और न ही इतने कम हों कि जनता उद्दण्ड हो जावे।

3. शासन आवश्यकतानुसार अनाज की उपयुक्त उपज का प्रबन्ध करे।

4. शासन के आदेश दृढ़ता से लागू किये जावें और उसके निर्णय में बार-बार परिवर्तन न किया जावे।

5. राज्य की अर्थ-व्यवस्था योजनाबद्ध हो। आय का आधा भाग खर्च किया जावे और शेष संकटकालीन समय के लिये सुरक्षित रक्खा जावे।

6. शासन व्यापारियों को समृद्ध और सन्तुष्ट रक्खे।

7. शासन सेना को उचित समय पर वेतन दे तथा सैनिकों को प्रसन्न व सन्तुष्ट रक्खे।

इन सिद्धान्तों के आधार पर बलबन ने ऐसी शासन व्यवस्था की स्थापित किया जो न केवल सुदृढ़ थी अपितु जन-साधारण के लिये शान्ति और न्याय की जननी थी। बलबन यद्यपि अकुलीन व्यक्तियों से घृणा करता था और अमीरों के प्रति कठोर था, परन्तु इसके बाद भी बरनी के विवरण से स्पष्ट है कि वह साधारण नागरिकों के प्रति दयालुता का व्यवहार करता था।

निरंकुशता और कठोर नियमों को लागू करने के लिये बलबन ने आवश्यक समझा कि गुप्तचर व्यवस्था को पूर्ण किया जावे। इस उद्देश्य से उसने राज्य के प्रत्येक प्रदेश में गुप्तचरों की नियुक्ति की जो कि उसे अपने-अपने क्षेत्र में होने वाली घटनाओं से अवगत कराते रहते थे। उसने अपने पुत्रों, सम्बन्धियों, इक्तादारों और प्रत्येक सैनिक व सरकारी कर्मचारियों की गतिविधियों को जानने के लिये इनकी नियुक्ति की। वह 'बरीद' (गुप्तचर अधिकारी) की नियुक्ति बड़ी छान-बीन के बाद ही करता था। यदि कोई गुप्तचर बलबन को समयानुसार जानकारी नहीं पहुंचा पाता तो उसे कठोर दण्ड दिया जाता था। बदायूं के 'बरीद' का वध कर उसकी लाश को लटकवा दिया गया क्योंकि वह मलिक बकबक द्वारा अपने दास को मारने की सूचना सुल्तान को समय पर न दे पाया था।

तुगरिल का विद्रोह (1279 ई.) व उसका दमन—बंगाल पर दिल्ली सल्तनत का आधिपत्य सदैव ही अस्थिर रहा था। नासिरुद्दीन महमूद के समय असेलान खाँ, जो लखनौती का गवर्नर था, ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। बलबन के राज्यारोहण के समय उसके पुत्र और उत्तराधिकारी तातार खाँ ने उसे 63 हाथी भेंट किये। तातार खाँ के बाद तुगरिल खाँ लखनौती का इक्तादार बनाया गया। वह बलबन का एक योग्य व साहसी दास था। इसामी के अनुसार तुगरिल ने बलबन के शासन के आठवें वर्ष (1275 ई.) में विद्रोह किया और बरनी ने इस विद्रोह को बलबन के पन्द्रहवें अथवा सोहलवें वर्ष बताया है। परन्तु ये दोनों ही मान्य नहीं हैं। अधिकतर यह विद्रोह 1279 ई. में हुआ था।

तुगरिल खाँ के विद्रोही होने में उसका जाजनगर का सफल अभियान प्रोत्साहन का प्रमुख कारण था। उसने वहां से अपार सम्पत्ति और हाथी प्राप्त किये परन्तु बलबन को कोई भेंट न भेजी। उसका ख्याल था कि सुल्तान बूढ़ा हो चुका है और मंगोलों की समस्या में व्यस्त है, इसलिये उसकी ओर ध्यान न दे सकेगा। उसने 'सुल्तान मुगीसुद्दीन' की उपाधि धारण की, अपने नाम के सिक्के चलाये और खुतबा पढ़वाया। तुगरिल खाँ के इस विद्रोह से बलबन को बड़ा दुःख हुआ, क्योंकि यदि एक दास सफलता से विद्रोह कर सकता था तो समस्त शाही तुर्क दास प्रणाली ही बेकार हो जाती। इसलिये उसने अवध के इक्तादार अमीन खाँ को तुगरिल खाँ के विरुद्ध भेजा। परन्तु अमीनखाँ पराजित हुआ। बलबन ने क्रोधित होकर अमीन खाँ को अयोध्या के फाटक पर लटकवा दिया।

बलबन ने दूसरी सेना बहादुर नामक अपने एक विश्वसनीय अधिकारी के नेतृत्व में भेजी परन्तु यह भी पराजित हुई। बलबन ने उसे भी मृत्यु दण्ड देना चाहा परन्तु बहादुर के मित्रों ने उसकी वीरता को प्रमाणित कर उसे केवल दरबार से निर्वासित करने तक ही दण्ड को सीमित रखवाया।

बलबन के सम्मान को यह दूसरा अध्याय था। 80 वर्ष की अवस्था में (1280-81 ई.) जब मंगोलों के आक्रमण का भय समाप्त भी नहीं हुआ था तब

उसने तुगरिल का दमन करने के लिये भी स्वय युद्ध करने का निश्चय किया। उत्तरी-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा का प्रबन्ध कर तथा दिल्ली का प्रबन्ध कोतवाल फ़खरुद्दीन को सौंपकर-वह एक बड़ी सेना के साथ बगाल की ओर बढ़ा। वर्षा की परवाह न करते हुये वह पूर्व की ओर कूच करता गया। अवध पहुंचकर उसने लगभग दो लाख सैनिक भर्ती किए तथा तेजी से बगाल की ओर बढ़ा।

स्वय सुल्तान के आने की सूचना पाकर तुगरिलखां हाजी नगर की ओर भाग गया। उसका ख्याल था कि बलबन बगाल की जलवायु से परेशान होकर कुछ समय बाद दिल्ली लौट जायेगा, तब वह लखनौती पर पुनः अपना अधिकार कर लेगा। बलबन लखनौती पहुंचा और वहां अपनी सेना की पुनः व्यवस्था कर सुनार-गाव की ओर चल दिया। परन्तु तुगरिल खां का कहीं पता न चला। हाजी नगर के 120 मील निकट पहुंचने पर भी वह तुगरिलखां के छिपने के स्थान का पता न लगा सका। उसने अग्रिम दलों को उसका पता लगाने के लिये भेजा। अन्त में मलिक मुहम्मद शेर अन्दाज ने अचानक ही अनाज बेचने वाले लोगों से उसके छिपने के स्थान का पता लगा लिया। अपने चालीस साथियों के साथ उसने तुगरिल खां के शिविर पर आक्रमण किया। तुगरिलखां इस अचानक आक्रमण से घबरा गया और यह समझकर कि ये सुल्तान की सेना का आक्रमण है, वह घोड़े की नंगी पीठ पर बैठकर भाग खड़ा हुआ। मलिक मुकद्दर नामक एक सैनिक अधिकारी ने उसका पीछा किया और उसका सिर काट लिया। इतने में सुल्तान की सेना भी पहुंच गई और तुगरिल खां की सेना नष्ट कर दी गयी तथा अनेकों को बन्दी बना लिया गया। बलबन इन सभी बन्दियों को लेकर लखनौती पहुंचा।

लखनौती पहुंचकर मुख्य बाजार के दोनों ओर दो मील में फांसी के तख्ते लगाये गये और तुगरिलखां के समर्थकों को उन पर टांग दिया गया। प्रो. निजामी[1] बरनी को उद्धृत करते हुये लिखते हैं कि, "मैंने वृद्ध अधिकारियों से सुना है कि दिल्ली के किसी शासक ने इतनी भारी संख्या में मृत्युदण्ड नहीं दिया था जैसे बलबन ने लखनौती में दिया।" बलबन ने अपने पुत्र बुगराखां को बगाल का इक्तादार नियुक्त किया और बाजार का दृश्य दिखाते हुये उसे सलाह दी कि वह दिल्ली के शासक के प्रति निष्ठावान बना रहे चाहे वह किसी भी वंश का हो अन्यथा उसके साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार किया जायेगा। दिल्ली लौटकर उसने दिल्ली के उन समस्त सैनिकों को भी जिन्होंने तुगरिलखां का समर्थन किया था, वध करने की आज्ञा दी परन्तु काजी की सलाह पर उसने साधारण सैनिकों को माफ कर दिया और पदाधिकारियों को अपमानित करके निकाल दिया।

बलबन यद्यपि विजय प्राप्त कर दिल्ली लौटा था परन्तु इस विद्रोह को दबाने में उसे स्वय तीन वर्ष लग गये थे। यदि समस्त अभियानों का कार्यकाल

---

1. हबीब व निजामी, वही, पृ. 247

निकाला जावे तो इसमें लगभग छः वर्ष से भी अधिक समय लगा था। केवल अवध से ही दो लाख नये सैनिकों की भर्ती की गई थी। इससे स्पष्ट है कि सैनिकों की अधिक संख्या इस विजय में एक प्रभावपूर्ण कारण रही होगी। इसके अतिरिक्त यदि बंगाल के प्रदेश के विद्रोह को दबाने में ही इतना अधिक समय लग सकता है, तो उस आधार पर, बलबन के समस्त सैनिक सुधारों के बाद, उसकी सेना के संगठन का अनुमान लगाया जा सकता है। इल्तुतमिश और नासिरुद्दीन महमूद को बंगाल के शासकों का दमन करने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी। बलबन ने जब इस समस्या का सामना किया तो यह अधिक स्पष्ट हो गया कि उसके सैनिक पूर्वकालीन शासकों की अपेक्षा कितने अधिक निकम्मे थे। बलबन भाग्यवान था कि उसके समय में सल्तनत को चुनौतियों का सामना न करना पड़ा और अपनी बुद्धिमानी और दूरदर्शिता से उसने साम्राज्यवादी नीति नहीं अपनाई अन्यथा राज्य की दयनीय सैनिक अवस्था का भंडाफोड़ हो जाता।

मंगोल आक्रमण व सीमान्त नीति—सुल्तान इल्तुतमिश के समय से भारत पश्चिमोत्तर सीमा पर मंगोलों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे और वे लाहौर तक के प्रदेश तक लूटमार किया करते थे। 1242 ई. में उन्होंने लाहौर पर अधिकार कर उसे लूटा था। किन्तु उसके तुरन्त बाद उनके नेता ओगताई की मृत्यु के कारण मंगोल आक्रमण रोक दिये गये और वे वापिस चले गये। बलबन के समय में मंगोलों द्वारा भारत पर विजय का कोई खतरा नहीं था परन्तु फिर भी उनके आक्रमणों का भय सदैव बना रहता था। इस कारण बलबन ने सीमान्त प्रदेशों की ओर विशेष ध्यान दिया। बलबन के नायब-ए-मुमलकत के काल में उसका चचेरा भाई शेरखाँ सीमा की रक्षा के लिये उत्तरदायी था। बरनी के विवरण के आधार पर प्रो. हबीबुल्ला शेरखाँ को एक महान योद्धा बताते हैं जिसने मंगोलों को आतंकित कर रक्खा था। इसके विपरीत प्रो. निजामी का कथन है कि बरनी ने मिनहाज की 'तबकाते नासिरी' नहीं पढ़ी थी इसलिये उसे शेरखाँ के सम्बन्ध में भ्रम हो गया। मिनहाज ने किसी ऐसे युद्ध का वर्णन नहीं किया है जिसमें शेरखाँ ने मंगोलों से युद्ध किया हो, अपितु इसके विपरीत वह मंगोलों की सेवा करने को तत्पर हो गया था। बलबन उस पर विश्वास नहीं कर सकता था इसलिये उसे उच्छ और मुल्तान के बदले दिल्ली के निकट जागीर दी गई जिससे कि उस पर सरलता से ध्यान रक्खा जा सके। परन्तु जब बलबन के राज्यारोहण के समय तथा अगले चार-पांच वर्षों तक शेरखां दिल्ली नहीं आया तो बलबन को उसकी महत्वाकांक्षाओं के प्रति अधिक सन्देह हो गया और उसने उसे विष दिलवा दिया। मिनहाज के वर्णन से यह अधिक स्पष्ट है कि बलबन के राज्यकाल के आरम्भिक वर्षों में मंगोलों के आक्रमण नहीं हुये।

1270 ई. में बलबन लाहौर गया और सीमा की सुरक्षा के लिये उसने विधिवत नीति अपनाई। जिन मार्गों से मंगोल भारत पर आक्रमण करते थे उन

पर सुदृढ़ दुर्ग बनवाये गए तथा सैनिक छावनियां स्थापित की गईं। इन दुर्गों में भटिण्डा, सिरसा, अबोहर, भटनेर आदि प्रमुख थे।

इसी वर्ष समस्त उत्तरी-पश्चिमी सीमा को दो भागों में बाँटा गया। लाहौर, मुल्तान और दीपालपुर का क्षेत्र शाहज़ादा मुहम्मद को और सुनाम, समाना तथा उच्छ का क्षेत्र शाहज़ादा बुग़राख़ाँ को दिया गया तथा उनके साथ एक शक्तिशाली सेना रक्खी। लखनौती में बुग़राख़ाँ की नियुक्ति के बाद समस्त पश्चिमी क्षेत्र का उत्तरदायित्व मुहम्मद को सौंप दिया गया। शाहज़ादा मुहम्मद बलबन का ज्येष्ठ पुत्र था और बलबन की समस्त आशायें उसी में ही केन्द्रित थीं। वह योग्य सेनापति के अतिरिक्त एक सुसभ्य और साहित्य में रुचि रखने वाला शाहज़ादा था। मिनहाज बलबन की हरसम्भव प्रशंसा करते हुए भी उसे संस्कृति और ज्ञान का आश्रयदाता नहीं कहता है। इसके विपरीत शाहज़ादा के दरबार में अमीर खुसरो और अमीर हसन जैसे विद्वान थे। फारसी के प्रसिद्ध विद्वान शेख सादी को भी उसने आमन्त्रित किया था परन्तु वह अपनी वृद्धावस्था के कारण नहीं आ सका था।

1285 ई. में मुहम्मद ने खुखर जनजातियों के विरुद्ध कूच किया। इसी समय मंगोल अधिकारी तमर ने तीस हज़ार अश्वारोहियों सहित उस पर आक्रमण कर दिया। मंगोलों ने अपनी गतिविधियों को इतना गुप्त रक्खा कि मुहम्मद को उसकी जानकारी न हो पायी। मंगोलों के अत्यधिक निकट पहुँचने पर उसके अधिकारियों ने उसे वापस लौट जाने की सलाह दी तथा मंगोलों से युद्ध करने का उत्तरदायित्व स्वयं उठाने की पेशकश की। परन्तु मुहम्मद ने इसे शाहज़ादों के लिये अशोभनीय मानकर स्वयं युद्ध का संचालन करना ही उचित समझा। मंगोल सेना से घिर जाने के कारण वह युद्ध करता हुआ मारा गया। अमीर खुसरो को इस युद्ध में बन्दी बना लिया गया और बड़ी मुश्किल से उसने छुटकारा पाया। बरनी के अनुसार मंगोल शाहज़ादा की लाश अपने साथ ले जाना चाहते थे परन्तु मुहम्मद के ससुर ने काफी धन देकर उसे खरीद लिया।

शाहज़ादे की मृत्यु के बाद उसके बेटे कैखुसरो ने वहाँ की कमान सम्भाल ली और सीमान्त की चौकसी पहले के समान ही दृढ़ बनी रही। मंगोलों के विरुद्ध बलबन की सफलता कोई कीर्तिमान नहीं थी। वह लाहौर तक के प्रदेश को अपने अधिकार में रख सका तथा मंगोलों को व्यास नदी के दूसरी ओर के तट तक ही रखने में सफल हुआ। न तो स्वयं बलबन ने कभी व्यास नदी के पश्चिमी प्रदेश पर आक्रमण किया और न ही वह मंगोलों के भय को सर्वदा के लिए समाप्त कर सका।

बलबन के अन्तिम दिन—शाहज़ादा मुहम्मद की मृत्यु के आघात को बलबन अधिक समय तक सहन न कर सका। उसकी मृत्यु के साथ ही बलबन अपने वंश के

विनाश के साये स्पष्ट देख रहा था। बरनी लिखता है कि सुल्तान दिन भर राजकार्य में व्यस्त रहता था परन्तु रात्रि के समय वह फूट-फूटकर रोता था, शोकसंतप्त होकर अपने कपड़े फाड़ डालता था और अपने सिर पर मिट्टी फेंका करता था।

बलवन को स्वयं अधिक समय तक जीने की आशा न थी इसलिये उसने बुगराखां को लखनौती से बुलाकर अपने पास ठहरने का आग्रह किया। परन्तु बुगरा खां केवल दो या तीन माह तक ही रहा और जैसे ही उसके पिता के स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार हुआ, वैसे ही वह उसकी अनुमति लिये बगैर लखनौती चला गया। बलवन का स्वास्थ्य लगातार गिरता चला जा रहा था, इसलिए अपनी मृत्यु से तीन दिन पूर्व उसने दिल्ली के कोतवाल मुलिकुल अमरा, ख्वाजा हसन बसरी, प्रधानमंत्री तथा दूसरे अधिकारियों को बुलाकर मुहम्मद के लड़के कैखुसरो को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और फिर तीन दिन बाद वह मर गया।

बलवन का मूल्यांकन—बलवन की मृत्यु के पश्चात् तीन वर्ष में ही उसके वंश का अन्त हो गया। नाइब व सुल्तान के रूप में लगभग 41 वर्ष तक उसने जिस पौधे को सींचा था उसकी मृत्यु के बाद उसका इतनी शीघ्रता से समाप्त होना एक आश्चर्यजनक घटना थी। इसके लिए बहुत अंशों तक वह स्वयं उत्तरदायी था। **प्रो. निजामी** ने उसकी दुर्बलताओं का यथोचित विश्लेषण किया है। **प्रो. निजामी** के अनुसार बलवन सुल्तान को 'जिल्ली अल्लाह' अथवा पृथ्वी पर ईश्वर की छाया तथा सुल्तान के हृदय को ईश्वर का अंग मानता था। बलवन के दावे और उसके उत्तराधिकारियों के चरित्र को आंका जावे तो इसमें केवल विरोधाभास के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्व नहीं मिल पायेगा। सुल्तान कैकुबाद ने बलवन की नीति का पालन कर, तुर्क दास अधिकारियों की हत्या के सिलसिले को बनाये रखा और फलस्वरूप खल्जियों ने धीरे-धीरे उनके पदों के एकाधिकार को समाप्त कर दिया। स्थिति यहां तक पहुंची कि अलाउद्दीन खल्जी ने तुर्क दास अधिकारियों के समस्त वंशजों को बन्दी बनाकर हत्या कर दी। इसी के साथ बलवन का वंश यद्यपि नष्ट हो गया, परन्तु *दिल्ली सल्तनत बच सकी। **प्रो. निजामी** ने इसी आधार पर बलवन के कार्यों का मूल्यांकन किया है।*

बलवन की दुर्बलताओं का अध्ययन करने के पहले बरनी के अनुसार इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि उसने अपनी शक्ति से समस्त राज्य में कानून और व्यवस्था को बनाये रखा जो कि किसी भी शासक का प्रथम उत्तरदायित्व है। परन्तु **प्रो. निजामी** लिखते हैं कि, "यद्यपि बलवन ने एक पुलिसमैन की भांति शांति और व्यवस्था स्थापित करने के कर्तव्यों की पूर्ति की, परन्तु उसके समय का एक भी कानून या नियम नहीं मिलता जिसके कारण बलवन को याद किया जावे। विद्रोहियों में सबसे अधिक शान्त और वृद्ध जलालुद्दीन खल्जी ने तुर्की-गुलाम सरदारों के शासन को उलट दिया। इससे यह सिद्ध होता है कि बलवन की व्यवस्था कितनी दुर्बल और कीड़ों के द्वारा खाई हुई हो चुकी थी।"

प्रो निजामी के अनुसार बलबन की प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति ने लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुंचाई। बलबन ने तुर्कों की श्रेष्ठता अथवा उच्च कुल के आधार पर जिस प्रकार भारतीय मुसलमानों और हिन्दुओं को सम्मानित पदों से अलग रखा वह घातक सिद्ध हुआ। वह यह नहीं समझ सका अथवा समझना नहीं चाहता था कि भारत में अनेक निम्न वर्ग जो इस्लाम धर्म ग्रहण कर रहे हैं, अधिक समय तक यह सहन करने को तत्पर नहीं रहे कि राज्य के समस्त उच्च पद इस्लाम समर्थकों में से केवल तुर्क दासों के लिए ही सुरक्षित हों। इसके अतिरिक्त अनेक हिन्दू फारसी भाषा सीख रहे थे और इनके माध्यम से शासन नये क्षेत्रों में नये प्रयोग कर इनका सम्भावित लाभ उठा सकता था। विशेषकर भू राजस्व के क्षेत्र में क्योंकि तुर्क पूर्णतया अनभिज्ञ थे और अपनी परम्परा और सामाजिक मापदण्डों के अनुसार प्रशासन की अपेक्षा सैनिक कार्यों को करना गरिमापूर्ण मानते थे, ऐसी स्थिति में हिन्दू दुभाषिए लिपिकों का उपयोग कर राज्य को आर्थिक दृढ़ता प्रदान की जा सकती थी। परन्तु बलबन ने पुरानी शासन प्रणाली को ही बनाये रखा जो समय की मांगों को पूरा करने में नितान्त अनुपयोगी थी। इस सदर्भ में डा ए एल श्रीवास्तव का यह कथन अधिक ठीक मालूम पड़ता है कि, "उसमें रचनात्मक प्रतिभा का अभाव था। उसमें व्यवस्था कायम करने की शक्ति थी, नयी चीजों का आविष्कार करने की नहीं।"

बलबन की दूसरी बड़ी दुर्बलता सेना के विषय में थी। बुगरखां को बंगाल का इक्तादार नियुक्त करते समय उसने उसे दिल्ली के सुल्तान के प्रति स्वामीभक्त बने रहने की सलाह दी थी। बरनी के अनुसार "दिल्ली का शासक केवल अपनी लगाम हिलाकर ही लखनौती पर विजय प्राप्त कर सकता है।" फिर भी तुगरिल के विरुद्ध दो अभियान असफल रहे और यह निर्विवाद है कि उसने दोनों ही अभियान को पूर्ण तैयारी के साथ भेजा होगा। तीसरे अभियान का स्वयं उसने नेतृत्व किया और इसके लिए अवध से दो लाख नये सैनिकों की भर्ती की। अभियान में लगे छः वर्ष ही इस बात का प्रमाण हैं कि उसकी सैनिक व्यवस्था कितनी कमजोर थी। बलबन ने राजपूत शासकों के विरुद्ध भी कोई अभियान नहीं किया और न ही मंगोलों के विरुद्ध कोई सफलता प्राप्त की, यद्यपि उसने सीमाओं पर अपने योग्यतम अधिकारियों और अत्यन्त कुशल सैनिकों को तैनात किया था। यह कहना कि मंगोल अपनी अधिक संख्या के कारण विजयी हुये यद्यपि उचित है परन्तु बलबन जो सदैव ही मंगोलों के आक्रमण के भय के कारण साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का होने के बाद भी साम्राज्यवादी नीति नहीं अपना सका, सीमाओं पर अधिक सैनिकों की नियुक्ति कर सकता था, पर नहीं कर सका। इसका कारण बताया जाता है कि उसके समय में सैनिक अधिकारियों की कमी थी। मध्य-एशिया में मंगोलों का प्रभाव बढ़ जाने के कारण तुर्क भारत में कम संख्या में आने लगे थे और बलबन केवल तुर्कों के अतिरिक्त किसी दूसरी नस्ल के व्यक्ति को निम्न पद तक देने को

तैयार नहीं था। यह कमी उस शासन प्रणाली में और अधिक उभर उठी जिसमें सब सैनिक अधिकारी ही प्रशासनिक अधिकारी होते थे। स्वाभाविक रूप से जब तुर्कों की आवक कम हो गई तो इसका प्रभाव सैनिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था पर पड़ना अवश्यम्भावी था। बलबन, अलाउद्दीन खल्जी की तरह अपनी मानसिक दासता के दायरे से न निकल पाया और निष्ठा तथा योग्यता को नियुक्ति की कसौटी न बना पाया।

बलबन ने किसी राजपूत शासक के विरुद्ध भी युद्ध करने का कोई खतरा न उठाया। अपनी इस दुर्बलता को छिपाने के लिए उसने सदैव ही सम्भावित मंगोल की शक्ति का बहाना किया। परन्तु शासक होने के नाते उसे ये जानकारी होनी चाहिए थी कि मंगोलों का खूंखार नेता हलाकू उसके सिंहासनारोहण के एक वर्ष पहले ही काल का ग्रास हो चुका था तथा फारस का मंगोल शासक, इलखां, भारत के लिए कोई खतरा पैदा करने में असमर्थ था। यदि मंगोलों के एक सीमावर्ती अधिकारी ने सीमान्त-रक्षक, मुहम्मद को पराजित कर मार डाला तो इसमें उसकी योग्यता की अपेक्षा सैनिक बाहुल्यता थी और उसके लिए स्वयं बलबन उत्तरदायी था।

बलबन ने राजसत्ता के दैवी सिद्धान्त को प्रतिष्ठित कर प्रत्येक दिखावे के आधार पर सुल्तान की श्रेष्ठता को स्थापित करने का हर सम्भव प्रयास किया और अपने अन्दर बैठे हुए मनुष्य की हत्या करके भी उसने उसे बनाये रखना चाहा, परन्तु इसके बाद भी वह जनसाधारण में सुल्तान की गरिमा को चिरस्थायी न बना सका। धर्म के प्रति भक्ति-भाव रखते हुए भी और धार्मिक प्रवचनों के समय गद्‌गद् हो आंसू बहाने के बाद भी वह एक संप्रभु-सुल्तान की भाँति अपने अमीरों पर काबू न पा सका और उनके लिये उसे जहर का प्याला अथवा हत्यारे के छुरे का सहारा ही लेना पड़ा। "बलबन साधारण सी बात समझने में असमर्थ रहा कि एक व्यक्ति अथवा अल्पसंख्यक वर्ग की शक्ति और क्षमता पर राज्य को स्थायी रूप देना नितान्त असम्भव है और इसी कारण उसकी मृत्यु के तीन वर्ष के भीतर ही उसके वंश की कब्र पर खल्जियों ने एक नये राजवंश की स्थापना की।

बलबन की शासन व्यवस्था में अनेक दोष होने के बाद भी उसकी महत्ता को ठुकराया नहीं जा सकता। जिस निम्न-स्थिति से उठकर उसने सुल्तान का पद प्राप्त किया वह इस बात को प्रमाणित करती है कि उसमें योग्यता और दूरदर्शिता के गुण कूट-कूट कर भरे हुये थे। भाग्य ने उसका साथ दिया और प्रत्येक बार जब जब उसने सुल्तान के विरुद्ध किसी गुट का साथ दिया अथवा स्वयं किसी गुट का निर्माण किया, तब-तब भाग्य-लक्ष्मी ने उसे विजय के सेहरे से विभूषित किया। जिन परिस्थितियों में वह सुल्तान बना था उसमें उसका क्रूर और कठोर होना स्वाभाविक था। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद से यदि परिस्थितियों का अवलोकन किया जावे

तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के समय दिल्ली सल्तनत मृतप्राय हो गया था। बंगाल और बिहार विद्रोही हो रहे थे, राजपूत शासक तुर्की जुए को उतार फेंकने पर उद्यत थे, दिल्ली के आसपास ही विद्रोहियों और लुटेरों की उद्दंडता सभ्य जीवन की सीमाओं को लांघ चुकी थी, उत्तर-पश्चिमी सीमाओं के दरवाजों पर मंगोल लगातार दस्तक दे रहे थे और 'तुर्कान-ए-चिहालगानी' स्वयं को शासक निर्माता मानते थे। शासन के प्रति भय और सम्मान की भावना नष्ट हो चुकी थी। ये सभी परिस्थितियां इतनी विषम थीं कि यदि इन पर विजय प्राप्त न की जाती तो सम्भवतः भारत में मुस्लिम राज्य अपने बाल्यकाल में ही मौत का ग्रास बन जाता। बलबन को इन सभी परिस्थितियों का हल ढूंढ निकालना आवश्यक था और उसने जिस धैर्य और साहस के साथ एक काम-चलाऊ और व्यावहारिक हल निकाला वह निश्चित ही सल्तनत को बनाये रखने में सहायक सिद्ध हुआ। यदि उसके बाद उसके उत्तराधिकारी भी उतने ही योग्य होते तो उनके वंश का पतन इतना शीघ्र न हुआ होता। यह ठीक है कि उसने अपने उत्तराधिकारियों को पूर्ण रूप से शिक्षित नहीं किया और बुगरा खां नितान्त आलसी और विलासप्रिय बन गया, परन्तु मुहम्मद को उसने जिस रूप में उत्तराधिकारी के लिये तैयार किया था सम्भवतः वह योग्य पिता का योग्य पुत्र साबित होता, परन्तु उसकी अकाल मृत्यु ने राज्य को नितान्त निस्सहाय रूप में छोड़ दिया। फिर निरंकुशता स्वयं में ही आत्म-उन्नति और आत्म-विश्वास में सबसे बड़ी बाधक है और प्रायः योग्य निरंकुश शासकों के बाद अयोग्य उत्तराधिकारियों को ही जन्म देती है। इल्तुतमिश की योग्यता के बाद भी उसके उत्तराधिकारी अयोग्य निकले और उसके सब किये-कराये पर पानी फिर गया। वही बात बलबन के बाद दोहरायी गयी परन्तु मुस्लिम साम्राज्य की नींव ढहने वाली स्थिति उत्पन्न नहीं हुई, क्योंकि बलबन ने अपनी व्यवस्था से खल्जी शासन के लिये पृष्ठभूमि का निर्माण कर दिया था।

सामान्य मापदण्डों के आधार पर बलबन कठोर और क्रूर शासक सिद्ध होता होता है और विशेषकर यदि आज के संदर्भ में उसे आंका जावे तो वह नृशंस मालूम पड़ता है। परन्तु ऐसा निर्णय लेते समय हम उस समय की परिस्थितियों को बिल्कुल भुला देते हैं। राज्य में लुटेरों और विद्रोहियों ने आतंक फैला रक्खा था, इक्तादार स्वतन्त्र शासकों की तरह व्यवहार कर रहे थे और सुल्तान तथा ताज की गरिमा धूल में मिल चुकी थी, तुर्की अमीरों और सुल्तानों के बीच संघर्ष ने राज्य की जड़ें खोखली कर दी थीं—इन परिस्थितियों में निरंकुशता के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं था। यह सम्भव है कि उसने कटेहर और अवध के लोगों के साथ अधिक कठोर और क्रूर व्यवहार किया हो, परन्तु उससे भी अधिक यह ठीक है कि बरनी ने हिन्दुओं के प्रति किये गये व्यवहार को बढ़ा-चढ़ा कर लिखा हो क्योंकि वह उससे आत्मानुभूति अनुभव करता था। बलबन को ये श्रेय है कि उसने एक ओर तो

विद्रोहियों का दमन किया और दूसरी ओर सुल्तान की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया और उस स्थिति को समाप्त कर दिया जिसमें तुर्की अमीर सुल्तान पर हावी रहते थे। इसीलिये प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है कि, "बलबन का एकमात्र और महानतम् कार्य राज्य में बादशाहत को पुनः श्रेष्ठतम स्थान प्रदान करना था। इस क्षेत्र में उसने कुतुबुद्दीन ऐबक और इल्तुतमिश के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पूर्ति की।" बलबन ने इसके लिये भले ही हत्यारे के छुरे अथवा विष के प्याले को अपनाया हो परन्तु वह तुर्की अमीरों की शक्ति को नष्ट करने में सफल हुआ और सुल्तान को स्वयं अपनी शक्ति का केन्द्र बना दिया। अब सुल्तान को किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं थी, अपितु सब ही अब उस पर निर्भर थे। बलबन ने अमीरों को कितना अधिक लचीला बना दिया था इसका अनुमान बरनी[1] के इस कथन से लगाया जा सकता है, "कि उसकी मृत्यु से दुःखी हुये अमीरों ने अपने वस्त्र फाड़ डाले और सर पर धूल उड़ाई। वे सभी अर्थी के पीछे कब्रिस्तान तक नंगे सर गये और उन्होंने उसकी मृत्यु में प्राचीन और सम्मानित परिवारों के पतन के चिन्ह देखे।" इससे यह स्पष्ट है कि बलबन की कठोरता के बावजूद भी उसके सरदार उससे स्नेह करते थे अथवा उसकी अनुपस्थिति को स्वयं के लिए खतरनाक मानते थे।

बलबन ने यद्यपि मंगोल-आक्रमणों के भय को समाप्त नहीं किया, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उसने मंगोलों की सफलता के मार्ग को बन्द कर दिया। उसने कम से कम सीमान्त प्रदेशों के लिए एक वैज्ञानिक नीति आरम्भ की जो खल्जियों के समय में अधिक विकसित होकर अलाउद्दीन खल्जी की सफलता में अधिक सक्रिय सिद्ध हुई। यदि उसने सल्तनत को एक सुदृढ़ रूप न दिया होता तो सम्भवतः अलाउद्दीन मंगोलों का सफल प्रतिरोध करने तथा उत्तरी और दक्षिणी भारत को विजित करने में सफल न हो पाता। इसी में बलबन की सफलता निहित है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि निस्सन्देह, वह अपने वंश के अधिकार को दिल्ली के सिंहासन पर सुरक्षित रखने में असफल रहा, परन्तु वह दिल्ली सल्तनत के अधिकार और प्रभाव को स्थायित्व प्रदान करने में अवश्य सफल हुआ। बलबन में कमियाँ रहीं परन्तु जो सफलतायें उसने प्राप्त कीं, उनके कारण 1205 से 1290 ई. तक के काल में उसका एक महत्वपूर्ण स्थान है।

सुल्तान कैकुबाद और शमसुद्दीन क्यूमर्स (1287–1290 ई.)

बलबन ने अपनी मृत्यु से पहले अपने बड़े पुत्र मुहम्मद के पुत्र कैखुसरव को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। लेकिन दिल्ली का कोतवाल फखरुद्दीन मुहम्मद

1. बरनी, वही, पृ. 120–23

मिलते ही मंगोल सेना पीछे लौट गई। कुछ मंगोल बन्दी बनाकर मार डाले गए। बाद में निजामुद्दीन ने छल-कपट द्वारा सुल्तान से उन मंगोलों (जिन्हें नव मुस्लिम कहते थे) के वध के आदेश प्राप्त कर लिए जो पहले इस्लाम स्वीकार कर यहां बस गए थे।

जब कैकुबाद दिल्ली में गद्दी पर बैठा तो उसके पिता बुगरा खाँ ने लखनौती में 'सुल्तान नासिरुद्दीन' का खिताब धारण कर सुल्तान होने की घोषणा कर दी। उसने अपने नाम का सिक्का और खुत्बा प्रचलित किया। पिता और पुत्र में पत्राचार होता रहता था। बुगरा खाँ इस बात को जानता था कि उसका पुत्र भ्रष्ट जीवन व्यतीत कर रहा है। निजामुद्दीन स्वयं कैकुबाद का अंत करने के उद्देश्य से उसके मलिकों और अमीरों की हत्या करवा रहा है। वह अपने पत्रों में संकेतों और परोक्ष सुझावों द्वारा इस विषय की ओर कैकुबाद का ध्यान आकर्षित करता रहता था। लेकिन कैकुबाद अपने पिता के परामर्शों की परवाह नहीं करता था। इसलिए जब उसे शासन करते दो वर्ष हो गए तो बुगरा खाँ ने स्वयं अपने पुत्र को देखने का निश्चय किया।

जिन परिस्थितियों में पिता और पुत्र की भेंट हुई उसके बारे में अमीर खुसरो कहता है कि बुगरा खाँ ने दिल्ली पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से लखनौती से कूच किया। जब वह बिहार पहुँचा तो कैकुबाद भी उसका सामना करने के लिये आगे बढ़ा। बरनी कहता है कि, "कैकुबाद ने एक विशाल सेना सहित अपने पिता से भेंट करने की पहल की। जब बुगरा खाँ अपने पुत्र के निकट पहुँचा तो उसने सैनिक उद्देश्य त्याग दिए और उसका कूच एक सामाजिक भेंट में बदल गया।" उसने अपना 'दबीर' शमशुद्दीन, कैकुबाद के पास इस सन्देश के साथ भेजा कि, "दिल्ली का राज्य मेरा है किन्तु चूंकि वह मेरे पुत्र को प्राप्त हो गया है इसलिए उसे अपने पिता से युद्ध नहीं करना चाहिए। मेरे लिए लखनौती ही पर्याप्त है जो मेरा पैतृक अधिकार है।" कैकुबाद ने उत्तर दिया कि, "उसने सिंहासन अपने पिता के लिए सुरक्षित रखा है और मंगोलों से उसकी रक्षा की है।" दूसरे दिन बुगरा खाँ ने अपना सचिव एक संदेश सहित भेजा परन्तु नाव अभी नदी के बीच में ही थी कि कैकुबाद ने एक तीर चलाया और सचिव निराश होकर वापिस लौट आया।

बुगरा खाँ अपने पुत्र के व्यवहार को देखकर बहुत दुखी हुआ, किन्तु वह जान गया कि यह सब कुछ निजामुद्दीन की चालों का परिणाम है। उसने एक स्नेह-पूर्ण पत्र लिखा जिसमें अपने पुत्र से भेंट करने की इच्छा प्रकट की। बुगरा खाँ ने अपना छोटा पुत्र कैकाउस को, कैकुबाद के पास भेजा और कैकुबाद ने अपना पुत्र, क्यूमर्स अपने पिता के पास भेजा। इस बीच निजामुद्दीन बराबर यह प्रयत्न करता कि पिता-पुत्र में युद्ध छिड़ जाए। उसने कैकुबाद से यह आग्रह किया कि वह अपने

पिता से दरबार की समस्त औपचारिकताएं पूर्ण करावे। बुगरा खाँ ने अत्यन्त धैर्य का परिचय दिया और दरबारी शिष्टाचार को पूरा करते हुए भी, निजामुद्दीन की योजनाएं विफल कर दीं।

कैकुबाद (सिंहासन पर) एक भाव शून्य भव्यता और शाही उदासीनता से बैठा रहा। उसके पिता ने झुक कर भूमि स्पर्श करते हुए सिंहासन के निकट आकर उसके पैरों में अपना सिर रख दिया। अंत में उसका धैर्य टूट गया। वह रोता हुआ अपने पिता के पैरों में गिर पड़ा जिसे देखकर सबका हृदय पसीज उठा। उसने अपने पिता को सिंहासन पर बैठा दिया। जब सारे समारोह समाप्त हो गये, तो बुगरा खाँ ने लखनौती लौटने का निश्चय किया। उसने मलिकों की उपस्थिति में कैकुबाद को यह शिक्षा दी कि वह आमोद-प्रमोद में जीवन व्यतीत न करे। विदा होते समय उसने कैकुबाद के कान में धीरे से यह कहा कि निजामुद्दीन से पीछा छुड़ाले।

कुछ समय तक कैकुबाद ने मद्यपान और शिकार को त्याग दिया लेकिन भारी संख्या में चित्ताकर्षक युवतियों ने, जो सदैव उसके साथ रहती थीं, एक ही सप्ताह में उसे अपने पूर्व स्वभाव पर लौटा लाईं। अत्यधिक विषय-भोग से उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया तथा वह बीमार हो गया। उसने निजामुद्दीन को मुल्तान जाने का आदेश दिया किन्तु भाँति-भाँति के बहाने बनाकर वह जाने में देर करता रहा। तुर्क अधिकारियों को उचित अवसर मिल गया और उन्होंने विष देकर निजामुद्दीन की हत्या कर दी।

जब निजामुद्दीन मार डाला गया तो कैकुबाद ने समाना के मलिक फीरोज खल्जी को बुलाया और उसे बरन का राज्यपाल और 'आरिजे ममालिक' नियुक्त कर 'शाइस्ता खाँ' की उपाधि दी। मलिक फिरोज (सुल्तान जलालुद्दीन खल्जी) ने अपने भाई शिहाबुद्दीन तथा अली गुरशास्प (अलाउद्दीन खल्जी) सहित बलबन की अनेक वर्षों तक सेवा की थी। मंगोलों के विरुद्ध अनेक युद्धों में उसे ख्याति प्राप्त हुई थी।

कैकुबाद को पक्षाघात ने धर दबोचा। जिस समय कैकुबाद पंगु शरीर लिए कीलूगढ़ी के राज महल में असहाय पड़ा था, मलिक कच्छन और मलिक सुर्खा ने उसके पुत्र कैमुर्स को राजगद्दी पर बैठाया। बलबन के पुराने अधिकारी उसका समर्थन करते थे। उन्हें ऊँचे पद, उपाधियां, जागीरें प्राप्त हुईं। इस बालक सुल्तान को 'चबूतरा ए-नासिरी' पर ले जाया जाता था। अब यही दरबार बन गया था तथा अमीर और बड़े-बड़े लोग उसकी सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। खल्जियों को गैर-तुर्क समझा जाता था, इस कारण जलालुद्दीन खल्जी की सेनापति के पद की नियुक्ति से तुर्क सरदार असन्तुष्ट हो गए। मलिक कच्छन और मलिक सुर्खा ने शासन में तुर्कों की श्रेष्ठता कायम रखने के लिए सभी गैर-तुर्क सरदारों को कत्ल करने की योजना

बनाई जिसमें सबसे पहला नाम जलालुद्दीन खल्जी का था। जलालुद्दीन अपनी सेना को लेकर दिल्ली के निकट पहुँच चुका था। उसके सैनिकों ने दिल्ली में प्रवेश करके सुल्तान और कोतवाल फखरुद्दीन के बच्चों को पकड़ लिया। उसके पश्चात् सुल्तान के संरक्षक की नियुक्ति का प्रश्न उपस्थित हुआ। फखरुद्दीन और सुल्तान के भतीजे मलिक छज्जू ने इस पद को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। तब जलालुद्दीन खल्जी स्वयं सुल्तान का संरक्षक बन गया। परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक नहीं चल सकती थी। तीन माह के पश्चात् जलालुद्दीन ने क्यूमर्स उर्फ सुल्तान शमसुद्दीन का वध कर दिया। कैकूबाद को एक खल्जी सरदार ने उसकी चादर में लपेट कर यमुना नदी में फैंक दिया। इस प्रकार, बलबन के उत्तराधिकारियों का अन्त हुआ और उनके साथ-साथ तुर्कों की श्रेष्ठता का भी समय समाप्त हो गया।

अध्याय—3

इल्बरी तुर्कों के अन्तर्गत राज्य

कुतुबुद्दीन ऐबक से कयूमर्स (1206-1290 ई.) तक के काल को साधारणतया प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों अथवा इल्बरी वंश के नाम से जाना जाता है। इस काल में शासन का स्वरूप, राजत्व सिद्धान्त अथवा प्रशासन का जो विकास हुआ वही सामयिक परिवर्तनों के साथ समस्त सल्तनत काल में बना रहा। सुल्तानों की अपनी रुचि अथवा झुकाव के आधार पर ही इनमें परिवर्तन हुये और कभी-कभी तो ये परिवर्तन इतने अधिक उग्र थे कि ऐसा भ्रम होने लगता था कि शासन और उसकी संस्थाओं का ढांचा आमूल-चूल रूप में बदल गया हो। अलाउद्दीन खल्जी व मुहम्मद तुगलक के परिवर्तन इसी श्रेणी में आते हैं।

राज्य का विस्तार—मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद भारत में सुल्तान कुतुबुद्दीन ने जिस राज्य की बागडोर सम्भाली, मोटे रूप से वही प्रदेश इस 84 वर्ष के शासनकाल में सल्तनत के अधिकार-क्षेत्रों में बने रहे। मुहम्मद गोरी ने जिन प्रदेशों पर अधिकार किया था, व्यावहारिक रूप में वही प्रदेश इस काल में सल्तनत के अधीन रहे। यदि कोई परिवर्तन हुआ भी तो उसके फलस्वरूप राज्य-सीमायें बढ़ने की अपेक्षा सिकुड़ ही गईं। समस्त काल में हिन्दू शासकों ने तुर्कों के परतन्त्रता के जुए को उतार फेंकने का प्रयत्न किया और इसीलिये प्रत्येक सुल्तान को एक ही प्रदेश को अनेक बार जीतने का प्रयत्न करना पड़ा। ऐसी स्थिति में नये प्रदेशों को जीतने की नीति अपनाने का कोई प्रश्न ही नहीं था। यदि प्रश्न था तो केवल यही कि पूर्वाधिकारियों से प्राप्त राज्य को उस प्रकार सुरक्षित रखा जावे। इसीलिये इस युग में राज्य की सीमायें घटती-बढ़ती रही। लेकिन इसके बाद भी इनकी उत्तरी सीमायें उत्तर में हिमालय की तराई को छूती थीं जिसके अन्तर्गत उत्तरी बंगाल, उत्तरी बिहार, बुन्देलखण्ड का कुछ भाग, ग्वालियर, रणथम्भौर, अजमेर तथा नागपुर सम्मिलित थे और जैसलमेर के उत्तरी भाग में होती हुई आगे चलकर सिन्ध को गुजरात से अलग करती थीं। पूर्व में ढाका और बंगाल का आधा भाग इस राज्य के अंग थे। उत्तरी-पश्चिमी सीमा साधारणतया झेलम नदी तक थी, परन्तु कभी-कभी ये सिकुड़कर व्यास नदी तक ही रह जाती थी। अधिकतर मुल्तान, सिन्ध और लाहौर इस काल में सल्तनत के अंग बने रहे। नमक की पहाड़ियों का प्रदेश, जम्मू तथा कश्मीर और पंजाब के उत्तरी-पूर्वी तथा उत्तर-पश्चिमी के कोने

दिल्ली राज्य के बाहर ही रहे। इन सीमाओं के अन्दर भी अनेक हिन्दू सामन्त स्वतन्त्र रूप से राज्य करते थे जिनमें बुन्देलखण्ड, राजपूताना व दोआब के प्रदेश प्रमुख थे। इन्हें इस काल में पूर्णतया अधीन नहीं किया जा सका। इसीलिये अपने राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत भी प्रारम्भिक तुर्क निरंकुशता का उपभोग नहीं कर पाये।

राज्य का स्वरूप—प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों के समय में राज्य के स्वरूप का अध्ययन अत्यन्त सीमित हो जावेगा इसलिये अधिक उचित होगा कि सम्पूर्ण सल्तनत काल में इसका अध्ययन किया जावे। सल्तनत अन्य इस्लामी राज्यों की तरह इस्लामी सिद्धान्तों का अंग थी। यह एक ऐसा राजतन्त्र था जिसका प्रतिपादन पैगम्बर मुहम्मद ने नहीं किया था। समय के साथ यह अनुभव किया जाने लगा कि पैगम्बर के पद-चिह्नों पर चलकर कानून व व्यवस्था को बनाये रखना सम्भव नहीं है। इसके लिये ईरानी शासकों की पद्धति ही अधिक उपयुक्त होगी जिससे कि लोगों से शासक के आदेशों का पालन करवाया जा सके। इस प्रकार इस्लाम में उस राजत्व सिद्धान्त का प्रवेश हुआ जो पैगम्बर के आदर्शों से बिल्कुल भिन्न था।

सल्तनतकालीन राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में इतिहासकारों में अत्यधिक मतभेद है। आज की मांग को ध्यान में रखते हुये कुछ इतिहासकार यह सिद्ध करने पर तुले हुये हैं कि सल्तनत का स्वरूप आज के समान ही था और यदि उसमें कुछ अन्य तत्व थे तो वे उस समय की परिस्थितियों में आवश्यक थे। परन्तु इस बाहरी आवरण के पीछे विवाद का प्रमुख बिन्दु यह है कि सल्तनत का स्वरूप धर्म-तन्त्र (Theocracy) था अथवा नहीं।

समस्या के समाधान-हेतु यदि एक मात्र सल्तनत का ही अध्ययन किया गया तो परिणाम एक तरफा हो जावेगा। ऐसी स्थिति में अधिक उपयोगी होगा कि समकालीन राज्यों के आदर्शों और उनकी कार्य-पद्धति का भी अध्ययन किया जावे जिससे तुलनात्मक आधार पर स्थिति की विवेचना करना सम्भव हो सके।

1206 से 1526 ई. के बीच न केवल दिल्ली सल्तनत को उत्थान तथा पतन हुआ अपितु इस काल में दक्षिण में विजयनगर और बहमनी राज्य तथा उत्तरी भारत में मालवा, गुजरात व राजपूत राज्य भी इसी प्रक्रिया के शिकार हुये। ऐसी स्थिति में यदि सल्तनत की तुलना किसी समकालीन हिन्दू राज्य से की जाये तो अध्ययन अधिक उपयोगी व प्रभावपूर्ण होगा।

विजयनगर के सम्राटों और तुर्क सुल्तानों के बीच अनेकों ऐसे आदर्श थे जो समान थे। सुल्तानों की तरह ही विजयनगर के सम्राट भी राज्य में सर्वश्रेष्ठ थे और उन्होंने धर्म-शास्त्रों के आधार पर ही शासन को व्यवस्थित करना आवश्यक समझा। सम्राट, समकालीन शासकों की तरह ही धर्म के अधीन था और राज्य धर्म का एक अंग था। सम्राट न्याय का स्रोत था और उसकी व्यवस्था के लिये उत्तरदायी था।

सम्राट निरकुश भी था और यद्यपि धर्म के निषेधादेश तथा देश की परम्परायें उस पर अकुश का काम करती थीं परन्तु फिर भी सम्राट की तानाशाही को रोकने के लिये समुचित व्यवस्था नही थी। यदि इस 'धर्म' को 'शरा' की सज्ञा दी जावे तो सम्भवत हमे विजयनगर के हिन्दू सम्राटो और सुल्तानो के बीच कोई विशेष भेद नही दिख पडेगा, क्योकि दोनो ही राज्य निरकुशता तथा धर्म पर आधारित थे।

इसी प्रकार सल्तनत की तरह विजयनगर का राज्य भी सैनिक शक्ति पर आधारित था और उत्तरी-भारत मे सुल्तानो के अभियानो की तरह विजित प्रदेशों मे लूटमार करना अथवा उनको जला देना एक साधारण सी नीति थी। इसी प्रकार सल्तनत तथा विजयनगर मे सलाहकारो अथवा मन्त्रियो की प्रमुखता थी। विजयनगर मे इन्हें सभा या मन्त्रिमण्डल कहा जाता था तो सल्तनत काल मे इन्हें 'मजलिस-ए-आम' व 'मजलिस-ए-खास' कह कर पुकारा जाता था जिन्हें बरनी 'दीवान-ए-खास' कहता है। 'फतवा-ए-जहादारी' मे बरनी ने स्पष्ट लिखा है, "शासन को बगैर स्वामिभक्त सेवकों के शरियत के अनुसार चलाना नितान्त असम्भव है।' इसी प्रकार विजयनगर के सम्बन्ध मे भी यह स्पष्ट है कि यदि सम्राट बगैर मन्त्रियो की मन्त्रणा के अथवा उनके परामर्श के विरुद्ध कार्य करता है तो वह शीघ्र ही शत्रु-राजाओ का कोप-भाजक बनेगा। इस प्रकार दोनों ही उत्तरी तथा दक्षिणी राज्यों में मन्त्रियो का महत्वपूर्ण स्थान था।

हिन्दू धर्म-तन्त्र राज्यों की यह विशेषता रही कि ये धर्म पर आधारित थे परन्तु यह धर्म प्रकटित अथवा उद्घाटित सत्य (Revealed Truth) नहीं था। यह नीति-परक (Ethical) तथा मान्य रिवाजो अथवा दस्तूरो का सम्मिश्रण था जिसमे कि सनातनियों और गैर-सनातनियों को सन्तुष्ट रखने की क्षमता थी। इसके साथ ही इसमें व्याख्या की लचक मौजूद थी। इसका एक मात्र उद्देश्य ऐसे वातावरण व परिस्थितियों को जन्म देना था जिसमे समस्त लोग अपने-अपने धर्म और रीति-रिवाजो का पालन करते हुये शान्तिमय ढग से जीवन व्यतीत कर सकें। इसी कारण विजयनगर राज्य ने समस्त धर्मों के प्रति उदार अथवा सहिष्णु नीति अपनाई। इसके अतिरिक्त विजयनगर राज्य द्वारा इस नीति को अपनाने के अन्य कारण भी थे। प्रथमत हिन्दू धर्म, धर्मान्तरित (Proselytizing) नहीं है। जन-साधारण को इसे स्वीकार करने के लिये प्रोत्साहन देना इसमें सम्भव नहीं है और इसीलिये उनको धर्म स्वीकार करने के लिये बाध्य करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। इसी आधार पर राज्य के द्वारा धर्म-परिवर्तन के लिये प्रयत्न करना, दबाव डालना अथवा दूसरे प्रलोभन देना राज्य की नीति के अग स्वीकार नही किये जा सकते। इसके अतिरिक्त धर्म-शास्त्रो में कहीं पर भी ऐसे कानूनो का समावेश नहीं है जो गैर-हिन्दुओ के स्वार्थों के प्रतिकूल हो। विजयनगर ही नहीं, अपितु दूसरे हिन्दू राज्यो ने भी इसी प्रकार की सहिष्णुता की नीति अपनाई। पश्चिमी घाट पर

जब सोमनाथ के मन्दिर पर किये गये आक्रमण की याद ताजा थी, तब भी गुजरात के शासक ने 1053 ई. में मुसलमानों को अहमदाबाद में एक मस्जिद के निर्माण की आज्ञा दी थी। इसी प्रकार गुजरात के चालुक्य शासक सिद्धराज ने जब यह सुना कि अग्नि पूजकों (पारसियों) की उत्तेजना से हिन्दुओं ने एक मस्जिद को ध्वंस कर 80 मुसलमानों का वध कर दिया है तो शासक स्वयं वहां पहुंचा, अपराधियों को दण्डित किया तथा मस्जिद के पुनर्निर्माण के लिये आर्थिक सहायता दी। गुजरात के व्यापारियों ने भी शासक की नीति अपनाकर मुक्त-हस्त से दान दिया।

इस विवरण से हमें यह अनुभव होता है कि हिन्दू शासकों और सुल्तानों के राज्य-आदर्श समरूप थे और दोनों ही व्यवस्थाओं में शासक न्याय का स्रोत था जो धार्मिक कानूनों के अनुसार ही कार्य करता था। दोनों ही व्यवस्थाओं में शासक तानाशाह अथवा निरंकुश था परन्तु फिर भी महत्वपूर्ण विषयों पर वह अपने मन्त्रियों अथवा परामर्शदाताओं से मंत्रणा करता था। दोनों में ही धार्मिक परामर्श-दाताओं के रूप में ब्राह्मणों अथवा उलेमाओं का प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण व प्रभावशाली था, क्योंकि दोनों में ही धार्मिक कानून श्रेष्ठ थे। इस आधार पर दोनों ही धर्मतन्त्र थे।

इस अन्तिम कथन के सन्दर्भ में यह विवेचन करना आवश्यक है कि वास्तव में सल्तनत एक धर्मतन्त्र अथवा धर्म-प्रधान राज्य था अथवा नहीं। डा. त्रिपाठी और मुहम्मद अशरफ यह स्वीकार करते हैं कि मुस्लिम राज्य एक धर्मतन्त्र था। समस्त संस्थायें जिनको सुल्तानों ने अपनाया अथवा विकसित किया मात्र कानून के सहायक के रूप में ही थीं। परन्तु डा. कुरैशी की यह मान्यता है कि शरा की श्रेष्ठता ने कुछ विद्वानों में भ्रमात्मक धारणा उत्पन्न कर दी है कि सल्तनत एक धर्मतन्त्र अथवा धर्म-प्रधान राज्य था। डा. कुरैशी की यह मान्यता अधिक अर्थपूर्ण नहीं है क्योंकि उन्होंने मुस्लिम राज्य के प्रत्येक पहलू की प्रशंसा करने तथा उसको न्यायोचित ठहराने का प्रयास किया है। परन्तु जब प्रो. हबीब ये कहते हैं कि भारत में मुस्लिम राज्य किसी प्रकार से धर्म-तन्त्र नहीं था अपितु उसका आधार धर्म-निरपेक्षता था, तो निश्चित् ही इस कथन का आलोचनात्मक अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

इसके विवेचन के पहले यह अधिक उचित होगा कि हम धर्म-तन्त्र (Theocracy) की परिभाषा जान लें तथा फिर उस कसौटी पर सल्तनत को कसें। आक्सफोर्ड कोश के अनुसार थियोक्रेसी ग्रीक शब्द 'थियोस' से निकला है जिसका अर्थ है 'ईश्वर'। प्रत्यक्ष-रूप से यदि एक राज्य ईश्वर द्वारा अथवा पुरोहित-वर्ग के द्वारा शासित किया जाता है तो वह धर्म-तन्त्र है। चैम्बर्स कोश ने, एक ऐसे राज्य को जिसमें ईश्वर सर्वोच्च शासक स्वीकार किया जावे और राज्य के नियम मनुष्य मात्र के अध्यादेश न होकर ईश्वरीय आज्ञायें हों, धर्मतन्त्र की संज्ञा दी है।

ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक रूप से पुरोहित वर्ग उस ईश्वरीय आज्ञाओ को लागू करने का एक साधन मात्र होगा।

इन परिभाषाओ से धर्मतन्त्र के तीन तत्त्व स्पष्ट रूप से उभर कर आते हैं (1) पुरोहित वर्ग की उपस्थिति, (2) ईश्वरीय कानून की प्राथमिकता, (3) प्रस्थापित अथवा घोषित (Promulgate) करने वाला शासक। इन्ही तीन कसौटियो पर हम सल्तनत काल मे राज्य के स्वरूप का अध्ययन करेंगे और तब ही कोई निर्णय कर सकेंगे कि वह धर्म तन्त्र था अथवा नही।

डा कुरेशी सल्तनत के शासन मे किसी उलेमा-वर्ग की उपस्थिति स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार धर्म तन्त्र का विशेष गुण है कि उसमे उलेमा अथवा पुरोहित वर्ग का शासन म सक्रिय हाथ हो परन्तु मुस्लिम राज्य की शासन व्यवस्था मे ऐसा कोई प्रमाण हमारे पास उपलब्ध नहीं है। विधिवेत्ता सामान्य वर्ग मे सम्बन्धित थे और सामान्य त्रुटियो से उन्मुक्त भी नहीं थे। यह ठीक है कि सल्तनत काल मे कोई वशानुगत अथवा अभिषिक्त उलेमा-वर्ग नहीं था और यह भी ठीक है कि विधि-शास्त्री सामान्य त्रुटियो से उन्मुक्त नहीं था। इब्न बतूता जैसा व्यक्ति *मुहम्मद तुगलक द्वारा काजी नियुक्त किया गया था, परन्तु इब्न बतूता का उदाहरण* एकमात्र अपवाद है और फिर वह भारत मे मौलाना बशीरूद्दीन के नाम से ही अधिक जाना जाता था। मौलाना शब्द ही स्वय मे सम्पूर्ण नीति को स्पष्ट कर देता है। इब्न बतूता के अतिरिक्त सब ही विधिशास्त्री धर्मतत्वज्ञ थे। इस वर्ग को उलेमा की सज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। धर्म के क्षेत्र म वे कट्टर थे तथा सुल्तानों पर उनका अधिक प्रभुत्व था। उनकी शिक्षा तथा शास्त्र-सम्मतता के सम्बन्ध मे डा युसूफ हुसैन की धारणा है कि मदरसे इस काल में ऐसे केन्द्रो के रूप मे उभर आये थे जिन पर धर्म के पूर्वाग्रह की छाप स्पष्ट थी। मुख्य रूप से ये मदरसे धर्म विज्ञान के क्षेत्र मे कट्टरता के केन्द्र थे और इसके बाद भी इनको राज्य की ओर से आर्थिक सहायता दी जाती थी।

इन मदरसों के शिक्षार्थियों मे से ही विधिशास्त्री, सुल्तान के सलाहकार व शरा की व्याख्या करने वालो की नियुक्ति की जाती थी। इब्न हसन के अनुसार शरा की रक्षा के प्रमुखत दो स्वरूप हैं—शरा के ज्ञान का प्रचार तथा राज्य म इसके नियमो को कानूनी रूप देना। प्रथम के लिये आवश्यक था कि राज्य म एक ऐसा वर्ग हो जो अध्ययन व अध्यापन के प्रति समर्पित हो। दूसरे की पूर्ति के लिए इस वर्ग मे से ही सुल्तान के सलाहकारों की नियुक्ति होना आवश्यक था। यह वर्ग जो इस प्रकार से शरा के प्रति समर्पित था उलेमा कहलाता था और इनमे से चुने जाने वाला व्यक्ति 'शेख-उल इस्लाम' की सज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। वह उलेमा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था। उसका यह कर्तव्य था कि वह सुल्तान *को ऐसी समस्त बातो की जानकारी दे जो उसके अनुसार इस्लाम के प्रतिकूल हो।*

सुल्तान के पास उसकी सलाह को मानने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं था। बलाकमैन ने इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यद्यपि इस्लाम में कोई राज्य का पुरोहित-वर्ग नहीं है, परन्तु इसके बाद भी हम उलेमाओं के रूप में उनका श्रेणीबद्ध प्रतिरूप देखते हैं। इनमें से ही प्रान्तों के सदर, मीर अदल, मुफ्ती और काजियों की नियुक्ति की जाती थी। देहली और आगरा में ये वर्ग कट्टरपन्थी था। सुल्तान को अपने अनुसार चलाना ही इसका कर्त्तव्य था। इसकी पुष्टि इसी से हो जाती है कि दिल्ली सल्तनत में केवल अलाउद्दीन खल्जी व मुहम्मद तुगलक ही ऐसे शासक थे जो इनके प्रभाव से मुक्त रहे। अतएव यह स्वीकार करना कठिन है कि दिल्ली सुल्तानों पर उलेमा-वर्ग का प्रभाव नहीं था।

सल्तनत को यदि दूसरी कसौटी पर कसा जाये तो हमें यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वह पूर्णरूपेण ईश्वरी कानूनों की प्राथमिकता पर आधारित थी। शरा इसका मूलाधार था। स्वयं डा. कुरेशी स्वीकार करते हैं कि शरा, कुरान पर आधारित है और कुरान पैगम्बर मुहम्मद के माध्यम से ईश्वरीय आज्ञाओं का संकलन है। कुरान और हदीस पर ही सम्पूर्ण इस्लामी कानून आधारित है। यही कानून समस्त मुस्लिम राज्यों में वास्तविक सम्प्रभु हैं। इस प्रकार से सलतन्त काल के सम्पूर्ण कानून शरा पर आधारित हैं, जो मानवीय अनुभवों की अपेक्षा ईश्वरीय उद्घाटित है और किसी प्रकार से इन्हें धर्म-निरपेक्ष कानून कहना कठिन है।

डा. कुरेशी का यह कथन कि शरा की श्रेष्ठता ने कुछ विद्वानों में इस भ्रमात्मक विचार को जन्म दिया है कि सल्तनत एक धर्म-तन्त्र थी, स्वयं में विरोधाभासी है। ये धार्मिक कानून राज्य के बहुमत के लिये हानिकर थे परन्तु फिर भी इनको लागू किया जाता था। इन्हीं के अन्तर्गत जो निर्योग्यतायें उनको अनुभव करनी पड़ती थी उनका पुनः वर्णन निरर्थक है क्योंकि वे सर्वविदित हैं। बरनी ने स्वयं उनका विवरण दिया है और उस विवरण से बहुमत वर्ग की स्थिति का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। 'जिम्मी', 'खरगुजर' व 'जजिया' इस समस्त स्थिति के द्योतक हैं।

हम आज यह अनुभव करते हैं कि इस प्रकार के कानून जो बहुमत वर्ग के लिये हानिकारक थे, किसी प्रकार से सल्तनत काल में नहीं होने चाहिये थे। मध्यकालीन विचारक व सुल्तान भी इन्हें यदि न्यायपूर्ण नहीं मानते थे, तो कम से कम वे यह अनुभव अवश्य करते थे कि इन्हें लागू करना अत्यधिक कठिन है। इसीलिये जब उलेमा तथा अमीरों ने सुल्तान इल्तुतमिश पर दबाव डाला कि वह शरा के नियमों को लागू करे तो उसने समय का बहाना ले इसे लागू करना स्थगित कर दिया। बलबन और जलालुद्दीन खल्जी ने इसी आधार पर अपनी असमर्थता बताई। सम्भवतः सुल्तानों के इसी अनुभव से लाभ उठाकर बरनी ने यह प्रतिपादित किया कि यदि मान्यता प्राप्त कानूनों को लागू करना सम्भव न हो तो उनके स्थान

पर दूसरे कानूनों का निर्माण किया जावे। उसके अनुसार सुल्तान का यह धर्म है कि वह इन पवित्र कानूनो को यथाशक्ति लागू करे परन्तु यदि किन्हीं परिस्थितियों के कारण इनको लागू करना सम्भव न हो तो बुद्धिमान व विद्वानों की सहायता से वह समयानुसार नये कानूनों का निर्माण कर उन्हें लागू करे। बरनी इन कानूनो को "जवाबित" की सज्ञा देता है।

परन्तु प्रश्न यह है कि कितने सुल्तानों ने इस प्रकार के नियमो का निर्माण किया तथा कितने इन नियमों को लागू करने का साहस कर सके। शरा इसीलिये समस्त सल्तनत काल म श्रेष्ठ बनी रही। बरनी के विवरण म नये नियमो के बनाने का विवरण बहुत कम मिल पाया है। यदि सुल्तानो ने इस प्रकार के नियमो का निर्माण किया होता तो बरनी इस प्रकार के विवरण को देन मे कभी नही चूकता। हिन्दू विधि इसके विरोध मे कभी भी ईश्वरीय उद्घाटित नही रही। यह मानव अनुभव पर आधारित है। हिन्दू समाज मे धर्म का स्वरूप अत्यधिक विस्तृत रहा है। 'मीमांसा' म स्पष्ट है कि धर्म एक दिशा-युक्त गति है जिसमे निश्चित् ही लाभकारी परिणाम निहित हैं। केवल इसी आधार पर हिन्दू धर्म को धर्म-तन्त्र स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि हिन्दू विधि भी उसके अनेक वर्गों के लिये प्रतिकूल है, परन्तु इसके बाद भी उसम किसी प्रकार से गैर-हिन्दुओ के लिये निषेधाज्ञा के तत्व नहीं मिल पाते हैं।

इस पृष्ठभूमि मे हमे सुल्तान अथवा शासक की भूमिका को आकना आवश्यक हो जाता है, क्योकि एक मात्र वही इन नियमों को अपने राज्य मे लागू करने के लिये उत्तरदायी था। सल्तनत काल के अधिकतर शासक किसी प्रकार से अपने कर्तव्यो व उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक नही थे। वे शासन के प्रति उदासीन नहीं थे और ऐश्वर्य-पूर्ण जीवन यापन करने के आदी थे। अधिकतर वे अनपढ थे और यदि उन्हें शिक्षा प्राप्त हुई भी थी तो वह अत्यन्त अपूर्ण थी। वे न तो इस्लामी विधि से भिज्ञ थे और न ही उसको लागू करने मे रुचि ही रखते थे। फीरोज तुगलक जो कि इस्लामी विधि से परिचित था उसने इसे लागू करने का प्रयास किया, परन्तु असफल रहा। इसी के फलस्वरूप, तुगलक वंश का पतन और प्रान्तीय राज्यो का उदय हुआ। इसलिये सुल्तान सदैव इसके लिये प्रयत्नशील रहे कि वे ऐसी शासन-व्यवस्था करें जिससे कम से कम विद्रोह हो। वास्तविक रूप से वे व्यावहारिक शासक थे जो अपने राज्य मे शान्ति स्थापित रखने के लिये सक्रिय थे।

परन्तु अनेको ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न हुई जिन्होने उन्हे इस्लामी विधि को लागू करने के लिये बाध्य किया, चाहे इस प्रकार की नीति शासन कार्य को सुचारु रूप से चलाने मे हानिकारक ही क्यो न हों। समकालीन इतिहास लेखको ने सुल्तानों की प्रशसा कर उनको इस्लाम के सरक्षक के रूप मे चित्रित किया।

उन्होंने उनके मिथ्याभिमान को कुरेद कर कठोरता से इस्लामी-विधि को लागू करने के लिये प्रेरित किया। सुल्तान स्वयं को मूर्तिभंजक की भूमिका के लिये उत्तरदायी मानने लगे और वे मुस्लिम अल्पमत को सुरक्षित रखने के हिमायती बन गये। इस आधार पर वे बहुमत को इस्लाम स्वीकार करने के लिये अनेक प्रकार से लुभाने लगे और यदि इससे उनके उद्देश्यों की पूर्ति न हुई तो वे उन पर दबाव डालने में भी नहीं हिचकिचाये। इस्लाम में अपनी आस्था को प्रमाणित करने के लिये वे गैर-मुस्लिमों के साथ अभद्र व्यवहार करने में भी नहीं चूके।

इसके अतिरिक्त उलेमा-वर्ग सदैव ही इस बात के लिए सतर्क थे कि सुल्तान न केवल इस्लामी विधि को त्यागने का प्रयत्न न करे, अपितु वह कठोरता से अपने नागरिकों पर उसे लागू भी करे। उलेमाओं का प्रभाव इतना अधिक था कि शक्तिशाली सुल्तान केवल उनकी विचारधारा के प्रति उदासीनता दिखाने के अतिरिक्त उनका मूलोच्छेदन करने का साहस नहीं कर सकता था। शक्तिहीन सुल्तानों ने यही उचित समझा कि उनका हित इसी में निहित है कि वे उलेमाओं द्वारा निर्धारित नीति को स्वीकार करें।

शरा को लागू करने का सबसे मुख्य कारण था कि सुल्तान इसको लागू किये बगैर स्वयं को गद्दी पर सुरक्षित नहीं रख सकते थे। क्योंकि अलाउद्दीन तथा नासिरुद्दीन खुशरवशाह की नीति से उलेमा वर्ग अत्यधिक असन्तुष्ट था इसलिये गियासुद्दीन तुगलक ने स्वयं को शरा का संरक्षक घोषित किया। डा. त्रिपाठी ने लिखा है कि इस्लामी की दुहाई दी जाने लगी क्योंकि इसी आधार पर वह गद्दी प्राप्त कर सकता था। मुहम्मद तुगलक की नीति से भी उलेमा वर्ग असन्तुष्ट था और इसीलिए बरनी के अनुसार फीरोज के सिंहासनारोहण पर शेख नासिरुद्दीन चिराग ने उसे वचनबद्ध किया कि वह इस्लामी विधि के अनुसार शासन चलायेगा। फीरोज ने इसका कठोरता से पालन किया और धर्म को ही अपने राज्य का आधार बनाया। कुछ समय पश्चात् जब अमीर तैमूर ने भारत पर आक्रमण किया तो जफरनामा के अनुसार उसका एक मात्र उद्देश्य मूर्तिपूजा को समाप्त करना ही था। अकबर की सहिष्णुता की नीति ने उलेमा-वर्ग को क्रुद्ध कर दिया था इसीलिए जहांगीर के सत्तारूढ़ होते समय उससे यह वचन लिया गया कि वह इस्लाम की रक्षा करेगा। अकबर की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् मुल्ला शाह अहमद ने राज्य के विभिन्न प्रतिष्ठित व्यक्तियों को प्रोत्साहित किया कि वे जहांगीर के शासन के आरम्भिक वर्षों में ही अकबरकालीन नीति में पूरी तरह हेर-फेर करवालें अन्यथा बाद के वर्षों में इसमें परिवर्तन करवाना कठिन होगा।

इस प्रकार यदि हम उलेमाओं का प्रभाव अथवा शरा को लागू करने अथवा सुल्तानों की गतिविधियों का मूल्यांकन करें तो यह स्पष्ट हो जावेगा कि मध्यकाल में राज्य का स्वरूप धर्मतन्त्र ही था।

परन्तु इसके बाद भी हम इस तथ्य से भागने का प्रयास करते हैं। वर्तमान युग में मानव के मूल्यों में आमूल-चूल परिवर्तन आ चुका है। विज्ञान और धर्म-निरपेक्षता के युग में धार्मिक असमानताएं व उत्पीड़न इतना अधिक असगत लगता है कि हमें यह विश्वास कराया जाता है कि भूत में भी इस प्रकार की स्थिति कभी विद्यमान ही नहीं थी। भारत सरकार ने धर्म-निरपेक्षता को अपना आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किया है। सामाजिक क्षेत्र में भी धार्मिक विवादों से दूर रहने का प्रयत्न किया जाता रहा है और ये सब इतना स्वाभाविक है कि यह सोचा जाता है कि युगों-युगों से इसी प्रकार की स्थिति चली आ रही है।

परन्तु मध्ययुग आज के युग से नितान्त भिन्न था। जब तक हम इस तथ्य को स्वीकार नहीं करलें तथा अपने आज के विचारों, दृष्टिकोणों को मध्ययुग पर थोपने के प्रयास को तिलांजली नहीं दे दें, तब तक मध्ययुग परिप्रेक्ष्य अथवा सदर्भ को सही ढग से समझना कठिन होगा। आज मुहम्मद तुगलक के द्वारा न्याय विभाग में योग्यता के आधार पर नियुक्त करने की नीति का कोई विरोध नहीं करेगा, परन्तु उस समय में सुल्तान की इस नीति को सुनकर प्रसिद्ध सूफी सन्त शेख शिहाबुद्दीन इतने क्रुद्ध हो गये कि उन्होंने अपना जूता उतार कर सुल्तान के मुख पर फेंका था, जैसाकि प्रो मेंहदी हुसैन ने लिखा है। बरनी को भी उस समय सुल्तान का समर्थन करने के लिए बाद में पश्चाताप नहीं करना पड़ता और न ही उलेमा सुल्तान को जालिम कहते जैसाकि एनुलमुल्क मुल्तानी के सुल्तान-विरोधी सैनिक अधिकारियों के सम्बोधन से पता चलता है। तैमूर को दिल्ली में लूटमार और कत्लेआम का आदेश देते समय अपने सैनिक अधिकारियों को ये निर्देश न देना पड़ता *कि उलेमा और सैय्यद वर्ग के लोगों का आदर किया जावे और उन्हें किसी* तरह की कोई हानि नहीं पहुंचाई जावे। सुल्तान सिकन्दर लोदी को उलेमाओं के निर्णय पर बोधन ब्राह्मण को केवल इसलिये जिन्दा जलवाने की आवश्यकता न होती कि उसने इस्लाम और हिन्दू धर्म को समान बताया था और इस्लाम को स्वीकार करने से मना कर दिया था। आज कोई एक भवन के निर्माण के लिए दूसरे भवन को तुड़वाकर उसकी सामग्री का उपयोग करना अनुचित समझेगा क्योंकि यह अधिक महगा पड़ेगा, परन्तु मध्ययुग में मन्दिरों को तुड़वाकर उनकी सामग्री से मस्जिदों का निर्माण करना एक साधारण बात थी।

ये उदाहरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि मध्ययुग, वर्तमान युग से *नितान्त भिन्न था। आधुनिक युग मोटे रूप में वैज्ञानिक व विवेचनात्मक परिप्रश्न* का युग है। मध्ययुग में बुद्धिवाद, अभिबोध, धर्म-निरपेक्षता व वैज्ञानिक विवेचन का कहीं नामोनिशान तक नहीं था। मध्ययुग के सम्पूर्ण ऐतिहासिक साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में धर्म ने मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और सरकार तथा राजनीति इससे अछूते रहे हों ऐसा सोचना भ्रमात्मक होगा। इसके लिए हमें किसी प्रकार से क्षमा अथवा खेद व्यक्त करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि मध्ययुग में वे सब अच्छी और

बुरी बातें विद्यमान थीं जो कि प्रत्येक युग में हुआ करती हैं। यदि एक ओर धर्मान्ध उलेमाओं ने वातावरण को दूषित किया तो दूसरी ओर हमारे पास सूफी सन्तों की भी कमी नहीं है जिन्होंने अपने स्पर्श से इस वातावरण को पवित्रता प्रदान करी। यदि धर्म के नाम पर नृशंसता अपनाई गई तो इसी ने मानव की अनेक लुप्त परन्तु श्रेष्ठ प्रवृत्तियों को उभारा। मध्ययुग में यदि धर्म के नाम पर एक ओर निर्मम व निष्ठुर व्यवहार किया गया तो दूसरी ओर ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जब मुक्तहस्त से दान देने अथवा साधारण वर्ग के जीवन को सुखी बनाने के लिए प्रयास किये गये। मध्ययुग ने ही निजामुद्दीन औलिया, कबीर और गुरुनानक जैसे विशुद्ध सन्तों को जन्म दिया जिनकी स्मृति आज भी पूरी तरह ताजा है।

इस आधार पर मध्ययुग की अपनी विशेषताओं को अलग कर यह कल्पना करना कि उस समय की परिस्थितियां तथा वातावरण आज ही के समान था स्वयं मध्ययुग को तिरस्कृत करना है। स्वाभाविक रूप में मनुष्य का वर्तमान उसके भूत-काल सम्बन्धी विचारों पर अपनी अमिट छाप छोड़ता है, परन्तु इसी सत्य से इतिहासकार को सदैव ही सचेत रहने की आवश्यकता है। यदि ऐसा न हुआ तो इतिहास-लेखन में विषयनिष्ठता (Objectivity) समाप्त हो जावेगी और वह केवल हमारी मनोभावनाओं का एक अधूरा चित्र बनकर रह जायेगी। भूत की गलतियों के सन्दर्भ में यदि वर्तमान में उसे पुनः न दोहराने का दृढ़ निश्चय किया जावे तब ही इतिहास की सार्थकता सम्भव हो सकेगी।

अन्त में हम कह सकते हैं कि युगों-युगों से यह अनुभव किया जाता रहा है कि अपूर्ण मानव कभी भी पूर्ण कानूनों का निर्माण नहीं कर सकता जो प्रत्येक वर्ग को सन्तुष्ट कर सके। यदि धर्मतन्त्र किसी वर्ग विशेष के लिए पक्षपातपूर्ण था तो निश्चित ही यह किसी दूसरे वर्ग के लिए लाभदायक भी था। इस तथ्य पर पर्दा डालकर यह स्वीकार करना कि मध्ययुगीन राज्य का स्वरूप वर्तमान युग की मान्यताओं से भी अधिक वर्तमान था, उचित न होगा।

सुल्तान व खलीफा

इस्लाम 'शरीयत' प्रधान है। प्रत्येक इस्लाम समर्थक इसके अधीन है। इसलिए सभी मुसलमान शासक शरीयत के अधीन हैं और उसी के अनुसार कार्य करना उनका कर्तव्य है। दिल्ली के सुल्तान भी शरीयत के कानून के अधीन राज-नीतिक प्रधान थे जिनका कर्तव्य इस्लाम और पवित्र कुरान के कानूनों के अनुसार शासन करना था। क्योंकि इस्लाम के कानूनों का पालन करना और उसी के अनुसार शासन चलाना उनका कर्तव्य रहा, इसलिये सुल्तानों की नीति पर धर्म और उसके प्रवर्तक उलेमा-वर्ग का प्रभाव किसी न किसी रूप में बना रहा।

दिल्ली सुल्तानों में से अधिकांश शासकों ने स्वयं को खलीफा का 'नाइब' कहा। केवल अलाउद्दीन खल्जी ने इसको नकारा और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खल्जी

ने स्वयं खलीफा की उपाधि धारण की। मुहम्मद तुगलक ने शासन के प्रथम पन्द्रह वर्षों तक खलीफा को कोई मान्यता नहीं दी परन्तु बाद में यह मानकर कि उसकी समस्त विफलताओं का कारण एक-मात्र खलीफा की अप्रसन्नता तथा उलेमा वर्ग का असन्तोष ही है उसने खलीफा को अपना प्रधान मान लिया। सुल्तानों ने खलीफा को केवल नाम-मात्र का ही प्रधान माना था। सुल्तानों द्वारा स्वयं को खलीफा का नाइब पुकारने की नीति से उनकी व्यावहारिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा और वे स्वतन्त्र शासकों के समान ही शासन करते रहे। खलीफा को नाममात्र का प्रधान मानने से वे एक ओर तो अपने को खलीफा का प्रतिनिधि बता सकने में समर्थ हुए और इसी के साथ समस्त मुस्लिम जनता और प्रभावशाली उलेमा-वर्ग का विश्वास प्राप्त करने में भी सफल हो गये।

सुल्तान तथा खलीफा के सम्बन्धों को लेकर विद्वानों में अधिक मतभेद है। वे ये स्वीकार करते हैं कि सैद्धान्तिक आधार पर सल्तनत खिलाफत का एक अंग था। इस सदर्भ में दिल्ली सुल्तानों द्वारा खलीफा के नाम के सिक्कों को ढलवाने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। प्रो. अरनाल्ड ने लिखा है, "जिस प्रकार पैगम्बर खुदा का प्रतिनिधि, उसी प्रकार खलीफा पैगम्बर का प्रतिनिधि, और सुल्तान खलीफा का प्रतिनिधि था।" बगैर खलीफा के अधिकारपत्र के मुस्लिम जगत का कोई शासक सुल्तान की उपाधि धारण नहीं कर सकता था। प्रो. कुरैशी भी यही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार इस्लाम की पूर्वी सीमाओं में अब्बासी खिलाफत की स्थिति असन्दिग्ध थी, और कोई शासक बगैर खलीफा की स्वीकृति प्राप्त किये हुए स्वयं को वैधानिक शासक नहीं कह सकता था। अजीज अहमद की भी यह मान्यता है कि सल्तनत काल में खलीफा की सत्ता को व्यावहारिक रूप से स्वीकार किया जाता रहा। उसकी स्वीकृति सुल्तान की वैधानिक मान्यता के लिए आवश्यक थी।

यह धारणायें बताती हैं कि मुगल राज्य के उत्थान के पहले समस्त भारत के राजनैतिक संगठन का एक मात्र आधार खलीफा की प्रभुता थी तथा भारत में 'पैन-इस्लाम' का विचार विद्यमान था। इस सदर्भ में हमारे सामने यह समस्या है कि दिल्ली सुल्तानों ने अपनी वैधानिक सम्प्रभुता के लिये अब्बासी खिलाफत की सत्ता को कहाँ तक स्वीकारा और किस सीमा तक उन्होंने अपने राज्य को खलीफा के राज्य का एक अंग-मात्र माना।

दास वंश तथा खलीफा—सल्तनत काल में इल्तुतमिश प्रथम सुल्तान था जिसने बगदाद के खलीफा से खिलअत (साम्राज्य को वैधानिकता प्रदान के लिये स्वीकृति-पत्र) प्राप्त की थी। 22, रबी-उल-अव्वल 1229 ई. को खलीफा (अबू जफर मन्सूर अल मुस्तनसिर बिल्लाह) के प्रतिनिधि दिल्ली आये और सुल्तान को खिलअत देने के साथ ही उसके सम्बन्धियों और मन्त्रियों को भी सम्मानित किया। डॉ. त्रिपाठी ने लिखा है, "इस स्वीकृति से न केवल सल्तनत को तिलावत की

कल्पना से बांध दिया अपितु कानूनी रूप में खलीफा द्वारा स्वीकृति को मान्य ठहराया। इल्तुतमिश ने 'नासिर अमीर-उल-मोमीन' की नयी उपाधि धारण की जिसका अर्थ था कि वह स्वयं को 'अमीर-उल-मोमीन' (अब्बासी खिलाफत) का सहायक स्वीकार करता है। इसका ये अर्थ लगाना उचित न होगा कि उसने अपने राज्य को खिलाफत का एक अंग अथवा खलीफा को अपना अधिराज (Suzerain) स्वीकार कर लिया। बंगाल के गियासुद्दीन को जिसने उसके समान ही खलीफा से खिलअत प्राप्त की थीं, उसने आधीन करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। इसका अर्थ था कि 'नासिर अमीर-उल-मोमीन' की उपाधि धारण करना केवल एक औपचारिकता से अधिक नहीं था जिसको कि तुर्कों ने महमूद गजनवी के समय से अपना लिया था। ये मात्र पुराने समय की एक स्मृति थी जबकि वास्तव में तुर्क खलीफा के सहायक थे और खिलाफत अपने अस्तित्व के लिये उन पर निर्भर थी।

दास वंश के अन्य शासकों के व्यवहार से भी इसकी पुष्टि होती है। एक पुरानी स्मृति को जीवित रखने के लिये ही उन्होंने इस प्रकार की नीति अपनाई थी। यदि ऐसा न होता तो हलाबू द्वारा 1258 ई. में खलीफा और खिलाफत को असम्मानित करने के बाद भी उसका भारत में भव्य स्वागत न किया जाता। यदि खलीफा को वास्तव में मुस्लिम जगत का अधिराज स्वीकार किया गया होता तो उसके विध्वंसक को निश्चित ही दिल्ली सुल्तान शत्रु मानते तथा उसका स्वागत नहीं करते। सुल्तानों में खलीफा के प्रति कोई लगाव नहीं था इसीलिये उन्होंने भावनाओं की अपेक्षा राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को अधिक उपयोगी समझा। खलीफा का नाम केवल मुद्राओं में अंकित किया जाता रहा।

खल्जी वंश तथा खलीफा—जलालुद्दीन खल्जी के राज्य काल में भी इसी प्रकार की मुद्रायें ढाली जाती रहीं। खलीफा मुस्तसिम की मृत्यु हो चुकी थी परन्तु फिर भी उसका नाम उसी प्रकार से मुद्राओं पर अंकित किया जाता रहा। स्वयं के लिये उसने सुल्तानों की परम्परागत उपाधि को ही चुना। उसके समय में घटित सिद्दी मौला की घटना ने खिलाफत की मिथ्या-भावना को और अधिक स्पष्ट कर दिया। सिद्दी मौला और उसके समर्थकों ने जलालुद्दीन के विरुद्ध षड्यन्त्र रच उसे अपदस्थ करने की योजना बनाई। सिद्दी मौला स्वयं शासक बनने का इच्छुक था परन्तु उसके समर्थक उसे खलीफा बनाना चाहते थे। यदि अब्बासी खिलाफत को वास्तव में सुल्तानों की प्रेरणा व शक्ति का स्रोत समझा जाता तो निश्चित् ही सिद्दी मौला के समर्थक उसको खलीफा बनाने की नहीं सोचते। बरनी भी ऐसे लोगों की भर्त्सना करने से नहीं चूकता। उसने इसके विरोध में जलालुद्दीन द्वारा सिद्दी मौला के बध की कटु आलोचना की है। इसका अर्थ था कि खलीफा कभी भी भारत का वैधानिक शासक स्वीकार नहीं किया गया था। साधारण वर्ग के लिये खलीफा भारतीय राजनीति में अर्थहीन था।

अलाउद्दीन खल्जी ने 'यामिन-उल-खिलाफत-नासिरी-अमीरुल-मोमिनीन' की उपाधि धारण की, परन्तु वास्तविकता यह है कि उसके काल तक इस प्रकार की उपाधि धारण करना एक सामान्य सी बात हो गई थी। यह केवल तुर्कों के उज्ज्वल अतीत की प्रतीक थी। यद्यपि अलाउद्दीन ने कभी भी खलीफा की उपाधि धारण करने का विचार नहीं किया परन्तु अमीर खुसरो उसे अपने युग का खलीफा ही सम्बोधित करता है। अमीर खुसरो इस्लामी परम्पराओं से पूर्णतया भिज्ञ था। वह उसे कभी भी अपने युग का खलीफा नहीं कहता, यदि वास्तव में भारत का राज्य खिलाफत का एक अंग होता अथवा खलीफा सुल्तानों का अधिराज तथा समस्त शक्ति का स्रोत समझा गया होता। यह उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जबकि अलाउद्दीन ने अब्बासी खिलाफत के पश्चात् फारस के शाह से कूटनीतिक सम्बन्धों को बनाये रखने में अधिक उत्सुकता दिखाई। इससे स्पष्ट होता है कि सुल्तान भावनात्मक गठन की अपेक्षा राजनीतिक लाभों को अधिक महत्व देते थे।

कुतुबुद्दीन मुबारक शाह खल्जी ने तो स्वयं को खलीफा घोषित किया। उसने 'खिलाफत उल्लाह, अमीर-उल-मोमिनीन, ईमाम-उल-आज़म' आदि की उपाधियाँ धारण की। वह केवल इससे ही सन्तुष्ट नहीं हुआ अपितु उसने अपनी राजधानी दिल्ली को दारुल खिलाफत की संज्ञा भी दे डाली। लेकिन इस सब के बाद भी उलेमाओं ने उसकी किसी प्रकार से निन्दा नहीं की और अमीर खुसरो ने दिल्ली को दारुल खिलाफत कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। फीरोज तुगलक जैसे धार्मिक प्रवृत्ति के शासक ने उसके मकबरे की मरम्मत करवायी तथा मुहम्मद तुगलक ने उसकी तीर्थ-यात्रा कर उसके पादुकों को चूमा। यही नहीं अपितु उसने इब्न बतूता को इसकी समुचित व्यवस्था के लिये नियुक्त किया। यदि खिलाफत वास्तविक रूप में सुल्तानों के अधिराज अथवा उनकी शक्ति का एकमात्र स्रोत होती तो इन समस्त घटनाओं का घटना नितान्त असम्भव था।

तुगलक वंश तथा खलीफा—तुगलक शासकों व खलीफा के सम्बन्धों का विवेचन करने के पहले यह अधिक उचित होगा कि हम भारत में शिया मत की गतिविधियों का अध्ययन करें, क्योंकि तुगलकों की नीति इससे अधिक प्रभावित थी। भारत में शिया मत का पदार्पण खलीफा मुअतमिद (872-892 ई.) के काल में हुआ और तब से लेकर तुगलकों के काल तक शिया तथा सुन्नी मत में संघर्ष होता रहा। इस संघर्ष में शिया मतावलम्बियों की सफलता ने सुन्नी सम्प्रदाय के सदस्यों को अधिक सतर्क कर दिया और उनकी गतिविधियों के कारण ही तुगलक शासकों ने अनेक बार अब्बासी खिलाफत का समर्थन किया जो कि कट्टर सुन्नी पक्ष का प्रतीक थी।

गयासुद्दीन तुगलक जिसने नासिरुद्दीन खुसरव शाह के विरुद्ध कट्टर सुन्नी मत का पक्ष लिया था, स्वयं को खलीफा घोषित करने की सोच भी नहीं सकता था।

सुल्तान बनने के लिए उसे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, उनसे वह पूरी तरह सजग था और वह यह भी जानता था कि यदि उसने स्वयं को खलीफा घोषित किया तो उसे भीषण संघर्ष का सामना करना पड़ेगा। इसलिये उसने केवल 'नासिर अमीर-उल-मोमीन' की उपाधि ही धारण की।

विवेकी सुल्तान होने के नाते मुहम्मद तुगलक ने खलीफा के नाम की अर्थ-हीनता को भली प्रकार से जान लिया था। इसके अतिरिक्त क्योंकि वह मिस्र के ममलूक सुल्तान अलनासिर, फारस के अलखनीद अबू व ट्रान्स-आक्सीनिया के चगताई तमाशिरिन से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था इसलिये उसके लिये खलीफा से सम्बन्ध रखना सम्भव ही नहीं था। इन तीनों ही देशों में खलीफा का अर्थ विभिन्न और विरोधी रूपों में स्वीकार किया जाता था। इसलिये उसने अपने सिक्कों पर एक ओर कलमा तथा दूसरी ओर अल-मुजाहिद-फीसबील अल्लाह तथा प्रथम चार खलीफाओं के नाम ही अंकित कराये। छोटे मूल्य के सिक्कों पर उसने 'अल-सुल्तान-जिल्ली अल्लाह' अर्थात् सुल्तान ईश्वर की छाया है, अथवा "ईश्वर सुल्तान का समर्थक है" अथवा "जो सुल्तान की आज्ञापालन करता है वह ईश्वर की आज्ञा पालन करता है" अंकित करवाये।

परन्तु इन सब पवित्र उद्घोषणाओं के बाद भी उसके विरुद्ध होने वाले विद्रोहों और षड्यन्त्रों में कोई अन्तर न आया। इनमें प्रमुखतः दो वर्ग सक्रिय थे—अधिकारी वर्ग तथा उलेमा वर्ग। अधिकारी वर्ग उससे इसलिये असन्तुष्ट था क्योंकि वह शासन के केन्द्रियकरण में विश्वास करता था जिसके फलस्वरूप उनके अधिकारों में कटौती हुई थी। उलेमा वर्ग उससे इसलिए असन्तुष्ट था क्योंकि उसने उन्हें दान आदि देकर सरकारी पदों को स्वीकार करने के लिये बाध्य किया था। इस प्रकार उसकी अविवेकपूर्ण नीति ने इन विभिन्न वर्गों को उसके विरुद्ध संगठित होने का अवसर दिया।

उलेमाओं ने मुहम्मद तुगलक के विरोध में घृणित प्रचार किया। उन्होंने कहा कि सुल्तान ने इस्लाम के विरुद्ध विद्रोह किया है और काफिरों का साथ देकर स्वयं अपने जीवन से वंचित हो गया है। बरनी के अनुसार सुल्तान को सुन्नी धर्म, पैगम्बर व कुरान में अविश्वास हो गया है। उलेमाओं का साधारण वर्ग पर अधिक प्रभाव था इसलिये चारों ओर सुल्तान का विरोध किया जाने लगा। आरम्भ में सुल्तान पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बरनी के अनुसार सुल्तान का कथन था, "मैं इन विद्रोहों से तनिक भी व्याकुल नहीं हूं। मुझे इस चर्चा का ज्ञान है कि मेरे द्वारा अत्यधिक रक्तपात की नीति के कारण ही ये विद्रोह हो रहे हैं, परन्तु मैं इस चर्चा के आधार पर अथवा विद्रोहों के होने पर 'सियासत' त्यागने के लिए तत्पर नहीं हूं।"

मुहम्मद तुगलक अपनी नीति पर दृढ़ रहा। शीघ्र ही उसने अनुभव किया कि उसकी दमनकारी नीति विद्रोहों को कुचलने में असफल रही है। उलेमाओं द्वारा

क्योंकि उसके विरुद्ध लगातार विष उगला जा रहा है इसलिये उसने एक प्रतिशोधात्मक कदम उठाया। उसने यह सोचा कि यदि अब्बासी खिलाफत से वह मधुर सम्बन्ध बनाले तो साधारण वर्ग उसे सुन्नी धर्म का प्रवर्तक मानने को तत्पर हो जावेगा।

इस नीति के आधार पर उसने अब्बासी खलीफा की खोजबीन प्रारम्भ की जिससे कि साधारण वर्ग उसके विचारों से परिचित हो जावे। ईद और जुम्मे (शुक्रवार) की नमाज को एक बार बन्द कर दिया और फिर उन्हें पुनः चालू किया जिससे कि मुसलमान उसके नये विचारों से अवगत हो जावें। खलीफा के नाम से सिक्के ढलवाये व उसी के नाम से खुत्बा पढ़ा गया। खलीफा से खिलअत (अभिषेक वस्त्र) प्राप्त की। इस अवसर पर जब खलीफा के प्रतिनिधि दिल्ली आये तो उसने अत्यन्त विनम्रता का व्यवहार किया तथा उनके प्रति अत्यधिक सम्मान दिखाया।

सुल्तान की ये समस्त कार्यवाहियां उसके विरोधियों से छिपी नहीं रहीं। उलेमा-वर्ग यह अनुभव करने लगा कि यह प्रतिकारक नीति है और जिस धर्म की आड़ में उन्होंने सुल्तान के विरुद्ध प्रचार किया था, सुल्तान उसी माध्यम से उन्हें विफल करने का प्रयास कर रहा है।

सुल्तान की इस नीति से उसकी राजनैतिक स्वतन्त्रता अथवा स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ा। यह मान लेना कि इस नीति के आधार पर सुल्तान पेन-इस्लाम (इस्लामी एकता) का समर्थक हो गया नितान्त भ्रमात्मक होगा। मुहम्मद तुगलक की इस नीति तथा इसकी प्रतिक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पेन-इस्लाम' का विचार कितना अधिक खोखला था। वह तो केवल खलीफा का नाम उलेमाओं द्वारा किये गये प्रचार के विरोध में काम लेने के लिए ही उत्सुक था। खलीफा के नाम का उपयोग करने के बाद भी विद्रोहों में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी, जिससे यह स्पष्ट है कि मुसलमान अब अब्बासी खिलाफत के प्रति कोई आस्था नहीं रखते थे। यदि ऐसा होता तो खलीफा का समर्थन होने के बाद मुसलमानों के विद्रोहों में निश्चित ही कमी आ जाती।

मुहम्मद तुगलक ने अपनी जल्दबाजी और खलीफा के नाम की निष्फलता का अनुभव किया। तत्पश्चात् जब खलीफा का प्रपौत्र गियासुद्दीन मुहम्मद दिल्ली आया तब सुल्तान ने सोचा कि उसे स्वयं खलीफा घोषित कर दिया जावे। इस प्रकार खलीफा को अपने आधीन कर वह मुस्लिम जगत को यह दिखाना चाहता था कि वह सुन्नी मत का कठोर समर्थक है। परन्तु इसमें वह असफल रहा और अपनी असफलता को देख उसने पुनः शक्ति से विद्रोहों को दबाने की नीति अपनाई।

मुहम्मद तुगलक ने खलीफा के सम्बन्ध में एक परिपाटी छोड़ी थी और फीरोज तुगलक अपना उत्तराधिकार पक्ष कमजोर होने के कारण इसका परित्याग

करने में असमर्थ था। उसके चुनाव में क्योंकि उलेमा वर्ग ने सक्रिय भाग लिया था, इसलिये उसने यह अधिक उचित समझा कि खलीफा के साथ मधुर सम्बन्ध रक्खे जावें। उसका मत था कि बगैर खलीफा की अनुमति के कोई भी भारतीय शासक सुरक्षित नहीं है।

इस समय उत्तरी भारत में शिया मतावलम्बियों की गतिविधियां अधिक घातक हो गई थीं। फीरोज तुगलक ने जो मुहम्मद तुगलक के विरुद्ध प्रचार के परिणामों से परिचित था, अधिक उचित समझा कि इनकी गतिविधियों को, भयानक रूप धारण करने के पहले ही, कुचल दिया जावे। इसके लिए उसने उलेमाओं को प्रसन्न रखना ही ठीक समझा। उसने उनसे अपने कार्यों की अनुमति प्राप्त की तथा सुन्नी धर्म को ही राज्य धर्म के रूप में स्वीकार करने की नीति अपनाई।

फीरोज ने दो बार खलीफा से खिलअत प्राप्त की। खुतबे में पिछले सुल्तानों के नाम के साथ ही कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खल्जी का नाम भी लिया जाने लगा। यह आश्चर्यजनक है कि फीरोज जैसे धार्मिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति ने एक ऐसे सुल्तान का नाम खुत्बे में रक्खा जिसने स्वयं को खलीफा घोषित किया था। यदि खिलाफत का कोई अस्तित्व अथवा प्रभाव शेष होता तो सम्भवतः फीरोज मुबारकशाह खल्जी का नाम खुत्बे में नहीं रखता।

फीरोज द्वारा ढलवाये गये सिक्कों पर 'अल हकीम अल मुताजिद' तथा 'अल मुतवाकिल' के नाम अंकित हैं। अल मुताजिद व अल मुतवाकी के नाम उनकी मृत्यु के बाद भी सिक्कों पर अंकित करवाये जाते रहे। खलीफाओं के नाम सिक्कों पर अंकित करवाने का अर्थ यह नहीं था कि फीरोज ने खलीफा को अपना अधिराज स्वीकार कर लिया है अपितु यह केवल एक परिपाटी का पालन था।

सैय्यदों व लोदियों के सिक्कों के लेख अर्थ-हीन हैं। इन लेखों का प्रयोग केवल सिक्कों की सजावट के लिए किया गया था। उन्होंने अवसर अपने पूर्वजों के ठप्पों के अनुभाग (ऊपरी हिस्सा) का उपयोग किया और इसलिये लेख अथवा आख्यान एक दूसरे में मिल गये। इन दोनों ही वंश के शासकों ने कभी भी अब्बासी खिलाफत के साथ कोई घनिष्ठता नहीं दर्शाई।

शेरशाह ने मुहम्मद तुगलक के आख्यानों से प्रेरणा प्राप्त की। उसने अपने सिक्कों पर कलमा तथा प्रथम चार खलीफाओं के नाम अंकित करवाये। यही शैली उसके उत्तराधिकारी इस्लामशाह व मुहम्मद आदिलशाह के समय में भी अपनाई जाती रही। इनसे केवल यही परिणाम निकलता है कि वे एक परिपाटी का ही पालन कर रहे थे।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दिल्ली सुल्तानों ने ही केवल अब्बासी खिलाफत के नाम को अपने साथ सम्बद्ध किया, परन्तु इस सम्बद्धता के आधार पर उन्होंने न तो खलीफा को अपनी शक्ति का स्रोत अथवा अधिराज

सुल्तान की कठिनाइयां—सम्पूर्ण सल्तनत काल युद्ध और अशान्ति का काल रहा और सुल्तान स्वयं को कभी भी सुरक्षित स्थिति में नहीं समझ पाये। इसके अनेक कारण थे। प्रथमतः तुर्की अमीर एक दूसरे से द्वेष रखते थे। तुर्क अमीर आपस में एक जैसे स्तर का उपभोग करते आ रहे थे और इसलिये वे शक्ति को हथियाने के प्रति अधिक उत्सुक थे। यदि अमीरों ने कुतुबुद्दीन और इल्तुतमिश के समय कोई कठिनाई खड़ी न करी तो इसका एक मात्र कारण था कि सुल्तान ने स्वयं को अमीरों से अधिक योग्य सिद्ध कर दिया था और अमीरों ने यह अनुभव किया कि सुल्तान के साथ सहयोग करने में ही उनके अधिकार सुरक्षित रह सकेंगे। इल्तुतमिश की मृत्यु के बाद अमीरों ने शक्ति को हथिया लिया, और रेवर्टी के अनुसार कठपुतली शासक बनाने की नीति अपनाई। अमीर अपने में से किसी एक को सुल्तान बना भी सकते थे परन्तु वो ये सहन करने को तैयार नहीं थे कि उनमें से एक सुल्तान के पद को सुशोभित करे। इसलिये जब इज्जुद्दीन ने प्रभुसत्ता के चिन्ह धारण करने शुरू किये तो अमीरों ने उसका विरोध किया और रेवर्टी के अनुसार उसे अपने दावे को छोड़ना पड़ा। *डा. त्रिपाठी का यह मत है कि इल्तुत-*मिश के राजघराने में ताज और अमीरों के बीच सत्ता हथियाने का संघर्ष ही प्रमुख वैधानिक आकर्षण है, अधिक युक्तियुक्त नहीं लगता क्योंकि इस समय तक ताज ने अमीरों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। बलबन के मन्त्रीपद के काल में इसका बोध हो चुका था और इसलिये उसने अपने व्यक्तिगत सम्मान से सुल्तान को पृष्ठ-भूमि में ढकेल दिया। अपने समर्थकों का एक शक्तिशाली दल संगठित कर वह स्वयं सुल्तान बन बैठा। बलबन के द्वारा नासिरुद्दीन महमूद को विष देने के मत से हम सहमत न भी हों परन्तु इतना निश्चित है कि वह सुल्तान के जीते जी सत्ता का वास्तविक अधिकारी बन चुका था। बलबन के द्वारा गद्दी हथियाने के इस दृष्टान्त ने सल्तनत काल में एक परम्परा स्थापित कर दी और अनेक सुल्तान इसी नीति से प्रभुसत्ता के स्वामी बन बैठे।

इलबरी अथवा प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों की दूसरी कठिनाई देशी और विदेशी मुसलमानों के बीच बढ़ती हुई कटुता थी। इस्लाम स्वीकार करने के बाद देशी मुसलमान (नये मुसलमान) स्वयं को तुर्कों के समान ही समझते थे और प्रशासन में उनके प्रतिद्वन्द्वी थे। उन्होंने स्वयं को एक दल में संगठित कर लिया। पहली बार नासिरुद्दीन महमूद के समय में यह दल इमामुद्दीन रायहान के नेतृत्व में उभरा और लगभग एक वर्ष तक सत्ता का उपभोग भी करता रहा, परन्तु शीघ्र ही तुर्क सचेत हो गये और यह दल शक्तिहीन कर दिया गया।

सुल्तानों की तीसरी कठिनाई थी कि वे मध्य-एशिया के किसी सम्मानित शासक-वंश से सम्बन्धित नहीं थे। इसलिये उनमें कोई वंश की प्रतिष्ठा नहीं थी। प्रारम्भिक तुर्क सुल्तान मुहम्मद गोरी की नौकरशाही के उपज थे। क्योंकि गोरी

अनेक गुलाम थे इसलिये जब इल्तुतमिश सुल्तान बना तो स्वाभाविक रूप से उसे अपने सह-दासों के साथ कुछ समझौता करना पड़ा। इसका अर्थ ताज की पृष्ठभूमि में अमीरों की शक्ति को मान्यता देना था। बलबन ने अमीरों की शक्ति का पूर्णतया विनाश कर दिया क्योंकि वह उनके अक्खड़पन को सहन करने के लिये तैयार नहीं था। वह यह अनुभव करता था कि सुल्तान की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित करने के लिये गुलामों की शक्ति का दमन करना एक आवश्यक शर्त है। अपने वंशानुगत अधिकार की निम्नता को समझकर ही उसने स्वयं को अफ्रासियाब का वंशज बताया और ईरानी दरबार की साज सज्जा व परिपाटियों को अपनाकर सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित किया। इस प्रकार उसने अपनी हीनता को छिपाकर सुल्तान को मर्यादित किया।

सुल्तान के अधिकार तथा कर्त्तव्य— सुल्तानों की इन कठिनाइयों के विवेचन के बाद उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन आवश्यक है। शासन में सुल्तान कार्यपालिका का अध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, विधि निर्माता व मुख्य न्यायाधीश था। राज्य की समस्त शक्तियाँ उसके हाथों में केन्द्रित थीं और वह सम्पूर्ण प्रजा का शासक ही नहीं अपितु मुस्लिम वर्ग का धार्मिक नेता भी था। मुस्लिम विधि-शास्त्रियों के अनुसार उसके निम्न कार्य थे—(1) इस्लाम की सुरक्षा करना, (2) प्रजाजनों के विवादों और मतभेदों को निपटाना, (3) इस्लाम के भू-प्रदेशों की रक्षा करना तथा यात्रियों के लिये यातायात को सुरक्षित रखना (4) फौजदारी कानूनों को लागू करना तथा उन्हें बनाये रखना, (5) मुस्लिम राज्य की सीमाओं को आक्रमण-कारियों के विरुद्ध दृढ़ बनाना, (6) काफिरों के विरुद्ध जिहाद छेड़ना, (7) राज्य-करों को एकत्रित करना, (8) राज्य कोष से सुपात्रों को भत्ता, वजीफा आदि देना, (9) ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति करना जो उसे न्यायिक व सार्वजनिक कार्यों को पूरा करने में सहयोग दे तथा (10) सार्वजनिक मामलों पर कड़ी निगरानी रखना और व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा लोगों की दशा की जानकारी रखना।

सुल्तान की इस अधिकार-सूची को देखकर सहज ही में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह पूर्णतया स्वेच्छाचारी था, जिस पर कोई प्रतिबन्ध न था और जिसके आदेश ही कानून थे। डा० कुरैशी[1] ने ठीक ही लिखा है कि, "सुल्तान सार्वजनिक मामलों का नियन्त्रण करता है, अधिकारों की रक्षा करता है, दण्ड-विधान को लागू करता है। वह एक ऐसा ध्रुव तारा है जिसके चारों ओर शासन चक्कर काटता है।" व्यावहारिक रूप में सुल्तान द्वारा इन अधिकारों का स्वेच्छापूर्वक उपयोग करना संदिग्ध है। उसकी शक्ति पर अनेक प्रकार के अंकुश थे।

वह अपनी प्रजा के व्यक्तिगत व धार्मिक कानूनों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। मुस्लिम और हिन्दू वर्गों की अपनी-अपनी विधि-व्यवस्थायें थीं जिनमें वे

---

1. आई एच कुरैशी, द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ द सल्तनत ऑफ देहली, पृ 49

सुल्तान के हस्तक्षेप को स्वीकार करने को तत्पर न थे। इसके साथ ही इस्लाम-समर्थकों की संख्या कम होने के कारण उन्हें स्थानीय शासन में हस्तक्षेप का कम ही अवसर मिल पाता था। अमीरों की शक्ति सुल्तान की निरंकुशता पर अधिक प्रभावशाली थी और यदि डा. कुरैशी के मत को स्वीकार किया जावे तो, "यूरोप में किसी भी सामन्त ने शाही शक्ति को इतना अंकुशित नहीं किया जितना कि भारत के अमीरों ने किया था।" बलबन को छोड़कर इस काल में समस्त शासकों पर ये अंकुश बने रहे। वही केवल एक ऐसा इल्बरी हुआ जिसने मनमाने ढंग से शासन किया परन्तु इसके बाद भी उसने धार्मिक अंकुश को ठुकराने की कोशिश नहीं की।

वजीर व अन्य मन्त्री—सुल्तान अपने कार्यों को पूरा करने के लिये वजीर व अनेक मन्त्रियों की सहायता लेता था। शासन का इतना भार उठाना किसी भी शासक के लिये सम्भव नहीं था और फिर मुस्लिम विधिशास्त्रियों ने इस बात पर बल दिया था कि स्वयं ईश्वर ने भी पैगम्बर को अपने अनुयायियों से सलाह लेने का आदेश दिया था। परन्तु कहीं पर भी उनको जनता के प्रतिनिधियों के रूप में अथवा जनता के प्रति उत्तरदायी होने के रूप में नहीं दर्शाया गया था। वे केवल सुल्तान की इच्छा पर ही नियुक्त किये जाते थे और उसकी इच्छा तक ही अपने पद पर बने रहते थे। सुल्तान उनके परामर्श को इसलिये नहीं सुनते थे कि वे इसके लिए बाध्य थे अपितु इसलिये कि वे इसे बुद्धिमत्तापूर्ण नीति मानते थे और क्योंकि मन्त्रियों को अपने विभाग से सम्बन्धित दीर्घकालीन अनुभव हुआ करता था और वे अपने विभाग की बारीकियों से भिज्ञ थे। मन्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं थी, क्योंकि इल्बरी वंश के समय मे तुर्कों की संख्या काफी कम थी इसलिये मन्त्रियों को एक से अधिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करना पड़ता था और इसी कारण उनके कर्त्तव्यों की सूची में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं थी। सुल्तान के मन्त्रियों में वजीर के अतिरिक्त तीन मन्त्री प्रमुख थे— दीवान-ए-आरिज, दीवान-ए-इंशा व दीवान-ए-रसालत। कुछ सुल्तानों के समय में नायब-ए-मुमालिकात का नया पद भी स्थापित किया गया था।

वजीर (दीवान-ए-वजारत)—समस्त युग में वजीर का पद स्थायी रूप से बना रहा। इल्तुतमिश के समय में वजीर का पद अधिक निखरा। उसके प्रथम वजीर को निजामुलमुल्क की उपाधि से सम्बोधित किया जाता था। वह एक योग्य सैनिक था परन्तु उसका दूसरा वजीर फखरुलमुल्क एक वयोवृद्ध व्यक्ति था जिसका अर्थ था कि इल्तुतमिश ने सैनिक गुणों की अपेक्षा अनुभव और योग्यता पर अधिक बल दिया था। इस आधार पर डा. त्रिपाठी का मत है कि इल्तुतमिश के समय में वजीर का स्वरूप स्पष्टतः प्रमाणित नहीं हो पाया था। इल्तुतमिश के कमजोर उत्तराधिकारियों के समय में वजीर की शक्तियों में वृद्धि हुई और उसी अनुपात में शासन की शक्ति में कमी आई। बहरामशाह व अलाउद्दीन मसूदशाह के शासन काल

में वजीर ने अत्यधिक शक्ति प्राप्त कर ली और इसीलिये अमीर आदि उसके विरोधी हो गये।

मुस्लिम राजनीतिक विचारकों ने वजीर के पद को अत्यधिक महत्व दिया है। डा. त्रिपाठी के अनुसार वजीर के बगैर कोई भी राज्य स्थायी और समृद्ध नहीं हो सकता। मुख्यतः वजीर चार प्रशासनिक विभागों के अध्यक्षों में से एक था परन्तु वजीर होने के नाते दूसरों की अपेक्षा उसका पद अधिक सम्मानित था। उसका विभाग दीवान-ए-वजारत कहा जाता था। सुल्तान का प्रमुख सलाहकार होने के नाते सुल्तान उसके लिए सुलभ था।

वजीर के सामान्य कार्यों का वर्णन आदाबुल मुल्क ने इस प्रकार किया है—राज्य की सभी प्रकार आमदनी है कि अभियानों का महत्व किस प्रकार किया जाय अन्य प्रदेशों को किस प्रकार विजित किया जाय खेतिहर देश को समृद्ध बनाना, कार्य नियमित करना, अधिकारियों व कर्मचारियों को नियुक्त करना, कारखानों में वस्तुओं का लेखा जोखा रखना सेना और कलाकारों का एकत्र करना, धर्मपरायण लोगों और विद्वानों की देखभाल करना तथा उन्हें वृत्ति देना विधवाओं और अनाथों की रक्षा करना, कार्यालयों को संगठित करना और उनकी प्रभावशीलता को बनाये रखना आदि।

इस लम्बी सूची से यह स्पष्ट है कि वह शासन का कर्णधार था, परन्तु इन सामान्य उत्तरदायित्व के अतिरिक्त उसका निकट का सम्बन्ध वित्त मन्त्रालय से ही था। इस आधार पर लगान लगाने, कर-व्यवस्था को उचित रूप में बनाये रखने के लिये ही वह अधिक सक्रिय था। क्योंकि उसका कार्य-क्षेत्र अधिक व्यापक था इसलिये उसकी सहायता के लिये नाइब वजीर व लेखा परीक्षा के लिये मुशरिफ-ए-मुमालिक व मुस्तौफी-ए-मुमालिक हुआ करते थे। राजस्व विभाग के अतिरिक्त वह राज्य की समस्त शासन-व्यवस्था पर नजर रखता था। सुल्तान के बाद वह सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति था।

जब कभी नाइब का पद स्थापित हुआ तब सदैव ही वह वजीर से अधिक शक्ति का उपभोग करता रहा। बहरामशाह के समय में इख्तयारुद्दीन ऐतगीन और नासिरुद्दीन महमूद के समय में बलबन इस पद पर रहे। जब बलबन स्वयं सुल्तान बना तो वह नाइब को किसी भी रूप में शक्तिशाली देखने को तैयार न था इसलिये नाइब उन्हीं अधिकारों का उपभोग करता रहा जिनको बलबन ने उसे दिया था।

दीवान-ए-आरिज—यह राज्य की सेना का अध्यक्ष था। क्योंकि दिल्ली सल्तनत मुख्यतः एक सैनिक शासन था, इसी से इस पद की महत्ता आंकी जा सकती है। उसका प्रमुख कार्य सैनिकों की भर्ती करना, उनकी साज-सज्जा तथा युद्ध-कौशल को देखना था। वही सेना का वेतन-सम्बन्धी सर्वोच्च अधिकारी भी था। आरिज पदेन रूप में प्रधान सेनापति नहीं था क्योंकि अनेक अभियानों में उसे सेनापति के सहायक के रूप में भेजा जाता था।

दीवान-ए-इंशा—शाही घोषणाओं और पत्रों के मसविदे (प्रारूप) तैयार करना इस विभाग का कार्य था। इसी के द्वारा सुल्तान के फरमान जारी किये जाते थे। यह विभाग केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन के बीच कड़ी था और इसलिये इसके अध्यक्ष 'दबीर-ए-मुमालिक' को बड़ी ही सतर्कता से काम करना पड़ता था और विशेषकर उस समय जबकि सल्तनत के विभिन्न भागों में षड्यन्त्र करना एक साधारण सी बात थी। प्रो. हबीबुल्ला के अनुसार 'फतहनामा' लिखने का काम भी इसी विभाग के अन्तर्गत होता था।

दीवान-ए-रसालत—इस विभाग के कार्य-क्षेत्र के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। प्रो. हबीबुल्ला की मान्यता है कि यह विभाग विदेशी मामलों से सम्बन्धित था। अतः उसका कार्य-क्षेत्र कूटनीतिक पत्र-व्यवहार और विदेशों में राजदूतों को नियुक्त करने तथा विदेशों के राजदूतों की सुख-सुविधा का ध्यान रखने का था। डा. कुरैशी[1] का मत है कि इस मन्त्रालय का सम्बन्ध धार्मिक विषयों से था और धार्मिक व्यक्तियों तथा विद्वानों को जो वृत्ति दी जाती थी, उसकी व्यवस्था इस विभाग द्वारा की जाती थी। डा. ए. एल. श्रीवास्तव, प्रो. हबीबुल्ला के मत को मानते हैं क्योंकि सल्तनत काल में एक ही काम के लिये दो अधिकारियों का रखना उचित नहीं मालुम पड़ता है। धार्मिक कार्यों के लिये सदर-उस-सूदर था इसलिये इस मन्त्रालय के अन्तर्गत यह कार्य सम्भव नहीं मालुम पड़ता है।

इन चार मन्त्रालयों के अतिरिक्त काजी मुमालिक का विभाग भी अत्यन्त महत्वपूर्ण था। वह न्याय-विभाग का अध्यक्ष था और इसी के साथ धर्म सम्बन्धी कार्यों की भी देखभाल करता था। इस अन्तिम स्थिति के संदर्भ में उसे सदर-उस-सूदर कहा जाता था। राज्य का दान-विभाग उसी के अधीन होता था। धार्मिक पुरुषों जैसे मुल्ला-मौलवियों, साधु-सन्तों, अनाथों और अपाहिजों को दान आदि देने की व्यवस्था वही करता था। जन-साधारण को धर्मानुयायी बनाये रखने के कार्य को देखभाल भी वही करता था। इस विभाग का सम्पूर्ण धन केवल मुस्लिम जनता के लाभ के लिये ही खर्च किया जाता था।

इनके अतिरिक्त राज्य मे अनेक अधिकारी थे, जिनमें वकील-ए-दर शाही महल और सुल्तान के व्यक्तिगत सेवकों का प्रबन्ध करता था। इस आधार पर वह सुल्तान के अधिक निकट था और अप्रत्यक्ष रूप से सुल्तान को प्रभावित करता था। उसके बाद अमीर-ए-हाजिब था जो दरबारी औपचारिकता को लागू करता था। वह अमीरों और अधिकारियों को उनकी श्रेणी के अनुसार क्रमबद्ध रखता था तथा दरबारी उत्सवों की प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये उत्तरदायी था। वह सुल्तान और निम्न श्रेणी के पदाधिकारियों तथा जनता के बीच मध्यस्थ का काम भी करता

1. आई. एच. कुरैशी, वही, पृ. 85

था। नकीब और सरजांदार भी महत्वपूर्ण अधिकारी थे। प्रमुख नकीब राजकीय शोभायात्रा (जुलूस) के आगे चलता था और उसके पीछे अनेक उसके सहयोगी हुआ करते थे। ये सुल्तान की उपस्थिति की जोर जोर से घोषणा किया करते थे। सरजांदार सुल्तान के अंगरक्षकों का प्रमुख था। उसके सहायक के रूप में अनेक जांदार हुआ करते थे। बरीद-ए-मुमालिक सुल्तान के गुप्तचर विभाग का प्रधान अधिकारी था। उसकी सहायता के लिए वाकिया नवीस, खबर नवीस व वाकिया निगार नामक सहायक अधिकारी हुआ करते थे। ये अपने प्रधान के माध्यम से सुल्तान को सभी सूचनाओं और घटनाओं की जानकारी देते थे। अन्य अधिकारियों में अमीर-ए-आखुर (अश्वशाला का अध्यक्ष), शाहीनफीलों (हाथियों का अध्यक्ष) आदि हुआ करते थे।

इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि इस काल में एक निश्चित तथा व्यवस्थित शासन प्रणाली का जन्म न हो सका परन्तु फिर भी एक ऐसी व्यवस्था जरूर स्थापित हो सकी जो सल्तनत को बनाये रखने में समर्थ रही।

गुप्तचर व्यवस्था—प्रशासन का स्वरूप सैनिक होने के कारण गुप्तचर व्यवस्था का इसमें अत्यधिक महत्व था। बलबन की सफलता का मुख्य आधार ही गुप्तचर व्यवस्था थी। उसने अपने पुत्रों इक्तादारों सैनिक व प्रशासनिक अधिकारियों—सभी पर गुप्तचर नियुक्त कर रखे थे। गुप्तचरों के साथ कठोरता के व्यवहार का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि बदायूं के इक्तादार हैबतखाँ ने जब अपने एक दास को जान से मार दिया तब गुप्तचर द्वारा इसकी सूचना न दिये जाने पर उसे मृत्यु दण्ड दिया गया। गुप्तचरों को यह सुविधा थी कि वे सुल्तान से सीधा सम्पर्क कर सकते थे परन्तु इसके बाद भी किसी गुप्तचर को खुले रूप में दरबार में सुल्तान से मिलने की आज्ञा नहीं थी। सुसंगठित गुप्तचर व्यवस्था बलबन के शासन का सुदृढ़ आधार थी।

प्रान्तीय व स्थानीय शासन का विकास

दिल्ली सल्तनत अपने स्थापना-काल के प्रारम्भिक वर्षों में मुख्य रूप से विस्तार और सुरक्षा की जटिल समस्याओं में उलझी हुई थी और ये समस्याएं सम्पूर्ण 13वीं शताब्दी में बनी रहीं, ऐसी स्थिति में शासन के सैनिक स्वरूप के अतिरिक्त किसी दूसरे स्वरूप की कल्पना भी नितान्त भ्रमात्मक होगा। प्रशासन का स्वरूप सुरक्षा की स्थापना के बाद ही उभर सकता था और सल्तनत अपने अस्तित्व को बनाये रखने में इतनी तन्मय थी कि सुल्तानों ने इसको योजनाबद्ध करने में कोई रुचि नहीं दिखाई। यह उनका अपना दृष्टिकोण था कि उन्होंने दृढ़ीकरण की अपेक्षा विस्तारण को अधिक महत्व दिया। साम्राज्य के विस्तार के साथ ही एक केन्द्र से शासन को सुव्यवस्थित करना और भी असम्भव हो गया और विशेषकर मध्ययुग में जबकि शक्ति शासन की सहचरी थी तथा द्रुतगति के आवागमन के साधनों का अस्तित्व नाम मात्र का था।

समस्या के निराकरण हेतु केवल यही विकल्प सुल्तानों के सम्मुख था कि राज्य को छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित कर दिया जावे और इसके लिये उन्होंने अपनी मातृभूमि तथा फारस के शासकों के आदर्श पर इकाइयां बनाना उपयोगी समझा जो कि पहले से ही पंजाब में गजनवियों द्वारा स्थापित की जा चुकी थीं, तथा जिनसे भारतीय भी अपरिचित नहीं थे। खलीफाओं ने भी अपने वृहत राज्य को विभिन्न इकाइयों में विभाजित कर रखा था और उन्हें अमीरों अथवा आमीलों (गवर्नर) के नेतृत्व में रखा था। नवागन्तुक तुर्कों के लिये उसी व्यवस्था को जिससे कि वे परिचित थे, अपना लेना सहज स्वाभाविक था। इसलिये ऐसे क्षेत्रों में जो कि पूर्ण-रूपेण एक विजेता के कार्य-क्षेत्र में आते थे उन्होंने फारस की संस्थाओं को स्वीकार किया तथा बाकी क्षेत्रों को उन्होंने अछूता ही छोड़ दिया। सल्तनत काल में आवश्यक प्रशासन व्यवस्था अथवा भू-राजस्व में उन्होंने कोई श्लाघनीय परिवर्तन नहीं किया। यह आशा करना कि तुर्क आक्रमणकारी शासन के प्रतिदिन के विवरण से भिज्ञ होंगे, दुराशा मात्र थी और यदि यह स्वीकार कर भी लिया जावे तब भी क्या ये सम्भव था कि उनको सैनिक कार्यों से मुक्ति दे प्रशासकीय कार्यों में लगाया जावे। इसके अतिरिक्त शासन की व्यवस्था न तो किसी निश्चित अवधि में ही और न ही व्यक्ति-विशेष के नेतृत्व में की गई। नवस्थापित तुर्की राज्य की मानव शक्ति (man-power) अत्यधिक सीमित थी और इसलिये समस्त साम्राज्य के विभिन्न भागों में एक ही प्रकार के प्रशासन को लागू करना सम्भव ही नहीं था। इसी आधार पर प्रारम्भिक तुर्क वंशजों के समय में प्रान्तीय शासन केवल एक ढीला-ढाला ढांचा बना रहा जिसका आधार मात्र सैनिक अधिकार था। प्रारम्भिक तुर्कों को शासन-व्यवस्था मूलरूप से प्रयोगों की एक शृंखला थी जो शासन में व्यापक रूप धारण करने में असमर्थ रही।

इन परिस्थितियों में तुर्कों ने अब्बासिद खलीफाओं की संस्थाओं को अपनाकर राज्य को विभिन्न भागों में बांट दिया और जैसा कि खलीफा के समय में प्रचलित था, उसी आधार पर इन भागों को अधिकारियों, (गवर्नरों) के अधीन रख दिया। ये योग्यता तथा शासकों की शक्ति के अनुपात में अधिकारों का उपयोग करते थे। स्वाभाविक है कि दूरस्थ प्रान्त के अधिकारी अधिक दूरी के कारण अधिक अधिकारों का उपयोग करते थे और साधारण रूप से उनका व्यवहार अर्ध-स्वतन्त्र शासक के समान होता था। अधिकारों के उपयोग की इस विभिन्नता को ध्यान में रखकर ही विधि-शास्त्रियों ने गवर्नरों को दो वर्गों में विभाजित किया है। मावर्दी के अनुसार ये असीमित अधिकार वाले तथा सीमित अधिकार वाले गवर्नर थे, जो इमारत-ए-खास व इमारत-ए-आम की संज्ञा से सम्बोधित किये जाते थे।

मुक्तियों का वर्गीकरण तथा अधिकार—इमारत-ए-आम के अधिकारों की विवेचना करने पर हम कह सकते हैं कि उनके प्रमुख कार्य ये थे—वे समस्त

प्रान्त के सैनिक काम काज के प्रति उत्तरदायी थे जिसके अन्तर्गत सैनिकों के वेतन को निश्चित करना तथा विभिन्न स्थानों पर नियुक्ति करना 2. काजियों को मनोनीत करना 3. हाजियों व मक्का की यात्रा के लिये मार्ग-साधन की व्यवस्था करना तथा उन्हें भेजना, जुम्मा तथा ईद की सार्वजनिक नमाजों का नेतृत्व करना 4. काफिरों के विरुद्ध जिहाद करना तथा लूट की सम्पत्ति को सैनिकों में बाटना तथा लूट में से 1/5 भाग सरकारी कोष के लिये सुरक्षित रखना 5 सार्वजनिक सुरक्षा का अनुरक्षण (maintenance) तथा आध्यात्मिक मामलों को किसी तलवार से सुरक्षित रखना 6 करों तथा चुंगी का लगाना व कर वसूल करने वालों की नियुक्ति करना तथा 7 पुलिस की व्यवस्था करना और शान्ति व्यवस्था तथा सार्वजनिक सदाचार को बनाये रखना।

गवर्नर के इन अधिकारों की विवेचना से यह अनुमान लगा लेना कि वे सर्वशक्तिशाली शासक थे किसी प्रकार से नीति-संगत नहीं होगा। असीमित अधिकार वाले गवर्नर न केवल शासन अपितु धार्मिक-कृत्यों के प्रति भी उत्तरदायी थे क्योंकि जहाँ एक ओर उन्हें प्रशासन की व्यवस्था करनी पड़ती थी वहाँ दूसरी ओर सार्वजनिक नैतिक जीवन व हाजियों की यात्रा की सुख सुविधा को जुटाना तथा काफिरों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा करना उनका कर्त्तव्य माना जाता था। क्योंकि धर्म सम्बन्धी मामलों में स्वयं खलीफा सर्वश्रेष्ठ था इसलिये यह अंकुश काफी मात्रा में क्रियाशील था। उस समय की परिस्थितियों में यह सर्वमान्य था क्योंकि धर्म-निरपेक्ष राज्य की कल्पना का मुस्लिम जगत में जन्म भी नहीं हो पाया था। इस धार्मिक अंकुश के अतिरिक्त प्रशासकीय अंकुशों की भी कमी नहीं थी। विधि-वेत्ताओं की मान्यता है कि ऐसा गवर्नर भी खलीफा द्वारा निर्धारित किये सैनिकों के वेतन में वृद्धि नहीं कर सकता था और यदि अत्यावश्यकता के कारण कोई बढ़ोतरी कर भी दी गई हो तो यह केवल अस्थाई थी जब तक कि खलीफा द्वारा इसकी स्वीकृति प्राप्त न कर ली जावे। गवर्नर के ये अधिकार-क्षेत्र में था कि वह सैनिकों के वयस्क पुत्रों को वार्षिक वृत्ति प्रदान कर दे अथवा सैनिकों को स्वतन्त्र रूप से पुरस्कार प्रदान करे। वित्तीय क्षेत्र में गवर्नर को शासन के खर्च तथा सैनिकों के वेतन के पश्चात् समस्त बचत को खलीफा को प्रेषित करनी पड़ती थी परन्तु वास्तविकता यह थी कि प्रान्तों की आय शासन-व्यवस्था के लिये अपर्याप्त थी और गवर्नरों को केन्द्रीय कोष से धन लेना पड़ता था। परन्तु इससे अधिक सक्रिय अंकुश उसका स्वयं की नियुक्ति से सम्बन्धित था। यदि गवर्नर की नियुक्ति स्वयं खलीफा के हाथों ही हुई हो तो वह खलीफा की मृत्यु के बाद भी अपने पद पर आसीन रहता था, परन्तु यदि वह किसी असीमित अधिकार-युक्त वजीर के द्वारा नियुक्त किया गया हो तो वजीर के पदच्युत होने अथवा उसकी मृत्यु पर गवर्नर की सेवाओं को भी समाप्त कर दिया जाता था, यदि इस बीच उसकी नियुक्ति की पुष्टि खलीफा द्वारा प्राप्त न कर ली गई हो।

सीमित अधिकार वाले गवर्नर इतने विस्तृत अधिकारों का उपभोग नहीं करते थे। उसे केवल सैनिकों की देखरेख करना, विद्रोहियों तथा अपराधियों को दंडित करना तथा गृह-सुरक्षा के अधिकार प्राप्त थे। उसे न्याय प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने अथवा करों की उगाही का अधिकार न था। नमाजों का नेतृत्व करना अथवा जनता के आध्यात्मिक नेता के रूप में कार्य करने का उसका अधिकार नहीं था। काजी व राजस्व अधिकारियों की नियुक्ति भी स्वयं सुल्तान द्वारा होती थी इसलिये इनमें भी उसका प्रभाव शून्य ही था। फौजदारी मामलों में भी उसके अधिकार अत्यधिक सीमित थे, क्योंकि ऐसे समस्त मामले जिनमें धार्मिक कानूनों का उल्लंघन होता था वे सभी काजी के न्याय-क्षेत्र में माने जाते थे। दूसरे फौजदारी मामलों में वे तब ही हस्तक्षेप कर सकते थे जब कि अपकृत (aggrieved) पार्टी उसके सम्मुख अपनी शिकायत प्रस्तुत करे। अपील सम्बन्धी मामलों में वह केवल उसी समय हस्तक्षेप कर सकता था जबकि कोई निर्णय घोषित कर दिया गया हो।

इन दो श्रेणियों के गवर्नरों के अतिरिक्त विधि-शास्त्रियों ने एक तीसरे प्रकार के गवर्नरों का भी विवेचन किया है और इसको 'इमारत-ए-इस्तिला' कहा जाता था। ये वे गवर्नर थे, जिन्होंने अनाधिकार रूप में यह पद प्राप्त कर लिया था। ऐसे व्यक्ति को कानूनी गवर्नर स्वीकार करने के लिये विधि-शास्त्रियों ने कुछ शर्तों को पूरा करने पर महत्व दिया है, जो कि एक प्रकार से खलीफा तथा उसके बीच एक अनुबन्ध था। अपने अनाधिकार को वैध स्वीकार करवाने हेतु उसे निम्न शर्तों को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी—

1 समस्त मुस्लिम सम्प्रदाय के धार्मिक नेता के रूप में खलीफा के सम्मान और वैभव को सुरक्षित रखना;

2. सार्वजनिक रूप में खलीफा के प्रति समर्पण प्रदर्शित करना;

3. खलीफा द्वारा धार्मिक पदों पर (काजी और ईमाम) मनोनीत व्यक्तियों का सम्मान करना;

4. इस्लाम के साधारण मामलों में सहायता करना;

5 धार्मिक कानूनों के अन्तर्गत लगाये गये करों की न्यायोचितता व निष्पक्षता की जांच करना;

6. फौजदारी न्याय पर निगाह रखना तथा सर्व-साधारण को सच्चे धर्म के प्रति निष्ठा रखना तथा वर्जित चीजों से दूर रखना।

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि विधि-शास्त्रियों ने गवर्नर की समस्त कार्यवाहियों के लिये कुछ कानूनी प्रतिबन्ध लगा रक्खे थे, तथा साथ ही अनाधिकार को कानूनी रूप देने के लिये भी उचित शर्तें विद्यमान थी। परन्तु वास्तविक रूप में ये समस्त वर्गीकरण केवल सैद्धान्तिक था क्योंकि गवर्नरों के अधिकार उनकी व्यक्ति योग्यता, खलीफा की शक्तिहीनता अथवा प्रान्तों की केन्द्र से दूरी के आधार पर घट-बढ़ जाती थी।

सल्तनत काल में तीनों ही प्रकार के गवर्नर विद्यमान थे। लखनौती अपनी पृथकता तथा दूरी के कारण अधिक समय तक एक स्वतन्त्र गवर्नर के समरूप अधिकारी के हाथ में ही रहा। बलबन ने तुगरिल के विद्रोह को दबाने के बाद भी बंगाल को प्रत्यक्ष रूप से अपने अधिकार-क्षेत्र में नहीं लिया और वह अपने पुत्र बुगरा खां को एक अर्ध-स्वतन्त्र गवर्नर के रूप में नियुक्त कर ही सन्तुष्ट रहा। अलाउद्दीन ने दक्षिण के राज्यों से वार्षिक कर प्राप्त कर ही संतोष किया और उन्हें आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र छोड़ दिया। अलाउद्दीन बंगाल के कैकाउस द्वारा उसके अधिराज्य (suzerainty) की स्वीकृति पर संतोष कर तीसरे वर्ग के गवर्नरों के पद को मान्यता दी।

इक्ताओं का विभाजन—तथाकथित प्रान्तों की संख्या व सुल्तानों से सम्बन्ध उनके द्वारा अपनाई गई साम्राज्यवादी नीति तथा समकालीन परिस्थितियों का परिणाम था। समस्त सल्तनत काल में राज्य-विस्तार की निरन्तर प्रक्रिया चलती रही और उसी के अनुसार प्रान्तीय व्यवस्था में परिवर्तन होता रहा। इल्बारी तुर्क मुख्य रूप से अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के प्रयत्न में लगे रहे, क्योंकि तुर्की-परतन्त्रता के जुए को उतार फेंकने के लिये सतत् प्रयत्न चलते रहे थे। बलबन जैसे शासक को भी जो राज्य विस्तार के लिये अधिक इच्छुक था, अपनी पूर्वी सीमा पर बंगाल में बुगरा खां को रखकर संतुष्ट रहना पड़ा। अपने राज्य में होने वाले विभिन्न उपद्रवों को दबाने में उसकी शक्ति का ह्रास हो गया। अलाउद्दीन के सत्ता प्राप्ति के साथ ही पुरानी नीति का बहिष्कार कर साम्राज्यवादी नीति को अपनाया और राजपूताना, गुजरात, मालवा आदि के कुछ भाग साम्राज्य के अन्तर्गत लिये। दक्षिण के हिन्दू शासकों से अपना आधिपत्य स्वीकार करवा कर तथा उन्हें करद राज्य बनाकर ही उसे संतोष करना पड़ा। बरनी के अनुसार उसने मलिक काफूर को स्पष्ट आदेश दिया था कि वह दक्षिण के शासकों से वार्षिक कर प्राप्त करे तथा रामदेव और रुद्रदेव के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करे। उसने राजा रामचन्द्र देव को एक प्रकार से दक्षिण के प्रदेशों का वाइसराय भी नियुक्त किया और उसकी मृत्यु के बाद कुछ समय तक मलिक काफूर भी दक्षिण में रहा। मुबारक शाह खल्जी ने अपने पिता की नीति का परित्याग कर दक्षिण के राज्यों पर प्रभावपूर्ण अधिकार जमाने के लिये मुस्लिम गवर्नरों की नियुक्ति की।

प्रथम दो तुगलक शासकों ने मुबारक शाह की नीति का अत्यन्त कठोरता से पालन कर दक्षिण की प्रशासकीय व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन किया जो राज्य के लिये घातक सिद्ध हुआ। दक्षिण पर प्रभावपूर्ण अधिकार बनाये रखने के लिए ही मुहम्मद तुगलक ने देवगिरी को अपनी राजधानी बनाने का प्रयोग किया और इस प्रयोग की असफलता के साथ ही बरनी के अनुसार दक्षिण का प्रदेश उसके हाथों से निकल गया। जीवन-पर्यन्त वह अपने साम्राज्य के दूरस्थ प्रदेशों का दमन करने में असफल रहा। फीरोज तुगलक इस विघटन की प्रक्रिया पर अंकुश लगाने में असमर्थ

रहा और सल्तनत केवल पंजाब, मुल्तान और दोआब में ही सीमित होकर रह गई। उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के समय में विघटन की प्रक्रिया पूर्ण हुई।

इस आधार पर हम यह परिणाम निकालते हैं कि सल्तनत काल में प्रशासकीय प्रयोजन के लिये निम्न तीन प्रकार के प्रदेश थे:—

1. मुल्तान, पूर्वी पंजाब तथा दोआब, 2. गुजरात, मालवा बिहार व बंगाल, 3. करद राज्य जो नाममात्र के लिये सुल्तान के आधिपत्य को मानते थे।

तीन प्रकार के प्रदेशों ने निम्न तीन ही प्रकार के प्रान्तों को जन्म दिया—

1. प्रान्त जो छोटे थे तथा जिन पर सुल्तानों का निरीक्षण व नियन्त्रण अधिक था। इन कथाकथित प्रान्तों के गवर्नरों को 'वली' व 'मुक्ति' कहते थे तथा वे इमारत-ए-आम के अधिकारों का उपभोग करते थे।

2. दूसरी श्रेणी में वे प्रान्त थे जो केन्द्र से दूर स्थित थे और इसीलिये सुल्तानों के व्यक्तिगत निरीक्षण से मुक्त थे। इनके गवर्नरों को 'वली' व 'नायब' कहते थे, तथा कभी-कभी उन्हें सल्तान की संज्ञा से भी विभूषित किया जाता था। ये इमारत-ए-खास के अधिकारों का उपभोग करते थे। कभी-कभी दूरस्थ प्रदेशों के गवर्नर बगैर केन्द्र द्वारा नियुक्त किये हुये गवर्नर के पद को हथिया लेते थे। ऐसे गवर्नर अपहरणकर्ता की श्रेणी में आते थे और क्योंकि सुल्तानों के पास इनको गवर्नर स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था, इसलिये वो इन्हें अपनी स्वीकृति दे देते थे।

3. तीसरी श्रेणी में स्वायत्त राज्य थे जो सुल्तान को वार्षिक कर चुकाते थे।

दूसरी श्रेणी के प्रदेश वास्तविक रूप में राज्य के अन्तर्गत राज्य थे। बंगाल, दक्षिण व गुजरात इसी श्रेणी में थे। अलाउद्दीन के राज्य काल में बंगाल एक ऐसा दण्डात्मक प्रदेश माना जाता था जहाँ ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी जिनकी उनकी लोकप्रियता के आधार पर केन्द्र के निकट रखना खतरनाक था। बरनी के अनुसार अलाउद्दीन ने जफर खाँ को इसी आधार पर बंगाल भेजा था। कभी-कभी बंगाल के गवर्नर सुल्तान की उपाधि भी धारण कर लिया करते थे अथवा वे अर्ध-स्वतन्त्र शासक के रूप में रहते थे, जैसा कि बलबन के समय में बुगरा खाँ के उदाहरण से स्पष्ट है। बंगाल के शासन को व्यवस्थित करने के लिये ही इसे मुहम्मद तुगलक के समय निम्न तीन भागों में बांट दिया गया था :—

(1) सतगांव (2) सोनारगांव (3) लखनौती

लखनौती में वायसराय के समरूप अधिकारी था जो सब में श्रेष्ठ माना जाता था। दक्षिण के राज्य अलाउद्दीन खलजी के समय में स्वायत्त राज्य थे परन्तु मुहम्मद तुगलक के समय में दक्षिण के प्रदेशों को चार भागों में विभाजित कर

दिया था और इन चारों भागों (देवगिरि मावार तलगाना व द्वारसमुद्र) के लिए कुतुब-उल मुल्क सरवलिम उल मुल्क युसुफ बघारा व अजीज कबर को नियुक्त किया गया था। देवगिरि को मुख्यालय बनाकर इसे एक वजीर के अन्तर्गत रखना जिसकी सहायता के लिये एक नायब वजीर नियुक्त किया गया। इमादुल मुल्क मुल्तानी को वजीर बनाया गया व धरावहार को नायब वजीर बनाया गया। देवगिरि का वजीर चारों प्रदेशों के गवर्नरों में श्रेष्ठ था तथा लखनौती के समान ही वह वायसराय के समरूप था।

सल्तनत काल में इक्ता प्रदेशों की ही संख्या अधिक थी जिस पर सुल्तान का पूर्ण प्रभुत्व था। 13 वीं शताब्दी में दोआब के प्रदेश को मेरठ बारन व कोल नामक प्रान्तों में विभाजित किया गया था। बरनी ने लिखा है कि अलाउद्दीन ने इनको दिल्ली के समरूप ही मानकर इनको केन्द्र के राजस्व विभाग के अन्तर्गत रखा। इनके पश्चात् कन्नौज और कड़ा थे। गंगा के पार अमरोहा तथा सम्भल थे बदायूँ के पूर्व में अवध और अवध के दक्षिण-पूर्व में जौनपुर था। इनके अतिरिक्त गोरखपुर तिरहुत के प्रदेश थे जिनमें अन्तिम बंगाल का प्रदेश था। दिल्ली के पश्चिम में सरहिन्द, समाना, हांसी, लाहौर, दीपालपुर व मुल्तान के प्रदेश थे। ये तीन अन्तिम प्रदेश सीमा प्रान्त थे और इनको केवल अनुभवी और योग्य मलिकों के अधीन ही रखा था। गुजरात और मालवा के प्रदेशों को अधिकतर इमारत-ए-खास के अधीन रखा जाता था। इन प्रान्तों की सीमाओं का कोई निश्चित विवरण नहीं था इसलिए दो प्रान्तों से लगी सीमाओं के गांवों की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती थी।

समकालीन इतिहासकारों ने कहीं पर भी प्रान्त शब्द का प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने 'इक्ता' व 'विलायत' शब्दों के द्वारा ही राज्य के विभाजन को दर्शाया है। प्रो. हबीबुल्ला का मत है कि इक्ता का शाब्दिक अर्थ भाग अथवा अंश है जिसमें कई प्रतीयमानतः (Seemingly) तकनीकी अर्थ निहित हैं और उसी के स्पष्टीकरण के आधार पर स्थानीय शासन का स्वरूप निश्चित हो सकेगा। राज्य के विभाजन के रूप में इक्ता' शब्द का प्रयोग सम्भवतः मध्य एशिया में प्रचलित था, जिसको कि तुर्कों ने अपना लिया। रेवर्टी ने "जागीर" के रूप में इस शब्द का प्रयोग किया है परन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि जागीरदार अपनी जागीर में प्रत्यक्ष रूप से शासक होता था, जबकि इक्ताओं पर सुल्तान का अधिकार प्रभावपूर्ण रहता था। प्रो. कुरैशी का कथन है कि, "मुक्ति" (इक्ता का अधिकारी) शब्द का प्रयोग किसी भी गवर्नर के लिए किया जाता था परन्तु वली शब्द केवल असाधारण शक्ति-युक्त गवर्नरों के लिए सुरक्षित था। ऐसे गवर्नरों की संख्या अत्यधिक सीमित थी क्योंकि सल्तनत काल में अधिकतर इक्ताओं का प्रबन्ध सीमित अधिकार वाले गवर्नरों के द्वारा ही किया जाता था।

बरनी के अनुसार सल्तनत काल में गवर्नर तत्वत: (मौलिक) रूप में परिक्षित सैनिक पटुता वाला व्यक्ति ही होता था तथा वह अपने इक्ता (प्रान्त) के प्रशासन के लिए केन्द्रीय सरकार के प्रति उत्तरदायी था। प्रान्त के लोगों का गवर्नर के अत्याचारी व्यवहार के विरुद्ध सुल्तान से अपील करने का अधिकार था जो कि उसकी दुष्टता पर सबसे प्रभावशाली अंकुश था। डा. यू. एन. डे के अनुसार सुल्तान को गवर्नर को वापिस बुलाने का अधिकार था तथा वह उसे किसी दूसरे प्रान्त में नियुक्त कर सकता था, परन्तु इस प्रकार से बुलाया जाना असम्मानजनक समझा जाता था और सुल्तान शक्ति के आधार पर ही अपने इन आदेशों का पालन करवाना पड़ता था।

मुक्ति, साधारणतया अपने इक्ता में ही रहता था परन्तु राजधानी के निकट के इक्ताओं में अनुपस्थित-मुक्तियों के अनेकों उदाहरण हैं और ऐसे इक्ताओं में नायबों के द्वारा प्रशासन चलाया जाता था जो कि कभी-कभी केन्द्रीय सरकार के द्वारा नियुक्त किये जाते थे। जैसे इल्तुतमिश ने कन्नौज के नायब को नियुक्त किया था। हिन्दू खां अपने नायब के द्वारा ही उच्छ के शासन की व्यवस्था करता था। बलबन, जब वह अमीर-ए-हाजिब था अथवा बाद में जब वह नायब-ए-ममालिकत बन गया तो उसकी उपस्थिति केन्द्र में स्वाभाविक थी और ऐसी स्थिति में उसके हांसी और सिवालिक के इक्ताओं का प्रबन्ध किसी नायब के द्वारा ही किया जाता रहा होगा। 1253 ई. में उसकी बरखास्तगी पर महमूद के अल्पायु पुत्र को हांसी का मुक्ति नियुक्त किया गया और ऐसी स्थिति में प्रशासन को चलाने के लिए किसी नायब की अवश्य ही नियुक्ति की गई होगी। बड़े क्षेत्रफल के इक्ताओं में स्वयं मुक्ति महत्व-पूर्ण नगरों व सीमा-चौकियों पर नायबों की नियुक्ति करता था। बंगाल में गनगूरी का हिसामुद्दीन एवाज द्वारा व्यवस्था करना इसका उदाहरण है। मुक्ति को अपने अधिकारियों को भूमि देने का अधिकार था, जैसा कि अवध के मुक्ति से बख्तियार को एक सैनिक इक्ता प्रदान किया था। सुल्तान की तरह ही मुक्ति माफी की भूमि दे सकता था। प्रो. हबीबुल्ला ने लिखा है कि मिनहाज-उस-सिराज को बलबन द्वारा इतने गांव प्रदान किये गये थे जिनसे 30,000 जीतल की आय होती थी।

यद्यपि मुक्ति के वेतन अथवा पारिश्रमिक का कोई विवरण नहीं मिलता है परन्तु इतना अवश्य निश्चित है कि उसे राजस्व का कोई भाग मिलता रहा होगा। सल्तनत काल में अनेकों उदाहरण मिलते हैं, जब मुक्ति ने न केवल निकट के हिन्दू प्रदेशों को जीत कर अपने इक्ता को बढ़ाने का प्रयास किया हो अपितु उन्होंने निकट-स्थित इक्ताओं को विजित कर अथवा उनकी कुछ भूमि को हथिया अपनी आमदनी बढ़ाने का प्रयास किया। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि मुक्ति का वेतन समस्त राजस्व के आधार पर ही निर्भर था। गयासुद्दीन तुगलक ने ये आदेश दिये थे कि यदि कोई मलिक अथवा अमीर अपने पद के अनुलाभ के अतिरिक्त इक्ता

की अपेक्षा प्रशासनिक गवर्नरों का महत्व बढ़ने लगा, यहां तक कि अलाउद्दीन के समय तक प्रशासनिक अधिकारी इतने शक्तिशाली हो गये थे कि वे उसके उग्र सुधारों को भी लागू करने में समर्थ थे। इसी प्रकार राजस्व अधिकारी यद्यपि मुक्ति के अधीन थे परन्तु दीवान-ए-वजारत उनके कार्यों का निरीक्षण करता था जिसको वे नियमित रूप से आय और खर्च का हिसाब भेजते थे। यदि मुक्ति वजीर के दफ्तर को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहता तो उसके साथ भद्र व्यवहार किया जाता था जब तक कि वो गबन की हुई राशि का भुगतान न कर दे। मुहम्मद तुगलक ने इसके लिये दीवान-ए-मुस्तखरिज नामक अधिकारी की नियुक्ति की थी।

समकालीन लेखकों के विवरण से यह स्पष्ट नहीं है कि मुक्ति, इक्ता की आय से शासन तथा सैनिक व्यय निकाल कर अतिरिक्त धन केन्द्रीय कोष में जमा करता था अथवा नहीं, परन्तु सल्तनत काल में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि वह अतिरिक्त धन को केन्द्रीय कोष में भेजता था। लाहौर और मुल्तान के मुक्ति को मुईजुद्दीन ने 1204 ई. में आदेश भेजे गये थे कि वो अपने राजस्व का बकाया जमा करे। इसी प्रकार से बलबन के काल में शाहजादा मुहम्मद, जो सिन्ध का वायसराय था, प्रति वर्ष अपने पिता के पास स्वयं राजस्व लाता था। अलाउद्दीन खल्जी ने भी जलालुद्दीन से अवध और कड़ा की अतिरिक्त आय से चन्देरी पर आक्रमण करने हेतु घोड़ों और नये सैनिकों को भर्ती करने की आज्ञा मांगी थी।

मुक्ति का सैनिक उत्तरदायित्व—मुक्ति एक सैनिक टुकड़ी भी रखता था जिससे इक्ता में शान्ति व्यवस्था बनाई रक्खी जा सके तथा सीमाओं की रक्षा की जा सके। केन्द्र के द्वारा उसकी इस सैनिक टुकड़ी की कभी भी मांग की जा सकती थी और मुक्ति द्वारा उसकी पूर्ति न किये जाने पर यह विद्रोह के समान माना जाता था। यद्यपि यह ठीक है कि प्रत्येक मुक्ति के लिए सैनिक सेवा करना अनिवार्य था परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसी सेवा के लिए केन्द्र के निकट स्थित मुक्तियों को ही आमंत्रित किया जाता था।

मुक्ति तथा राजस्व—राजस्व सम्बन्धी व्यवस्था के सम्बन्ध में हमें सर्वप्रथम यह अध्ययन करना पड़ेगा कि इक्ता तथा केन्द्रीय शासन के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध थे। बरनी के विवरण से हमें यह अनुभव होता है कि मुक्ति, केन्द्र को एक निश्चित धन-राशि वार्षिक रूप में प्रेषित करता था, क्योंकि गयासुद्दीन तुगलक के समय में यह स्पष्ट आदेश थे कि वित्त विभाग किसी भी इक्ता से राजस्व की बढ़ोतरी 1/10 अथवा 1/11 से अधिक न बढ़ावे। यह आदेश केवल अधिशेष राजस्व से ही सम्बन्धित था। इसका अर्थ था कि बचत अथवा अधिशेष राजस्व एक निश्चित राशि थी और इसलिये उसकी केन्द्र द्वारा प्राप्ति में बढ़ोतरी की जा सकती थी। डा. डे के अनुसार उस समय की परिस्थिति में यही उचित व्यवस्था थी

क्योंकि यदि एक निश्चित राशि मुक्तियों से प्राप्त न की जाती तो सम्भवतः वे समस्त वसूल की हुई राशि का खर्च कर देते और ऐसी स्थिति में अधिशेष राजस्व या तो नाम मात्र का बचता अथवा बिल्कुल नहीं बचता।

किसान तथा इक्ता के अधिकारियों के बीच सम्बन्ध के बारे में भी बरनी के द्वारा गयासुद्दीन के समय के विवरण से कुछ जानकारी मिलती है। सुल्तान ने ये आदेश दिये थे कि मुक्तियों को सचेत कर दिया जाय कि वे किसानों से राज्य द्वारा निर्धारित राजस्व से अधिक वसूल न करें। इसका अर्थ है कि किसानों से लिया जाने वाला राजस्व एक निश्चित धन राशि था। अलाउद्दीन के राज्यकाल को छोड़कर जबकि दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेशों को सीधे केन्द्रीय राजस्व के अधीन कर लिया गया था सम्भवतः शेष सल्तनत युग में किसानों से केवल निश्चित राजस्व ही वसूल किया जाता रहा था।

इक्ता के हिसाब आदि की जाँच के लिये एक साहिब-ए-दीवान नामक अधिकारी की नियुक्ति की गई थी जिसे साधारण रूप में 'ख्वाजा' की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। वह एक प्रवीण लेखाकार (एकाउन्टेन्ट) होता था जो वजीर की सिफारिश पर सुल्तान द्वारा नियुक्त किया जाता था। उसका यह उत्तरदायित्व था कि वह लेखा बही (एकाउन्ट) को तैयार करे तथा मुख्यालय को विस्तृत विवरण प्रस्तुत करे। वह सैद्धान्तिक आधार पर यद्यपि मुक्ति के अधीन था परन्तु व्यवहारिक रूप से सुल्तान द्वारा नियुक्त किये जाने तथा वजीर से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण इक्ता में उसकी उपस्थिति मुक्ति के अधिकारों पर एक प्रकार से अंकुश थी। ख्वाजा की सहायता के लिये मुतसर्रिफ व कारकून व आमिल आदि हुआ करते थे।

बरीद—एक वृहद् राज्य को सुव्यवस्थित रूप में चलाने के लिए तथा सुल्तान को इक्ताओं और स्थानीय अधिकारियों की गतिविधियों से अवगत कराए रखने के लिये बरीदों का होना आवश्यक था। ये बरीद अथवा खबर-नवीसों को मोटे रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक वे जो वर्तमान पत्रिकाओं के रिपोर्टर के अनुरूप थे जो राज्य को नियमित पत्र प्रेषित करते रहते थे तथा दूसरे वे जिनको विशेष रूप से किसी मिशन के लिये नियुक्त किया गया था।

सूचनाओं के संचारण हेतु उचित व्यवस्था विद्यमान थी जिसकी कि विदेशी यात्रियों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। इब्न बतूता ने लिखा है कि सिंध से दिल्ली तक सरकारी कागज पहुँचने में केवल पाँच दिन का समय लगता था जिसको पार करने में साधारण यात्री लगभग पन्द्रह दिन लिया करते थे। संचारण की व्यवस्था दो प्रकार की थी—

(1) अश्वारोही (रिले) केन्द्र प्रत्येक चार कुरोह पर स्थापित थे

(2) प्रत्येक कुरोह की एक चौथाई दूरी पर चौकियाँ स्थित थीं।

प्रत्येक चौकी पर आदमी तैनात रहते थे, जिससे वे पत्र पाते ही दूसरी चौकी पर शीघ्रातिशीघ्र पहुँचे। प्रत्येक डाक लेजाने वाले के पहुँचने की घोषणा उसके डण्डे पर बंधी हुई घण्टियों से मिल जाती थी। इस प्रकार के दस व्यक्तियों के समूह को जो प्रत्येक चौकी पर तैनात थे, 'धावाह्' कहते थे। ये व्यवस्था घोड़ों के माध्यम से संचारण की व्यवस्था से द्रुत थी, जिसको 'उलाघ' कहते थे।

सुल्तान के बरीद जो समस्त राज्य में फैले हुये थे उसे प्रत्येक प्रकार की सूचना से अवगत कराते रहते थे। वे विदेशियों के आगमन से लेकर बाजार में प्रचलित गप्प की सूचना सुल्तान तक पहुँचाते थे। राज्य के सैनिक अभियानों के संचारण के लिये विशेष व्यवस्था की जाती थी। मुहम्मद तुगलक ने इसके अतिरिक्त संकेतों के संचारण की व्यवस्था कर रक्खी थी, जिसके अन्तर्गत बड़े-बड़े कस्बों में ढोल बजाकर दूरस्थ प्रदेशों की संकट-सूचना सुल्तान तक शीघ्रातिशीघ्र पहुँचा दी जाती थी। इसके साथ ही एजेंटों और गुप्तचरों की व्यवस्था थी जो केन्द्रीय सरकार को प्रत्येक प्रकार की सूचना पहुँचाते थे। हम यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि इस संचारण व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिगत पत्रों को ले जाने की व्यवस्था थी अथवा नहीं। इस सम्पूर्ण व्यवस्था से एक परिणाम स्पष्ट है कि समस्त अधिकारी, मुक्ति से लेकर कारकून तक, इन बरीदों की उपस्थिति से आतंकित रहते थे तथा उनके अधिकारों पर ये एक सक्रिय अंकुश था। सुल्तान मुक्तियों की नियुक्ति करते समय साधारणतया बरीदों की भी नियुक्ति करते थे, जैसा कि बलबन ने बुगरा खां को समाना के इक्ता में नियुक्त करते समय बरीदों की नियुक्ति की थी जिससे कि वे वहां की स्थिति के बारे में उसे जानकारी भेजें।

प्रो. हबीबुल्ला के अनुसार इक्ता की न्यायिक व्यवस्था मुक्ति के अधिकार क्षेत्र से बाहर थी अथवा उसके किसी प्रकार के न्याय सम्बन्धी कार्य नहीं थे। अपने इक्ता में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के अतिरिक्त जो मुख्य रूप से शहरों अथवा गांवों तक ही सीमित थी, उसे किसी विशेष प्रकार की व्यवस्था इस क्षेत्र में नहीं करनी पड़ती थी।

मौरलेण्ड के अनुसार इक्ताओं को सम्भवतः 14 वीं शताब्दी में "शिक" में बांट दिया गया था, जैसे मुहम्मद तुगलक ने दक्षिण को चार शिकों में विभाजित किया था। बरनी ने मुहम्मद तुगलक के समय में इस शब्द का प्रयोग एक प्रशासकीय इकाई के रूप में किया है। फीरोज तुगलक के समय में 'शिक' एक निश्चित रूप में उभर आया जबकि हमें समाना, हिसार-फिरोजा, सरहिन्द, बयाना, ग्वालियर, मेवात आदि के शिकों का वर्णन मिलता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि शिक एक छोटी प्रशासनीय इकाई थी जिसमें अनेकों परगने (कस्बे) हुआ करते थे। बड़ी इकाई को विलायत की संज्ञा दी जाती थी। लोदियों के समय में शिक की अपेक्षा "सरकार" शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

'शिक' के अधिकारी शिकदार का शान्ति व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व था। इसके अतिरिक्त बरनी के अनुसार उसे राजस्व एकत्रित करने में आमील की सैनिक सहायता करना तथा विद्रोही मुकद्दमों और जमींदारों को कुचलना भी उसके अधिकार-क्षेत्र में थे। मशाइख तथा सादात लोगों को जो माफी की जमीन मिली हुई थी उसके प्रति अधिकारों की रक्षा करना तथा इसका ध्यान करना कि वे किसी प्रकार से सरकारी अधिकारियों द्वारा उत्पीड़ित नहीं किये जा रहे हैं इसका कर्तव्य था। सम्भवतः शिकदार को अपने प्रदेश से एकत्रित किये हुये राजस्व का कुछ भाग मिलता था जिससे कि वो अपने अन्तर्गत सैनिकों को रख सके तथा समय पर राजस्व एकत्रित करने में सहायता दे सके। प्रत्येक शिक में एक फौजदार भी रहता था।

शिकदार व फौजदार के सहायक के रूप में आमील, मुशरिफ, खजानदार और काजी आदि थे। आमील मुख्य रूप से राजस्व इकट्ठा करने के प्रति उत्तरदायी था। मुशरिफ हिसाब रखता था। कोतवाल कस्बों का एक प्रमुख अधिकारी था परन्तु वह शिकदार के अधीन था। उसका महत्व कस्बे की महत्ता पर निर्भर था।

शिक से छोटी इकाई परगना अथवा कस्बा हुआ करती थी। समकालीन इतिहासकारों ने परगने अथवा कस्बे की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं दी है। उन्होंने दोनों शब्दों को पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किया है।

राज्य की सबसे छोटी इकाई गांव हुआ करती थी। पुरानी व्यवस्था के आधार पर ही गांव सल्तनत काल में बिलकुल अछूते रहे और वंशानुगत मुखिया, मुकद्दम, खुत व चौधरी आदि के द्वारा इनकी व्यवस्था चलती रही। अलाउद्दीन खलजी के शासन काल में उनको राजस्व एकत्रित करने के कार्य से मुक्त कर दिया गया और उसी के साथ उनके समस्त अनुलाभ (perquisites) जो इस पद से सम्बन्धित थे समाप्त हो गये, परन्तु उसके बाद भी वे मुखिया के रूप में कार्य करते रहे और इस आधार पर गांव में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के प्रति उत्तरदायी बने रहे।

इस समस्त विवरण के बाद भी हम यह अनुभव करते हैं कि सल्तनत-कालीन इक्ता व्यवस्था के सम्बन्ध में पूर्ण सामग्री न मिलने के कारण यह विवरण अपूर्ण है। मुगलकालीन शासन की तरह हमें इस समय के परगनों के सम्बन्ध में कोई पत्र अथवा लेख प्राप्त नहीं हो पाये हैं, इसलिये यह केवल अनुमान अथवा परिकल्पना (hypothesis) है।

सैनिक संगठन—सुल्तानों की शक्ति उनकी सैनिक-शक्ति पर निर्भर थी इसलिये प्रत्येक सुल्तान सैनिक व्यवस्था की ओर समुचित ध्यान देता था। ऐसा करना आवश्यक भी था, क्योंकि एक ओर तो इन प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों के समय

में हिन्दू और राजपूत राजाओं से लगातार संघर्ष चल रहा था और दूसरी ओर सीमाओं पर मंगोल-आक्रमणों का भय बना रहता था।

इन परिस्थितियों के होते हुये भी कोई स्थायी सेना की व्यवस्था हमें नहीं दिखाई पड़ती है, इसलिये कि उस समय में स्थायी सेना रखने के विचार का जन्म ही नहीं हो पाया था। प्रत्येक सुल्तान अपने अमीरों और प्रान्तीय सूबेदारों के द्वारा रक्खी जाने वाली सेना पर निर्भर करता था, जिन्हें आवश्यकता पड़ने पर बुला लिया जाता था। परन्तु यह व्यवस्था सम्भवतः राजधानी के आसपास प्रदेशों तक ही लागू होगी क्योंकि दूरस्थ प्रान्तों से सैनिकों को बुलाना व्यावहारिक नहीं दिखता है। अभियानों के समय रास्ते में पड़ने वाले अथवा दूसरे प्रदेशों के सैनिकों को अभियान में सम्मिलित होने के आदेश भेज दिये जाते थे। सुल्तान की रक्षा के लिये राजधानी में कुछ अंगरक्षक अवश्य थे जिनकी संख्या सल्तनत के विस्तार के साथ ही बढ़ती गई और कालान्तर में इसी ने स्थायी सेना का रूप ले लिया। इस प्रकार यह निश्चित है कि 1290 ई. तक कोई स्थायी सेना नहीं थी।

सर्वप्रथम बलबन ने सैनिक संगठन को व्यवस्थित करने की दिशा में ध्यान दिया। लेफ्टीनेंट कर्नल गौतम ने लिखा है कि, "गयासुद्दीन बलबन सुल्तानों में प्रथम सुल्तान था जिसने अपूर्व लगन के साथ सेना का पुनर्गठन किया। उसने कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं किया, लेकिन पहली बार अत्यन्त कठोरता व सतर्कता बरती। उस काल के सन्दर्भ में, जब धर्मतन्त्र सशस्त्र सेनाओं से ही शक्ति प्राप्त करता था, बलबन ने अनुभव किया कि एक स्थायी सरकार के लिये एक शक्तिशाली सेना प्रथम आवश्यकता है। अपने शिक्षण-काल व बाद में सफल अभियानों के दौरान उसने सुदृढ़ किलेबन्दी का महत्व समझा। इसीलिये उसने सीमा के किलों पर तुर्की दस्तों को नियुक्त किया, पुराने किलों की मरम्मत करवाई और सामरिक स्थलों पर नये किले बनवाये। इन्हीं से वह मंगोलों की घुसपैठों को रोकने में सफल हुआ।"

उसने राज्य को 'इक्ताओं' में विभाजन किया तथा प्रत्येक के लिये 'मुक्ति' नामक अधिकारी की नियुक्ति की जो अपने क्षेत्र में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर सुल्तान को अपनी सैनिक टुकड़ी भेजने के लिये उत्तरदायी होता था। इन टुकड़ियों की सैनिक कुशलता का निरीक्षण करने के लिये प्रांतीय आरिज होते थे। मुक्तियों को अपने क्षेत्र से प्राप्त आय का एक बड़ा भाग वेतन के रूप में दिया जाता था। उत्तरी भारत में समाना, लाहौर, सरहिन्द, भटिंडा, हांसी, नागोर, सुनम, ग्वालियर, बयाना, भण्डावर, अमरोहा, कोल, बुलन्द शहर, कड़ा, माणिकपुर और सम्भल प्रमुख सैनिक कमानें थीं। ये किसी निश्चित पद्धति पर आधारित न थीं और न ही इनका क्षेत्रफल समान ही था। प्रत्येक मुक्ति अपनी योग्यता और शक्ति के आधार पर अधिकारों का उपभोग करता था।

सेना में चार प्रकार के सैनिक हुआ करते थे। प्रथम वह सैनिक थे जो सुल्तान के अंगरक्षकों के रूप में थे। इन्हीं में शाही गुलाम भी हुआ करते थे। इस सेना को खास खेल पुकारा जाता था। दूसरे सैनिक जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है मुक्ति के सैनिक थे। सम्भवतः प्रत्येक वर्ष में सुल्तान के निरीक्षण के लिये उपस्थित की जाती थी परन्तु साधारणतया इस नियम का कठोरता से पालन नहीं किया जाता था। तृतीय वे सैनिक थे जो केवल अस्थायी रूप में युद्ध के समय भर्ती किये जाते थे। चतुर्थ वे मुसलमान स्वयं सेवक थे जो केवल जिहाद (धर्म युद्ध) के लिये सेना में सम्मिलित कर लिये जाते थे और इन्हें युद्ध की लूट में से हिस्सा मिलता था।

सेना के मुख्य भाग में घुड़सवार सेना, हस्ति सेना व पैदल सेना थे। घुड़सवार सेना के अधिकारी मोटे रूप में अनुभवी और वफादार तुर्क ही हुआ करते थे। भारत में आने के बाद तुर्क सुल्तानों ने भी युद्ध में हाथियों का प्रयोग करना शुरू कर दिया था परन्तु हाथियों को रखना केवल सुल्तानों का विशेषाधिकार था। इनकी देखभाल के लिये एक पृथक विभाग था जिसका अधिकारी शाहना-ए-फील कहा जाता था। हाथियों को युद्ध करने की भी शिक्षा दी जाती थी। पैदल-सैनिक पायक कहलाते थे परन्तु इस युग में उनका अधिक महत्व नहीं था।

सुल्तान समस्त सेनाओं का सेनापति था परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि वह प्रत्येक अभियान का नेतृत्व करे। अधिकतर वो अपने किसी विश्वासपात्र को अभियान का नेतृत्व सौंप देता था और कठिन अभियानों में वह केन्द्र से ही उसको दिशा प्रदान करता था। बलबन ने तुगरिलखां के विरुद्ध अमीनखां को अभियान का नेतृत्व सौंपा था और लगातार असफलताओं के बाद ही उसने स्वयं नेतृत्व सम्भाला था। यह आवश्यक नहीं था कि केवल सैनिक अधिकारी ही अभियानों का नेतृत्व करें अपितु प्रशासनिक अधिकारियों को भी इसके लिये नियुक्त किया जाता था। वास्तविकता यह है कि उस काल में सैनिक तथा प्रशासनिक अधिकारियों में कोई अन्तर था ही नहीं। सुल्तान के बाद दीवान-ए-आरिज ही व्यावहारिक रूप में सेना की व्यवस्था करता था और वही प्रधान वेतन दाता भी था। सेना की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति वह सुल्तान से अनुमति प्राप्त कर पूरी करता था। इस क्षेत्र में वह वित्त विभाग के नियन्त्रण में नहीं था।

बलबन ने पहली बार सैनिक-सेवा के बदले में जागीर देने की प्रथा पर कुठाराघात किया। उसके समय तक इस प्रथा का अत्यधिक दुरुपयोग किया जाने लगा था जिससे राज्य को अधिक हानि थी। बलबन ने समस्त बूढ़ों, विधवाओं और सैनिक-सेवा के अयोग्य व्यक्तियों से जागीरें छीनने के आदेश दिये। इसके बदले उनको नकद पेन्शनें दी जाने की व्यवस्था की गई। वे लोग जो कि राज्य की सेवा करने के योग्य थे उनके पास उनकी जागीरें रहने दी गईं, परन्तु उन जागीरों से

लगान वसूल करने का काम राज्य के अधिकारियों को दे दिया गया। वे इन लोगों को राजस्व वसूल कर जागीरदारों को नकद वेतन देने के आदेश दिये गये। परन्तु बलबन की यह सुधार-योजना व्यर्थ हो गयी क्योंकि कोतवाल फखरुद्दीन की अनुनय विनय के आधार पर उसने असहाय व्यक्तियों को उनकी जागीरें वापिस कर दीं। बलबन की इस योजना का महत्व इसी में है कि उसने अलाउद्दीन खलजी के सामने एक ऐसी नवीन नीति रक्खी, जिसके आधार पर सेना को शक्तिशाली बनाया जा सकता था।

वित्तीय व्यवस्था—मुस्लिम विधि-वेत्ताओं ने मुस्लिम राज्य के समस्त राजस्व को धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष भागों में बांटा है। इस विभाजन के अन्तर्गत प्रमुखतः पांच निम्न कर थे—(1) खिराज, (2) उश्र, (3) जजिया, (4) खम्स और (5) जकात। खिराज गैर-मुसलमानों पर भूमि-कर था जो उपज के 1/3 से 1/2 भाग तक वसूल किया जाता था। उश्र भी एक प्रकार का भूमि-कर था जो मुसलमानों के अधिकार में होने वाली भूमि से वसूल किया जाता था और जिसकी सिंचाई प्राकृतिक साधनों से की जाती थी। ऐसी भूमि से उपज का 1/10 भाग वसूल किया जाता था परन्तु यदि सिंचाई मनुष्य-कृत साधनों से होती थी तो उपज का 1/20 भाग ही कर के रूप में लिया जाता था। जजिया कर गैर-मुसलमानों पर धार्मिक कर था। इस्लाम के अनुसार गैर-मुसलमानों को इस्लामी राज्य में रहने का अधिकार न था। इस कर को देने के बाद ही वे राज्य में रहकर सुल्तान से संरक्षण और जीवन सुरक्षा प्राप्त कर सकते थे। इसके लिये गैर-मुसलमानों (हिन्दुओं) को तीन अलग-अलग वर्गों में बांटा गया था और प्रत्येक से अलग-अलग राशि ली जाती थी। स्त्रियां, बच्चे, भिखारी, साधु आदि इससे मुक्त थे। खम्स भी राज्य की आय का महत्वपूर्ण स्रोत था। काफिरों के विरुद्ध युद्ध में प्राप्त लूट के धन का 1/5 भाग राजकोष में जमा कर दिया जाता था और शेष 4/5 भाग सैनिकों में बांट दिया जाता था। जकात कर मुसलमानों पर धार्मिक कर था जो केवल धनवान मुसलमानों से ही वसूल किया जाता था। यह उनकी आय का $2\frac{1}{2}\%$ होता था। इस धन को केवल मुसलमानों के हित के लिये ही व्यय किया जाता था।

इन साधनों के अतिरिक्त राज्य की आय में आयात कर, आबकारी कर, खानों और टकसालों पर कर, व्यापारिक वस्तुओं पर कर आदि थे। सुल्तानों की आय का सम्भवतः सबसे बड़ा स्रोत हिन्दू प्रदेशों की लूट थी। इल्तुतमिश अपने पूरे राज्य-काल में हिन्दुओं के विरुद्ध अभियानों में व्यस्त रहा और इसलिये राजस्व प्रणाली की ओर समुचित ध्यान न दे सका। उसने समस्त राज्य 'इक्ताओं' में बांटकर तुर्की अमीरों को उनके निर्वाह तथा सेवा के बदले में दे दिया। कुछ भाग उसने स्वयं के लिये रख लिया था जिससे कि उसके खर्चों की पूर्ति हो सके। निश्चित ही यह भाग

अधिक था। स्वाभाविक रूप से इस व्यवस्था से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसके समय में वित्त व्यवस्था अधिक दृढ़ नहीं रही होगी। उसके अयोग्य उत्तराधिकारियों के समय इस स्थिति में किसी सुधार की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। बलबन के समय में राज्य की आय के साधनों में और अधिक कटौती हो गई, क्योंकि मंगोल आक्रमणों के भय से उसने दूरस्थ प्रदेशों को जीतने की नीति का परित्याग कर दिया। ऐसी स्थिति में जब कि युद्ध में प्राप्त लूट, जो कि राज्य की आय का मुख्य स्रोत था, समाप्त हो गई और दूसरी ओर सेना के व्यय में बढ़ोतरी हो गई इसलिये बलबन ने राज्य के सीमित साधनों में आय बढ़ाने के लिये सैनिक जागीरों को समाप्त करने की नीति अपनाई। परन्तु यहां पर भी कोतवाल फखरुद्दीन की प्रार्थना पर बलबन को जागीर जब्त कर नकद वेतन देने के आदेश को वापिस लेना पड़ा। इस आधार पर बलबन के समय की वित्त व्यवस्था निश्चित ही असन्तोषजनक रही होगी।

सुल्तानों ने इस सीमित आय को भी मनमाने ढंग से खर्च किया और अधिकतर तो राज्य की कीमत पर अपने शौकों को पूरा करते रहे। राज्य को सुरक्षित रखने और उसी के साथ अपनी गद्दी को सुरक्षित रखने के अतिरिक्त उनका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं रहा। कल्याणकारी राज्य की कल्पना का उस समय जन्म भी नहीं हो पाया था और सुल्तान इस दिशा में कोई प्रयोग करने के लिये भी तत्पर न थे।

खल्जी क्रान्ति

जलालुद्दीन का उत्कर्ष—लगभग 40 वर्ष के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष शासन के बाद बलबन के भाग्य में एक असन्तुष्ट शासक के रूप में ही मृत्यु लिखी थी। अपनी मृत्यु के पहले उसने कोतवाल फखरुद्दीन, ख्वाजा हुसन बसरी और वजीर से शहीद शाहजादा मुहम्मद के पुत्र कैखुसरो के उत्तराधिकार की पेशकश की थी। परन्तु मित्रता अथवा नैतिक संकोच राजनीति की सहचरी नहीं है और इसीलिये बलबन की मृत्यु के बाद बुगराखां के पुत्र कैकुबाद को मुईजुद्दीन की उपाधि देकर सुल्तान घोषित किया गया और दुर्भाग्यवश इसका नेता बलबन का मित्र और दिल्ली का कोतवाल फखरुद्दीन ही था। दिल्ली की गद्दी पर बुगराखां का अधिक अधिकार था परन्तु उसने अपने पुत्र के सिंहासनारूढ़ होने का विरोध नहीं किया उसने स्वयं लखनौती में नासिरुद्दीन महमूद बुगरा शाह की उपाधि धारण कर बंगाल की सत्ता स्वतन्त्र रूप से ले ली थी। फखरुद्दीन के षड्यन्त्र से ही कैखुसरो को मुल्तान भेज दिया गया था।

17 अथवा 18 वर्षीय युवक जिसने अपनी इतनी उम्र में कभी रूपवती युवती की ओर दृष्टि न डाली और न ही कभी मदिरा पान किया हो, एकाएक

विस्तृत अध्ययन के लिये देखिये अध्याय 8

गद्दी की प्राप्ति ने उसके संयम का बांध तोड़ दिया और वह भोग-विलास में डूब गया। फखरुद्दीन के दामाद महत्वाकांक्षी निजामुद्दीन ने सारी शक्ति हथिया ली। उसकी आकांक्षाएं अत्यधिक बढ़ गई और जैसा बरनी ने लिखा है कि वह सोचने लगा कि, "सुल्तान बलबन बड़ा सजग और सतर्क भेड़िया था और अब उसकी मृत्यु हो चुकी है। उसका पुत्र जो शासन कर सकता था वह भी मर चुका है। बुगराखां को लखनौती से ही सन्तोष है। अब साम्राज्य की जड़ें दिन प्रतिदिन निर्बल होती जा रही हैं। भोग-विलास में लिप्त होने के कारण सुल्तान शासन की ओर ध्यान नहीं देता है। यदि मैं शहीद शाहजादे के पुत्र कैखुसरो से मुक्त हो जाऊं तथा सुल्तान के इर्द-गिर्द रहने वाले अमीरों को दूर कर दूं तो दिल्ली का राज्य मेरे हाथ में आ जायेगा।" निजामुद्दीन की महत्वाकांक्षाएं ही उसकी मृत्यु का कारण बनी जैसाकि हमने पिछले अध्याय में देखा।

निजामुद्दीन की मृत्यु पर मुईजुद्दीन ने समाना के इक्तादार तथा दरबार के सरजानदार जलालुद्दीन फीरोज खल्जी को बुलाया तथा उसे शायस्ता खां की उपाधि दे आरिज-ए-मुमालिक के पद पर नियुक्त किया। बलबन के दो अमीर—मलिक ऐतमार कच्छन व मलिक ऐतमार सुर्खा को बारबक व वकील-ए-दर के पद पर नियुक्त किया। इस नयी व्यवस्था के आधार पर शासन को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया। जलालुद्दीन खल्जी मोटे रूप से एक जन्मजात सैनिक था जिसने सीमाओं पर मंगोलों का विरोध किया था। अनुभवी और परिस्थितियों को सही रूप से ताड़ने के गुण के कारण तुर्क अमीर उससे घृणा करते थे। इसी समय सुल्तान लकवा या अंगघात से पीड़ित हो गया और उसके बचाव की कोई संभावना नहीं रही। दिल्ली के अमीर दो विरोधी दल में बंट गये। तुर्की गुट के नेता ऐतमार कच्छन तथा ऐतमार सुर्खा थे। दूसरे गुट का नेतृत्व जलालुद्दीन खल्जी के हाथों में था जिसे जनसाधारण तुर्क मानने को तत्पर नहीं थे, तुर्क और तथाकथित गैर-तुर्कों में शक्ति के लिये संघर्ष चलने लगा। मुईजुद्दीन के नाबालिग पुत्र को गद्दी पर बैठाकर तथा जलालुद्दीन को 'नाइब' बनाकर कुछ समय के लिये समस्या का समाधान ढूंढा गया। राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर तुर्कों को ही नियुक्त किया गया। डा. के. एस. लाल का मत है कि इस प्रकार राजसत्ता बलबन के वंश में ही बनी रही। डा. लाल[1] ने आगे लिखा है कि, "यह चाल पुराने तुर्क अमीरों की थी जो कि जलालुद्दीन की योग्यता से ईर्ष्यालु थे। उनके अनुसार तुर्की राज्य में गैर-तुर्कों का कोई स्थान न था और इसलिये उन्होंने उनको अपदस्थ करने की नीति अपनाई।" जलालुद्दीन का नाम इस सूची में सबसे प्रमुख था। उसे मलिक अहमद चप के द्वारा इसकी जानकारी मिली और ऐसी स्थिति में दिल्ली को सुरक्षित न मानकर वह अपने अनुयायियों सहित बरनी के अनुसार बहारपुर की ओर चल

1. के. एस. लाल, हिस्ट्री आफ द खल्जीज, पृ. 2-4

दिया। बारां (आधुनिक बुलन्दशहर) से उसने अपने जाति-भाइयों और मित्रों को बुलाकर एक शक्तिशाली गुट बना लिया।

तुर्की गुट के पास अब खोने को अधिक समय न था और इसने जलालुद्दीन के वध की योजना बनाई परन्तु एतमार कच्छन स्वयं ही इसका शिकार हुआ। कच्छन के वध ने दोनों गुटों में आपसी द्वेष को और अधिक भड़का दिया। जलालुद्दीन के पुत्र तेजी के साथ दिल्ली की ओर बढ़े तथा बगैर किसी कठिन विरोध के बालक सुल्तान शमसुद्दीन आदि को बहारपुर ले आये। ऐतमार सुर्खा का भी वध कर दिया गया।

बालक सुल्तान के अपहरण को दिल्ली की साधारण जनता पचा न सकी। इल्बरी तुर्कों के प्रति जिन्होंने लगभग 80 वर्ष तक उन पर शासन किया था उनकी स्वामिभक्ति जाग उठी और वे अपने सुल्तान को मुक्त करवाने के लिये तत्पर हो उठे। वे यह सहन करने में असमर्थ थे कि खल्जी उन पर शासन करें। मलिक-उल-उमरा ने जिसके पुत्र जलालुद्दीन के यहां बन्धक के रूप में थे उनकी जीवन-रक्षा हेतु दिल्ली के नागरिकों की योजना को असफल कर दिया। अनेक तुर्की अमीर अपने पक्ष की पतनशील स्थिति को देखकर खल्जियों से जा मिले।

शमसुद्दीन पर अधिकार, मुईजुद्दीन के आघात (लकवा) से पीड़ित होने तथा तुर्की अमीरों की शक्ति कुचलने के बाद जलालुद्दीन पूर्णरूपेण शक्ति-सम्पन्न था। उसने शीघ्र ही मुईजुद्दीन का वध करवा दिया (1 फरवरी 1290) और इस प्रकार ताज पर अपना एकाधिकार जमा लिया। परन्तु इसके बाद भी वह ताज पहनने को तैयार नहीं था। शमसुद्दीन को सुल्तान घोषित कर उसने बलबन के भतीजे मलिक छज्जू से सरंक्षक का पद स्वीकार करने की प्रार्थना की। परन्तु मलिक छज्जू इसकी अपेक्षा कड़ा की जागीर में अधिक रुचि रखता था और जब जलालुद्दीन ने उसे यह प्रदान कर दी तो वह उस ओर चला गया। कुछ समय तक जलालुद्दीन शमसुद्दीन को दरबार में लाता रहा और विधिवत सिंहासन पर आसीन करता रहा परन्तु प्रत्येक को यह स्पष्ट था कि यह व्यवस्था अधिक समय तक चलेगी। शत्रु और मित्र जलालुद्दीन के चारों ओर मंडराने लगे। कठपुतली शासक के साथ वह कीलूगढ़ी आ गया और उसे बन्दीगृह में डाल स्वयं का राज्याभिषेक कराया। बरनी के अनुसार कुछ समय बाद शमसुद्दीन की मृत्यु बन्दीगृह में हो गई।

दिल्ली के नागरिकों में जलालुद्दीन की इस कार्यवाही के प्रति व्याप्त असन्तोष था। बरनी के अनुसार जलालुद्दीन इस असन्तोष के कारण राजधानी दिल्ली में प्रवेश करने का साहस न कर सका। नागरिकों को तुर्क शासन की समाप्ति अधिक अखर रही थी और उससे भी खल्जियों का शासक के रूप में प्रतिष्ठान क्योंकि वे खल्जियों को गैर-तुर्क मानते थे।

खल्जियों की उत्पत्ति—जलालुद्दीन का विरोध मुख्य रूप से उसके गैर-तुर्क होने के कारण था, परन्तु इतिहासकार इसको स्वीकार नहीं करते हैं। **निजामुद्दीन अहमद** ने लिखा है कि खल्जी चंगेजखां के दामाद कुलीजखां के वंशज थे। कुलीजखां के अपनी पत्नी के साथ अच्छे सम्बन्ध न थे परन्तु साथ ही वो खुले रूप में इस आधार पर अपने श्वसुर मंगोल शासक चंगेजखां से सम्बन्ध भी विच्छेद नहीं कर सकता था। कुछ समय बाद अपने 30,000 अनुयायियों के साथ गौर व जुरिस्तान के प्रदेश में आकर बस गया। उसके अनुयायियों को कलजी अथवा कुलीज पुकारा जाने लगा जो बिगड़कर खल्जी बन गया। गौर के शासक के भारत-अभियान के समय अनेकों खल्जी उसके साथ यहां आये जिनमें जलालुद्दीन के पूर्वज तथा मालवा का सुल्तान महमूद प्रमुख थे। **निजामुद्दीन** के अनुसार 'सलजूकनामः' भी खल्जियों के तुर्क ही स्वीकार करता है।

परन्तु **निजामुद्दीन** की बातों पर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता क्योंकि आरम्भ में वह यह भी लिखता है कि ख्वारिजम की शाही सेनाओं के साथ खल्जियों ने युद्ध किया था। इसका अर्थ हुआ कि खल्जी, चंगेजखां के पहले भी विद्यमान थे। **फरिश्ता** के लेखों में भी इसी सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है। उसके अनुसार गजनी के आरम्भिक इतिहास में अक्सर खल्जियों का विवरण मिलता है और इस प्रकार वे चंगेजखां के पूर्वज थे। निजामुद्दीन अहमद से अपनी तालमेल बैठाने को वह आगे लिखता है कि सम्भवतः कलीजखां स्वयं खल्जी कबीले का था और जलालुद्दीन खल्जी तथा सुल्तान महमूद कलीजखां के प्रत्यक्ष वंशज थे। **बदायूंनी** इस सिद्धान्त की कटु आलोचना करता है। उसके अनुसार खल्जी और कलीज में कोई प्रत्यक्ष एकरूपता नहीं थी। इसके विरोध में फरिश्ता तथा बदायूंनी, निजामुद्दीन के दूसरे सिद्धान्त कि खल्जियों की उत्पत्ति जपहट के पुत्र से हुई थी, स्वीकार करते हैं।

डा. के. एस. लाल[1] के अनुसार इस सम्बन्ध में बरनी की अनिश्चितता अव्याख्येय है। बरनी के पिता तथा चाचा एक लम्बे समय तक सुल्तानों की सेवा में थे और स्वयं बरनी राज्य के अनेकों प्रभावशाली अमीरों से घनिष्ठ था। इसके अतिरिक्त अपने इतिहास-लेखन में उसने अनेक समकालीन तथा पूर्वजों के ग्रन्थों का अध्ययन भी किया था। इस आधार पर वह ऐसी स्थिति में था कि खल्जियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रमाणिक जानकारी दे सके। सम्भवतः उसने जान-बूझकर अथवा इसको गौण मानकर सत्यता को जानने का प्रयास ही नहीं किया। इसके साथ ही वंशावलियों में बरनी की कोई रुचि नहीं थी क्योंकि उसने तुगलकों की उत्पत्ति के बारे में इसी प्रकार की अस्पष्टता दिखाई है। **बरनी** के विवरण से इतना अवश्य स्पष्ट है कि खल्जियों का तुर्कों से अलग एक भिन्न नस्ल का होने के कारण कोई स्वागत नहीं किया गया।

1. के. एस. लाल, हिस्ट्री ऑफ द खल्जीज्, पृ. 9

डा. लाल के अनुसार समस्या के निष्पक्ष अध्ययन से यह स्पष्ट है कि खल्जी तुर्क थे। अफगानिस्तान की हलमन्द नदी के दोनों ओर की भूमि को 'खल्ज' कहते थे और इस क्षेत्र के निवासी कालान्तर में खल्जी कहे जाने लगे। अनेकों खानाबदोश कबीले इस क्षेत्र में अनादि काल से रहते चले आ रहे थे और ऐसी स्थिति में पूर्ण निश्चितता के साथ यह कहना कि खल्जी किसी कबीले से सम्बन्धित न थे असम्भव है। दसवीं शताब्दी का भूगोलवेत्ता इब्न हुकल खल्जियों को तुर्क वर्ग का मानता है। उसके अनुसार वे हिन्दुस्तान और सिजिस्तान के मध्य काफी समय से बसे हुये थे और उनका आचार विचार, पहनावा व रीति-रिवाज तुर्कों जैसे थे। इसके अतिरिक्त फखरुद्दीन जिसने अपनी रचना 'तारीख-ए-फखरुद्दीन मुबारकशाह' 1206 ई. में पूरी कि लगभग 64 तुर्की कबीलों की सूची देता है जिसमें तुर्क गुज, खल्जी तातार आदि हैं। वह तुर्की कबीलों के बारे में मूल्यवान जानकारी देता है जिससे यह मालूम पड़ता है कि उसे उनके बारे में प्रगाढ़ जानकारी थी। मिनहाज-उस सिराज' भी तबकात-ए-नासिरी में लिखता है कि खल्जी ख्वारजिम के शासकों की सेना में मौजूद थे और उन्होंने गोर व गजनी के अनेक युद्धों में भाग लिया था। रेवर्टी भी यह स्वीकार करता है कि खल्जी तुर्की कबीले के थे। बैरथाल्ड जो कि मध्य एशिया के इतिहास का एक महान् विद्वान माना जाता है, वह भी खल्जियों को तुर्क ही स्वीकार करता है जो चौथी शताब्दी में दक्षिणी अफगानिस्तान में आकर बस गये थे।

इस आधार पर यह निर्विवाद है कि खल्जी तुर्क ही थे। अफगानिस्तान में एक लम्बे समय तक रहने के कारण उन्होंने वहां के रीति-रिवाजों को अपना लिया था। इल्बरियों को उनका आधिपत्य इसलिये बुरा लगा कि इस वंश परिवर्तन से उन परिस्थितियों पर आघात हुआ जिनमें वे रहने के अभ्यस्त हो चुके थे। इसीलिये डा के एस लाल ने 'हिस्ट्री आफ द खल्जीज' में लिखा है कि, "हमें खल्जियों के राज्यारोहण के कारण व्याप्त आश्चर्य का स्पष्टीकरण जनता की परम्परावादिता में खोजना चाहिये, न कि खल्जियों और इल्बारियों की जातीय विभिन्नता में। दोनों एक ही मूल के थे।"

खल्जी क्रान्ति की महत्ता—डा. लाल[1] के अनुसार खल्जी क्रान्ति अनेक दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण थी। इसके अनेक दूरगामी परिणाम हुये। उनके अनुसार, "इससे न केवल एक नवीन वंश की स्थापना हुई, अपितु इसने अनवरत विजयों, कूटनीति में असाधारण प्रयोगों और अतुलनीय साहित्यिक गतिविधियों के एक युग को जन्म दिया। खल्जी शाही खानदान से सम्बन्धित नहीं थे अपितु इसके विपरीत वे सर्वहारा वर्ग के थे और उनके राज्यारोहण से इस मिथ्या-धारणा की समाप्ति हो गई कि प्रभुसत्ता पर विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग का ही एकाधिकार है। खल्जी विद्रोह आवश्यक रूप से तुर्की आधिपत्य के विरुद्ध भारतीय मुसलमानों का

1. के एस लाल, हिस्ट्री ऑफ द खल्जीज़, पृ 13-14

विद्रोह था, गौर और गजनी से प्रेरणा प्राप्त करने वालों के विरुद्ध उन लोगों का विद्रोह था जो दिल्ली से प्रेरणा लेते थे। इस क्रान्ति ने सर्व-साधारण के रक्त के आधिपत्य को शाही-रक्त पर प्रतिस्थापन किया और ऐसे अनेक उच्चवर्गीय तुर्कों को स्तम्भित कर दिया जिनके लिये भारत में जन्मित अथवा अन्य मुसलमान उनसे निम्न श्रेणी के थे।"

डा. लाल ने आगे लिखा है कि, "भारतीयों के लिये यह सत्ता-परिवर्तन कोई नई घटना नहीं थी। निरन्तर और अनापेक्षित सत्ता-परिवर्तन ने उनके हृदय में किसी भी वंश के लिए सद्भावनाओं का गला घोंट दिया था और यदा-कदा यदि उनमें किसी वंश-विशेष के लिये कोई सदभावनायें मौजूद भी थीं, जैसा कि इल्वरी वंश के लिये, तो वे परिस्थितियों की मांग के अनुसार इनको हस्तान्तरित करने में भी नहीं हिचकते थे। इसलिये सत्ता का यह हस्तान्तरण उनके लिये महत्वहीन ही था, क्योंकि सत्ता पुनः विदेशियों के हाथों में ही रही।"

डा. लाल ने आगे लिखा है कि, "जलालुद्दीन को सिंहासन न तो वंशाधिकार, न चुनाव और षड़यन्त्र ही से प्राप्त हुआ था। इल्वरियों से खल्जियों के पक्ष में यह सत्ता हस्तान्तरण राज्य-विप्लव के द्वारा हुई थी और केवल शक्ति के आधार पर ही वे इसे अपने पास बनाये रखने में समर्थ रहे थे। खल्जियों ने न तो जनता, न ही अमीर वर्ग और न ही उलेमा-वर्ग का समर्थन प्राप्त किया। राज्य के लिये जो भी उन्होंने प्राप्तियां कीं अथवा नहीं परन्तु उन्होंने मुस्लिम जगत को यह स्पष्ट कर दिया कि बिना किसी धार्मिक समर्थन के राज्य न केवल जीवित रह सकता है अपितु कर्मठ होकर कार्य भी कर सकता है—यह एक अभूतपूर्व सत्य था।"

इसके अतिरिक्त 'इण्डो-मुस्लिम' इतिहास की गाथाओं में खल्जी वंश का अभूतपूर्व महत्व रहा क्योंकि इससे विजयों की एक अनवरत शृंखला आरम्भ हुई। प्रथम बार खल्जी शासक देश के सुदूरतम कोनों में मुस्लिम सेनाओं को ले गये। यहां के स्वतन्त्र शासकों को अधीनस्थ किया तथा वाह्य आक्रमणों पर भी अपनी तीखी नजर रखी। डा. लाल[1] के अनुसार "यदि अलाउद्दीन ने कठोर उपायों का आश्रय न लिया होता तो भारत मंगोलों के हाथों में चला गया होता।"

इसके साथ ही अलाउद्दीन के कुछ सुधार मध्ययुगीन इतिहास में अभूतपूर्व थे। यद्यपि इन सुधारों का जीवन अल्पकालीन रहा परन्तु फिर भी उनकी सफलता में कोई शंका नहीं है। शक्ति जो कि खल्जियों के शासन का मूलाधार थी राजनीति रूपी तन में नासूर सिद्ध हुई और इसीलिये यह (शक्ति) अलाउद्दीन के आधार को स्थायित्व देने में असमर्थ रही।

---

1. के. एस. लाल वही, पृ. 14

अध्याय—4

खल्जीकालीन भारत

जलालुद्दीन फीरोज खल्जी

सिंहासनारोहण—मलिक फिरोज जलालुद्दीन 13 जून 1290 ई (689 हि) को गद्दी पर बैठा था। गद्दी पर बैठने के पश्चात् उसने सुल्तान जलालुद्दीन फीरोज शाह खल्जी की पदवी धारण की थी। जलालुद्दीन का राज्याभिषेक कीलूगढ़ी में हुआ था इसलिए उसने कीलूगढ़ी को ही अपनी राजधानी बनाया। उसके पश्चात् जलालुद्दीन ने दिल्ली में एक नवीन राज्य वंश की स्थापना की। निसंदेह खल्जी वंश के सुल्तान तुर्क थे क्योंकि तारीख ए फखरुद्दीन मुबारक शाही के लेखक फखरुद्दीन रावर्टी बार्थोल्ड आदि विभिन्न विद्वानों ने उन्हें तुर्क माना है। अफगानिस्तान में हेलमन्द नदी की घाटी के प्रदेश को 'खलजी' के नाम से पुकारा जाता था। उस प्रदेश में जाकर जो जातियाँ बस गयीं उन्हीं जातियों को खल्जी पुकारा जाने लगा। उन्हीं जातियों में से ही सुल्तान जलालुद्दीन के वंशज भी थे जो कि 200 वर्षों से भी अधिक समय तक हेलमन्द नदी की घाटी के प्रदेश में रहे थे। इसी कारण से उनका रहन सहन तथा रीति रिवाज अफगानों की तरह से ही हो गए थे। जब वे लोग भारत में आए तो भ्रमवश उन्हें अफगान ही समझा जाने लगा था।

खल्जियों के तुर्क होते हुए भी शासन व्यवस्था पिछले इल्बरी तुर्कों की शासन व्यवस्था से एक दृष्टि में भिन्न रही थी। भारत में तुर्कों की श्रेष्ठता समाप्त होने का मुख्य कारण दिल्ली के सिंहासन पर खल्जी वंश का आधिपत्य ही था।

जलालुद्दीन फिरोज के विचार और भावनाएं—जलालुद्दीन के स्वाभाविक नम्रता अपने विरोधियों के प्रति सम्मान के विषय में सुना तो कुछ ही समय के पश्चात् नागरिक जलालुद्दीन फिरोज का विरोध करने की बजाय उसकी प्रशंसा करने लगे। जैसा कि बरनी कहता है "नामों और पदों की आशा में वे लोग पहले तो झिझकते हुए उससे समझौता करने के लिए आये और सुल्तान ने उनको सौहार्द प्राप्त करने की अपनी वास्तविक उत्कंठा का उन्हें विश्वास दिला दिया।' इस समय सुल्तान जलालुद्दीन फिरोज की आयु लगभग सत्तर वर्ष से अधिक हो चुकी थी। इस समय इस आयु में सुल्तान की शान्ति प्रिय और दयालु पाकर लोगों को

अत्यधिक आश्चर्य हुआ। सुल्तान एक निष्कपट और निष्ठावान हृदय का व्यक्ति था जो कि सत्ता से प्रभावित नहीं हुआ था तथा सभी व्यक्तियों की दृष्टि में वह एक सीधा-सादा संत के समान था।

इस समय परिस्थितियों की यह मांग थी कि शाही सत्ता का दृढ़ता तथा कठोरता से पालन किया जावे क्योंकि बलबन अपनी कठोर दण्ड नीति के कारण ही साम्राज्य में शान्ति स्थापित कर सका था इसलिए कानून तथा सुरक्षा स्थापित करने के लिए तथा नये राजवंश के प्रति सभी निष्ठाओं को एक ही धारा में मिलाने के लिए परिस्थितियों की यह मांगें थी कि सत्ता का दृढ़ प्रयोग किया जाये, क्योंकि पूर्वी प्रान्तों मे बलबन के आतंकपूर्ण तरीकों के बावजूद भी दिल्ली की सत्ता समाप्त हो चुकी थी। सुल्तान बलबन के दयनीय अन्त ने राजमुकुट की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचाया था, तथा परिस्थितियों के अनुसार इस समय अधिक प्रभावशाली उपायों की आवश्यकता को महसूस कराया। इस समय परिस्थिति के अनुसार एक शासक के लिए भावुकतापूर्ण दयालुता अच्छी नहीं थी जिसका कि मूल दायित्व पश्चिमी बंगाल से मंगोलों को मार भगाना और सल्तनत का प्रसार आरम्भ करना था।

कार्य तथा पद वितरण—जलालुद्दीन ने कीलूगढ़ी को एक नवीन नगर का रूप दिया। उसने मुइज़ुद्दीन के महल को पूरा करवा कर उसे आकर्षक खुदाई तथा लेखों से सजाया। सुल्तान ने यमुना के किनारे एक अति सुन्दर उद्यान लगवाया तथा बाजार खोले गए। सुल्तान की यह इच्छा थी कि दिल्ली के लोग अपने विशाल भवन वहां पर निर्मित करवाएं।

सुल्तान ने जनता का विश्वास थोड़े से समय में ही अपनी चारित्रिक श्रेष्ठता, उदारता और धार्मिक प्रवृत्ति के कारण प्राप्त कर लिया था। उसने प्रारम्भ में जनता की भलाई के लिए बहुत से अच्छे कार्य किये। इन्हीं कार्यों के द्वारा उसने अधिकांश लोगों की घृणा को स्नेह में बदल दिया था। उसने सबसे पहले एक बहुत ही भव्य दरबार का आयोजन किया। उस उस दरबार में उसने शाही परिवार के सभी सदस्यों, क्रान्तिकालीन सैनिकों तथा अन्य सरदारों तथा अमीरों को शाही उपहारों और विभिन्न पदों तथा पदवियों से पुरस्कृत किया। सुल्तान ने वजीर का पद ख्वाजा खातिर को दिया तथा दिल्ली के कोतवाल का पद मलिक-उल-उमरा फखरुद्दीन को दिया तथा मनिकपुर के हाकिम पद पर मलिक छज्जू को पूर्ववत बना रहने दिया गया। ये सभी लोग बलबनी वंश के समर्थक थे। इन सभी व्यक्तियों को सुल्तान जलालुद्दीन ने उदारता-पूर्वक अपने-अपने पद पर ही रहने दिया। सुल्तान ने इख्तयारुद्दीन जो कि उसका बड़ा बेटा था उसे राजधानी के ही निकटवर्ती क्षेत्र का शासक नियुक्त कर खान-ए-खाना की पदवी दी। सुल्तान ने अपने दूसरे बेटे हिसामुद्दीन को अर्कली खां की पदवी दी। कुछ समय बाद अर्कली खां को मुलतान का हाकिम नियुक्त किया और सीमा-रक्षा का भार उसी पर डाला।

इसी प्रकार सुल्तान ने तीसरे बेटे को कद्रखां की उपाधि दी। उसने ताजुल-मुल्क की उपाधि अपने चाचा को दी तथा अलाउद्दीन और मुईजुद्दीन (जो अलमास बेग के नाम से प्रसिद्ध थे) सुल्तान के भतीजे थे उन्हें अमीर-ए-तुजक तथा आखुर बेग (ह्यपति) का पद दिया गया। यगरेश खान की उपाधि सुल्तान के भाई मलिक खामोश को दी गई तथा आरिज-ए-मुमालिक (युद्धमन्त्री) का पद उसे सौंपा गया। नायब बारबक के पद पर सुल्तान ने अपने एक सम्बन्धी मलिक अहमद चप को नियुक्त किया। इन पदों के अतिरिक्त अन्य दूसरे पदों के वितरण में सुल्तान ने खल्जी तथा गैर खल्जी दोनों ही वर्गों के लोगों का ध्यान में रखा। उसने वकील-ए-दर मलिक खुर्रम को तथा हाजिब-ए-खास मलिक नासिरुद्दीन कुहरामी को बनाया। दादबेग या न्यायकर्त्ता मलिक फखरुद्दीन कूची को बनाया गया। अमीर-ए-शिकार मलिक हिरन-मार को बनाया गया। शहना-ए-पील का ओहदा मलिक नासिरुद्दीन राना को दिया गया।

इस प्रकार सुल्तान ने अपने इन कार्यों से सभी को अपने आधीन कर लिया। इससे सभी अमीरों तथा जनता में शान्ति की लहर दौड़ गई तथा कीलूगढ़ी के वैभव से सभी लोग प्रभावित होने लगे तथा इस प्रकार धीरे-धीरे इच्छा तथा अनिच्छा से नये सुल्तान की आधीनता स्वीकार कर ली।

राजधानी दिल्ली में प्रवेश—सबको अपने आधीन करके तथा सभी को प्रभावित करके अब सुल्तान जलालुद्दीन राजधानी दिल्ली में प्रवेश कर सकता था। जब दिल्ली के कोतवाल ने सुल्तान को आश्वासन तथा आमन्त्रण दिया, सुल्तान ने उसे स्वीकार करके दिल्ली में प्रवेश करने का निश्चय किया। लेकिन सुल्तान अत्यधिक भावुक था क्योंकि जब वह बलबन के लाल महल के द्वार पर पहुँचा तो उसने पुरानी बातें याद करके तथा भावुक होकर अपने घोड़े से उतर कर उसी तरह से सिर को झुकाया जिस तरह से कि वह बलबन के जीवन काल में उसके सामने झुकाया करता था। जब सुल्तान ने बलबन के महल में प्रवेश किया तो वह बलबन के वंश की दयनीय दशा का स्मरण करके आंसू बहाने लगा। उसने अपनी पगड़ी उतार कर आंखों को ढक लिया। इस प्रकार से सुल्तान के भावुक आचरण को देखकर दिल्ली के बड़े बूढ़े लोग बहुत प्रभावित हुए लेकिन युवा सरदारों तथा अमीरों को उसका भावुक आचरण सुल्तान पद की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल लगा।

सुल्तान जलालुद्दीन की उदार शासन नीति से सरदारों और अमीरों में असन्तोष—इस प्रकार सुल्तान जलालुद्दीन की उदार शासन नीति से सरदार और अमीर वर्ग में अत्यधिक असन्तोष फैल गया तथा वे लोग विभिन्न अवसरों पर सुल्तान की नीति की कटु आलोचना करने लगे तथा तरह-तरह के षड्यन्त्र रचने लगे। इस प्रकार कई बार जलालुद्दीन इनके षड्यन्त्रों में फंसा। क्योंकि सभी सरदार तथा अमीर ये नहीं चाहते थे कि उनका सुल्तान इतना भावुक हो, क्योंकि उनका

कहना था कि वही व्यक्ति सुल्तान बनने के लायक है जो कि शत्रुओं को दण्ड दे सके तथा मित्रों को समुचित पुरस्कार दे सके। जो ये नहीं कर सकता वह सुल्तान बने रहने के योग्य नहीं है और इस प्रकार के सुल्तान के प्रति निष्ठा रखने से कोई लाभ नहीं है। उनका कहना था कि सुल्तान को बलबन की नीति पर ही चलना चाहिए क्योंकि वह कभी भी अपनी शक्ति और प्रतिष्ठा को नहीं भूलता था तथा आवश्यकता पड़ने पर कठोर से कठोर दण्ड देता था। सुल्तान जलालुद्दीन की उदारता को अमीर लोग उसकी कायरता समझते थे। उनका कहना था कि सुल्तान का क्षमाशील स्वभाव तथा सरल आचरण को वे उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं मानते थे। उनका यह विचार था कि सुल्तान को शासन करने में हमेशा सरकारी नियमों का पालन करना चाहिए।

जब सुल्तान ने मलिक छज्जू के विद्रोह का दमन किया तथा दमन के पश्चात् सुल्तान ने विद्रोहियों के साथ सम्मानित मेहमानों जैसा व्यवहार किया जबकि, सुल्तान को चाहिये था कि सभी विद्रोहियों का वध करवा दिया जाता। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। यही कारण था कि सुल्तान जलालुद्दीन का यह व्यवहार अमीरों को बहुत बुरा लगा। उसके पश्चात् सुल्तान अपनी राजधानी कीलूगढ़ी में जाकर अपने शासन कार्य में व्यस्त हो गया, लेकिन सुल्तान के कार्यों की आलोचना अमीरों तथा बड़े लोगों में चलती रही। अमीरों और सरदारों का कहना था कि अच्छे शासक में सैनिकोचित गुणों का होना अत्यधिक आवश्यक है।

बरनी के अनुसार—"सुल्तान जलालुद्दीन को न तो राज्य करना आता है और न ही उसमें सुल्तान की सी शान ही है। इसलिए लोग उससे डरते नहीं है। सुल्तान का कार्य मुगलों (मंगोलों) से युद्ध करना था। परिस्थिति के अनुसार यही कार्य उसके लिए उपयुक्त था, लेकिन अमीरों तथा सरदारों का कहना था कि सुल्तान शासन के विषय में कुछ भी नहीं जानता है। उनके अनुसार शासक में दो प्रकार की योग्यताओं का होना आवश्यक था। पहली शासक शासकोचित खर्च करे तथा अपनी उदारता दिखाए, दूसरे शासक में शान और कठोरता का होना बहुत आवश्यक है जिससे कि लोग उसे आतंकित रहें। जब सुल्तान में ये गुण होंगे तभी वह शत्रुओं को पीछे हटा सकता है तथा विद्रोहों तथा विद्रोहियों का दमन कर सकता है। इन दोनों ही गुणों का सुल्तान जलालुद्दीन में अभाव है। जब भी सुल्तान के सामने किसी अपराधी को उपस्थित किया जाता है तो सुल्तान उसे किसी भी प्रकार का दण्ड नहीं देता है और उसे यह शपथ लेकर के मुक्त कर दिया जाता है कि वह भविष्य में फिर ऐसा कार्य नहीं करेंगे। सुल्तान अपने पास बैठे हुए लोगों से इस प्रकार कहता था कि मैं लड़ाई के मैदान में लोगों का वध कर सकता हूं, लेकिन किसी बंधे हुए आदमी को नहीं मरवा सकता हूँ क्योंकि यह कार्य मेरी भावना के प्रतिकूल है।"[1]

1. इलियट एण्ड डाउसन, वही, पृ. 97

अमीरों के एक षड्यन्त्र का वर्णन करते हुए बरनी—अमीर लोग सुल्तान जलालुद्दीन के विरुद्ध बहुत ही असंगत तथा विद्रोहपूर्ण भाषा का प्रयोग करते थे। एक दिन मलिक ताजुद्दीन कूची की हवेली की कूची में एक गोष्ठी हुई थी। वहां पर सभी अमीर शराब के नशे में मस्त थे तथा अपना संयम खो बैठे। वे लोग ताजुद्दीन से कहने लगे, 'तुम सुल्तान बनने के योग्य हो, यह जलालुद्दीन सुल्तान बनने के योग्य नहीं है।" इस तरह से सभी अमीर नशे में संयम खोकर बातें करने लगे। एक अमीर कहने लगा "मैं शिकार करने के चाकू से सुल्तान के टुकड़े कर दूंगा।" इसी प्रकार से दूसरे अमीर ने अपनी तलवार निकालकर कहा 'मैं अपनी तलवार से सुल्तान के टुकड़े-टुकड़े कर डालूंगा।' इस प्रकार की बातचीत से मालूम पड़ता है कि सरदार और अमीर जलालुद्दीन की नीति से असन्तुष्ट थे और न ही उन्हें सुल्तान से किसी भी प्रकार का भय था। सुल्तान के रूप में जलालुद्दीन की नीति की उपयुक्तता का मूल्यांकन उसके विभिन्न कार्यों के प्रकाश में ही किया जा सकता है। इसलिए सुल्तान जलालुद्दीन के कार्यों की समीक्षा करने से पूर्व उसके शासनकाल की समस्त घटनाओं पर दृष्टिपात करना अत्यधिक आवश्यक है।

मलिक छज्जू का विद्रोह (1290 ई.)—सुल्तान के विरुद्ध सरदार तथा अमीर लोग राजधानी में तथा राजधानी के बाहर षड्यन्त्र रचने लगे तथा धीरे-धीरे विद्रोह करने लगे। राज्यारोहण के दो माह पश्चात् ही कड़ा मनिपुर का हाकिम मलिक छज्जू ने विद्रोह कर दिया।

जैसाकि डा. के. एस. लाल ने लिखा है—असाध्य तत्व जलालुद्दीन की नम्रता का लाभ उठाने में पीछे नहीं रहे।[1] मलिक छज्जू ने जो कि बलबन का भतीजा था विद्रोह करके दिल्ली की ओर चल पड़ा। उसने सफेद छत्र को धारण किया तथा अपने नाम का 'खुतबा' पढ़वाया। अनेक अमीर जो कि सुल्तान जलालुद्दीन से असन्तुष्ट थे वे सभी मलिक छज्जू के पक्ष में हो गए जिसमें अवध का जागीरदार मलिक अमीर अली सरजानदार भी था जो बलबन के एक दास का पुत्र था। मलिक छज्जू ने सुल्तान 'मुगीसुद्दीन' की उपाधि धारण की तथा सिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए वह दिल्ली की ओर चल पड़ा। उसे पूर्ण आशा थी कि दिल्ली के लोग उसके साथ अवश्य मिल जायेंगे। इस प्रकार मलिक छज्जू के विद्रोह ने सुल्तान जलालुद्दीन को सक्रिय कर दिया। उसने कीलूगढ़ी में अपने बड़े बेटे खान-ए-खाना को प्रतिनिधि नियुक्त किया तथा स्वयं विद्रोह को दबाने के लिए चल दिया। उसने अपने पुत्र अर्कली खां को सेना के अग्रिम दस्ते के साथ पहले ही आगे भेज दिया जो कि बाढ़ से भरी काली नदी को पार करके शत्रुओं पर टूट पड़ा। इस तरह के आकस्मिक हमले से मलिक छज्जू घबरा गया तथा भाग खड़ा हुआ, वहां से भी उसका पीछा किया

1. के एस लाल, हिस्ट्री ऑफ द खल्जीज, पृ. 19

गया तथा उस गढ़ी में उसे बन्दी बना लिया गया जहां पर कि उसने आश्रय लिया था। बन्दी बनाकर अर्कली खां विद्रोही छज्जू खां और अमीरों को लेकर बदायूं सुल्तान के पास पहुंच गया। इससे खुश होकर सुल्तान ने अर्कली खां को मुल्तान का गवर्नर नियुक्त किया। उसके पश्चात् उसने विद्रोहियों का निर्णय करने के लिए एक विशेष दरबार का आयोजन किया, उस दरबार में तत्कालीन परिपाटी के अनुसार ही विद्रोहियों को अत्यधिक दयनीय स्थिति बनाकर दरबार में सुल्तान के सम्मुख पेश किया गया। "उन विद्रोहियों के कन्धे पर जूआ रखा गया तथा हाथों को गर्दन के पीछे की ओर बांधा गया। उनके सारे शरीर को धूल तथा कूड़े से सान दिया गया और उनके कपड़ों को मलिन बना दिया।" जब सुल्तान के सामने इस स्थिति में विद्रोही आए तो सुल्तान उनकी इस दुर्दशा को देखकर बिलख-बिलख कर रोने लगा तथा उसने आज्ञा दी कि इसी समय सभी बन्धकों को बन्धन से मुक्त कर दिया जाय। उन्हें सभी को नहलाकर तथा साफ कपड़े पहनाकर उसके सम्मुख पेश किया जाय। बरनी ने लिखा है—"सुल्तान ने सभी बन्दियों को अपने निजी निवास पर बुलवाया तथा मेहमानों की भांति सभी बन्दियों का स्वागत किया गया और उनके लिए शराब मंगवाई गई। जब सुल्तान ने उनके साथ इस तरह का व्यवहार किया तो उन लोगों ने नजरें भी ऊपर नहीं उठाई और चुपचाप खड़े रहे थे। सुल्तान ने उन्हें सान्त्वना दी तथा उनके साथ सहानुभूतिपूर्वक व्यवहार किया। सुल्तान ने उनसे कहा कि आप लोगों ने जो तलवारें उठाई थी वह अपने पुराने हितैषी का समर्थन करने के लिए उठाई थीं। इससे आपने ईमानदारी का ही काम किया था बेईमानी का नहीं किया था।"[1]

जब सुल्तान ने बन्दी अमीरों के प्रति इस प्रकार का व्यवहार किया तो इस व्यवहार के कारण खल्जी अमीर खुश नहीं थे। वे सुल्तान के बारे में तरह तरह की बातें करने लगे। उनका कहना था कि सुल्तान को शासन करना नहीं आता है। उसे कई लोगों ने समझाया। मलिक अहमद चप जो कि सुल्तान के काफी निकट था, उसने कहा कि आप विद्रोहियों के प्रति ऐसा व्यवहार न करें क्योंकि इस प्रकार का व्यवहार सुल्तान की प्रतिष्ठा तथा राज्य की सुरक्षा दोनों के विरुद्ध है क्योंकि इससे अन्य लोगों को भी विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। इस प्रकार से सुल्तान ने विद्रोहियों को बिना किसी दण्ड दिए मुक्त कर दिया तथा मलिक छज्जू को मुल्तान भेज दिया तथा वहां पर उसे सभी सुविधाएं दे दी गई, लेकिन उसे अर्कली खां के नियन्त्रण में रहने के लिए कहा गया।

डा. पाण्डेय ने लिखा है, "इस प्रकार जलालुद्दीन द्वारा विद्रोहियों के प्रति अपनाई गई नीति सफल हुई क्योंकि भविष्य में उन लोगों ने फिर कभी विद्रोह करने की कोशिश नहीं की।

ठगों का दमन—सुल्तान जलालुद्दीन की नरम नीति का लाभ उठाकर दिल्ली

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, वही, भाग तीन, पृ. 95

म तथा निकटवर्ती क्षेत्रों मे ठगों और डाकुओं ने लूटमार मचा रखी थी तथा उन्होंने जनता को बहुत ही ज्यादा त्रस्त कर दिया था। वे बहुत ही ज्यादा अत्याचार करने लगे थे। उन्हें शान्त करने के लिए सुल्तान को यह आवश्यक हो गया कि वह तुरन्त कार्यवाही करे लेकिन जब इन्हें बन्दी बनाकर सुल्तान के सामने पेश किया गया तो सुल्तान ने उन्हें चोरी न करने का उपदेश दिया तथा कोई भी दण्ड नहीं दिया। सुल्तान न उनसे शपथ ली कि अब वे कभी भी चोरी नहीं करेंगे। यह शपथ दिलाकर उन्ह छोड़ दिया। इसके पश्चात् इन्हीं ठगों म स एक ठग ने लगभग एक हजार ठगों को पकड़वाया तो भी सुल्तान ने उन्ह दिल्ली से दूर बगाल मे छुड़वा दिया और किसी भी तरह का कोई भी दण्ड उन्ह नही दिया गया। केवल उन्ह यह चेतावनी दी गई कि फिर वे दिल्ली क निकट नहीं आयेंगे। इस तरह के सुल्तान के व्यवहार के कारण सभी अमीर सुल्तान से नाराज हो गए तथा वे सोचने लगे कि ऐसा व्यक्ति सुल्तान बनने के कदापि योग्य नही है जो कि अपराधियों के साथ इतनी उदारता का व्यवहार करे। क्योंकि समस्त सल्तनत काल म अपराधियों के साथ इतनी उदारता का व्यवहार नहीं किया गया था।

डा पाण्डेय ने लिखा है कि—' सुल्तान ने ठगो को पकड़ने मे जो मुस्तैदी दिखाई उससे वे डर गए और उसकी अपत्याशित उदारता से प्रभावित होकर वे या तो कहीं दूसरी जगह चले गए या फिर उन्होंने अपना वह कार्य छोड़ दिया था जो कि उन्होंने रोटी कमाने के लिए अपनाया था।" तत्कालीन इतिहासकारों के वर्णन से यह पता लगाना कठिन है कि इस नीति के कारण ठगों का उत्पात सचमुच बन्द हुआ या नहीं। लेकिन सुल्तान जलालुद्दीन की उदारता के दुष्परिणामो का उल्लेख इस प्रकार कहीं नही किया है कि ठगो का जोर बहुत बढ़ गया। इस बात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सुल्तान की उदारता से ही प्रभावित होकर ठगो ने ठगी छोड़ दी थी।

अमीरों का षडयन्त्र—सुल्तान जलालुद्दीन क क्षमाशील स्वभाव के कारण सभी लोगों के मन से राजदण्ड का डर निकल चुका था। जिसके कारण सामन्त अपमानजनक बातें खुलकर करने लगे थे, वे लोग जगह जगह गोष्ठियां करने लगे थे तथा इन गोष्ठियों के माध्यम से सुल्तान के विरुद्ध षडयन्त्र रचे जाने लगे थे। एक दिन सभी असन्तुष्ट अमीरों न मलिक ताजुद्दीन कूची की हवेली म एक गोष्ठी की जिसमे सुल्तान के लिए अत्यन्त ही असगत तथा विद्रोहपूर्ण भाषा का प्रयोग किया गया। सभी अमीर शराब के नशे म बहक रहे थे। कोई कह रहा था कि जलालुद्दीन तो सुल्तान बने रहने के योग्य है ही नहीं, इसकी जगह ताजुद्दीन सुल्तान बनने के योग्य है। यह भी कहा गया कि अगर खल्जियो म कोई सुल्तान बनने योग्य है तो अहमद चप ही है, जलालुद्दीन नहीं। उनमे एक अमीर ने कहा—मैं जलालुद्दीन को इस तरह से काट डालूंगा जैसे ककड़ी खीरा हो।

इस तरह के विद्रोहपूर्ण शब्द जब सुल्तान जलालुद्दीन के कान मे पड़े तो उसे बहुत क्रोध आया क्योंकि वह पहले भी कई बार ऐसी बातें सुन चुका था लेकिन

उसने इन बातों पर ध्यान नहीं दिया था। लेकिन इस बार जब उसने ऐसी बातें सुनी तो वह सहन नहीं कर सका और उसी समय उसने शराबी अमीरों को बुलाया और बुलाकर फटकारा तथा अपनी तलवार को जमीन पर फैंक कर ललकारा और सामन्तों से कहा कि, "क्या तुम में से कोई भी तलवार उठाकर मेरे साथ ईमानदारी से लड़ सकता है।" जब सभी अमीरों ने देखा कि सुल्तान का मिजाज बिगड़ रहा है उन्हें अपने भविष्य के बारे में आशंका होने लगी, उनमें से एक चापलूस तथा विनोदी स्वभाव के अमीर ने कहा कि शराबी लोग शराब पीकर हास्यास्पद बातें करते हैं। आप तो हमारे पिता के समान हैं, हम ऐसे सुल्तान का वध कभी नहीं कर सकते। जब नसरतशाह ने इस प्रकार के शब्द सुल्तान से कहे तो सुल्तान की आंखों में यह सुनकर आंसू आ गए और उसने सभी सामन्तों को माफ कर दिया। माफी के पश्चात् सुल्तान ने "दुष्ट अमीरों को अपनी-अपनी जागीर में भेज दिया तथा यह आदेश दिया कि वे लोग एक वर्ष तक वहीं पर ठहरें और नगर में प्रवेश न करें।" सभी अमीरों को इस प्रकार की चेतावनी दे दी गई कि अब वे लोग कभी भी सुल्तान को क्रुद्ध करने का प्रयास नहीं करेंगे। अगर फिर उन्होंने इस तरह का कोई कार्य किया तो उन्हें अर्कली खाँ के सुपुर्द कर दिया जायेगा जिसके कि कठोर दण्ड विधान से सभी अच्छी तरह से परिचित थे।

सीदी मौला का षड्यन्त्र--सुल्तान जलालुद्दीन के विरुद्ध दूसरा षड्यन्त्र सीदी मौला के नेतृत्व में हुआ था। इस समय सुल्तान ने क्रोधवश पहली बार सुल्तान ने "साधारण निर्ममता" का व्यवहार किया। सीदी मौला फारस का एक दरवेश था जो कि बलबन के शासन काल में दिल्ली में ही बस गया था। उसने अजोधन के शेख फरीदुद्दीन गज-ए-शकर से दीक्षा ली थी। उन्होंने उसे राजनीति के मामलों से दूर रहते हुए आध्यात्म चिन्तन का उपदेश दिया था। जब सीदी मौला दिल्ली में आए तो उनके पास सुल्तान से असन्तुष्ट बड़े-बड़े अमीर आने लगे। ये सभी अमीर सुल्तान से किसी न किसी कारण से असन्तुष्ट थे। शाहजादा खान-ए-खाना भी मौला के पास आता था। सीदी मौला गरीब लोगों को भोजन कराने में मुक्त हस्त से व्यय किया करता था। उसने एक खानकाह (मठ) भी बनवाया था। उसी मठ में ही निर्धनों को भोजन कराने की भी व्यवस्था थी। डा. के. एस. लाल के अनुसार "सीदी मौला के खानकाह में तथा उनके नेतृत्व में एक षड्यन्त्र चल रहा था जिसका कि मुख्य कारण सुल्तान की आयु थी जो कि सत्तर वर्ष से भी अधिक हो चुकी थी, ऐसी स्थिति में वह कभी भी मृत्यु का आलिंगन कर सकता था। इस समय सुल्तान के दोनों ही बेटे सिंहासन पर आंख गड़ाए बैठे थे। वे अपनी स्थिति सुल्तान के जीते जी ही सुदृढ़ कर लेना चाहते थे। इसलिए राजधानी में दो दल बन गए थे। एक दल अर्कली खां के नेतृत्व का था, दूसरा दल खान-ए-खाना के नेतृत्व में था जिसने कि सीदी मौला से गठबन्धन कर लिया था। ये दोनों दल एक दूसरे के

प्रतिद्वन्दी हो गए थे।[1] इसामी के अनुसार "इस बात पर सन्देह करने के पूरे कारण हैं कि खान ए खाना सीदी मौला के खानकाह का पूरा व्यय करता था।" मुल्तान के एक गुप्तचर के द्वारा ही सुल्तान को सीदी मौला के खानकाह की पूरी स्थिति का ज्ञान हुआ था। जैसे ही सुल्तान को पूर्ण षडयन्त्र की जानकारी का बोध हुआ उसने तुरन्त ही सभी षडयन्त्रकारियों को गिरफ्तार कर लिया और बेड़ियों में घसीट कर सुल्तान के समक्ष पेश किया गया। सुल्तान के समक्ष आकर उन्होंने अपने आपको निर्दोष बताया। सुल्तान ने उन्हें अपना अपराध स्वीकार करने के लिए कहा लेकिन उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उन दिनों इस प्रकार की प्रथा नहीं थी कि अपराधियों को मार पीट कर उनका अपराध स्वीकार कराया जाय। जब अपराधियों ने किसी भी प्रकार से अपना अपराध कबूल नहीं किया तो सुल्तान ने आदेश दिया कि बुरहानपुर में बड़ी आग जलाई जाय तथा अपराधियों को उस आग पर रखकर सच्चाई मालूम की जाय। जब सुल्तान ने अपराधियों का इस प्रकार का दण्ड दिया तो काजियों ने कहा कि अग्नि परीक्षा शरियत (कानून) के खिलाफ है। सिर्फ एक आदमी के साक्षी के आधार पर किसी को राजद्रोह का अपराधी नहीं माना जाता। काजियों के विरोध करने से सुल्तान ने अग्नि परीक्षा को त्याग दिया। उसने जो सन्देहास्पद अमीर थे उन्हें विभिन्न स्थानों पर भेज दिया और उनकी समस्त सम्पत्ति को जब्त कर लिया गया। जिन्होंने सुल्तान के वध का उत्तरदायित्व सम्भाला था, उन्हें कठोरता से दण्डित किया गया। उसने काजी जलाल काशानी को बदायूं के काजी के पास भेज दिया। तत्पश्चात सीदी मौला को बेड़ियों और जंजीरों से जकड़ कर सुल्तान के सामने लाया गया। जैसे ही सुल्तान ने उसे देखा, देखते ही वह पागल सा हो गया और उसने क्रोधोन्मत्त होकर शेख अबूबकर तुसी जो कि अपने साथियों के साथ उस समय वहां पर उपस्थित था, सुल्तान ने उससे कहा, "ए दरवेशों, मौला से मेरा बदला लो।" उन दरवेशों में से एक दरवेश मौला के ऊपर बुरी तरह झपटा तथा उसने उस्तरे से उसे कई जगह से काट डाला। इसी समय अर्कली खां जो कि महल की छत पर था उसने वहीं से एक महावत को संकेत किया। महावत ने संकेत पाते ही हाथी को मौला के ऊपर चढ़ा दिया और उसे कुचलवा दिया।

सुल्तान ने अभी तक साधारण आदमियों के ही षडयन्त्रों एवं अवैध कार्यों का सामना किया था, उसने उन्हें क्षमा न करने पर भी अधिक कठोर दण्ड नहीं दिया था। लेकिन अब सुल्तान का पाला एक उच्च कोटि के सन्त से पड़ा था जो कि केवल साधुता एवं सिद्धि होने का दिखावा करता था तथा धन और धरती प्राप्त की चेष्टा हत्या द्वारा करता था इसी प्रकार के लोग मुस्लिम समाज के आदर्श

1 के. एस. लाल, वही, पृ. 24

निर्माता थे। इस प्रकार की घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि "सुल्तान के विरुद्ध एक षड़यन्त्र रचा गया था जिससे सीदी गम्भीरता पूर्वक सम्बद्ध था।"

वैदेशिक नीति—सुल्तान जलालुद्दीन ने अपने शासन काल में स्वयं दो अभियान किये—

1. रणथम्भौर अभियान—सीदी मौला के काण्ड के कुछ समय बाद ही खान-ए-खाना की सन्देहास्पद मृत्यु की घोषणा की गई। अर्कली खां को युवराज बना दिया गया। जब 1291 में सुल्तान ने रणथम्भौर पर आक्रमण किया, उस समय अर्कली खां संरक्षक बन कर दिल्ली में ही रहा। रणथम्भौर का मजबूत दुर्ग जिसके लिए बलबन भी कई बार प्रयास करने के बावजूद भी जीतने में असमर्थ रहा था। सुल्तान जलालुद्दीन ने इस पर अधिकार करने के प्रयास प्रारम्भ कर दिये। उसने सर्वप्रथम झांई पर आक्रमण कर दिया तथा उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसके पश्चात एक दल मालवा की ओर भेजा। उसने सफल धावे से लूट का काफी माल प्राप्त किया। झांई पर आक्रमण करने में सुल्तान ने अपनी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया। उसने वहां के मन्दिरों की तथा मूर्तियों की प्रशंसा की लेकिन साथ ही उसने उनके विनाश की आज्ञा दे दी। ब्रह्मा की दो विशाल मूर्तियां जो कि "एक हजार मन से अधिक थी टुकड़े-टुकड़े कर डाली गई। असंख्य टुकड़ों में उन्हें विभाजित कर उन्हें दिल्ली की *जामा मस्जिद के प्रवेश द्वारों पर* डाले जाने के लिए अधिकारियों में बांट दिए गए[1]।" झांई तथा मालवा का विनाश करने के पश्चात सुल्तान रणथम्भौर की ओर बढ़ा। उस समय रणथम्भौर के दुर्ग का राणा किले की स्थिति को सुदृढ़ करके आक्रमण का सामना करने के लिए तैयार था। सुल्तान युद्ध के लिए पूर्ण रूप से तैयार था। उसने मगरबी, साबरत, और गरगच जैसे युद्ध यन्त्रों के निर्माण की आज्ञा दी। इसके पश्चात स्वयं सुल्तान ने किले के चारों ओर का निरीक्षण किया। जब सुल्तान ने दुर्ग का भली-भांति निरीक्षण कर लिया तो उसने दुर्ग की सुदृढ़ता को देखकर यह अनुमान लगाया कि यह सुदृढ़ दुर्ग बहुत से मुसलमानों के बलिदान के नहीं जीता जा सकता है। सुल्तान इस दुर्ग का मूल्य एक मुसलमान के बाल के बराबर भी नहीं समझता था। उसने सोचा कि इस दुर्ग को हस्तगत करने में उसे बहुत से मुसलमानों के जीवन की आहूति देनी पड़ेगी। वह भावुकता में बह गया कि बहुत से मुसलमानों की विधवाएं और अनाथ बच्चे उसके सामने आकर के खड़े हो जायेंगे और इस प्रकार यह लूट एक कटुता में परिवर्तित हो जायेगी। इस प्रकार भावुकता में बह कर सुल्तान ने घेरा उठा लिया और अगले ही दिन दिल्ली की ओर प्रयाण किया। अभी जलालुद्दीन को गद्दी पर बैठे एक ही वर्ष हुआ था तथा खल्जियों के विरोधी अवसर की तलाश में थे। ऐसे समय में उसने राजधानी से बहुत दिनों तक बाहर रहना उचित नहीं समझा और

1. के. एस. लाल, वही, पृ. 29

सेना को घेरा उठाकर दिल्ली लौटने की आज्ञा दे दी। डा पाण्डेय का विद्वता पूर्ण मत है कि जब सुल्तान जलालुद्दीन ने दुर्ग की अभेद्य दीवारों को देखा तथा राजपूतों की शक्ति का अनुमान लगाया तो यह सोचा कि दुर्ग पर आसानी से अधिकार नहीं किया जा सकता है। बरनी के अनुसार सुल्तान ने मुसलमानों को बचाने के लिए ही घेरा उठाया था। लेकिन यह बात उचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि अगर सुल्तान को मुसलमानों को ही बचाने की चिन्ता होती तो वह विजय अभियान को हमेशा के लिए तिलाञ्जली दे देता। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। इस बात से हमें मालूम होता है कि रणथम्भौर से लौटने का कारण सुल्तान की मानसिक दुर्बलता नहीं थी बल्कि उस समय की राजनैतिक परिस्थिति और सैनिक आवश्यकता थी।[1]

मंगोलों के विरुद्ध अभियान—1292 ई में हलाकू के पौत्र अब्दुल्ला ने 15 तुमानों 1 50 000 सैनिकों के साथ भारत पर आक्रमण किया तथा धीरे धीरे वह सुनाम तक बढ़ आया। जब सुल्तान को इसकी सूचना मिली तो वह भी अपनी विशाल सेना को लेकर बहराम पहुंच गया तथा नदी के पूर्वी तट पर मंगोलों का मार्ग रोकने के लिए पड़ाव डाल दिया। लेकिन किसी तरह से मंगोलों की सेना का एक बड़ा दल नदी पार करने में समर्थ हो गया। मुसलमानों ने उन पर भीषण युद्ध करके उन्हें पराजित कर दिया। पराजित करने के पश्चात हजारों मंगोलों को युद्ध में बन्दी बनाया गया। बाद में दोनों पक्षों में सन्धि हो जाने पर अब्दुल्ला अपने देश को वापस चला गया। लेकिन चंगेजखाँ के एक पुत्र उलूगखाँ ने भारत में ही ठहरने का निश्चय कर लिया। उसने अपने अमीरों तथा सैनिकों को भी भारत में ही रोक लिया।

बरनी उलूगखाँ तथा उसके सभी साथी कलमा पढ़कर मुसलमान हो गए। सुल्तान ने अपनी एक पुत्री का विवाह उलूगखाँ से कर दिया। सुल्तान ने उनके रहने की बहुत ही अच्छी व्यवस्था की थी। उसने कीलूगढ़ी गियासपुर इन्द्रपथ (इन्द्रप्रस्थ) तथा तालुका में उनके रहने का प्रबन्ध कर दिया गया। लेकिन वे लोग अधिक समय तक भारत में नहीं रुक सके क्योंकि नगर के मकान वहाँ की जलवायु उनको अनुकूल नहीं हुई इसलिए वे सब अपने परिवार सहित स्वदेश लौट गए उनके कुछ मुखिया लोग ही भारत में रह गए। नगर के जिस हिस्से में ये लोग रहते थे वह मुगलपुर कहलाता था।

सुल्तान का भतीजे से मिलन और वध—सुल्तान जलालुद्दीन को अपने गुप्त चरों द्वारा ज्ञात हुआ कि अलाउद्दीन चन्देरी नहीं गया बल्कि उसने देवगिरी पर आक्रमण करके वहाँ की अतुल धन राशि प्राप्त करके वापस लौट रहा है। उस समय सुल्तान ग्वालियर में था। जब सुल्तान ने अलाउद्दीन की विजय के बारे में

---

1 ए बी पाण्डेय वही पृ 132

सुना तो वह बहुत खुश हुआ क्योंकि वह सोच रहा था कि उसका भतीजा इस बार भी लूट का सारा सामान उसके चरणों में अर्पित कर देगा, जैसा कि उसने भिलसा विजय के समय किया था। यह सोच कर सुल्तान ने भतीजे की विजय के उपलक्ष में अनेक उत्सव मनाए और अपना निजी दरबार लगाया। उसमें अपने सभी विश्वस्त सलाहकारों को ही बुलवाया और उनसे राय ली कि उसे राजधानी लौट जाना चाहिए या अलाउद्दीन से मिलने जाना उचित होगा। अहमद चप जो कि उस समय नायब बारबक था जो कि बहुत ही बुद्धिमान तथा व्यवहारिक व्यक्ति था उसने सुल्तान से यह निवेदन किया कि बुद्धिमान लोगों का यह विचार है कि धन और संघर्ष या संघर्ष और धन दोनों का आपस में परस्पर सम्बन्ध है। अलाउद्दीन ने आपकी अनुमति के बिना ही विदेश में जाकर युद्ध किया तथा वहां पर कोश प्राप्त कर लिया है, अभी वह उन विद्रोहियों तथा उत्पातियों से घिरा हुआ है जो कि मलिक छज्जू के समर्थक थे। अहमद चप ने कहा, इस समय जितनी जल्दी हो सके हमें चन्देरी की ओर प्रयाण कर देना चाहिए। उसका सामना करके उसे आगे बढ़ने से रोक देना चाहिए। ऐसा करने से जब वह अपने रास्ते में सेना देखेगा तो लूट का सारा माल उसके सैनिकों में वितरित कर देगा। उसकी जागीर भी बढ़ा दी जाय और वहां से अलाउद्दीन को सम्मान पूर्वक दिल्ली लाया जाय, लेकिन सुल्तान ने इस परामर्श को नहीं माना। उसने दूसरे अमीरों की सलाह पर दिल्ली लौटने का निश्चय कर लिया। इधर अलाउद्दीन ने एक कपट पूर्ण योजना बनाई और एक कपटभरा पत्र जलालुद्दीन को लिखा, जिसमें कि उसने डरने का अभिनय किया कि मैं आपके सम्मुख उपस्थित होने का साहस नहीं कर सकता, अगर आप पत्र द्वारा आश्वस्त करें तो मैं आपके सम्मुख उपस्थित होने का साहस कर सकता हूं। उसने पत्र में यह भी लिखा कि वह लूट का भारी धन और हाथी, घोड़े सुल्तान को भेंट करना चाहता है। जब इस प्रकार का पत्र सुल्तान को मिला तो सुल्तान ने अपने हाथ से एक स्नेह पूर्ण पत्र लिखा और अपने विश्वस्त कर्मचारियों के साथ कड़ा भेज दिया। जब वे पत्र लेकर कड़ा पहुंचे तो वहां जाकर उन्होंने देखा कि अलाउद्दीन और उसकी सेना सुल्तान के विरुद्ध है, लेकिन सुल्तान तक इस बात की सूचना उसके कर्मचारी नहीं पहुंचा सके क्योंकि वर्षा आ जाने से सारे मार्ग अवरुद्ध हो गए थे। अलाउद्दीन को इस बात की पूरी आशा थी कि लूट का माल लेने के लिए सुल्तान अपने कुछ आदमियों को लेकर जरुर आएगा और उसी समय उसे समाप्त कर उससे छुटकारा पा लिया जायेगा।

इस प्रकार से अलाउद्दीन की कपट पूर्ण चाल सफल हुई। उसने अपने भाई अलमास बेग को पत्र लेकर सुल्तान के पास भेजा। जब अलमास बेग ने अपने भाई का पत्र सुल्तान को दिखाया तो वृद्ध सुल्तान जो कि निष्कपट था, उसने अलमासखां को कड़ा की ओर रवाना कर दिया। उसने अलाउद्दीन से यह कहलवाया कि वह कहीं भी न जावे। उसने अलमास की खुशी में खूब नौबतें बजवाई तथा अलाउद्दीन

और सभी ओर घुमाया गया तथा अवध में आतंक फैलाने के लिए इस सिर की प्रदर्शनी की गयी। इस प्रकार सुल्तान जलालुद्दीन का अन्त करके कड़ा में षड़यन्त्र-कारियों ने शाही छत्र को अलाउद्दीन के ऊपर लगा कर उसे सुल्तान घोषित कर दिया।

जलालुद्दीन फिरोज शाह का मूल्यांकन—जलालुद्दीन एक सफल सैनिक नेता, शासक एवं वीर योद्धा था। उसने गद्दी पर बैठने के पश्चात उदारवादी नीति से काफी सफलता प्राप्त कर ली थी डॉ. पाण्डेय का कथन है—"जलालुद्दीन पहला शासक था जिसने उदारता को शासन की आधारशिला बनाने का प्रयास किया।" उसने गद्दी पर बैठने से पूर्व तथा बाद में अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की थी। वह निरर्थक रक्तपात नहीं बहाना चाहता था, इसी कारण उसने रणथम्भौर के दुर्ग से अपने घेरे को उठा लिया था और मंगोलों से मित्रता पूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये थे। वह शासन का आदर्श कठोरता को नहीं मानता था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी सुल्तान को निरंकुशता के उस युग में उदारवादी और समन्वयकारी नीति को प्रयोग में लाने वाला माना है। सुल्तान कायर नहीं था यह निश्चित है, क्योंकि सल्तनत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा उसने समुचित रूप से की थी। उसने मंगोलों को पराजित कर उन्हें सन्धि के लिए बाध्य किया और दिल्ली में शान्तिपूर्वक बसने के लिए तत्पर किया।

डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है कि, "ऐसा अकुशल शासक निश्चित ही दिल्ली की गद्दी के अयोग्य था और कभी भी कोई व्यक्ति राजमुकुट धारण करने के लिए इतना अयोग्य सिद्ध नहीं हुआ जितना खल्जी वंश का यह संस्थापक।" परन्तु इसके बाद भी उसके प्रति सहानभूति प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है कि, "एक शासक के रूप में असफल होने पर भी फीरोज एक भद्र पुरुष और अपने समय का एक अत्यन्त पवित्र मुसलमान था।"

अलाउद्दीन खल्जी (1296–1366 ई.)

प्रारम्भिक जीवन—1296 ई. में अपने श्वसुर व चाचा जलालुद्दीन खल्जी का वध कर अलाउद्दीन दिल्ली की गद्दी पर बैठा। शिहाबुद्दीन मसूद के ज्येष्ठ पुत्र अलीगुरशास्प को नये खिताब से गद्दी पर बैठाने से पहले उसके चाचा जलालुद्दीन का कटा हुआ सिर भाले की नोंक पर उसके शिविर में घुमाया गया जिससे कि सैनिक उसकी मृत्यु से परिचित हो जावें। अलाउद्दीन ने तुरन्त दिल्ली पर अधिकार करने की तैयारियां की और अमीरों के माध्यम से नये सैनिकों की भर्ती की जाने लगी। अलाउद्दीन को मृत सुल्तान के पुत्र अर्कली खां से अत्यधिक भय था जो इस समय मुल्तान का गवर्नर था। उसमें अद्वितीय सैनिक प्रतिभा थी और स्वयं अलाउद्दीन उसके इस गुण से प्रभावित था। अलाउद्दीन का सौभाग्य था कि अर्कली खां ने कोई प्रतिकारात्मक नीति नहीं अपनाई और वह मुल्तान में ही बना रहा।

अलाउद्दीन वर्षा के कारण दिल्ली पर एकदम आक्रमण नहीं कर सका परन्तु उसने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में लोगों को अपनी ओर मिलाने के लिए धन लुटाना गया। धन लुटाने में उसने बड़ी ही सहृदयता से काम लिया और यदि बरनी के विवरण को स्वीकार किया जावे तो मजनिक की सहायता से प्रत्येक मंजिल पर पांच मन सोने के तार लुटाये जाते थे। कुछ ही समय में चारों ओर अलाउद्दीन की इस सहृदयता का समाचार फैल गया और असंख्य लोग इसकी प्राप्ति के लिये इकट्ठे होने लगे। सोने की चमक ने हत्या के पाप को ढक दिया।

अलाउद्दीन जब दिल्ली की ओर बढ़ रहा था तब ही सुल्तान रुकनुद्दीन ने दिल्ली से ताजुद्दीन कूची आमूर बेग अमीर अली, अमीर कला, हिरनमार आदि को अलाउद्दीन की सेना के विरुद्ध भेजा, परन्तु वे वहां पहुँच कर शत्रु से मिल गये। अलाउद्दीन ने इनको खूब सोना लुटाया और यदि बरनी की बात को स्वीकार किया जावे तो इन अमीरों और मलिकों को 20 से 50 मन तक सोना दिया गया।

दूसरी ओर जब मलिक-ए-जहां को सफलता की कोई आशा न रही तो उसने अपने बड़े पुत्र अर्कली खां को एक पत्र लिखा कि, "तुम्हारे होते हुए मैंने अपने सबसे छोटे पुत्र को गद्दी पर बैठाकर अपराध किया है। मलिक और अमीर उसकी आज्ञाओं की अवज्ञा करते हैं और उनमें से बहुत सारे अलाउद्दीन से मिल गये हैं। तुम शीघ्र आकर अपने पिता का सिंहासन ग्रहण करो।" अर्कली खां ने इसको कभी गम्भीरता से नहीं लिया और क्योंकि वह जानता था कि अमीरों तथा मलिकों के अलाउद्दीन के साथ मिल जाने के बाद वहां जाना निरर्थक होगा।

अलाउद्दीन आगे बढ़ता हुआ यमुना नदी तक पहुँच गया जहां उसने अमीरों में सोना लुटाकर और अधिक अमीरों को अपनी ओर मिला लिया। यमुना में बाढ़ आने के कारण वह कुछ समय वहां रुका और फिर बाढ़ उतरते ही उसने यमुना पार की और दूसरे तट पर अपना शिविर गाड़ दिया। रुकनुद्दीन इब्राहीम ने उसके विरुद्ध युद्ध की तैयारी की परन्तु युद्ध के पहले उसकी सेना का एक बड़ा भाग अलाउद्दीन के पक्ष में चला गया। उसका पक्ष अत्यधिक निर्बल हो चुका था और उसने ऐसी स्थिति देखकर यही अच्छा समझा कि वह भाग निकले। मलिका-ए-जहां, हरमों और अहमद चप आदि को लेकर वह गजनी दरवाजे से मुल्तान की ओर भाग गया।

दिल्ली में अलाउद्दीन का राज्यारोहण और नियुक्तियाँ—20 अक्टूबर सन् 1296 ई. को विजयी अलाउद्दीन ने एक विशाल सेना के साथ दिल्ली में प्रवेश किया। वह दौलतखाने-ए-जुलूस में गद्दी पर बैठा। कौशक-ए-लाल (लाल महल) को, जहां पहले बलबन रहता था, उसने अपना निवास स्थान बनाया। अलाउद्दीन के

नाम का खुतबा पढ़ा गया और सोने के सिक्के ढाले गये। जनसाधारण को उदारता से उपहार दिये गये और कुछ समय के लिए चारों ओर मस्ती का आलम छा गया। सेना को पुरस्कार-स्वरूप 6 माह का वेतन दिया गया। अलाउद्दीन की दानवीरता ने लोगों के मस्तिष्क से जलालुद्दीन के हत्याकांड को भुला दिया। अलाउद्दीन ने जलाली अमीरों को राज्य के ऊँचे-ऊँचे पद देकर, उनका समर्थन प्राप्त किया। जलालुद्दीन का प्रसिद्ध ख्वाजा जहान (प्रधान मन्त्री) ख्वाजा खातीर अपने पूर्वपद पर स्थाई कर दिया गया। काजी सद्र-ए-जहां आरिफ को काजी-ए-मुमालिक (मुख्य न्यायाधीश) नियुक्त किया गया। मलिक उम्दातुल्मुल्क को दीवान-ए-इंशा (राज्य सचिव) नियुक्त किया गया और उसके दो लड़कों, हमीजुद्दीन और एजुद्दीन, में से पहला दरबार के निरीक्षकों में सम्मिलित कर लिया गया और दूसरा पत्र व्यवहार विभाग का अधीक्षक बना दिया गया। सैय्यद अजल को शैखुल इस्लाम के पद पर बना रहने दिया गया, नुसरत खाँ जलेसरी दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया गया व मलिक फखरुद्दीन कूची दादवेग-ए-हजरत (राजधानी का न्यायाधीश) बना। मुल्तान जलालुद्दीन के एक अमीर मलिक आबाजी को शाही पशु-शाला का अधीक्षक (अखूर वेग) बनाया गया। हिजाबुद्दीन जफर खां, जो बाद में अपने पद के योग्य सिद्ध हुआ, युद्ध मन्त्री (आरिज-ए-मुमालिक) नियुक्त किया गया। जियाउद्दीन बरनी का चाचा मलिक अलाउलमुल्क कड़ा का सूबेदार नियुक्त किया गया, जबकि उसका पिता मुईलमुल्क बारन का। मलिक जूना अपने पुराने पद नायब वकील-ए-दर के पद पर बना रहा।

अलाउद्दीन की समस्यायें—अलाउद्दीन जब गद्दी पर बैठा तो उसके सामने अनेक तत्कालीन एवं दूरगामी समस्यायें उपस्थित थी।

अलाउद्दीन ने सुल्तान जलालुद्दीन की हत्या करके गद्दी हथियाई थी, इसलिए अनेक जलाली सरदार उसे हत्यारा मानकर गद्दी से अपदस्थ करना चाहते थे जिनमें अहमद चप अग्रणी था।

मुल्तान और सिन्ध में अर्कली खां ने अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिया था।

सीमान्त पर मंगोलों के आक्रमण का भय पहले की तरह ही बना हुआ था।

पंजाब में गक्खर उद्दण्ड हो रहे थे। बंगाल बलबन के वंश के उत्तराधिकारियों के कब्जे में था। बिहार और उड़ीसा में स्वतन्त्र हिन्दू और मुस्लिम राज्य स्थापित हो गये थे। मालवा, उज्जैन और बुन्देलखण्ड पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे थे। अवध, बनारस और गोरखपुर के प्रदेशों में मुस्लिम सत्ता क्षीण और दुर्बल थी। अलाउद्दीन ने देवगिरि को विजय किया था, किन्तु उसके लौटते ही यादवों ने अपनी खोई हुई स्थिति प्राप्त कर ली थी। वारंगल, द्वारसमुद्र तथा चोल, चेरों और पाण्ड्यों द्वारा शासित शक्तिशाली राज्य मुस्लिम आक्रान्ताओं

से परिचित थे। गुजरात में राज्य पर बघेलों का शासन था। चित्तौड़ और रणथम्भौर के राज्य दिल्ली सल्तनत के लिए खतरे की घण्टी थे। इस प्रकार देश की राजनैतिक स्थिति अस्त-व्यस्त और असंगठित थी।

जलालुद्दीन के मरते ही चारों ओर अव्यवस्था का बोलबाला हो गया था। अलाउद्दीन ने सूझबूझ, कुटिलता और साहस से काम लिया और सभी कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना किया। उसने प्रजा को अपने पक्ष में किया, गद्दी के दावेदारों को नष्ट किया, विद्रोही सरदारों तथा अमीरों का दमन किया तथा दूरवर्ती प्रदेशों में सल्तनत की सत्ता स्थापित की। उसने कठोर शासन प्रणाली लागू की, नये-नये राज्यों को जीतकर सल्तनत की शक्ति और गौरव में वृद्धि की। विदेशी आक्रमणों से राज्य की रक्षा की तथा खिल्जी साम्राज्यवाद और खिल्जी निरंकुशता का सिक्का जमाया।

अलाउद्दीन द्वारा जलालुद्दीन के परिवार का विनाश—दिल्ली पर अपना अधिकार जमाने के बाद अलाउद्दीन ने सबसे पहले जलालुद्दीन खल्जी के जीवित पुत्र जो गद्दी के दावेदार हो सकते थे उनको समाप्त करने की नीति अपनाई। अर्कली खां और रुकनुद्दीन इब्राहीम अभी मुल्तान में स्वतन्त्र थे और यह सम्भावना थी कि वे किसी दिन भी अलाउद्दीन के लिए एक विकट समस्या खड़ी कर सकते हैं। सुल्तान अलाउद्दीन ने सबसे पहले इन्हीं की ओर ध्यान दिया और अपने विश्वासपात्र उलुग खां व जफर खां को 30–40 हजार सैनिकों सहित मुल्तान की ओर नवम्बर 1296 में भेजा। मुल्तान को घेर लिया गया और फिर कुछ समय बाद अमीरों ने अर्कली खां का साथ छोड़कर सुल्तान की सेना का पक्ष ले लिया। अर्कली खां के पास समझौता करने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा न था, अतः उसने मध्यस्थता के लिए अपने एक विश्वासपात्र को सुल्तान की सेना में भेजा। अर्कली खां और रुक्नुद्दीन इब्राहीम उलुग खां के शिविर में पहुंचे, जहां उनके साथ सम्मानित व्यवहार किया गया। दोनों शहजादों और जलालुद्दीन के परिवार के अन्य लोगों के साथ सुल्तानी सेना दिल्ली की ओर बढ़ी परन्तु मार्ग में ही सुल्तान के आदेशानुसार दोनों ही शहजादों, अहमद चप तथा जलालुद्दीन के दामाद मलिक अलगू को अन्धा कर दिया गया। तत्पश्चात् इन्हें हांसी के कोतवाल को सौंप दिया गया जिसने शहजादों और उनके पुत्रों की हत्या करवा दी। जलालुद्दीन की रानी मलिका-ए-जहां और अन्य बेगमों को अहमद चप के साथ दिल्ली में बन्दी बनाकर रक्खा गया।

अमीरों का दमन—अब जलालुद्दीन के परिवार से निपटकर अलाउद्दीन एक ओर से बिल्कुल सन्तुष्ट था। उसने अब जलालुद्दीन के अमीरों की ओर ध्यान दिया क्योंकि वे किसी भी समय उसके लिए कठिनाई उत्पन्न कर सकते थे। सुल्तान की विजय के बाद 1297 ई. में नुसरतखां को वजीर बनाया गया जिसने सबसे पहले अमीरों से उस सम्पत्ति को हथियाया जो सुल्तान ने उन्हें अपने पक्ष में करने के लिये

पुरस्कार-स्वरूप दी थी। नुसरतखाँ की इस नीति से राजकोष पुनः धन-धान्य से पूर्ण हो गया।

1297 से 1299 के बीच मंगोलों के दो आक्रमणों को विफल कर अलाउद्दीन ने अपनी शक्ति का प्रमाण दिया। उसने उन सभी जलाली अमीरों को दण्डित किया जो सोने की चमक से अपने स्वामी का साथ छोड़ उससे आ मिले थे। अलाउद्दीन यह समझता था कि यदि ऐसे अमीर मृत सुल्तान के प्रति स्वामीभक्त नहीं हो सकते हैं तो उनकी निष्ठा संदिग्ध है और वे उसके प्रति कभी भी वफादार न होंगे। उसने उनकी सम्पत्ति, जागीर, पद आदि जब्त कर लिये, अनेकों को अंधा करवा दिया तथा कारागार में डाल दिया। परन्तु अलाउद्दीन ने उन अमीरों के साथ उचित व्यवहार किया जिन्होंने उसके सोने और चाँदी को ठुकरा दिया था तथा उसका पक्ष लेने से मना कर दिया था। इनमें मलिक कुतुबुद्दीन, मलिक नासिरुद्दीन और मलिक जलाल प्रमुख थे। गद्दी के दावेदारों और जलाली अमीरों का विनाश करने के बाद अलाउद्दीन ने चैन की सांस ली और 1299 ई. में उसकी सेनायें विजय अभियानों के लिए मुक्त हो गईं। इस बीच केवल मुल्तान के अभियान के अलाउद्दीन ने और कोई सैनिक अभियान नहीं किया था।

खल्जियों का राजत्व सिद्धान्त—इल्बरी तुर्कों ने राजत्व के सिद्धान्तों में न केवल फारस के राजत्व सिद्धान्तों को अपनाया अपितु साथ ही साथ उन्होंने उन तत्वों को भी जन्म दिया जो भविष्य में दिल्ली सल्तनत के साथ जुड़े रहे। उन्होंने चुनाव के सिद्धान्त को वंशानुगत सिद्धान्त के साथ मिलाने का प्रयास किया परन्तु राजनैतिक अनुभवहीनता और उस समय की राजनीतिक स्थिति के कारण वे किसी निश्चित हल को नहीं निकाल पाये। डा. त्रिपाठी के अनुसार वे साधारण वर्ग पर केवल यह प्रभाव छोड़ सके कि तुर्क-जन्मजात शासक हैं और प्रभुसत्ता पर उनका अधिकार है।

इल्बरी तुर्कों की इस धारणा का गैर-तुर्कों ने विरोध किया। खल्जी विद्रोह ने इस इल्बरी कुलीनतन्त्र का अन्त कर दिया। यदि खल्जियों ने ताज की गरिमा को विकसित होने दिया होता तो सम्भवतः सैनिकवाद के तत्व समाप्त हो जाते और आज्ञाकारिता, अधिकार और कर्त्तव्यों की परम्परा निखर उठती। डा. त्रिपाठी ने लिखा है कि, "खल्जी विद्रोह ने राज्य के प्रशासनिक-पक्ष को समाप्त कर, सैनिक-पक्ष की भयानक परिपाटी को स्थापित किया जिसने दिल्ली सल्तनत की जीवन-शक्ति को निस्सार बना दिया।"

खल्जी विद्रोह का आधार सैनिक शक्ति था। मंगोलों के विरोध में उन्होंने जो सफलता प्राप्त की थी उससे वे अधिक महत्वाकाँक्षी हो गये थे। बंगाल में स्वतन्त्र शक्ति के उपभोग करने में इल्बरी कुलीनतन्त्र उनके लिये बाधक था और इसलिये वे ऐसे अवसर की तलाश में थे जब वे इस कुलीनतन्त्र को अलग कर अपनी

श्रेष्ठता स्थापित कर सकें। कैकूबाद की बीमारी ने उन्हें यह अवसर दिया और अमीरों ने यह निर्णय लिया कि क्यूमर्स को सुल्तान बना कर मलिक छज्जू को उसका सरक्षक बना दिया जावे। परन्तु मलिक छज्जू ने सरक्षक बनने की अपेक्षा कड़ा की सूबेदारी को अधिक महत्व दिया। इसलिये जलालुद्दीन खल्जी को क्यूमर्स के 'नाइब' के रूप मे नियुक्त किया गया। डा त्रिपाठी का मत है कि, 'यद्यपि इस व्यवस्था मे कुछ लाभ अवश्य थे, परन्तु इसको मुराद अथवा दूरदर्शितापूर्ण कहना उचित न होगा।"

यद्यपि इस व्यवस्था के आधार पर बलबन के वश के प्रति सम्मान अवश्य दिखाया गया, परन्तु एक, तीन वर्ष के बालक को गद्दी पर बैठाने का प्रयोग अधिक समय तक चलना सम्भव नहीं था। जलालुद्दीन ने तीन महीने तक क्यूमर्स के नाम पर राजसत्ता का उपभोग किया। तुर्क तथा खल्जी दोनों इस काल मे एक दूसरे पर शक करते थे। तुर्कों ने जलालुद्दीन के वध की असफल योजना बनाई और जलालुद्दीन ने प्रतिक्रिया फलस्वरूप सुल्तान क्यूमर्स की हत्या कर सत्ता को हथिया लिया।

इस विद्रोह अथवा हत्या ने पुन. यह स्पष्ट कर दिया कि कुशल सैनिक की तुलना मे जनमत अधिक महत्व रखता है, क्योंकि जनमत के विरोध के कारण ही जलालुद्दीन 12 महीनो तक राजधानी मे जाने का साहस न कर सका। इस काल मे वह किलोखेरी से ही शासन करता रहा। उसकी अप्रियता इससे भी स्पष्ट है कि जब बलबन के भतीजे मलिक छज्जू ने विद्रोह किया तो दिल्ली की जनता जलालुद्दीन के विरुद्ध छज्जू का स्वागत करने के लिये तत्पर हो गई।

जलालुद्दीन ने यह अच्छा समझा कि अपने विरोधियो के साथ उदार व्यवहार करके उन्हें जीत ले। उसने उनके प्रति विनम्रता दिखाई। बरनी के अनुसार जब वह बलबन के किले मे गया तो बाहर ही फाटक पर घोड़े से उतर पड़ा और सिंहासन पर बैठने से मना कर दिया। बरनी ने लिखा है कि वह कहता था कि, "वह उस सिंहासन पर कैसे बैठ सकता है जिसके सामने भय और सम्मान से वह घटो खड़ा रहा करता था।"

जलालुद्दीन ने दया व नम्रता से शासन चलाने की नीति अपनाई इसलिये नहीं कि वह कमजोर था अपितु उसका राज्य-आदर्श ही इस प्रकार का था। परन्तु इस नीति से लोग उससे घृणा करने लगे। रणथम्भौर के विरुद्ध असफलता ने उसके सैनिक गुणों को भी धो दिया और अलाउद्दीन ने इसका लाभ उठाकर उसका वध कर दिया।

जलालुद्दीन के समय मे सैनिकवाद व हितैषी शासन के बीच जो सघर्ष चल रहा था वह समाप्त हुआ और अलाउद्दीन खल्जी ने सत्ता को प्राप्त कर राजसत्ता के क्षेत्र मे नये तत्व जोड़ दिये।

बरनी ने अलाउद्दीन और बयाना के काजी मुगीसुद्दीन के बीच हुये वार्तालाप का जो वर्णन दिया है उसमें अलाउद्दीन के राजत्व सिद्धान्त पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। गद्दी पर अपनी पकड़ को दृढ़ करने के बाद उसने बलबन की तरह सुल्तान की निरंकुशता पर बल दिया। उसने भी इस बात को दोहराया कि सुल्तान पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है और इसलिये उसकी आज्ञा ही कानून है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के मामलों में वह ऐसे ही आदेश देता था जिन्हें वह लोकहितकारी समझता था चाहे वे कानून के अनुसार हों अथवा नहीं। वह आवश्यक नहीं समझता था कि इस क्षेत्र में उलेमाओं से किसी प्रकार का परामर्श करे अथवा धर्म को राजनीति में हस्तक्षेप का अवसर दे। वह यह मानने को तैयार नहीं था कि राज्य धर्म से नेतृत्व ले, इसलिये उसने न तो इस्लाम की दुहाई दी और न ही खलीफा के नाम का प्रयोग किया। दिखावे मात्र के लिये वह खिलाफत के प्रति श्रद्धांजली अर्पित करता रहा, बरनी के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है। उसने काजी मुगीसुद्दीन को दिये गये उत्तर का वर्णन इस प्रकार किया है, "मौलाना मुगीस, न मुझे कुछ ज्ञान है और न मैंने कोई पुस्तक पढ़ी है, तब भी मैं मुसलमान पैदा हुआ था तथा मेरे पूर्वज पीढ़ियों से मुसलमान रहे हैं। उन विद्रोह को रोकने के लिये जिनमें हजारों जीवन नष्ट हो जाते हैं, मैं अपनी प्रजा को ऐसे आदेश देता हूँ जो मैं उनकी और राज्य की भलाई के लिये उचित समझता हूँ। मैं ऐसे आदेश देता हूँ जो मैं राज्य के लिये लाभदायक और परिस्थितियों के अनुकूल समझता हूँ। मैं नहीं जानता कि 'शरा' उनकी आज्ञा देता है अथवा नहीं। मैं नहीं जानता कि 'कयामत' (अन्तिम निर्णय) के दिन खुदा मेरे साथ क्या व्यवहार करेगा।" स्पष्ट है कि अलाउद्दीन पहला सुल्तान था जिसने धर्म का प्रभाव राजनीति पर स्वीकार नहीं किया अपितु धर्म को राज्य के नियन्त्रण में ले आया और ऐसे तत्वों को जन्म दिया जिनसे कम से कम सिद्धान्त: राज्य असाम्प्रदायिक आधार पर खड़ा हो सकता था। पर इससे यह परिणाम निकालना कि वह इस्लाम विरोधी था किसी आधार पर ठीक न होगा। डा. त्रिपाठी के अनुसार उसने कोई भी ऐसा कार्य नहीं किया जो इस्लाम-विरोधी हो अथवा इस्लामी देशों की मान्य प्रथाओं के विरोध में हो। वास्तविकता यह है कि वह भारत के बाहर इस्लाम का समर्थक ही माना जाता था। यद्यपि बरनी ने इसका खण्डन किया है परन्तु अमीर खुसरो के विवरण से इसकी पूरी तरह पुष्टि होती है। इसी प्रकार यदि उलेमाओं के द्वारा दी गई सलाह यदि उसके आदर्शों से मेल खाती थी तो वह निस्संकोच उसे स्वीकार करने को भी तत्पर रहता था। काजी मुगीसुद्दीन द्वारा हिन्दुओं के प्रति किये जाने वाले व्यवहार की परिभाषा क्योंकि उसके अनुकूल थी इसलिये उसने उसे स्वीकार कर लिया। धर्म के आधार पर यदि राजनैतिक निरंकुशता को बनाये रखने में सहायता मिलती हो तो वह उसे मान्य थी। परन्तु यह मान्यता धर्म का प्राबल्य साबित करने की अपेक्षा उसकी राजनीतिक

धारणाओं की पुष्टि के रूप में ही थी। धर्म राज्य के अधीन था न कि राज्य धर्म के। इस प्रकार उसके शासन-व्यवस्था में उलेमाओं के प्रभाव को नष्ट कर दिया परन्तु यदि उसे भारतीय राजाओं के विरुद्ध मुसलमानों की धर्मान्धता का लाभ उठाने की आवश्यकता अनुभव हुई तो उसने उनकी धार्मिक भावनाओं को उत्तेजित कर उसका पूरा लाभ उठाया।

अलाउद्दीन ने इस प्रकार राज्य की नीति-निर्धारण में किसी व्यक्ति अथवा दल-विशेष की सहायता न ली। उसने अमीरों को इतना आतंकित कर दिया था कि राज्य में केवल दिल्ली के कोतवाल अला-उल-मुल्क के अतिरिक्त किसी दूसरे अमीर का साहस न था कि वो उसे सलाह दे सके। अमीरों की स्थिति उसके स्वामिभक्त सेवकों जैसी रह गयी। उनकी वह शक्ति जिसके आधार पर वे इल्बरी वंश के शासकों को अपनी मर्जी के अनुसार गद्दी पर बैठाते अथवा उतारते थे समाप्त हो गई। अलाउद्दीन ने स्वयं को सर्वोपरि बना लिया। उसके समय में शासन का केन्द्रियकरण पूर्णता पर था और निरंकुशता अपनी चरम सीमा को छू रही थी। इस क्षेत्र में उसकी तुलना सहज ही में फ्रांस के शासक लुई चौदहवें से की जा सकती है।

चित्तौड़ की विजय के पश्चात् अलाउद्दीन ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को युवराज घोषित कर उसे राज्य चिन्ह प्रदान कर दिये। परन्तु शासन के अन्तिम समय में इब्नबतूता के अनुसार मलिक काफूर से प्रभावित हो अथवा अपने पुत्र की आरामदेह प्रवृत्ति को देखकर उसने अपने चतुर्थ पुत्र (आयु 5 अथवा 6 वर्ष) शहाबुद्दीन को अपना उत्तराधिकारी नामजद किया। एक अल्पवयस्क को नामजद करना और विशेषकर उस समय जबकि उसके तीन वयस्क पुत्र जीवित हों, किसी प्रकार से खल्जी अथवा मुस्लिम वर्ग के हित में नहीं था।

परन्तु नामजदगी एक सर्वमान्य सिद्धान्त था और मलिक काफूर की सहायता से इसे प्रत्यक्ष रूप से स्वीकृति भी मिल गई थी। परन्तु मुस्लिम अमीर इससे प्रसन्न नहीं थे और जब मलिक काफूर ने प्रभुसत्ता पर अपना अधिकार जमा लिया तो अलाउद्दीन की मृत्यु के केवल 36 दिन के अन्दर ही उसका वध कर दिया गया। अमीरों ने मुबारकशाह को प्रारम्भ में शासक शहाबुद्दीन का नायब नियुक्त किया, परन्तु 64 दिन की रीजेन्सी में ही अपने प्रभाव और अमीरों के सहयोग से उसने इस नवाब को उतार प्रभुसत्ता को प्राप्त कर लिया।

मुबारकशाह का 4 वर्ष का अल्पकालीन राज्य प्रभुसत्ता के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना थी। शक्तिशाली अलाउद्दीन जिस कार्य को करने में असमर्थ रहा वह उसने कर दिखाया। वह पहला सुल्तान था जिसने खिलाफत से सम्पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद कर दिये और इस प्रकार किसी भी बाहरी शक्ति की अधीनता को मानने से दिल्ली सल्तनत को स्वतन्त्र कर दिया। वह इससे ही सन्तुष्ट न था अपितु उसने

स्वयं को महान् ईमाम घोषित किया। इस प्रकार उसने प्रत्यक्ष रूप से दिल्ली सल्तनत को पूर्ण सत्ताधारी बना दिया।

डा. त्रिपाठी ने लिखा है कि इस प्रकार खल्जियों ने न तो जातीय श्रेष्ठता न ही चुनाव अथवा खलीफा की स्वीकृति से प्रभुसत्ता प्राप्ति के अधिकार का दावा किया। उनका आधार एक मात्र शक्ति था और इसीलिए मुस्लिम प्रभुसत्ता के विकास में यह एक महत्वपूर्ण कड़ी है। खल्जियों ने प्रभुसत्ता के क्षेत्र में दो महत्वपूर्ण योगदान दिये—प्रथमतः प्रभुसत्ता किसी विशेष वर्ग की बपौती नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार-क्षेत्र में है यदि वह योग्य व शक्तिशाली हो और द्वितीय प्रभुसत्ता धार्मिक वर्ग के सहयोग के बगैर भी अक्षुण्ण रक्खी जा सकती है।

अलाउद्दीन का साम्राज्य विस्तार—अलाउद्दीन की आकांक्षाएँ साम्राज्यवादी थीं। स्वतन्त्र राज्यों को जीतकर उनको अपने अधीन करना अथवा उनसे अपनी अधीनता स्वीकार करवा कर वार्षिक खिराज वसूल करना उसकी साम्राज्यवादी नीति का उद्देश्य था। उसने 'सिकन्दर द्वितीय' की उपाधि धारण की थी और वह सम्पूर्ण विश्व को जीतने के स्वप्न देखता था। अपने मित्र, दिल्ली के कोतवाल अला-उल-मुल्क की सलाह को मानकर उसने अपनी विजय योजना को भारतीय सीमाओं तक ही सीमित रखा। बरनी ने लिखा है कि अला-उल-मुल्क ने कहा था, "आपके सामने दो महत्वपूर्ण कार्य हैं। सबसे पहले आपको इन पर ध्यान देना चाहिए। सर्वप्रथम तो हिन्दुस्तान की विजय है जिसमें रणथम्भौर, चित्तौड़, चन्देरी, मालवा, धार और उज्जैन नामक राज्य हैं। फिर शिवालिक से जालौर तक का और मुल्तान से दमरीला तक को, पालम से लाहौर तथा दीपालपुर तक का प्रदेश है। इन सब प्रदेशों का ऐसा दमन होना चाहिये कि फिर वहां विद्रोह का नाम भी सुनाई न दे।....." उत्तरी भारत में उसकी नीति राज्यों को अपने अधीन करने की रही।

गुजरात व जैसलमेर की विजय—1299 ई. में उलुगखां और नुसरत खां के नेतृत्व में गुजरात को विजित करने के लिए एक अभियान भेजा गया। सुल्तान ने एक ऐसा दूरस्थ प्रदेश जिसकी विजय में किसी तुर्की सेना को सफलता नहीं मिली थी क्योंकर चुना और विशेषकर ऐसी स्थिति में जब उस तक पहुंचने का मार्ग दिल्ली सत्ता के बाहर वाले प्रदेशों में होकर निकलता हो (मालवा अथवा राजपूताना) सुल्तान ऐसे कठिन अभियान का खतरा मोल लेने के लिए तैयार न था जब तक कि उसे विजय का पूरा विश्वास न हो। प्रो. निजामी का विचार है कि गुजरात के मंत्री माधव ने सुल्तान को उसकी सफलता का विश्वास दिला दिया था और इसलिए अलाउद्दीन को इसमें कोई हिचक नहीं रही।

सुल्तान की सेनाओं ने राजपूताना में बनास नदी पारकर रदौसा के दुर्ग को जीत लिया और फिर गुजरात के प्रदेश में घुसकर खूब लूटमार की तथा आतंक फैलाया। अचानक आक्रमण से बघेरा राजा कर्ण (राय करन) घबरा गया और

सुरक्षा के लिए अपनी बेटी सहित देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव के यहां भाग गया। उसका पीछा किया गया और उसका कोष तथा पटरानी कमलादेवी आक्रमणकारियों के हाथ लगे। अलाउद्दीन ने कमलादेवी से विवाह कर लिया। आक्रमणकारियों ने राजधानी अन्हिलवाड़ा के अतिरिक्त गुजरात के अन्य नगर लूटे। सोमनाथ का मन्दिर जिसका कुमारपाल (1143 74 ई) ने जीर्णोद्धार कराया था पुनः लूटा गया। प्रो निजामी ने अमीर खुसरो को उद्धृत करते हुये लिखा है कि, "उन्होंने सोमनाथ का मन्दिर प्रतिष्ठित काबा की ओर झुका दिया—तुम यह कह सकते हो कि मन्दिर ने पहले नमाज पढ़ी और फिर स्नान किया।" मुसलमानों ने मन्दिर की सबसे बड़ी मूर्ति को खण्डित कर दिल्ली पहुंचा दिया जहां उसे मुसलमानों के पैरों तले रौंदे जाने के लिए डाल दिया गया। उसके पश्चात् नुसरतखां ने खम्बायत की ओर कूच किया और वहां के धनाढ्य व्यापारियों को लूटा। यहीं पर उसे काफूर नामक दास हाथ लगा जो आगे चलकर साम्राज्य का 'मलिक नायब' बना।

जिस आसानी से गुजरात का प्रदेश दिल्ली के अधिकार क्षेत्र में आ गया था उससे यह प्रकट होता है कि या तो शासक कर्ण अपनी जनता में अत्यधिक अप्रिय था अथवा उसका प्रशासन विकृत हो चुका था। समकालीन इतिहासकार उसके इस पलायन का कोई विवरण नहीं देते हैं किन्तु इसामी लिखता है कि जब राजा कर्ण ने अपने मन्त्रियों से सलाह की तो उन्होंने ऐसी स्थिति में जबकि शत्रु तलवार निकाले द्वार पर खड़ा हो, भाग जाने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं बताया। तुर्कों के वापस जाने के बाद वह पुनः अपने प्रदेश को जीत ले। फरिश्ता ने लिखा है कि, "राय कर्ण दक्षिण में देवगिरी के शासक रामदेव की शरण में गया किन्तु कुछ समय पश्चात् उसने बगलाना की ओर कूच किया जो गुजरात का दक्षिणवर्ती प्रदेश है और रामदेव की सहायता से वहां प्रतिष्ठित हो गया।" अलपखां को गुजरात का गवर्नर बनाया गया और विजयी सेना दिल्ली की ओर लौटी।

रास्ते में जालौर के निकट लूट के माल के विभाजन को लेकर सुल्तान के अधिकारियों, उलुगखां और नुसरतखां, तथा नये मुसलमानों (भारत में बसे हुये मंगोल) के बीच मतभेद हो गया क्योंकि मंगोल लूट के माल को समर्पित नहीं करना चाहते थे। उन्होंने उलुगखां व नुसरतखां के खेमे को घेर कर उन्हें मारने की नीति अपनाई परन्तु नुसरतखां की सतर्कता से वे भाग खड़े हुए। परन्तु इसके बाद भी उन्होंने नुसरतखां के भाई मलिक ईजुद्दीन और अलाउद्दीन के एक भांजे की हत्या कर दी। मंगोलों के नेता मुहम्मदशाह और कामरू ने भागकर रणथम्भौर के शासक हम्मीर देव के यहां शरण ली और यलचक तथा बुर्राक राय कर्ण के पास भाग गये। सेना के दिल्ली पहुंचने पर अलाउद्दीन ने इनके अपराध का बदला इनके परिवारों से लिया। स्त्रियों को अपमानित किया गया और बच्चों के टुकड़े-टुकड़े करवा दिये

गये। बरनी ने लिखा है कि, "पुरुषों के अपराधों के लिए स्त्रियों और बच्चों को दण्डित करने की प्रथा का आरम्भ इसी वर्ष से हुआ।"

राजपूताना की विजय—गुजरात जाते समय ही अलाउद्दीन की सेनाओं ने जैसलमेर पर आक्रमण किया था। तारीख-ए-मासूमी को उद्धरत करते हुए डा. ए. के. श्रीवास्तव ने 'खल्जी सुल्तान्स इन राजस्थान' में लिखा है कि अलाउद्दीन की सेनाओं ने 1299 ई. में गुजरात जाते समय इस प्रदेश पर आक्रमण किया था। इस आक्रमण की चारण अथवा मुस्लिम इतिहासकारों ने कोई जानकारी नहीं दी है। सम्भवतः यह एक साधारण धावा था जिसमें अलाई सेना ने लूटमार के अतिरिक्त कोई विशेष कार्यवाही नहीं की। डा. के. एस. लाल के अनुसार सेना ने जैसलमेर के किले पर अधिकार कर लिया और अनेक हिन्दुओं को मौत के घाट उतार दिया। किले पर 200 सैनिक छोड़ शेष सेना गुजरात की ओर चली गयी।

रणथम्भौर की विजय—जैसलमेर की विजय न तो नियोजित ही थी और न ही महत्वपूर्ण, परन्तु राजपूताना के दूसरे प्रदेशों की विजय कठिन होने के साथ ही अधिक प्रभावपूर्ण भी थी। मोटे रूप से उत्तरी भारत और उसमें भी राजपूताना पर अधिकार सल्तनत काल मे शासकों के मूल्यांकन की कसौटी रही है और अलाउद्दीन जो कि विश्व-विजय के स्वप्न देख रहा था उसके लिए दिल्ली के निकटस्थ प्रदेश को स्वतन्त्र छोड़ देना उसकी नीति मे समुचित्त ठीक नहीं बैठती थी। अलाउद्दीन ने इसके लिए रणथम्भौर को अपना पहला लक्ष्य चुना।

रणथम्भौर के दुर्ग पर आक्रमण के अनेक कारण थे। अमीर खुसरो इस सम्बन्ध मे मौन है। बरनी ने लिखा है कि, "सुल्तान ने इस दुर्ग पर अधिकार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया क्योंकि यह दिल्ली के अधिक निकट था।" अलाउद्दीन इस सुदृढ़ दुर्ग को राजपूतो के हाथो मे छोड़कर सल्तनत के लिये एक सिरदर्द बनाये रखने को तैयार नहीं था। इसामी इस सम्बन्ध मे अधिक स्पष्ट है। उसके अनुसार नवीन मुसलमानों के दो नेता मुहम्मदशाह तथा कामरू ने जालौर के निकट विद्रोह के बाद राणा हम्मीरदेव के यहां शरण ली थी और क्योंकि राणा अपने शरणार्थियों को सुल्तान को लौटाने के लिए तैयार नहीं था इसलिए दोनों के बीच युद्ध एक आवश्यकता के रूप में खड़ी हो गई। उलूगखां के द्वारा भेजे गये दूतों को हम्मीर ने ससम्मान वापस भेज दिया और उत्तर दिया कि, "हे खान, मेरे पास पर्याप्त धन और सैनिक हैं और मैं किसी से झगड़ा करना नहीं चाहता परन्तु युद्ध से भी नहीं डरता हूं। शरणार्थियों को वापस करने मे असमर्थ हूं।" 'तारीख-ए-किला रणथम्भौर' के लेखक हीरानन्द कायस्थ ने भी हिन्दू कवियों और इतिहासकारों के अनुसार नवीन मुसलमानों को शरण देना ही आक्रमण का प्रमुख कारण बताया है। इसके साथ ही वह यह भी स्वीकार करता है कि अलाउद्दीन उस अपमान का बदला चुकाना भी चाहता था जिसको जलालुद्दीन खल्जी ने असफल होकर सहा था। 'हम्मीर महाकाव्य'

तथा 'हम्मीरायण' भी शरणार्थियों के न लौटाने के कारण को ही प्रमुखता देते हैं परन्तु 'हम्मीर हठ' और 'हम्मीर रासो' इस कारण के साथ ही यह भी बताते हैं कि सुल्तान की मराठा बेगम, चिमना के मुहम्मदशाह से अनुचित सम्बन्ध थे और उसने सुल्तान के विरुद्ध षड्यंत्र किया था। सुल्तान को जब इसका पता चला तो मुहम्मदशाह हम्मीर की शरण में चला गया। उसे दंडित करने के लिए ही रणथम्भौर पर आक्रमण करने का निश्चय किया गया। 'तारीख-ए-किला रणथम्भौर' का लेखक भी इसी घटना को दूसरी तरह प्रस्तुत करता है परन्तु भावार्थ दोनों के एक ही हैं। इस प्रकार युद्ध के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो गई। वास्तविकता यह है कि अगर इनमें से कोई भी कारण न भी होता तब भी युद्ध अवश्यम्भावी था क्योंकि अलाउद्दीन की साम्राज्यवादी नीति से राजपूताना मार्ग में हड्डी की तरह खटक रहा था।

1299-1300 ई० में अलाउद्दीन ने उलुग खां तथा नुसरत खां को इसके लिये नियुक्त किया। दोनों खानों ने झायन पर अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् दुर्ग को घेर लिया गया। घेरे के दौरान एक दिन जब नुसरतखां एक खाई की खुदाई का निरीक्षण कर रहा था उसे दुर्ग से 'मगरबी' द्वारा छोड़ा गया एक पत्थर लगा और कुछ दिन बाद उसकी मृत्यु हो गई। शाही सेना में इससे काफी हलचल मच गई। हम्मीर ने इसका लाभ उठाकर अपने बारह हजार अश्वारोहियों सहित दुर्ग से निकल कर उलुग खां पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर झायन की ओर भगा दिया।

उलुगखां की पराजय और नुसरतखां की मृत्यु अलाउद्दीन के लिये असह्य थी। अलाउद्दीन की पराजय का बदला तो लेना दूर रहा, अब तो यह पराजय स्वयं उसके मुंह पर एक तमाचा थी और अलाउद्दीन ने अब स्वयं इस अभियान की कमान सम्भाली। उसने अपने अधिकारियों को तिलपट में एकत्रित होने के आदेश भेजे। वहीं पर जब सेना एकत्रित की जा रही थी तभी उस पर अकत खां ने प्राण-घातक वार किया परन्तु सौभाग्य से वह बच गया। दिल्ली से हाजी मौला के विद्रोही होने के समाचार लगातार मिल रहे थे। परन्तु अलाउद्दीन बगैर रणथम्भौर को विजित किये हुए दिल्ली न लौटने पर कटिबद्ध था। दुर्ग का घेरा लगभग एक साल तक चलता रहा परन्तु राणा हम्मीर पर इसका कोई असर नहीं दिखाई देता था। अन्त में अलाउद्दीन ने 'पाशेबों' का निर्माण कर दुर्ग की ऊंचाई तक पहुंचने की योजना बनाई। सैनिकों ने थैलों में मिट्टी व रेत भरकर 'पाशेब' की नींव तैयार की और उस पर 'गर्गज' का निर्माण किया गया। दुर्ग में पत्थर फेंके जाने लगा और प्रत्युत्तर में दुर्ग से पत्थर और अग्नि फेंक कर 'पाशेबों' को नष्ट किये जाने का प्रयास किया जाता रहा। अन्त में मचान दुर्ग की दीवारों की ऊंचाई तक पहुंच गई। शाही सेना के अनेक सैनिक इस कठिन मोर्चेबन्दी में मारे गये परन्तु वे भागने

में भी असमर्थ थे क्योंकि अलाउद्दीन ने भागे सैनिकों पर तीन वर्ष के वेतन का दंड लागू किया था और इसे कठोरता के साथ लागू कर रहा था।

दूसरी ओर दुर्ग में इतने लम्बे समय तक घेरा रहने के कारण खाद्य-सामग्री समाप्त हो रही थी। अमीर खुसरो ने खजाइनुल-फुतुह में लिखा है कि, "लोग एक ग्रेन (अनाज) के बदले दो ग्रेन सोना तक देने को तैयार थे, किन्तु फिर भी अनाज नहीं मिलता था। पानी तथा हरियाली के अभाव में किला कांटों का रेगिस्तान हो गया था।" इन परिस्थितियों में राजपूती परम्परा के अनुसार जौहर रचा गया और दूसरे दिन हम्मीर अपने सैनिकों के साथ दुर्ग से बाहर आकर शत्रु पर टूट पड़ा परन्तु युद्ध में मारा गया। शरणागत मुहम्मदशाह और कावरू ने भी हम्मीर के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर युद्ध किया। मुहम्मदशाह पकड़ा गया परन्तु घावों की वेदना से तड़फते हुए भी उसने अलाउद्दीन के दया के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और सुल्तान ने उसे हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया। वह उसकी वीरता को नहीं भूल सका और समुचित रूप से उसका अन्तिम संस्कार करवाया। हम्मीर के दो मन्त्री—रणमल तथा रतनपाल जिन्होंने अपने स्वामी के साथ विश्वासघात कर अलाउद्दीन का पक्ष ग्रहण किया था, उसने उन्हें मरवा डाला क्योंकि वे किसी समय भी उसके प्रति भी विश्वासघात कर सकते थे। इसामी के अनुसार राज-परिवार का कोई भी सदस्य जीवित बन्दी न बनाया जा सका।

रणथम्भौर दुर्ग पर अधिकार कर लिया गया और अमीर खुसरो के खजाइनुल-फुतुह के अनुसार, "समस्त नगर मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा लूटा गया। बहरदेव (वागभट्ट) का रम्य मन्दिर भूमिसात कर दिया गया। अनेक पवित्र मन्दिर तथा भव्य इमारतें धूरि-घुसरित कर दी गई।" रणथम्भौर का दुर्ग और झाईं का प्रदेश उलुग खां को देकर सुल्तान दिल्ली लौट आया। बरनी ने लिखा है कि, "उलुगखां नागरिकों से क्रुद्ध था और उसने उनके अनेक सरदारों को रणथम्भौर से निकाल दिया था। इस कार्य ने लोगों के हृदय में उलुगखां के प्रति अत्यधिक घृणा उत्पन्न कर दी जिससे कि उलुगखां नगर में जाने का साहस न कर सका उपनगर में ही ठहरा रहा।" छः माह बाद दिल्ली लौटते समय मार्ग में उसकी मृत्यु हो गई।

रणथम्भौर की विजय के बीच अलाउद्दीन को तीन विद्रोहों का सामना करना पड़ा जिनका उल्लेख अगले पृष्ठों में किया गया है।

वारंगल पर आक्रमण; चित्तौड़ विजय—1302-03 ई. में अलाउद्दीन ने वारंगल के अभियान के साथ ही चित्तौड़ के अभियान की भी तैयारी की परन्तु उसकी अकाल मृत्यु से वह इसका नेतृत्व न कर सका। जब अलाउद्दीन ने चित्तौड़ की ओर कूच किया तो उसने कड़ा के गवर्नर मलिक छज्जू को उस ओर भेजा। इस अभियान की बहुत ही कम जानकारी मिल पाई है, परन्तु फरिश्ता लिखता है

कि मालवा अधिकार क्षेत्र में न होने के कारण खल्जी सेना ने बंगाल से होकर कूच किया होगा। सेना के वारंगल पहुंचने तक वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो गई थी और सेना को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सुल्तान ने उसे वापस बुला लिया। अभियान में कोई सफलता नहीं मिली। परन्तु डा के एस लाल का मत है कि 1303 ई में वारंगल पर किया गया आक्रमण वस्तुतः बंगाल पर किया गया आक्रमण था जहां शमसुद्दीन ने स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया था तथा अपने नाम के सिक्के भी चलाये थे। परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। डा लाल का मत उस समय की परिस्थितियों को देखते हुये अधिक मान्य है।

रणथम्भौर की विजय से उत्साहित होकर अलाउद्दीन ने मध्यकालीन राजपूत वंशों में श्रेष्ठतम चित्तौड़ के गुहिल वंश पर आक्रमण किया। वंश की मान मर्यादा के अतिरिक्त अलाउद्दीन के लिये दिल्ली के निकट इस शक्तिशाली राज्य को स्वतंत्र रूप में सहन करना सम्भव न था। सुल्तान की साम्राज्यवादी नीति की भी यह चुनौती थी कि वह इस प्रदेश पर अपना अधिकार जमाये। यदि परम्पराओं पर विश्वास किया जावे तो राणा रतनसिंह की अत्यन्त रूपवती रानी पद्मिनी इसका तात्कालिक कारण थी और अलाउद्दीन उसे अपने वश में करना चाहता था। परन्तु डा आर सी मजूमदार के अनुसार समकालीन इतिहास अथवा अभिलेखों में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है।[1]

चित्तौड़ का दुर्ग अपनी ऊँचाई और विशालता के कारण अजेय माना जाता था। अमीर खुसरो ने लिखा है कि दुर्ग हिन्दुओं के लिये स्वर्ग था जहां प्रत्येक दिशा में मोती और हरे भरे मैदान थे हिन्दू शासकों की तुलना में उसका (राय) सिंहासन सातवें आकाश से भी ऊँचा था। उसने आगे लिखा है कि सोमवार 28 जनवरी 1303 ई. (8 जमादी उस आखिर 702 हि) को अलाउद्दीन एक विशाल सेना सहित चित्तौड़ विजय के लिये दिल्ली से रवाना हुआ। सम्भवतः गम्भीरी और बेरच नदियों को पार करता हुआ वह किले तक पहुँचा और उसे घेर लिया। राणा रतनसिंह ने आठ माह तक आक्रमणकारियों का मुकाबला किया परन्तु अन्त में अगस्त 1303 ई. में किले पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। अलाउद्दीन को इसमें काफी कठिनाई अनुभव करनी पड़ी थी और अमीर खुसरो के विवरण से स्पष्ट है कि दुर्ग पर दो सीधे आक्रमण विफल हुये थे। पड़ोसी राजपूत राजाओं ने राणा रतनसिंह की सहायता की या नहीं इसके बारे में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता परन्तु अनुमान है कि राजपूताने में वंश परम्परा के आधार पर राजपूतों में फूट थी इसलिये सम्भवतः राणा को अकेले ही खल्जियों की सेना का सामना करना पड़ा था। युद्ध भीषण था इसका प्रमाण हमें 1460 ई के एक शिलालेख में मिलता है जिसमें राणा के अधीनस्थ सरदार लक्ष्मी ने अपने सात पुत्रों सहित इसमें जान गवाई थी। राजपूती

परम्पराओं के अनुसार राणा रतनसिंह ने स्त्रियों द्वारा जौहर रचने के बाद शत्रु पर भीषण प्रहार किया था और युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया था। परन्तु इसामी और **अमीर खुसरो** ने लिखा है कि राणा ने अपनी पराजय के पश्चात् आत्मसमर्पण कर दिया। **प्रो. निजामी** जौहर की घटना को बाद की मनगढ़न्त घटना मानते हैं। उनके अनुसार **अमीर खुसरो** ने रणथम्भौर के जौहर का उल्लेख किया है और *यदि चित्तौड़ में भी यह हुआ होता तो वह जरूर ही इसका भी वर्णन करता।*

राजपूतों ने अलाउद्दीन का कड़ा मुकाबला किया था क्योंकि दुर्ग पर अधिकार करने के बाद **अमीर खुसरो** के अनुसार 'लगभग 30,000 हिन्दुओं को सूखी घास की तरह कत्ल कर दिया गया। **कर्नल टाड** के अनुसार सुल्तान वहाँ कुछ दिन ठहरा और इन दिनों में एक कट्टर मुसलमान की तरह उसने मन्दिरों और कला के दूसरे नमूनों को धूरि-धूसरित किया। चित्तौड़ का नाम खिज्राबाद रक्खा गया और उसे अपने पुत्र खिज्रखां को सौंप कर सुल्तान दिल्ली लौट गया, क्योंकि इस समय तक मंगोलों के आक्रमण शुरू हो गये थे।

खिज्रखां कुछ समय तक चित्तौड़ में रहा, परन्तु राजपूतों ने उसे चैन नहीं लेने दिया। 1311 ई. में उसे दिल्ली बुला लिया गया और जालौर के कान्हड़ देव के भाई मालदेव को चित्तौड़ सौंपा गया जिसने जालौर के घेरे के समय सुल्तान की घातक दुर्घटना से रक्षा की थी। परन्तु राजपूतों ने मालदेव को भी तंग किया। रतनसिंह के एक वंशज हम्मीरदेव ने मालदेव पर दबाव बनाये रक्खा और उसने हम्मीर देव को सन्तुष्ट करने के लिये अपनी एक पुत्री का विवाह भी उसके साथ कर दिया। परन्तु इसके बाद भी राजपूतों के प्रयत्नों में कोई कमी न आई। 1321 ई. में मालदेव की मृत्यु के बाद हम्मीर देव ने पुनः चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया।

पद्मिनी की कहानी—समकालीन इतिहासकार अमीर खुसरो, बरनी तथा इसामी इस कहानी के प्रति मौन हैं। 1540 ई. में पहली बार मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' में इस प्रसंग का वर्णन किया। उसने अपने रूपक में 'चित्तौड़' 'शरीर' के लिये, 'राजा' 'मस्तिष्क' के लिये, 'सिंहलद्वीप' 'मन' के लिये' पद्मिनी' 'ज्ञान' के लिये और 'अलाउद्दीन' 'वासना' के लिये प्रयुक्त किये जैसा कि वह स्वयं मानता है। 'पद्मावत' की रचना के इस आधार पर ही रानी पद्मिनी की कहानी बनी। बाद में राजपूताना के अनेक कवियों ने उस पर गाथायें लिखी तथा अनेक इतिहासकारों ने इसको स्वीकार किया।

पद्मावत के अनुसार अलाउद्दीन के चित्तौड़ पर आक्रमण करने का प्रमुख कारण राजा रतनसिंह की सुन्दर और विदुषी पत्नी पद्मिनी को प्राप्त करना था जो कि सिंहलद्वीप की राजकुमारी थी और जिसे राय ने बारह वर्ष के प्रणय के बाद प्राप्त किया था। अलाउद्दीन चित्तौड़ को आठ वर्ष के घेरे के बाद भी उस पर अधिकार न कर सका था। उसने युक्ति से राय को बन्दी बना लिया

और पद्मिनी के उस योजना पर हो राय को मुक्त करने की शर्त रखी। राजपूतों ने भी युक्ति से काम लिया और 1600 पालकियों में सशस्त्र राजपूत बैठकर दिल्ली पहुँचे और उस समय बाहर कूदकर राय को मुक्त कर सुरक्षित चित्तौड़ ले आये।

पद्मावत' के इस प्रसंग ने अनेक भ्रम धारण कर लिये। कुछ लेखकों के अनुसार राणा दिल्ली नहीं गया था बल्कि वह सुल्तान के खेमे में ही कैद था जहां से राजपूतों ने उसे छुड़ा लिया। इसी प्रकार राजपूत भाटों ने जो दिल्ली के इतिहास के बारे में कुछ जानकारी रखते थे उन्होंने इसे पसन्द किया और ऐतिहासिक तथ्यों में कई परिवर्तन कर दिये। राजपूताने के प्रसिद्ध इतिहासकार डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इसका अत्यन्त सूक्ष्म अध्ययन किया और वे इस निर्णय पर पहुँचे कि इसमें सत्यता का अंश नहीं है। उनका कहना है कि तत्कालीन इतिहासकारों में से एक ने भी इसका वर्णन नहीं किया है। बाद के इतिहासकारों ने पद्मावत को आधार बनाकर इसको सत्य दर्शाने का प्रयत्न किया। डा. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार 'यद्यपि इस सम्बन्ध में अनेक घटनायें कल्पित हैं परन्तु काव्य का मुख्य कथानक सत्य प्रतीत होता है। डा. राय ने अलाउद्दीन के चरित्र की कामुकता और हिन्दू स्त्रियों के प्रति उसकी कमजोरी को ध्यान में रखते हुये कहानी के आधार को सत्य मानने की संभावना प्रकट की है। अन्त में यही कहा जा सकता है कि इस कहानी को पूर्णतया असत्य कहकर टाल देना उचित नहीं है यद्यपि ऐतिहासिक तथ्य इसे अभी तक सत्य प्रमाणित करने में सफल नहीं हो पाये हैं।

मालवा पर विजय—1305 ई. तक भारत के अनेक शासक अलाउद्दीन की आधीनता मान उसे खराज भेजने लगे थे। इस समय तक उसने अपनी सेना को पुनर्गठित कर शक्तिशाली बना लिया था तथा उसकी आर्थिक व्यवस्था भी सन्तोषजनक थी इसलिये उसने मालवा, सिवाना और जालौर पर आक्रमण करने की नीति अपनाई।

मालवा के शासक राय महलक देव के पास लगभग तीस से चालीस हजार घुड़सवार तथा भारी संख्या में पैदल सैनिक थे। उसका मंत्री हरनन्द कोका एक कुशल राजनीतिज्ञ के साथ ही साथ साहसी योद्धा भी था। अलाउद्दीन ने संभवतः अपने एक अधिकारी आइनुलमुल्क को 10,000 घुड़सवारों के साथ मालवा विजय को भेजा। महलक देव तथा कोका ने इस सेना से युद्ध किया परन्तु कोका युद्ध में मारा गया और महलक देव भागकर माण्डू चला गया। आइनुलमुल्क ने मांडू को घेर लिया परन्तु शासक पर वह किसी प्रकार का प्रभाव डालने में असमर्थ रहा। कूटनीति से काम लेकर उसने एक विश्वासघाती की सहायता से किले में प्रवेश पा लिया। अचानक आक्रमण कर उसने शासक की हत्या कर दी और इस प्रकार नवम्बर 1305 में मांडू पर सुल्तान का अधिकार हो गया। इसके पश्चात् उज्जैन,

धार, चन्देरी आदि को भी जीत लिया गया और मालवा को दिल्ली राज्य में मिला लिया गया।

सिवाना की विजय—अमीर खुसरो के अनुसार सिवाना का प्रदेश दिल्ली से लगभग 100 फर्सग की दूरी पर था। इसलिये अलाउद्दीन ने स्वयं इस अभियान का नेतृत्व संभाला। इससे अधिक महत्वपूर्ण कारण यह मालुम पड़ता है कि सिवाना का शासक शीतलदेव एक साहसी योद्धा था तथा उसके पास एक सुदृढ़ दुर्ग था। अनेक राजपूत शासक उसका लोहा मानते थे। जुलाई 1309 ई. में सुल्तान की सेना ने दिल्ली से कूच कर इसे घेर लिया, 'मंजनीकों' और 'पाशेबों' का निर्माण किया गया परन्तु उसके बाद भी कोई अधिक सफलता नहीं मिल पाई। लगभग दो माह तक राजपूतों ने आक्रमणकारियों का सामना किया परन्तु अन्त में अलाउद्दीन को सफलता मिली। शीतलदेव जालौर भागने की तैयारी करता हुआ घेर लिया गया और मारा गया। कमालुद्दीन गुर्ग को सिवाना के प्रशासन के लिये नियुक्त कर अलाउद्दीन दिल्ली लौट आया।

जालौर की विजय—जालौर सिवाना से केवल 50 मील दूर था। वहां का शासक कान्हड़देव एक साहसी योद्धा था। डा. के. एस. लाल ने लिखा है कि अलाउद्दीन ने 1304 ई. में जालौर से अपना आधिपत्य स्वीकार करवाया था परन्तु डा. दशरथ शर्मा की खोजों के आधार पर यह निश्चित परिणाम निकलता है कि 1304 ई. में अलाउद्दीन जालौर पर अधिकार करने में सफल नहीं हुआ था क्योंकि जालौर के शासक ने गुजरात से 1305 ई. में लौटते हुये नुसरत खां पर आक्रमण किया था।

डा. के. एस. लाल के अनुसार 1311 ई. में जालौर पर आक्रमण का प्रमुख कारण उसकी स्वतन्त्रता को समाप्त करना था, क्योंकि अलाउद्दीन के लिये यह असह्य था कि राजपूताना के अन्य राज्यों द्वारा उसकी आधीनता मानने के बाद भी जालौर स्वतन्त्र रूप से रह सके। राजपूत इतिहासकारों के अनुसार अलाउद्दीन 1304 ई. में नुसरत खां पर किये गये आक्रमण को भूल न पाया था। 1311 ई. में जालौर पर आक्रमण किया गया। खल्जी सेनाओं को पहले तो कई स्थानों पर पराजय का मुंह देखना पड़ा परन्तु बाद में दिल्ली से अधिक कुमुक मिल जाने पर जालौर को विजित किया जा सका। यह निश्चित है कि जालौर का युद्ध भयानक तथा काफी समय तक चला था। इस युद्ध में कान्हड़देव मारा गया तथा उसके बचे हुये सम्बन्धियों को कत्ल कर दिया गया। केवल कान्हड़देव का एक भाई मालदेव जीवित बचा। अलाउद्दीन ने प्रसन्न हो उसे चित्तौड़ की सूबेदारी प्रदान की।

जालौर के निकट मन्दिरों को तोड़ा गया। अलाउद्दीन ने जालौर में सौंगिर के प्रसिद्ध दुर्ग में एक मस्जिद का निर्माण कराया।

जालौर की विजय के साथ अलाउद्दीन ने राजपूताना पर अपना अधिकार कर लिया था। डा. के. एस. लाल ने लिखा है कि, "जालौर के समर्पण के साथ

ही राजपूताना के लगभग सभी राज्य एक के बाद एक अधिकार में ले लिए गए। जैसलमेर, रणथम्भोर, चित्तौड़, सिवाना और जालौर तथा उनसे लगी रियासतें—बूंदी, मण्डोर और टोंक सब विजित की जा चुकी थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि जोधपुर (मारवाड़) भी सल्तनत के अधीन था, यद्यपि इसके अधिकृत किये जाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथापि सं 1358 (1301 ई.) के पाटूपा (जोधपुर) के एक शिलालेख में जोगिनीपुर (दिल्ली) में अलावदी (अलाउद्दीन) को सत्तारूढ़ शासक बताया गया है।" इस प्रकार 14वीं शताब्दी के अन्त तक अलाउद्दीन राजपूताना पर अपना अधिकार जमाने में समर्थ हुआ था परन्तु इस सफलता को निर्णायक अथवा स्थायी मानना सन्दिग्ध है।

राजपूताना सम्बन्धी कोई नीति नहीं—अलाउद्दीन की प्रशासन व्यवस्था व राज्य की आन्तरिक व्यवस्था की नीति बिलकुल स्पष्ट थी और इसी प्रकार दक्षिण में विजित सारे राज्यों के सम्बन्ध में भी कोई दुविधा नहीं थी परन्तु राजपूताना के सम्बन्ध में हमें कोई ऐसी नीति नहीं दिखाई पड़ती है। प्रो. के. एस. लाल सक्सेना ने 'दिल्ली सल्तनत' में लिखा है कि 'न तो अलाउद्दीन की कार्यवाही और न इतिहासकारों की टीकाएं हमें उसकी राजस्थान सम्बन्धी नीति स्पष्ट करती हैं। वह ऐसा कोई राय सहन नहीं कर सकता था जो दिल्ली का आधिपत्य ललकारे और वह निश्चय ही मार्गों की सुरक्षा पर बल देता था। किन्तु इसके परे हम यही कह सकते हैं कि राजस्थान के साम्राज्य में विलय की योजना धीरे-धीरे कार्यान्वित की गई और बाद में उसे अव्यावहारिक समझ कर त्याग दिया गया। रणथम्भोर या भायन का प्रदेश साम्राज्य में मिला लिया गया और उसे शाधिक नियमों के अन्तर्गत लाया गया। किन्तु चित्तौड़ में ही तीन हजार रावतों का नरसंहार बेकार सिद्ध हुआ और राजस्थान के अन्य प्रदेशों को शाही कानूनों के अन्तर्गत लाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। राजस्थान के तीन विशाल दुर्गों पर विजय प्राप्त करने में भीषण जनहानि हुई और वहां से कोई उल्लेखनीय सम्पत्ति प्राप्त नहीं हुई।" इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि अलाउद्दीन किसी ऐसे प्रदेश को जिससे उसे कुछ आर्थिक अथवा भौतिक लाभ न हो, योजनाबद्ध रखने के लिये तैयार न था।

प्रो. सक्सेना ने लिखा है कि जब कभी कोई राव अलाउद्दीन के दरबार में आया और कुछ समय के लिये अलाउद्दीन के अधीन किसी उच्च अधिकारी के रूप में रहा हो तो अलाउद्दीन केवल उसके औपचारिक उपहारों से सन्तुष्ट हो गया। जब कभी सुल्तान के किसी अधिकारी को राजपूताना के किसी प्रदेश से किसी राव अथवा रावत को उखाड़ फेंकने में सफलता मिली तब भी सुल्तान ने वहाँ की सामाजिक व्यवस्था को भंग करने का कोई प्रयास नहीं किया। वह राजपूताना के किसी रावत को अनावश्यक रूप से छेड़ने की नीति से अलग रहा और उसके अपने अधिकारियों ने जो भी कुछ कर या राजस्व उससे वसूल किया, वह उससे ही सन्तुष्ट रहा। इसके साथ ही हमें यह आवश्यक तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिये

कि अलाउद्दीन के समय में राजपूताना को वो महत्व नहीं था जो कालान्तर में हो गया। राजपूताना के राजपूत शासकों के बीच आपस में गहरी फूट थी और इसलिये न तो मिलकर अलाउद्दीन के विरुद्ध ही कोई योजना बना सकते थे और न ही उसमें मिलकर किसी संयुक्त अभियान की सोच ही सकते थे। अलाउद्दीन भी राजपूत राज्यों की अपेक्षा दक्षिण के समृद्ध राज्यों की ओर अधिक आकर्षित था।

प्रो. सक्सेना का मत पूरी तरह से स्वीकार कर लेना सम्भव नहीं दिखाई देता क्योंकि राजपूताना की विजय अलाउद्दीन की साम्राज्यवादी नीति के लिये आवश्यक थी। यह कल्पना करना कि एक सुल्तान जो विश्व-विजय कर दूसरा सिकन्दर बनने के स्वप्न देखता हो और जो अपने कोतवाल अलाउलमुल्क की सलाह पर विश्व-विजय को छोड़ पहले भारत की विजय के लिये उद्यत हो गया हो वो राजपूताना पर अधिकार करने का प्रयत्न नहीं करेगा? यह और भी अवश्यम्भावी दीखता है जब दिल्ली के इतने निकट राजपूत तुर्की जुऐ को उतार फेंकने के लिये कटिबद्ध हों। अलाउद्दीन के सम्मुख दो ही विकल्प थे—या तो वो राजपूतों की साम्राज्यवादी नीति को स्वीकार कर ले और उन्हें एक स्वतन्त्र और विरोधी शक्ति के रूप में जीने दे अथवा उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर साम्राज्य के लिये इस अनवरत खतरे को सदैव के लिये कुचल दे। अलाउद्दीन ने निश्चित ही दूसरा विकल्प चुना और यद्यपि वो सदैव के लिये राजपूत शक्ति को कुचल देने में सफल नहीं रहा परन्तु उसकी यह सफलता कम नहीं थी कि वो अपने राज्यकाल में इस संभावित विरोधी शक्ति से साम्राज्य को सुरक्षित रखने में समर्थ रहा। रणथम्भौर के 1300 ई. के अभियान से लेकर 1311 ई. के जालौर अभियान तक इसी नीति के अन्तर्गत उसने राजपूताना के राज्यों पर आक्रमण किए। परन्तु अलाउद्दीन को इन आक्रमणों में कोई विशेष लूट नहीं मिल पाई अपितु जन-हानि अधिक उठानी पड़ी इसलिये उसने सम्पूर्ण राजपूताना को जीतने के दुराग्रह को छोड़ दिया। लेकिन यह नीति उसने तब ही अपनाई जब उसने राजपूताना के उन प्रदेशों पर अपना दृढ़ अधिकार जमा लिया जो सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। शक्तिशाली राज्यों को अलाउद्दीन के सामने धराशायी होते देख छोटे राज्यों ने उसकी प्रभुता को मानने में ही अपना भला समझा। इस प्रकार अलाउद्दीन की नीति मोटे रूप से सफल हुई। राजपूतों पर अपनी नृशंसता की छाप छोड़ने के लिये तथा भविष्य में उनको विद्रोह के रास्ते से अलग रखने के लिये उसने नर-संहार में कोई कसर नहीं छोड़ी। चित्तौड़ में तीस हजार हिन्दुओं को अमीर खुसरो के अनुसार, 'सूखी घास की तरह कटवाने' के पीछे उसका यही प्रयोजन था।

बरनी ने राजपूताना की विजय के बाद अलाउद्दीन द्वारा की गयी व्यवस्था का वर्णन दिया है। उसके अनुसार साम्राज्य के चारों ओर प्रान्तों का नियन्त्रण विश्वसनीय मलिकों और स्वामिभक्त अधिकारियों के हाथ में सौंपा गया।

रणथम्भोर, चित्तौड़ मांडलगढ़, चन्देरी, सिवाना और जालौर की सरकारें कमजोर थी और अलाउद्दीन ने इन सरकारों को कठोर राज्यपालों के नियन्त्रण में रखा। झायन में फखरुलमुल्क, चित्तौड़ में मलिक अबूमुहम्मद तथा चन्देरी में मलिक तमर इसी नीति के अन्तर्गत नियुक्त किए गये थे।

राजपूताना के अभियानों की विशेषता व राजपूतों की पराजय के कारण—अलाउद्दीन के राजपूताने के अभियानों की विशेषता रही कि ये सदैव ही रक्त-रंजित रहे। रणथम्भोर से जालौर तक के घेरों की यही गाथा रही। उन परिस्थितियों में, जिनका विवरण किया जा चुका है, इसके अतिरिक्त कोई चारा भी नहीं था। राजपूतों को अपनी स्वतन्त्रता प्रिय थी और वे उसका मूल्य अपने रक्त से चुकाने को भी तत्पर थे तो दूसरी ओर यह सुल्तान की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल था कि वह अपनी सेनाओं को वापस बुला ले। प्रश्न केवल लोहे को लोहे से काटने का था और राजपूत ही नहीं, यदि कोई दूसरी शक्ति भी अलाउद्दीन का इन्हीं साधनों से विरोध करती तो अलाउद्दीन भी इसका प्रति उत्तर इसी रूप में देता। प्रो. के. एस. लाल ने लिखा है कि, "प्रत्येक किले के सामने रक्तरंजित युद्ध हुये" "कभी-कभी एक ही दुर्ग के सम्मुख वर्षों तक संघर्ष चलता रहा और उसका अन्त लोगों के असामान्य संहार और जौहर की अग्नि में स्त्रियों के विनाश से होता था।"

राजपूतों की पराजय के कारण—राजपूतों की पराजय के लिये उनका चरित्र और मनोभावना काफी हद तक उत्तरदायी थीं। डा. के. एस. लाल ने लिखा है कि, "राजपूत युद्ध भूमि में मरना अत्यधिक सौभाग्यशाली और सम्मानपूर्ण मानता था। वीरता उसकी रग-रग में भरी हुई थी तथा वह छल और कपट से घृणा करता था। जहाँ तक तुर्कों का प्रश्न है, अदम्य साहस उसका पहला और छल दूसरा स्वभाव था। उसके लिये, मृत्यु एक महान् दुर्भाग्य थी। वह जीवित रह कर विजय के फलों का रसास्वादन करने के लिये अत्यधिक तत्पर था। अतः वह सदैव ही विजय की आकांक्षा करता था। इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये साधन गौण थे। इस प्रकार राजपूत युद्ध में कूद पड़ता था, परन्तु तुर्क जोखिम का अन्दाजा लगा कर ही युद्ध करता था। राजपूत उन्मत्त होकर युद्ध करता था और तुर्क युद्ध-कौशल से। राजपूत युद्ध में कूटनीति का मूलतः विरोधी था, किन्तु कूटनीति तुर्कों की सहचरी थी तथा उनकी सफलता की कुंजी थी।"

अलाउद्दीन खल्जी की तुलना में राजपूत राज्यों के साधन अत्यधिक सीमित थे। अधिकतर रेगिस्तानी प्रदेश होने के कारण पानी और रसद की कठिनाई उनके लिये एक अभिशाप थी। अलाउद्दीन के पास न केवल दोआब और उत्तरी भारत का उपजाऊ प्रदेश था परन्तु साथ ही साथ उसे दक्षिण के अभियानों में अपार सम्पत्ति भी प्राप्त लगती रहती थी। इन साधनों के आधार पर राज्य की सेनाओं की आवश्यकताओं को पूरा करना सरल था। रणथम्भौर के पतन में रसद की कमी एक कारण था।

राजपूतों की पराजय का तीसरा कारण था कि उनके दुर्गों के अन्दर की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी। घेरे के समय दुर्ग में साधारण जनसमूह की संख्या सैनिकों से अधिक रहती थी और ऐसी स्थिति में दुर्ग को खाद्य-सामग्री का शीघ्र ही समाप्त हो जाना स्वाभाविक था। जिस पहाड़ी पर दुर्ग स्थित होता था उसको शत्रु घेरकर कुमुक प्राप्ति के समस्त साधनों को आसानी से बन्द कर सकता था। चित्तौड़ और जालौर के किलों के पतन का एक कारण यही था। इसके साथ ही राजपूतों में जाति-भेद और रूढ़िवादिता भी एक ऐसी कमी थी जिसको वे असाधारण स्थिति में भी भूल नहीं पाये। आक्रमणकारी उनकी इस कमजोरी से परिचित थे और इसीलिये वे अवसर मिलने पर या तो उनके खाद्यान्नों को अपवित्र कर देते थे अथवा पानी को दूषित करने में भी नहीं चूकते थे। रणथम्भौर में देशद्रोहियों से मिलकर आक्रमणकारी ने इसी नीति को अपनाया था।

राजपूतों की पराजय इसलिये भी हुई कि वे विकसित युद्ध-प्रणाली से बिल्कुल अछूते रहे। वे युद्धों की पुरानी रीति-नीति से इतने अधिक चिपके रहे कि जब एक सुशिक्षित सेना से उन्हें मुकाबला करना पड़ा तो उन्हें अनुभव हुआ कि वे कितने अधिक पिछड़े हुये हैं। राजपूत मध्य एशिया में मंगोलों द्वारा विकसित युद्ध-कला से पूर्णतया अनभिज्ञ थे। तुर्क आक्रमणकारी इसके विरोध में इस विकसित रणनीति को न केवल जानते थे अपितु उसको पूरी तरह से ग्रहण कर चुके थे क्योंकि आये दिन मध्य एशिया में उन्हें इन मंगोलों से लोहा लेना पड़ता था। इस के आधार पर वे आकस्मिक आक्रमण, सैनिकों को शत्रु की दृष्टि से छिपाना, मिथ्या पलायन तथा अचानक लौटकर आक्रमण करने में वे सिद्ध-हस्त थे। खल्जियों के पास इसके अतिरिक्त 'गरगच' और 'मंजनीक' जैसे युद्ध यन्त्र थे। दूसरी ओर राजपूत अपने हाथियों पर ही निर्भर थे और हाथियों का इन शस्त्रों के सामने अधिक समय तक टिके रहना सम्भव नहीं था। यह कहना कि हाथी युद्ध के लिये पूरी तरह अनुपयोगी हो गये थे उचित न होगा, क्योंकि तुर्क भी हाथियों का उपयोग सीख गये थे। परन्तु राजपूतों का पूरी तरह हाथियों पर निर्भर रहना उचित नहीं था। इसके साथ तुर्कों के पास जो सुशिक्षित अश्वसेना थी और जो उनका मुख्य आधार थी उसका राजपूतों के लिए मुकाबला करना कठिन था। पुनः राजपूती शासन सामन्त प्रथा पर आधारित था और युद्ध के समय अधीन सामन्त अपनी सैनिक टुकड़ी को लेकर शासक की सहायता के लिए आ जाता था। यद्यपि जाति-बंधन के कारण वे शासक की सहायता करते थे परन्तु तुर्कों में ये सामन्ती प्रथा और जाति-बन्धन की कड़ियां अधिक मजबूत थीं और साथ ही तुर्क सुल्तान उन पर प्रभावशाली अंकुश लगाये रखने में भी समर्थ रहे थे।

राजपूतों में एकता की भावना की भी कमी थी। विदेशी आक्रमणकारियों के विरोध में भी वे एक दूसरे से एक जुट होकर लड़ने में असफल रहे। प्रत्येक राजपूत शासक अपने ही मामलों में इतना अधिक लिप्त रहता था कि वह दूसरों के

लिये पूर्णतया उदासीन था। खल्जियों ने इसका पूरा लाभ उठाया और एक के बाद एक राजपूत शासक को धराशायी करने में सफल हुये। सिवाना और जालौर के पारस्परिक सम्बन्ध राजपूत शासकों की एक दूसरे के प्रति उदासीनता का ज्वलन्त उदाहरण है। सिवाना के आक्रमण के समय जालौर के राज्य ने, जो केवल सिवाना से 50 मील दूर था, किसी भी प्रकार की सहायता नहीं करी। इसका परिणाम हुआ कि सिवाना के पतन के पश्चात् अलाउद्दीन के लिए जालौर पर अधिकार करना अधिक सरल और सुगम हो गया।

राजपूतों की इन कमजोरियों के कारण अलाउद्दीन सम्पूर्ण राजपूताना पर अपना अधिकार जमाने में सफल हुआ परन्तु फिर भी इस प्रदेश में उसकी विजय अस्थायी ही रही। राजपूतों ने अलाउद्दीन द्वारा नियुक्त गवर्नरों को तंग किया तथा पुन अपने प्रदेशों पर अधिकार करने के लिये सतत प्रयत्नशील रहे। रणथम्भौर पर अधिकार होने के लगभग छ महीने बाद जब उलूगखां रणथम्भौर छोड़ कर चला गया तो उसके बाद रणथम्भौर अलाउद्दीन के अधिकार में रहा अथवा नहीं यह निश्चित नहीं है। विजय के शीघ्र बाद ही जालौर भी स्वतन्त्र हो गया। चित्तौड़ के प्रदेश को भी अलाउद्दीन को अपने एक राजपूत विश्वासपात्र मालदेव, को ही सौंपना पड़ा और यद्यपि उसने राजपूतों को हर सम्भव तरह से दबाये रखने का प्रयत्न किया परन्तु इसके बाद भी मालदेव चित्तौड़ में रहते हुए राजपूतों की ओर से निश्चिन्त न हो पाया। इस प्रकार राजपूतों का संघर्ष लगातार चलता रहा और अलाउद्दीन उन्हें पूरी तरह अपने आधीन करने में कोई स्पष्ट सफलता प्राप्त न कर सका।

दक्षिण की विजय—अलाउद्दीन की साम्राज्यवादी नीति की पूर्ति बगैर दक्षिण को जीते हुये सम्भव नहीं थी। कोतवाल अलाउलमुल्क की दी गई सलाह को स्वीकार कर वह सबसे पहले भारत के प्रदेशों को जीतने के लिये न केवल लालायित अपितु कटिबद्ध भी था। अलाउद्दीन के पहले समस्त सुल्तानों का ध्यान केवल उत्तरी भारत, अथवा जिसको उस समय में 'हिन्दुस्तान' कहा जाता था, तक ही सीमित था क्योंकि शासन के विस्तार की अपेक्षा उसका दृढ़ीकरण ज्यादा आवश्यक था। इसके अतिरिक्त जब तक सीमाओं की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था न कर दी जावे तब तक उत्तर भारत को छोड़कर दक्षिण जीतने का प्रयास करना दूरदर्शितापूर्ण नहीं होता। बलबन इन सीमाओं पर, तथाकथित, मंगोलों के आक्रमण के भय से ही दिल्ली छोड़ सकने में असमर्थ रहा। अलाउद्दीन के काल तक और विशेषकर 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ से मंगोल आक्रमणों की गति और कठोरता कम हो गई थी और इसके बाद भी बलबन की दूरदर्शी सीमा-नीति को सक्रिय रूप में कार्यान्वित कर अलाउद्दीन ने इस ओर की समुचित व्यवस्था कर दी थी जो मंगोलों के तूफानी आक्रमणों से लोहा ले सकती थी। इसके साथ ही 1306–07 ई० तक अलाउद्दीन ने मोटे रूप

से उत्तरी भारत के अधिकतर राज्यों का दमन कर दिया था और उसकी शक्ति का विरोध करने का साहस किसी में बाकी न रह गया था। उसके कठोर शासन के कारण राज्य में शान्ति और व्यवस्था थी, विद्रोह के कारणों का उन्मूलन किया जा चुका था और सुल्तान के पास एक बड़ी और शक्तिशाली सेना थी जिसको किसी क्षेत्र की विजय में लगाना आवश्यक था अन्यथा यही उसकी विरोधी बन सकती थी। इन समस्त कारणों के आधार पर अलाउद्दीन ने दक्षिण भारत की विजय की नीति अपनाई।

उस समय दक्षिण भारत में चार शक्तिशाली व सम्पन्न राज्य थे। विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण-पश्चिम में यादवों का देवगिरि का राज्य था (आधुनिक महाराष्ट्र) जहां का शासक रामचन्द्रदेव अपने धन और यश के कारण प्रसिद्ध था। देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) उसकी राजधानी थी। दक्षिण-पूर्व में तैलंगाना का काकतीय राज्य था जिसकी राजधानी वारंगल थी। तैलंगाना के दक्षिण-पश्चिम में होयसल राज्य था जिसका शासक वीर बल्लाल तृतीय था और द्वारसमुद्र उसकी राजधानी थी। सुदूर दक्षिण में पांड्य राज्य था जिसकी राजधानी मदुरा थी। मुस्लिम इतिहासकार इस राज्य को मावर (मलाबार) राज्य के नाम से जानते थे। अलाउद्दीन के आक्रमण के समय यहां सुन्दर पंड्या और वीर पंड्या में अपने पिता की गद्दी के लिये संघर्ष चल रहा था।

आक्रमण के उद्देश्य—दक्षिण भारत के इन राज्यों पर आक्रमण करने में अलाउद्दीन के अनेक उद्देश्य थे जिसमें दक्षिण से धन प्राप्त करना प्रमुख था क्योंकि इससे उसकी अनेक समस्याओं का समाधान सम्भव था। डा. के. एस. लाल ने लिखा है कि, "सभी विजेताओं को प्रेरणा प्रदान करने वाले धन के लालच और गौरव की लालसा ने उसे भी एक के बाद एक दक्षिण के सभी राज्यों पर आक्रमण करने की प्रेरणा दी।" 1296 ई. के दक्षिण के प्रथम अभियान ने उसे सुल्तान बनाया था और अब वहां की लूट और धन-प्राप्ति उसे सुल्तान बनाये रखने में सहायक हो सकते थे। इसमें कोई दो मत नहीं कि दक्षिण के राज्यों के पास अतुल सम्पत्ति थी और अलाउद्दीन के पहले किसी भी मुसलमान आक्रमणकारी ने इसे हाथ भी न लगाया था। दक्षिण की सम्पन्नता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि प्रत्येक विदेशी यात्री ने इस भाग में सोने और चांदी के बाहुल्य को प्रमाणित किया है। अलाउद्दीन द्वारा दक्षिण के राज्यों की लूट-मार के बाद भी मुहम्मद तुगलक को वहां से अतुल सम्पत्ति मिल सकी और उसके बाद भी अब्दुर रज्जाक ने विजयनगर साम्राज्य की सम्पत्ति और सम्पन्नता के बारे में जो विवरण दिया उससे इस प्रदेश में प्राप्त सम्पत्ति का सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। इस सम्पत्ति की प्राप्ति से अलाउद्दीन के अनेक हित सिद्ध हो सकते थे। वह अपनी विशाल सेना का जिसमें फरिश्ता के अनुसार 4,75,000 घुड़सवार थे, पोषण ठीक ढंग से कर सकता

था तथा अपने शासन-तन्त्र के खर्चों की आवश्यकता को भी निभा सकता था। इसके साथ ही उसको यह लाभ भी था कि वो सेना को व्यस्त रख सकता था अन्यथा यही सेना उसके लिये सिरदर्द बन सकती थी।

अलाउद्दीन केवल दक्षिण की सम्पत्ति लूट कर ही सन्तुष्ट होने वाला सुल्तान न था। दक्षिण भारत के राज्यों से अपनी अधीनता स्वीकार कराने और उन्हें वार्षिक कर देने के लिए बाध्य करना भी उसका उद्देश्य था जिससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि होनी थी। डा यू एन डे ने इस उद्देश्य पर अधिक बल दिया है। उनके अनुसार, "अलाउद्दीन दक्षिण और सुदूर दक्षिण के राज्यों को अधीनस्थ राज्य बनाने के लिये पूर्ण सोच-विचार कर निश्चित की गयी नीति का पालन कर रहा था जिससे ये राज्य उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार करें, उसे वार्षिक कर दें और प्रत्येक तरह से उसके अधीनस्थ राजाओं की भांति व्यवहार करें।" अलाउद्दीन एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था और यह भली-भांति जानता था कि दिल्ली और दक्षिण के राज्यों के बीच अधिक दूरी होने के कारण और विशेषकर ऐसी स्थिति में जब आवागमन के साधन नाम-मात्र के हों, दक्षिण को राज्य में मिलाकर उन पर शासन करना नितान्त असम्भव होगा। इसलिये वह इससे सन्तुष्ट था कि दक्षिण के राज्य उसकी अधीनता स्वीकार कर उसे वार्षिक कर दिया करें। इस आधार पर उसने दक्षिण के राज्यों के साथ सम्मानजनक व्यवहार किया। दक्षिण की विजयों का श्रेय मलिक काफूर को है, जिसे गुजरात से एक गुलाम के रूप में खरीदा गया था और जो अपनी योग्यता से 'नाइब' के पद को प्राप्त कर सका था।

देवगिरि की विजय—1296 ई में अलाउद्दीन द्वारा देवगिरि पर पहला आक्रमण किया गया था और उस समय देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव ने पराजित हो यह स्वीकार किया था कि वह प्रतिवर्ष एलिचपुर की आय भेजा करेगा। अलाउद्दीन के 1296 ई में शासक बनने के बाद वह 1304 ई तक इस आय को बराबर भेजता रहा। परन्तु 1305 अथवा 1306 ई में उसने इसे दिल्ली भेजना बन्द कर दिया। आय को न भेजने के पीछे सम्भवत. रामचन्द्रदेव के पुत्र शंकरदेव (सिंहनदेव) का हाथ था जो इसे अपमानजनक समझता था। यदि इसामी के विवरण को स्वीकार किया जावे तो रामचन्द्रदेव ने इसकी सूचना अलाउद्दीन को दे दी थी। यह भी सम्भव था कि रामचन्द्रदेव ने सुल्तान की सेना की 1303 ई. में वारंगल के अभियान की असफलता को देखकर तथा मंगोल-आक्रमणों में उसकी व्यस्तता का लाभ उठाकर इस प्रकार की नीति अपनाई हो। अलाउद्दीन अपने एक करद राज्य द्वारा इस वचन-भंग की नीति को सहन कर राज्य की हानि को बर्दाश्त करने को तैयार नहीं था। इसलिये उसने 1307 ई. में मलिक काफूर के नेतृत्व में 30,000 सैनिकों को दे उसे देवगिरि पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। गुजरात के सूबेदार अलपखां और मालवा के सूबेदार आईन-उल-मुल्क को काफूर की सहायता

करने के भी आदेश भेजे। प्रो. निजामी ने 'खजाइन-उल-फुतुह' के आधार पर यह लिखा है कि अलाउद्दीन ने यह भी आज्ञा दी थी कि राय और उसके परिवार के किसी व्यक्ति को हानि न पहुंचाई जावे। अमीर खुसरो के ग्रन्थ देवलदेवी-खिज्रखां से पता चलता है कि कमलादेवी ने जो इस समय अलाउद्दीन की पत्नी थी, उससे अपनी पुत्री देवलरानी को दिल्ली लाने की प्रार्थना की थी। देवलरानी व उसके पिता कर्णदेव इस समय देवगिरि के शासक रामचन्द्रदेव की शरण में थे जिसने बगलाना का प्रदेश उसे स्वतन्त्र रूप से शासन करने के लिए दे दिया था।

इस प्रकार देवगिरि पर आक्रमण की भूमिका तैयार थी। मलिक काफूर मालवा को पारकर सुल्तानपुर पहुंचा। राजा कर्ण ने अपनी पुत्री को काफूर को सौंपने से मना कर दिया और लगभग दो माह तक वह उसका सफलतापूर्वक सामना करता रहा। मलिक काफूर ने राजा कर्ण को पराजित करने का उत्तरदायित्व अपने सहयोगी अलपखां को सौंपा और स्वयं देवगिरि की ओर चला। राजा कर्ण ने अलपखां का भी सफलता से सामना किया। इसी समय उसे देवगिरि के राजकुमार शंकरदेव (सिंहनदेव) का देवलरानी से विवाह करने का प्रस्ताव तथा सहायता का आश्वासन मिला। इससे पहले राजा कर्ण ने स्वयं के वंश को एक मराठा वंश से अधिक प्रतिष्ठित मानकर प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। परन्तु इस समय परिस्थितियां बिल्कुल भिन्न थीं इसलिये उसने इसे स्वीकार कर देवलरानी को सुरक्षा-हेतु कुछ सैनिकों के साथ देवगिरि की ओर भेज दिया। अलपखां ने राजा कर्ण को पराजित कर उसे देवगिरि की ओर भागने के लिए बाध्य किया और जब वह उसका पीछा कर रहा था तब अचानक रास्ते में उसके सैनिकों को देवलरानी का काफिला मिल गया। देवलरानी को छीनकर उसे दिल्ली भेज दिया गया जहां उसका विवाह शाहजादा खिज्रखां से कर दिया गया। अलपखां इसके बाद मलिक काफूर से जाकर मिल गया।

मलिक काफूर लूट-मार करता हुआ देवगिरि पहुंचा। सम्भवतः रामचन्द्रदेव को काफूर के आने की खबर न लगी। अपनी शक्तिहीन और अस्तव्यस्त सेना को लेकर उसने काफूर का सामना किया परन्तु पराजित हुआ तथा उसने आत्म-समर्पण करना ही अधिक उचित समझा। उसका पुत्र शंकरदेव युद्ध-क्षेत्र से भाग निकला। काफूर ने देवगिरि को लूटा तथा इस लूट के साथ वह रामचन्द्रदेव तथा उसके अनेक सम्बन्धियों को दिल्ली ले गया। अलाउद्दीन ने उनके साथ बड़ी उदारता का व्यवहार किया और उसे 'राय-रायन' की उपाधि दी। छः माह पश्चात् उसने उसे एक लाख सोने के टंका और नवसारी के जिले को देकर उसके राज्य में वापिस भेज दिया।

डॉ. के. एस. लाल के अनुसार, "अलाउद्दीन का इस प्रकार उदारता का व्यवहार एक गहरी कूटनीतिज्ञता थी। अलाउद्दीन को दक्षिण में अब एक ऐसा सहयोगी मिल गया था जो सुल्तान को उसकी भावी योजनाओं में सहायता करेगा।

उन्होंने आगे लिखा है कि अलाउद्दीन ने राजा रामचन्द्रदेव के रूप मे विजय के अपने एक स्तम्भ को देवगिरि में पुन स्थापित कर दिया।" बरनी के विवरण के आधार पर डा लाल ने पुन लिखा है कि, "शासक रामचन्द्रदेव अलाउद्दीन के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ था। उसकी दया और उदार व्यवहार के कारण वह समस्त जीवन दिल्ली सुल्तान के प्रति तावेदार (आज्ञाकारी) बना रहा, कभी उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं किया तथा जीवनपर्यन्त वह दिल्ली को नियमित रूप से कर भेजता रहा।" यह इससे प्रमाणित होता है कि रामचन्द्रदेव ने मलिक काफूर को सुदूर दक्षिण के अभियानों म अमूल्य सहयोग दिया।

वारंगल की विजय—देवगिरि के आक्रमण की सफलता ने उसे तेलंगाना पर पुन आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। अलाउद्दीन 1303 ई मे किये गये अपने विफल आक्रमण को भूला नही था इसलिए उसने मलिक काफूर को इस अभियान के लिए नियुक्त करने के पहले विशेष आदेश दिये थे। इन आदेशों का प्रो निजामी ने विस्तृत वर्णन दिया है और साथ ही इनसे अलाउद्दीन की दक्षिण-सम्बन्धी नीति भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। बरनी के आधार पर उन्होंने लिखा है कि, "तुम एक सुदूर प्रदेश मे जा रहे हो। वहा बहुत समय तक न रहना। वारंगल पर विजय प्राप्त करने के लिये तुम अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर राय रुद्रदेव को पराजित करना। किन्तु यदि राय अपना कोष, हाथी और घोड़े समर्पित कर दे और भविष्य मे एक निश्चित खराज देने का वचन दे तो यह व्यवस्था स्वीकार कर लेना।" अलाउद्दीन ने स्पष्ट आदेश दिया था कि वह राय को अपने सम्मुख उपस्थित करने अथवा उसे दिल्ली लाने की जबरदस्ती न करे।

इन आदेशों के साथ 31 अक्टूबर, 1309 ई को मलिक काफूर ने तेलंगाना की ओर कूच किया। बरनी के विवरण के आधार पर मलिक काफूर देवगिरि होता हुआ तेलंगाना की ओर बढा। प्रो निजामी अमीर खुसरो के विवरण के आधार इसको स्वीकार नहीं करते है। उनका तर्क है कि बरनी ने घटनाओं के बहुत समय बाद लिखा जबकि अमीर खुसरो का समकालीन वर्णन हम मिलता है। प्रो निजामी के अनुसार तेलंगाना जाते समय देवगिरि जाने की आवश्यकता ही नहीं थी।

मलिक काफूर अमुदपुर, सदार, बीजागढ, सरवार होता हुआ जनवरी 1310 ई मे तेलंगाना की राजधानी वारंगल के निकट पहुचा। वारगल के दुर्ग के दो परकोटे थे जिसके चारों ओर खाई थी। पहला परकोटा मिट्टी का तथा दूसरा पत्थर का था। प्रतापरुद्र देव ने रावतों को बाहरी दुर्ग का मोर्चा सम्भलवाया। दुर्ग की ऊचाई के बराबर 'साबात' व 'गर्गच' बनाये गये। लगभग एक महीने से अधिक सघर्ष के बाद बाहरी दुर्ग को जीत लिया गया। प्रतापरुद्र देव के लिये अब अधिक समय तक सघर्ष करना सम्भव नहीं था और उसने सधि करने की इच्छा से अपनी

एक सोने की मूर्ति बनवाकर और उसके गले में सोने की जंजीर डालकर काफूर के पास भेजी। काफूर संधि के लिये राजी हो गया।

बरनी के विवरण से ऐसा आभास होता है कि प्रतापरुद्रदेव ने कितने ही वर्षों के संचित कोष के अतिरिक्त 100 हाथी, 7000 घोड़े और अनेक बहुमूल्य रत्न उसे दिये। अमीर खुसरो ने भी यद्यपि कोई निश्चित धन-राशि देने का विवरण नहीं दिया है परन्तु लूट में प्राप्त माल का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसको 1000 ऊंटों पर लादकर दिल्ली लाया गया। इस समस्त सम्पत्ति में सम्भवतः विख्यात कोहनूर हीरा भी था। काफूर मार्च में दिल्ली की ओर चला जहाँ 23 जून, 1310 को उसका अलाउद्दीन द्वारा स्वागत किया गया तथा दक्षिण की लूट को सुल्तान के समक्ष प्रदर्शित किया गया।

होयसल राज्य पर विजय—वारंगल के अभियान के केवल पाँच माह बाद ही काफूर को नवम्बर 1310 ई. में द्वारसमुद्र तथा माबर की विजय के लिये भेजा गया। होयसल राज्य का शासक इस समय वीर बल्लाल तृतीय था। होयसल वंश का उत्तर में यादवों तथा दक्षिण में चोलों से लगातार संघर्ष चलता रहता था इसलिये काफूर की विजय अधिक सुलभ हो गई। कटीहुन, खरगांव होती हुई फरवरी 1311 ई. के आरम्भ में सेना देवगिरि पहुंची जहां रामचन्द्रदेव ने उसका स्वागत किया तथा सीमान्त सेनाध्यक्ष परशुराम को काफूर की सहायता करने के आदेश दिये। रसद और शस्त्रों की सुविधा से काफूर को अधिक सहायता मिली। यादव-राज्य के दक्षिणी सीमान्त अधिकारियों से उसे मार्ग आदि के बारे में भी उपयोगी जानकारी मिली। जिस समय काफूर होयसल राज्य की सीमा पर पहुंचा उस समय शासक वीर बल्लाल तृतीय वीर पांड्य और सुन्दर पांड्य के बीच गृह-युद्ध में वीर पांड्य की सहायता के लिये गया हुआ था। यह सूचना पाकर काफूर ने तुरन्त उसकी राजधानी द्वारसमुद्र पर आक्रमण कर दिया। वीर बल्लाल तुरन्त लौटकर आया। अपनी सहायता के लिये वह वीर पांड्य की एक सैनिक टुकड़ी भी साथ ले आया था। परन्तु इसके बाद भी वीर बल्लाल, काफूर का मुकाबला करने में असमर्थ रहा। अपने सरदारों की सलाह के विरुद्ध उसने कुछ छुट-पुट युद्धों के बाद सन्धि करना अधिक उचित समझा। अंततोगत्वा उसने काफूर के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। उसने अलाउद्दीन की अधीनता स्वीकार कर ली, वार्षिक कर भेजना स्वीकार किया और काफूर को हाथी, घोड़े और अपनी समस्त सम्पत्ति अर्पित कर दी। प्रो. निजामी ने समकालीन स्रोतों के आधार पर लिखा है कि वीर बल्लाल ने अपने पास पवित्र जनेऊ के अतिरिक्त कुछ भी न रखने का वचन दिया था। उसने माबर राज्य में शाही-सेना के मार्ग-दर्शन करने का भी उत्तरदायित्व सम्भाला।

माबर का अभियान—मुस्लिम इतिहासकारों ने पांड्य राज्य को मबार राज्य के नाम से सम्बोधित किया है। यह प्रदेश समुद्र-तट पर स्थित था और

दिल्ली से लगभग 12 मास की यात्रा करने के बाद ही यहां पहुचा जा सकता था। यह मान्यता कि सुन्दर पाड्य ने अपने भाई से पराजित होकर अलाउद्दीन से उसके विरुद्ध सहायता मागी थी, अमीर खुसरो के विवरण से अमान्य प्रमाणित होता है। जैसाकि प्रो निजामी लिखते हैं कि काफूर ने दोनों भाइयों पर ही आक्रमण किया था।

होयसल राज्य मे कुछ दिन ठहरने के बाद काफूर ने 10 मार्च, 1311 ई को मबार की ओर कूच किया। वीर पाड्य ने खुले मे युद्ध करना हितकर नहीं समझा और इसलिये किले मे बन्द रहकर ही शत्रु का विरोध किया। काफूर को वीर पाड्य के विरुद्ध कोई अधिक कठिनाई का सामना न करना पड़ा, क्योकि दोनो भाइयो के बीच युद्ध छिड़ा होने के कारण दोनों ही भागने के विषय मे सोच सकते थे। काफूर ने वीर पाड्य के प्रमुख स्थान वीर चोला पर आक्रमण किया। वीर पाड्य वहा से भाग निकला तथा काबम पहुचकर कुछ सैनिक और धन एकत्रित किया और फिर कडूर (क्न्नार) भाग गया। वहा भी सुरक्षित अनुभव न करने के कारण वह जगना की ओर भाग गया। वीर पाड्य के वीर चोला से भागने पर उसके 20,000 मुसलमान सैनिको ने आत्म-समर्पण किया। मलिक काफूर ने कडूर से कुछ खजाना तथा 120 हाथी लूटे और वीर पाड्य का पीछा करता करता वह बरमतपुरी (ब्रह्मपुरी) अथवा आधुनिक चिदमपुरम पहुचा। यहां उसने 'लिंग महादेव' के सोने के मन्दिर को लूटा और मूर्तियो के टुकडे-टुकडे कर डाले।

इसके पश्चात् वह वापिस लौटा और सुन्दर पाड्य की राजधानी मदुरा को घेर लिया। सुन्दर पाड्य राजधानी छोड भाग गया। काफूर को न तो वीर पाड्य और न ही सुन्दर पाड्य हाथ लग थे इसलिये उसने क्रोध में आकर लूटमार करना तथा मन्दिरा को नष्ट-भ्रष्ट करने की नीति अपनाई। काफूर सम्भवत रामेश्वरम् तक गया और उसने उस मन्दिर की पवित्रता को समाप्त किया। फरिश्ता का कथन है कि उसने वहां एक मस्जिद का भी निर्माण किया था। परन्तु प्रो निजामी अमीर खुसरो के वर्णन पर इसको स्वीकार करने के लिये तत्पर नहीं है। उनके अनुसार मस्जिद की कहानी बाद के समय की मालूम पडती है।

अप्रैल 1311 ई मे काफूर अत्यधिक सम्पत्ति लेकर दिल्ली की ओर रवाना हुआ। बरनी और अमीर खुसरो के विवरण से यह स्पष्ट है कि धन की दृष्टि से काफूर का यह आक्रमण सबसे सफल आक्रमण था।

देवगिरि पर तीसरा आक्रमण—रामचन्द्रदेव की 1311 ई मे मृत्यु के बाद उसका पुत्र शकरदेव (सिघनदेव) देवगिरि की गद्दी पर बैठा। सिघनदेव दिल्ली के प्रभुत्व को मानने के लिये तत्पर नहीं था। शासक बनते ही उसने एक स्वतन्त्र शासक के समान व्यवहार करना शुरू किया। अत काफूर को पुन 1313 ई. मे देवगिरि पर आक्रमण करने के लिये भेजा गया। इसामी का यह कथन कि सिघनदेव

बगैर युद्ध किये ही देवगिरि खाली कर दिया, अधिक विश्वसनीय नहीं है। सम्भवतः उसने काफूर का विरोध किया और युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया।

दक्षिण की विजय का स्वरूप व प्रभाव—अलाउद्दीन व्यावहारिक शासक था और यह समझता था कि दक्षिण के राज्य जो कि राजधानी से अत्यधिक दूर हैं उनको दिल्ली सल्तनत मे मिलाना घातक सिद्ध होगा। जहां पहुंचने मे महीनों लग जाते थे ऐसे प्रदेशों को राज्य में मिलाकर आये दिन के विद्रोह और षड़यन्त्रों को आमन्त्रित करने के अतिरिक्त और कोई परिणाम न था। अतः उसने इन राज्यों को केवल करद राज्य की स्थिति में रखा जहां से वो अधीनता मनवाने के साथ ही प्रति वर्ष खराज ले सके तथा प्रशासन के उत्तरदायित्व आदि से मुक्त रहे। उसे अपने साम्राज्य में रक्खी हुई विशाल सेना के खर्चे के लिये धन की आवश्यकता थी और वह धन उसने खराज के रूप में दक्षिण के प्रदेशों से प्राप्त कर लिया। डा. के. एस. लाल ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि, "दक्षिण से प्राप्त सब धन जब हस्तगत कर लिया गया तो दिल्ली सल्तनत में इन राज्यों को मिलाना केवल कठिनाइयां आमन्त्रित करना था। राजपूताना के लगातार युद्धों ने उसको विजित प्रदेशों को राज्य में मिलाने की नीति की हानियों से अवगत करा दिया था और पुनः वो गलतियां अब वो दक्षिण में दुहराने के लिये तैयार न था।"

इस क्षेत्र में भी उसकी नीति पूरी तरह सफल नहीं कही जा सकती। देवगिरि और होयसल राज्यों ने निस्सन्देह उसकी सत्ता को मान लिया परन्तु तेलंगाना के शासक प्रतापरुद्रदेव का व्यवहार सर्वदा शंकापूर्ण रहा और वीर पांड्य ने अन्त तक उसकी अधीनता को नहीं स्वीकारा।

अलाउद्दीन की दक्षिण-विजय को स्थायी भी नहीं माना जा सकता क्योंकि मलिक काफूर को देवगिरि पर दुबारा आक्रमण करना पड़ा तथा शासक शंकरदेव (सिंहलदेव) से पुनः युद्ध करना पड़ा, तेलंगाना और कर्नाटक पर आक्रमण करने पड़े और दक्षिण पर प्रमुत्व बनाये रखने के लिये देवगिरि को सैनिक छावनी बनाना पड़ा। इससे यह स्पष्ट है कि दक्षिण के राज्य विजेता के जाते ही पुनः सल्तनत के प्रभाव से मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील हो जाते थे। इसीलिये मुबारकशाह खल्जी और मुहम्मद तुगलक को दक्षिण को अपने अधीन करने के लिये प्रयत्न करने पड़े। अलाउद्दीन की सफलता इसी में रही कि उसने अधिकांश दक्षिण को अपने प्रभाव क्षेत्र में कर लिया।

दक्षिण-विजय के और भी प्रभाव पड़े। डा. के. एस. लाल ने लिखा है कि "इसने भावी सेनापतियों और शहजादों के लिये एक प्रभावकारी सोपान का काम किया और मुगल शासक के अनेक सेनानायकों जैसे महावतखां आदि ने इसी क्रम को जारी रक्खा।" जब कभी अलाउद्दीन की नीति के विरुद्ध दक्षिण को राज्य में मिलाने की नीति अपनाई गई तभी उसके परिणाम अत्यन्त घातक सिद्ध हुये।

इसके अतिरिक्त दक्षिण के अभियानों में इन राज्यों की प्रजा, सरकार और संस्कृति को काफी हानि हुई। खराज देने और लूट के कारण राजकोष रिक्त हो गया और इसलिये दक्षिण के राज्यों को प्रशासनिक व्यय तथा खराज देने के लिये राज्यकरों को बढाना पड़ा और स्वाभाविक था कि इससे सामान्य लोगों को अधिक कष्ट उठाने पड़े। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार से मलिक काफूर ने दक्षिण के कुछ प्रदेशों में मन्दिर आदि गिराने की नीति अपनाई उसके कारण वहा के लोगो को घोर निराशा हुई क्योंकि इस प्रकार की नीति उन्होंने पहली बार खलजी शासकों के अधीन ही देखी थी। इसकी प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी। डा. मजूमदार ने लिखा है कि, 'उनके लिये आक्रमणकारी की विशाल शक्ति के सामने उस समय तो आत्म-समर्पण के अतिरिक्त कोई चारा नही था, लेकिन उनके दिलों मे असन्तोष निश्चित रूप से घर कर गया था जिसकी अन्तिम अभिव्यक्ति राजनीतिक परिणाम के रूप में विजयनगर राज्य के उत्कर्ष म हुई।"

दक्षिण के अभियानों के सफलता के कारण—दक्षिण के अभियानों की सफलता उस समय की राजनीतिक अव्यवस्था म अधिक निहित है। दक्षिण का प्रदेश प्राकृतिक सीमाओं के आधार पर एक अलग ही इकाई था परन्तु उत्तरी भारत की तरह दक्षिण में भी छोटे छोटे राज्य थे और उनमे भी परस्पर शत्रुता थी। वीर पाड्य की वीर बल्लाल को सहायता करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई ऐसा उदाहरण नहीं है जबकि दक्षिण के राज्यो ने इस प्रथम तुर्क आक्रमणकारी के विरुद्ध कोई संयुक्त मोर्चा तैयार करने की नीति अपनाई हो अपितु वे एक दूसरे के विरुद्ध आक्रमणकारी की सहायता के लिये तत्पर हो गये। देवगिरी के शासक रामचन्द्रदेव ने मलिक काफूर की सहायता की और वीर बल्लाल ने मावर के अभियानो में अलाई सेना का मार्ग दर्शन किया। जब स्वय दक्षिण के शासक इस प्रकार से एक दूसरे के विरुद्ध आक्रमणकारी से मिलने को तैयार थे, तो विजय का कार्य निश्चित रूप से सरल हो ही जाना चाहिये था।

दक्षिण के राज्य एक दूसरे के प्रबल विरोधी भी थे और आपस में ही एक दूसरे के प्रति लड़ने में लगे रहते थे। 1296 ई. में जब अलाउद्दीन ने पहली बार देवगिरि पर आक्रमण किया तब रामचन्द्रदेव का पुत्र शकरदेव (सिंहनदेव) सेना के अधिकांश भाग के साथ होयसल राज्य के विरुद्ध युद्ध करने गया हुआ था। जिस समय काफूर ने 1311 ई में होयसल राज्य पर आक्रमण किया उस समय वीर बल्लाल पाड्य राज्य के गृह युद्ध मे व्यस्त था। पाड्य राज्य के आक्रमण के समय वहा सुन्दर पाड्य व वीर पाड्य में गृह-युद्ध चल रहा था। जब दक्षिण के राज्य इस प्रकार से स्वय अपने झगड़ों मे उलझे हुये हो तब बाहर के आक्रमणकारी के लिये विजय न केवल सरल अपितु सुनिश्चित भी हो जाती है।

अलाउद्दीन की सैनिक क्षमता और मलिक काफूर का नेतृत्व भी किसी प्रकार से कम उत्तरदायी नहीं था। यह काल मोटे रूप मे घुड़सवारों का काल था

और एक अच्छी घुड़सवार सेना युद्ध में विजय के लिये निर्णायक तत्व थी। अलाई सैनिक अरब और तुर्कीस्तान की अच्छी नस्ल के घोड़ों का उपयोग करते थे क्योंकि उन्हें दक्षिण के राज्यों की तुलना में वे सहज ही प्राप्त थे। दक्षिण के राज्यों के पास भी घुड़सवार सेना अवश्य थी परन्तु न तो उनके घोड़ों की नस्ल उच्च किस्म की थी और न ही वे इसमें पूरी तरह दक्ष ही थे। अलाउद्दीन घुड़सवार सैनिकों की महत्ता को जानता था इसीलिये उसने मलिक काफ़ूर को वारंगल अभियान के समय सैनिकों के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करने की सलाह दी थी। उसने उसे सलाह दी थी कि, "यदि कोई अमीर घोड़े दास या घोड़े अपने पास रखना चाहे तो उन्हें उसी के पास छोड़ देना।........यदि किसी का घोड़ा किसी कारणवश नष्ट हो गया हो तो उसे शाही अस्तबल से अच्छा घोड़ा प्रदान करना।"

डा. के. एस. लाल ने लिखा है कि, "तुर्क प्रबल योद्धा होते थे और इसके साथ ही उनमें धर्मोत्साह और लूट का लोभ भी विद्यमान था। अनुशासन, युद्ध-कौशल और युक्तियों में उत्तरी सेनाएं दक्षिणी सेनाओं से श्रेष्ठ थीं। शारीरिक बल में भी दक्षिण के सैनिक उत्तर के सैनिकों की तुलना में नगण्य थे।" इसके अतिरिक्त मलिक काफ़ूर के कुशल नेतृत्व ने इनको इस प्रकार संजोया था कि विजय उसी की होना स्वाभाविक थी।

इन कारणों के अतिरिक्त दक्षिण के राज्यों की आक्रमणकारियों के प्रति उदासीनता भी उनकी पराजय का कारण था। उनकी गुप्तचर व्यवस्था अत्यधिक कमजोर थी और उन्हें शत्रु के आने तक की जानकारी नहीं मिल पाती थी। वे युद्ध के समय उसी समय तत्पर हुये जब कि काफ़ूर ने उनकी राजधानियों के फाटक खटखटाये।

इस प्रकार अलाउद्दीन ने एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की। उत्तर-पश्चिम में सिन्ध नदी से उसके राज्य की सीमा थी, परन्तु 1306 ई. के पश्चात काबुल और गजनी तक का क्षेत्र उसके प्रभाव में आ गया था। पूर्व में अवध उसकी सीमा थी। उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक का क्षेत्र उसके राज्य का अंग था। राजपूताना, गुजरात, मालवा पर उसका एकाधिकार था। दक्षिण में पांड्य राज्य के अतिरिक्त अन्य तीन राज्यों ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। इस प्रकार तुर्क सुल्तानों में वह पहला शासक था जिसने इतने विस्तृत राज्य को स्थापित किया हो।

अलाउद्दीन तथा मंगोल—खल्जियों के समय उत्तर-पश्चिम से मंगोलों के आक्रमण पुनः एक शाश्वत खतरा बन गये। मंगोलों का अन्तिम आक्रमण लगभग 1292 ई. में हुआ था परन्तु जलालुद्दीन खल्जी ने इसमें कोई सम्मानजनक प्रदर्शन नहीं किया था और यदि अमीर खुसरो की बात को स्वीकार किया जावे तो उसने मंगोलों से सन्धि करना ही अधिक हितकर समझा और अपनी एक पुत्री का विवाह

मगोल नेता उलगू मे कर दिया । अलाउद्दीन के गद्दी पर बैठने तक मगोल अधिक शक्तिशाली हो गये थे और गजनी तथा उनके अधिकार मे होने के कारण उनको आक्रमण के दृढ आधार मिल गये थे ।

मगोलों के नेता चगेजखा की मृत्यु के बाद यद्यपि मगोलो की विभिन्न शाखायें आपस मे एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्वी थी परन्तु फिर भी वे एशिया मे एक महान् शक्ति थे । इन शाखाओं मे ईरान के इल-खानों और ट्रान्स-आक्सियाना के चगताइयो मे विशेष प्रतिद्वन्द्विता थी और दोनो मध्य-एशिया मे ही नहीं अपितु भारत मे भी एक दूसरे के विरोधी थे । दूसरे इस काल तक आकर मगोलों ने लूट-मार के कार्य के अतिरिक्त विजेताओं की भूमिका स्वीकार कर ली थी और वे अब साम्राज्य विस्तार के लिये भी प्रयत्नशील थे । मगोल-आक्रमणो के समय अफगान तथा खोक्खर जातियां भी उनमे मिल जाती थीं और इस प्रकार मगोलो की समस्या और अधिक गहन हो जाती थी ।

अलाउद्दीन के समय मे मगोलो का प्रथम आक्रमण 1297-98 ई मे कादर के नेतृत्व मे हुआ । बरनी 1296 ई. मे भी एक आक्रमण बताता है परन्तु अमीर खुसरो ने 1297-98 ई को ही पहला आक्रमण गिना है । मगोलो ने पजाब मे प्रवेश करके लाहौर के समीपवर्ती प्रदेशों को लूटा तथा कसूर के मकान जला दिये । अलाउद्दीन ने उलुगखा को इनके विरुद्ध भेजा जिन्होने मगोलों को जालन्धर के निकट पराजित किया । अमीर खुसरो के अनुसार लगभग बीस हजार मगोल युद्ध मे मारे गये और अनेको को बन्दी बना लिया गया जिन्हे दिल्ली लाकर हाथियो के पैरों के नीचे कुचलवा दिया गया ।

मगोलो का दूसरा आक्रमण 1295 ई. मे सलदी के नेतृत्व मे हुआ । अमीर खुसरो ने इसका वर्णन नहीं किया है परन्तु बरनी ने लिखा है कि मगोलो ने उत्तर-पश्चिमी भाग पर आक्रमण करके सिविस्तान (सिन्ध प्रदेश का उत्तरी भाग) पर अधिकार कर लिया । अलाउद्दीन ने जफरखा के नेतृत्व मे एक सेना भेजी जिसने मगोलो को बुरी तरह पराजित किया । सलदी तथा अनेक मगोल स्त्री-पुरुषो को बन्दी बना लिया गया और उन्हें दिल्ली भेज दिया गया । जफरखा की इस विजय से मगोल आतंकित हो गये परन्तु अलाउद्दीन उसकी वीरता से शकित हो गया । ऐसा आभास लगता है कि अलाउद्दीन इसके बाद जफरखा की हत्या करने की भी सोचने लगा । उलुगखा भी जफरखा के प्रति ईर्ष्यालु था और सम्भवत इसी सयुक्त ईर्ष्या के कारण ही अगले मगोल आक्रमण मे जफरखा मारा गया ।

1299 ई. के अत मे मगोलो ने पुन आक्रमण किया । इस समय कुतलुग ख्वाजा उनका नेता था । मगोलों का उद्देश्य इस बार विजय प्राप्त करके शासन करना था इसलिये उन्होंने रास्ते में पड़ने वाले नगरों को न तो लूटा और न ही किसी दुर्ग पर अधिकार किया । मगोलों के साथ इस समय लगभग दो लाख सैनिक

थे। मंगोल जल्दी-जल्दी कूच करते हुए दिल्ली के निकट तक पहुंच गये। इसामी ने लिखा है कि अलाउद्दीन को केवल एक या दो सप्ताह का समय मिला। उसने अलाउल्मुल्क से परामर्श किया। उसने सुल्तान को सलाह दी कि मंगोलों से युद्ध करना उस समय तक टाला जावे जब तक कि उनके पास खाद्य-सामग्री की कमी न पड़ जावे और वे इसकी तलाश में न निकल पड़ें। परन्तु अलाउद्दीन ने उनका शक्ति से विरोध करना ही उचित समझा। बरनी के अनुसार अलाउद्दीन ने कहा, "वह दिल्ली की संप्रभुता को किस प्रकार सुरक्षित रख सकता है यदि वह आक्रमणकारी का मुकाबला करने से भयभीत होगा? शत्रु दो हजार कोस की यात्रा कर उससे युद्ध करने आया है। यदि वह एक ऊंट की पीठ के पीछे छिपेगा तो भविष्य की पीढ़ियां उसके बारे में क्या कहेंगी? यदि वह कायरता का अपराधी होगा और मंगोलों को कूटनीति अथवा बातचीत से पराजित करने का प्रयास करेगा तो वह किसी को अपनी शक्ल दिखाने का अथवा हरम में प्रवेश करने का साहस कैसे करेगा। नहीं, चाहे जो हो जावे मैं कल सीरी से कीली की ओर कूच करूंगा। कुतलुग ख्वाजा से युद्ध करूंगा और देखूंगा कि ईश्वर किसे विजय प्रदान करता है।" अलाउलमुल्क से उसने कहा कि, "हम दोनों में से जो कोई—चाहे वह या मैं—विजयी हों, तुम द्वारों और कोषागारों की कुंजियों के साथ विजय का अभिवादन करना और उन कुंजियों को उसके चरणों पर रखकर उसके आज्ञाकारी सेवक हो जाना।" दूसरे दिन सुल्तान स्वयं अपनी सेना को लेकर कीली के मैदान में पहुंच गया। उलुगखां तथा जफर खां के साथ एक शक्तिशाली सेना को भेजने के अतिरिक्त सुल्तान ने स्वयं 12,000 कुशल सैनिकों को लेकर युद्ध-भूमि की ओर प्रयाण किया। सुल्तान स्वयं नसरतखां के साथ मध्य में रहा तथा जफरखां को दाहिनी ओर व उलुगखां को बायीं ओर रक्खा। जफरखां ने जल्दी में मंगोलों के वाम पक्ष के विरुद्ध तैयार रहने के बदले उस पर आक्रमण कर दिया। मंगोलों का वाम-पक्ष छिन्न-भिन्न हो गया और वे भाग खड़े हुए। केन्द्र पर भी उनका आक्रमण विफल रहा। भागते हुये मंगोलों का जफरखां ने पीछा किया और अपनी उग्रता के कारण अपने साथियों को छोड़ केवल एक हजार सैनिक ही उसके साथ रह गये। मंगोलों ने अच्छा अवसर देख तार्गी के नेतृत्व में उसे घेर लिया। मंगोलों की संख्या लगभग दस हजार थी परन्तु जफरखां ने भागने की अपेक्षा युद्ध करना ही अपनी मर्यादा के अनुसार समझा। इसामी लिखता है कि उसने तर्गी के लगभग आधे सैनिकों को हताहत कर दिया। इसी बीच मंगोलों ने उस पर भीषण प्रहार कर उसे मार डाला। जफरखां की वीरता का प्रमाण इसी से मिलता है कि जब उनके घोड़े पानी नहीं पीते थे तो वे कहते थे कि, "क्या तुमने जफरखां की परछाईं को देखा है जो तुम पानी नहीं पीते।" युद्ध की घटनाओं से ऐसा मालूम पड़ता है कि शत्रु से घिरे जफरखां को सुल्तान तथा उलुगखां ने कोई सहायता नहीं पहुंचायी क्योंकि सुल्तान जफरखां की वीरता से शंकित था और उलुगखां उसकी बढ़ती हुई ख्याति से ईर्ष्या

करता था। इसीलिए डा के एस. लाल ने लिखा है कि, "यह परिस्थिति का व्यंग था कि किसी ने भी युद्ध के नायक जफरखां की वीरता की प्रशंसा नहीं की। इसके विपरीत सुल्तान ने उस पर अन्धाधुन्ध लड़ाई करने और बिना आदेश के शत्रु का पीछा करने का आरोप लगाया। आन्तरिक रूप से अलाउद्दीन उसकी मृत्यु से प्रसन्न था और उसने उसकी मृत्यु को दूसरी शुभ घटना माना जो मंगोलों की पराजय से *कम महत्वपूर्ण नहीं थी।" मंगोल वापिस लौट गये परन्तु कुतलुग ख्वाजा सम्भवतः* इससे इतना अधिक त्रस्त था कि उसकी कुछ ही समय मे मृत्यु हो गई।

मंगोलों का चौथा आक्रमण उस समय हुआ जब अलाउद्दीन चित्तौड़ के घेरे से वापिस दिल्ली लौटा ही था। उसकी दिल्ली की सेना अपर्याप्त थी और एक बड़ी सेना तैलंगाना की ओर गई हुई थी। इस आक्रमण का नेता तरगी था। उसके पास लगभग 1,20,000 घुड़सवार थे और वह पहले के आक्रमण की तरह ही दिल्ली की ओर शीघ्रता से बढ़ा। अलाउद्दीन इस स्थिति में न था कि मंगोलो से पहले के समान ही खुले मैदान मे युद्ध करे। इसलिए उसने सीरी के दुर्ग मे शरण ली जहां वह दो महीने तक मंगोलों से घिरा रहा। मंगोलो ने घेरा इतना कठोर कर रक्खा था कि अलाउद्दीन को उत्तर-पश्चिम तथा पूर्व से कोई सैनिक सहायता न मिल सकी। परन्तु मंगोल घेरा डालकर किलों को जीतने की कला मे दक्ष नहीं थे और इसलिये तीन महीने बाद वे वापस लौट गये। सम्भवत उनके लौट जाने मे मध्य एशिया की राजनीति भी उत्तरदायी थी। जाते-जाते उन्होंने दिल्ली तथा आसपास के क्षेत्रों को भी लूटा।

तरगी के इस आक्रमण ने अलाउद्दीन को सचेत कर दिया। उसने सीरी के किले को अधिक दृढ़ किया, दिल्ली के किले की मरम्मत करायी और उसने सीरी को ही अपनी राजधानी बनाया। उत्तर-पश्चिम की सीमाओं को दृढ़ किया तथा वहां पर पुराने किलों की मरम्मत करवाने के अतिरिक्त कुछ नये किलो का निर्माण कराया। उसने सीमान्त-प्रदेशों के लिए एक अलग सेना नियुक्त की तथा सेना की संख्या में वृद्धि की।

यदि एक ओर अलाउद्दीन अधिक सतर्क हो गया था तो दूसरी ओर मंगोल भी अपने पलायन का बदला लेने के लिए अधिक सक्रिय थे। 1304-05 ई मे अली बेग और तार्ताक के नेतृत्व में 50,000 मंगोलों ने आक्रमण किया। लाहौर के उत्तर की ओर बढ़ते हुये शिवालिक पहाडियों को पार किया और अमरोहा तक पहुच गये। दीपालपुर के हाकिम गाजी तुगलक ने मंगोलों को भारी क्षति पहुचाई। अलाउद्दीन ने भी मलिक काफूर को उसकी सहायता के लिए भेजा। वापिस जाती हुई सेना पर आक्रमण किया गया जिसमे अलीबेग और तार्ताक को जीवित पकड़ लिया गया तथा उन्हें दिल्ली लाकर कत्ल कर दिया गया। मंगोलों के सिरो को सीरी के किले की दीवार मे चुनवा दिया गया। यदि फरिश्ता के विवरण को

स्वीकार किया जावे तो लगभग आठ हजार मंगोलों के सिरों को सीरी की दीवार में चुनवाया गया था। इस युद्ध के बाद ही गाजी मलिक तुगलक को पंजाब का सूबेदार नियुक्त कर सीमा-रक्षा का उत्तरदायित्व उसे सौंपा।

अगले वर्ष मंगोलों ने अली बेग और तार्ताक की हार का बदला लेने के लिए आक्रमण किया। इस बार मंगोलों ने स्वयं को तीन दलों में बाँटकर आक्रमण की योजना बनाई थी। प्रथम दल का नेतृत्व कबक तथा दूसरे और तीसरे दल के नेता इक्बाल व ताइबू थे। मुल्तान और सिन्ध के प्रदेशों में होते हुये तथा वहाँ लूट-मार करते हुये वे समाना और कुहराम आ पहुँचे। यहाँ से वे नागौर की ओर बढ़े। अलाउद्दीन ने मलिक काफूर के नेतृत्व में उनके विरुद्ध एक सेना भेजी जिसमें गाजी तुगलक व आइनुलमुल्क जैसे सैनानी थे। आबे आली नामक स्थान पर कबक की सेना से सुल्तान की सेना का सामना हुआ। कबक पराजित हुआ और उसे बन्दी बना लिया गया। सुल्तान की सेना ने मंगोलों का पीछा किया तथा हजारों की संख्या में उन्हें या तो मार डाला गया अथवा बन्दी बना लिया गया। बरनी ने लिखा है कि, अनेक मंगोलों को हाथियों के पैरों के नीचे कुचलवा दिया और बदायूं द्वार के सामने उनकी खोपड़ी की एक मीनार बनाई गई। फरिश्ता का कथन है कि लगभग पचास अथवा साठ हजार मंगोलों में से केवल तीन अथवा चार हजार मंगोल ही जीवित बच कर जा सके। फरिश्ता का लेख अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है, परन्तु इतना निश्चित है कि मंगोलों को भारी पराजय का मुंह देखना पड़ा और काफी संख्या में उनकी स्त्रियों और बच्चों को बन्दी बना लिया गया।

बरनी के अनुसार कबक, इक्बाल और ताइबू ने अलाउद्दीन के समय में विभिन्न अवसरों पर आक्रमण किये थे। इस प्रकार 1306 ई. के बाद भी मंगोलों के आक्रमण होते रहे। परन्तु इसामी और अमीर खुसरो के आधार पर यह अन्तिम आक्रमण था। डा. के. एस. लाल इसे अन्तिम आक्रमण मानते हैं।

इस प्रकार अलाउद्दीन के समय में मंगोलों के सबसे अधिक आक्रमण हुये। मंगोल आक्रमणों की जितनी अधिकता थी, सम्भवतः अलाउद्दीन का विरोध भी उतना ही दृढ़ था। अलाउद्दीन की क्रूरता तथा उसकी सैनिक तैयारियों से मंगोल इतने भयभीत थे कि उन्होंने उसके तथा उसके उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के समय तक पुनः आक्रमण करने का साहस नहीं किया। यही नहीं बल्कि फरिश्ता के अनुसार सीमा-रक्षक गाजी तुगलक ने काबुल, गजनी और कन्धार तक आक्रमण किये और मंगोलों की सीमा के अन्तर्गत विभिन्न प्रदेशों को लूटा। बरनी के अनुसार देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई और सुल्तान को अन्य प्रदेशों की विजय करने के लिये पर्याप्त अवकाश मिल गया।

मंगोल-आक्रमणों का प्रभाव—अलाउद्दीन के राज्यकाल में मंगोलों के सबसे अधिक आक्रमण हुये और यह स्वाभाविक था कि सल्तनत पर इसके प्रभाव पड़े हों।

अलाउद्दीन ने यद्यपि प्रारम्भ से अन्त तक बलबन की सीमान्त नीति का ही पालन किया परन्तु फिर भी उसने उस नीति को नये क्षितिज प्रदान किये। वह यह समझता था कि दिल्ली का वह सुल्तान जो अपनी सीमाओं की रक्षा नहीं कर सकता वह शासन करने के अयोग्य है इसलिए सुल्तान बलबन की नीति को न केवल और अधिक सक्रिय रूप दिया अपितु उसे और अधिक वैज्ञानिक भी बना दिया। इसी आधार पर उसने उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर न केवल पुराने दुर्गों की मरम्मत करवाई अपितु नये दुर्गों का भी निर्माण करवाया। मंगोलों के रास्ते में जो सैनिक चौकियां पड़ती थीं उनको भी सुदृढ़ किया और समस्त स्थानों पर युद्ध-यन्त्रों को भारी संख्या में जमा किया गया। मंगोलों के आक्रमणों को विफल करने के लिए ही सैनिक संगठन को अधिक विशाल और संगठित बनाया।

इस विशाल सेना के गठन ने राज्य को दो तरह से प्रभावित किया। एक ओर तो वह मंगोलों के आतंक का सफलता से सामना कर सका और दूसरी ओर इस सेना ने राज्य-विरोधी तत्वों को कुचलने में उसे सहायता दी। तत्पश्चात् उसने इसी विशाल सैनिक संगठन का उपयोग उत्तरी और दक्षिणी भारत को जीतने में किया।

इस विशाल सेना की रख-रखाव ने अलाउद्दीन की आर्थिक व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डाला। 3,70,000 घुड़सवारों के व्यय का भार वहन करना राज्य के लिये सरल नहीं था। इसलिये अलाउद्दीन ने एक ओर तो राजस्व की दर बढ़ाकर उपज का आधा भाग कर दिया और दूसरी ओर न केवल करों की वसूली में कठोरता दिखाई अपितु जागीरों को भी जब्त कर ली। जागीरों को जब्त कर वेतन का नकद धन में भुगतान करना एक वरदान था परन्तु उसके उत्तराधिकारी इस नयी नीति को लागू न रख सके।

राज्य की अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिये अलाउद्दीन ने अपने कर्मचारियों के लिये बाजार नियन्त्रण की व्यवस्था की। यद्यपि इससे वेतन भोगियों को सुविधा अवश्य हुई परन्तु समस्त लोगों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने में वह असमर्थ रहा। लेकिन इसके बाद भी वह अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल हुआ। यह ठीक है कि शासक होने के नाते उसे उनके भौतिक जीवन को सुधार कर जन-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करनी चाहिये थी, परन्तु उस समय में अलाउद्दीन से इस मांग की आशा करना व्यर्थ था, क्योंकि उस काल तक राज्य के इस कर्तव्य का जन्म भी नहीं हो पाया था। इस प्रकार अलाउद्दीन का प्रशासनिक ढांचा अर्द्ध-सैनिक ही बना रहा और केवल सैनिक-शक्ति पर ही आधारित था।

अलाउद्दीन ने मंगोलों के साथ जिस क्रूरता व कठोरता की नीति का प्रदर्शन किया और हजारों की संख्या में उन्हें कत्ल कर दिया अथवा हाथी के पैरों के नीचे

कुचलवा दिया उससे सुल्तान की शक्ति और निर्दयता का आतंक छा गया और जन-साधारण तथा अमीर उससे भयभीत हो विद्रोह का नाम भी भूल गये।

इस प्रकार अलाउद्दीन की मंगोल अथवा सीमान्त नीति पूरी तरह सफल रही। उसने विशुद्ध सैनिक शक्ति के रूप में ही इसका समाधान निकालने की नीति अपनाई और सम्भवत: कोई दूसरा समाधान था भी नहीं और उसमें वह पूर्णतया सफल रहा।

अलाउद्दीन के समय के विद्रोह—अलाउद्दीन के शासन के प्रथम पांच वर्षों में चार विद्रोह हुये और यद्यपि वे सब ही असफल रहे परन्तु उनसे उसने कारणों व उनके दमन की नीति को निकालने में सफलता पाई। इसी कारण उसके शासन के अगले 15 वर्षों में कोई विद्रोह नहीं हुआ।

जालौर का विद्रोह, *1299 ई.*—सबसे पहला विद्रोह जालौर के निकट सकर्ण नामक स्थान पर हुआ। इस समय उलुगखां और नुसरतखां के नेतृत्व में सेना वापिस दिल्ली लौट रही थी। इसामी के अनुसार सैनिक गुजरात की लूट से अधिक मालामाल हो गये थे। बरनी ने लिखा है कि शरा के अनुसार जब उनसे लूट का पाँचवां भाग माँगा गया तो वे अधिक उत्तेजित हो गये। सम्भवत: इस भाग को वसूल करने के लिए जो उनको दंड दिये गये उनसे निराश होकर उन्होंने विद्रोह की नीति अपनाई। इनमें नवीन मुसलमान सबसे आगे थे, क्योंकि वे सम्पत्ति में से किसी भाग को भी देने को तैयार न थे। विद्रोहियों ने नुसरतखां के भाई मलिक ईजुद्दीन को जो उलुगखां का 'अमीर-ए-हाजिब' था, मार डाला। उन्होंने उलुगखां के खेमे पर भी आक्रमण किया परन्तु वह नहाने के लिये बाहर गया था इसलिये बच गया। अलाउद्दीन का एक भांजा वहां सो रहा था और विद्रोहियों ने उसे उलुगखां समझकर उसका वध कर दिया। उलुगखां, नुसरतखां के खेमे में भाग गया। विद्रोही नुसरतखां के खेमे के सामने इकट्ठे हो गये परन्तु नुसरतखां ने बुद्धिमानी से काम ले युद्ध के नगाड़े बजाने की आज्ञा दी जिनको सुनकर स्वामीभक्त सैनिक यह मानकर कि अचानक किसी हिन्दू शासक ने आक्रमण कर दिया है, एकत्रित हो गये। नवीन मुसलमान भाग खड़े हुये। उनमें से मुहम्मदशाह व कामरू ने रणथम्भौर के शासक हम्मीरदेव के यहां शरण ली और यल्बक तथा बुराक गुजरात के राजा कर्ण के यहाँ चले गये। यद्यपि षड़यन्त्रकारी भाग गये किन्तु दिल्ली में उनके स्त्रियों तथा बच्चों को बन्दी बना लिया गया और उन्हें उनके संरक्षकों के बदले में प्राणों की आहूति देनी पड़ी। बरनी के अनुसार बच्चों के टुकड़े-टुकड़े करवाकर उन्हें उनकी माताओं के सिरों पर रखवाया गया। इसके पहले कभी भी पुरुषों के अपराध के बदले उनके स्त्रियों और बच्चों को दंड नहीं दिया गया था। अलाउद्दीन के इस कठोर दंड-व्यवस्था से दिल्ली के लोग दंग रह गये।

अकतखां का विद्रोह—1300 ई. अलाउद्दीन के भतीजे अकतखां ने विद्रोह किया। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के अभियान के लिये जा रहा था तब मार्ग में

यह शिकार के लिये रुका। वह अपने कुछ सैनिकों के साथ था, तब अक्तखाँ ने अचानक अपने सैनिकों सहित उस पर तीर बरसाने शुरू कर दिये। अलाउद्दीन ने अपने घोड़े को ढाल बनाकर अपनी रक्षा की परन्तु शीघ्र ही मूर्छित होकर गिर गया। उसके पैदल सैनिक उसके चारों ओर घेरा बनाकर खड़े हो गये और जब अक्तखा पास आया तो उन्होंने एक ओर तो उसका सामना किया और दूसरी ओर सुल्तान के मरने की चिल्ला-चिल्लाकर घोषणा शुरू की। अक्तखा ने इसे सच मानकर देर करना ठीक नहीं समझा और खेमे में जाकर उसने स्वयं को सुल्तान घोषित कर दिया। परन्तु जब उसने सुल्तान के 'हरम' में प्रवेश करना चाहा तो हरम के रक्षक मलिक दीनार ने उसे रोक दिया। इतने में अलाउद्दीन होश में आ गया और अपने सैनिकों को लेकर खेमे में पहुंच गया। सुल्तान को जीवित देखकर अक्तखा भाग खड़ा हुआ किन्तु उसका पीछा किया गया और उसका सिर काट कर सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। अकतखा के छोटे भाई कुतलुगखाँ की भी हत्या कर दी गई और उन सभी व्यक्तियों को जो अपराधी थे कठोर दंड दिया गया।

मलिक उमर तथा मंगूखा का विद्रोह—तीसरा विद्रोह अलाउद्दीन की बहन के पुत्रों ने किया। मलिक उमर बदायूं और मंगूखा अवध का सूबेदार था। जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के घेरे में व्यस्त था तब उन्होंने विद्रोह कर दिया। उनका विद्रोह असफल रहा और उन्हें बन्दी बनाकर सुल्तान के सम्मुख प्रस्तुत किया गया और उसकी आज्ञा से उनका वध करवा दिया गया।

हाजी मौला का विद्रोह—1301 ई. में चौथा विद्रोह दिल्ली में हाजी मौला ने किया। हाजी मौला दिल्ली के भूतपूर्व कोतवाल फखरुद्दीन का मुक्ति प्राप्त दास था जो बरतोल नामक कस्बे का 'शहना' था। सम्भवतः कीली के युद्ध के कुछ समय बाद कोतवाल अलाउलमुल्क की मृत्यु हो चुकी थी। अलाउद्दीन ने उसके स्थान पर दिल्ली में अयाद तिर्मिजी को और सीरी में अलाउद्दीन अयाज को नियुक्त किया था। दूसरा कोतवाल नियुक्त करने की आवश्यकता इसलिये अनुभव की गई कि सुल्तान सीरी में एक नया महल और नगर का निर्माण करवा रहा था।

जब अलाउद्दीन रणथम्भौर के अभियान में व्यस्त था तब हाजी मौला ने विद्रोह की योजना बनाई। उसने दिल्ली के कोतवाल तिर्मिजी के घर जाकर, उसे धोखे से बाहर बुला उसका वध कर दिया। उसके बाद उसने इसी प्रकार धूर्तता से अयाज की भी हत्या करनी चाही परन्तु क्योंकि अयाज को षड्यन्त्र की सूचना मिल चुकी थी इसलिये वह बच गया। हाजी मौला ने सुल्तान के लाल किले, कोषागार आदि पर अधिकार कर लिया और इल्तुतमिश के एक वंशज शाहिन्शाह को सुल्तान घोषित कर दिया। परन्तु सुल्तान का एक स्वामीभक्त सरदार हमीदुद्दीन इस विद्रोह को समाप्त करने में सफल रहा तथा हाजी मौला उसके समर्थकों तथा शाहिन्शाह का उसने वध कर दिया।

विद्रोह के कारण तथा उन्मूलन के उपाय—अलाउद्दीन इन लगातार विद्रोहों से परेशान था और इनके कारणों को ढूंढ निकालना चाहता था। रणथम्भौर के घेरे के समय ही उसने **बरनी** के अनुसार अपने विश्वासपात्रों से मंत्रणा की और अन्त में इस निर्णय पर पहुंचा कि विद्रोहों के मुख्यतः चार कारण थे—

1. सुल्तान अपनी प्रजा के भले व बुरे कार्यों की जानकारी नहीं रखता है;

2. शराब की दावतों के कारण अमीर एक दूसरे के अधिक निकट आ जाते हैं। वे बड़ी निर्भीकता से बातें करते हैं और पारस्परिक समझौता कर षड्यंत्रों की योजना बनाते हैं;

3. मलिकों और अमीरों की परस्पर एकता, सहानुभूति और रिश्तेदारी जिसके कारण वे अपने में से किसी एक को दंडित किये जाने पर सब संगठित हो जाते हैं तथा

4. सम्पत्ति के कारण उन्हें विद्रोह और षड्यन्त्र करने के लिये शक्ति व समय मिल जाता है। इसलिये यदि उनके पास धन न हो तो वे जीविका कमाने में ही इतने व्यस्त रहेंगे कि उन्हें विद्रोह, षड्यन्त्र के लिये समय ही नहीं मिल पावेगा।

विद्रोह के इन कारणों को ढूंढ निकालने के बाद सुल्तान ने दिल्ली आकर उनके सम्बन्ध में चार अध्यादेश जारी किये—

अलाउद्दीन ने सम्पत्ति को जब्त करने को प्राथमिकता दी। उसने आदेश निकाला कि समस्त भूमि अथवा गाँव जो 'मिल्क' (राजकीय अनुदान), 'इनाम' (पुरस्कार) अथवा 'वक्फ' (धर्मार्थ) में दिये गये थे उन्हें खालसा कर लिया जावे। इस आदेश का कठोरता से पालन किया गया और लोगों से ऐसी भूमि आदि छीन ली गयी। इस आदेश से यह लाभ हुआ कि सम्पत्ति छिन जाने से लोग जीविका को जुटाने में अधिक व्यस्त रहने लगे और विद्रोह आदि के लिये फुर्सत ही न मिल सकी। **बरनी** ने लिखा है कि, "दिल्ली में केवल मलिक, अमीर, राज्य कर्मचारी, हिन्दू मुल्तानी व्यापारी और हिन्दू साहूकार के अतिरिक्त अन्य घरों में सोना नाम मात्र के लिये ही रह गया।"

अलाउद्दीन ने दूसरे अध्यादेश के अनुसार समस्त राज्य में गुप्तचर व्यवस्था को अत्यधिक संगठित रूप दिया। 'बरीद' (गुप्तचरों का अधिकारी) और मुनहिस (गुप्तचर) उसे निरन्तर सूचना देते थे। ये सूचनायें मुख्य रूप से अमीरों के घरों की तथा बाजार से सम्बन्धित थीं। अमीरों के घरों की प्रत्येक घटना की जानकारी सुल्तान को दी जाती थी। उसका गुप्तचर विभाग कितना क्रियाशील और सफल था, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अमीर अपने घरों में काँपते थे तथा आपस में बातचीत करने की अपेक्षा संकेतों से बातचीत करना अधिक ठीक समझते थे।

तीसरे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने शराब और भांग जैसे मादक द्रव्यों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया। दिल्ली में शराब पीना बिलकुल बन्द कर दिया गया और इस दिशा में सुल्तान ने स्वयं शराब पीना छोड़ दी। यदि बरनी का विवरण अतिरंजित न माना जावे तो 'शराब फेंकने के कारण वर्षा की तरह कीचड़ हो गई।' व लोग जो सरकार से लाइसेन्स ले शराब बेचते थे उन्हें दिल्ली के बाहर कर दिया गया। सुल्तान ने शराब की दावतों का निषेध कर दिया और अपने कर्मचारियों को आदेश दिया कि वे अमीरों को यह चेतावनी दे दें कि शराब पीना पिलाना व उसे बेचना राज्य के विरुद्ध अपराध है। वे लोग जिनमें आत्म सम्मान था उन्होंने सुल्तान के डर से शराब पीना छोड़ दी, परन्तु इसके बाद भी दूसरे लोग चोरी छिपे घास की गाड़ियों में चमड़े के थैलों में भरकर शराब दिल्ली के बाहर से लाने में न चूके। सुल्तान ने इनके लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था की। उसने बदायूं दरवाजे के बाहर कुएँ खुदवाकर ऐसे लोगों को इनमें फेंक देने का आदेश दिया जो इन नियमों का उल्लंघन करते थे। शराब दिल्ली के आसपास के 20 अथवा 25 मील की परिधि में मिलना अत्यन्त कठिन थी। जब सुल्तान ने यह अनुभव किया कि पूरी तरह से शराब पीना बन्द करना अत्यन्त कठिन है तो उसने नियमों को कुछ लचीला बना दिया। इन नियमों के अन्तर्गत व्यक्तियों को अपने घरों में शराब बनाने व पीने की अनुमति दे दी गई परन्तु वे किसी भी स्थिति में न तो सार्वजनिक रूप में इसे बना सकते थे, न ही बेच सकते थे और न ही शराब की दावतों को आयोजित ही कर सकते थे। अलाउद्दीन के उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह पर्याप्त था।

चौथे अध्यादेश के द्वारा अलाउद्दीन ने अमीरों की दावतों, पारस्परिक मेल-जोल तथा विवाह सम्बन्धों पर रोक लगा दी। सुल्तान की आज्ञा के बिना वे एक दूसरे के साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकते थे, आपस में मिल-जुल नहीं सकते थे और न ही जनता के निकट सम्पर्क में आ सकते थे। आदेश का पालन कठोरता से किया गया और अमीरों को आतंकित करे रक्खा। अलाउद्दीन के इन नियमों की सफलता इससे स्पष्ट है कि जब तक वह शारीरिक और मानसिक दृष्टि से दुर्बल नहीं हुआ तब तक उसके राज्य में कोई विद्रोह नहीं हुआ।

हिन्दुओं के प्रति व्यवहार—अलाउद्दीन का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार को लेकर इतिहासकारों में अत्यधिक मतभेद है। वे जो कि अलाउद्दीन को धर्मान्ध प्रमाणित करना चाहते हैं, अपना आधार काजी मुगीसोद्दीन के उस वार्तालाप को बनाते हैं जिसके आधार पर उसने हिन्दुओं को 'खराज गुजर' बताया है। बरनी जिसने इस विवरण को दिया है सम्भवतः यह भूल गया कि हजरत मुहम्मद अपने जीवन में कभी किसी हिन्दू से मिले ही नहीं और फिर हजरत मुहम्मद की हदीसों के छः विश्वस्त सुन्नी हदीसों के सकलन में उनके किसी ऐसे आदेश का उल्लेख नहीं

मिल पाता है। बरनी ने काजी मुगीस के माध्यम से अपनी साम्प्रदायिकता को खुल कर रक्खा है चाहे वो ऐतिहासिक हो अथवा नही।

अलाउद्दीन ने काजी मुगीसुद्दीन की सलाह को स्वीकार इसलिये नहीं किया कि वह धार्मिक आधार पर उसके अपने विचारो के अनुकूल थी अपितु इसलिये कि हिन्दू अधिक धनाढ्य थे और इस आधार पर वे विद्रोह करने की क्षमता रखते थे। अलाउद्दीन का उद्देश्य इस विद्रोहात्मक प्रवृत्ति को पूरी तरह कुचल देना था इसलिये उनको निर्धन बना देना उसके लिये अवश्यम्भावी था। इसके अतिरिक्त मगोलों के आक्रमणों को रोकने और साम्राज्यवादी नीति को सक्रिय रूप मे लागू करने और फिर प्रशासन को चलाने के लिये धन की आवश्यकता थी और इस धन की पूर्ति मे राजस्व को बढाना आज के मापदंड से भले ही ठीक न हो परन्तु उस समय मे इसके अतिरिक्त कोई चारा न था। राजस्व के बढ़ाने का भार स्वाभाविक रूप से हिन्दुओं पर ही पडना था क्योकि वे ही अधिकतर भूमि से सम्बन्धित थे। अलाउद्दीन का उद्देश्य किसानो के पास केवल इतना धन छोड़ने का था जिससे वे जीवन-यापन कर सकें तथा खेती छोड कर न भाग जावें। इसीलिये उसने एक ओर तो भूमि का राजस्व पचास प्रतिशत कर दिया और इसके साथ ही अनेक दूसरे कर भी लगाये तथा दूसरी ओर खुत, चौधरी और मुकद्दमों के विशेषाधिकारो को समाप्त कर दिया। सर वूल्जले हेग ने लिखा है कि, "सम्पूर्ण राज्य मे हिन्दुओ को निर्धनता तथा पीड़ा के निम्न स्तर पर पहुँचा दिया गया और यदि कोई एक वर्ग अन्य वर्गो की तुलना मे दयनीय था तो वह पैतृक आधार पर निर्धारित करने और उसे वसूल करने वाले पदाधिकारियो का था जिसका पहले सबसे अधिक सम्मान था।" यदि बरनी के विवरण को स्वीकार किया जावे तो इस वर्ग के लोगो को विवाह मे कोई अपनी पुत्री देने को तैयार न था। डा. के. एस. लाल भी ये स्वीकार करते हैं कि, "अलाउद्दीन का व्यवहार निस्सन्देह अत्याचारपूर्ण था।"

हिन्दू किसानों की निर्धनता के कारण अलाउद्दीन पर हिन्दुओं-हिन्दुओं पर अत्याचार करने वाले शासक का भ्रम होता है। परन्तु क्या अलाउद्दीन धर्म से इतना अधिक प्रभावित था कि वह उसकी बलिवेदी पर अपने साम्राज्य की आहुति दे दे। उस जैसे व्यावहारिक शासक मे यह अपेक्षित न था कि वह अपनी प्रजा के बहुसंख्यक वर्ग को अप्रसन्न कर दे और वे इतने उत्पीड़ित हो जावें कि विद्रोह करने के लिये उद्यत हो जावें। परन्तु उसे यह भी विश्वास हो गया था कि "जब तक हिन्दुओं को निर्धन नहीं बनाया जावेगा तब तक वे विद्रोह करना बन्द नहीं करेंगे।" डा. लाल के अनुसार अलाउद्दीन समस्त लोगों को इसलिये निर्धन बनाना चाहता था कि उनके मुंह से विद्रोह का शब्द नहीं निकले। इस आधार पर उसका उद्देश्य राजनीतिक था। परन्तु सर वूल्जले हेग पुनः लिखते है कि, "उनके पश्चात् अलाउद्दीन ने हिन्दुओं के लिये विशेष नियम बनाये जिनमे कुछ धर्म के

आधार पर कुछ सम्पत्ति के आधार पर और कुछ उनके दोआब में विद्रोह करने के कारण थे।" डा. राय ने 'द हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द इन्डियन पीपुल' में लिखा है कि 'अलाउद्दीन के कदम निश्चित रूप से राजनीतिक थे।" परन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि सुल्तान ने हिन्दुओं और मुसलमानों में अन्तर किया था। डा. राय के अनुसार "अलाउद्दीन ने निश्चित ही मुसलमानों के कुछ विशेषाधिकार छीन लिये थे, परन्तु हिन्दुओं की भाँति एक वर्ग विशेष के आधार पर उन्हें पीस देने वाली निर्धनता और तिरस्कारपूर्ण अपमानजनक स्थिति में ले जाने की कोई सम्भावना ही नहीं थी।" इस आधार पर यह निष्कर्ष सहज ही में निकाला जा सकता है कि डा. राय अलाउद्दीन की इस कठोरता के पीछे राजनीतिक और धार्मिक कारणों को स्वीकार करते हैं।

डा. यू. एन. डे के अनुसार अलाउद्दीन की कर-व्यवस्था का आधार अत्यन्त विस्तृत था और यद्यपि इसने हिन्दुओं और किसानों की सम्पन्नता को नष्ट कर दिया था परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से यह नीति अधिक कठोर नहीं थी। उनका यह कहना कि, "बरनी का यह कथन कि निर्धनता के कारण खुत, चौधरी और मुकद्दमों की स्त्रियां मुसलमानों के यहाँ काम करने जाती थीं, पूर्णतया बकवास है।" यद्यपि यह ठीक है कि बरनी का विवरण अतिरंजित है परन्तु हिन्दुओं की सामान्य आर्थिक व सामाजिक स्थिति को देखकर यह मान लेना कि अलाउद्दीन का उनके प्रति व्यवहार कठोर नहीं था उचित नहीं मालूम पड़ता है। इस समस्त मतभेद में डा. राय का विचार ही सत्य के अधिक निकट है कि अलाउद्दीन ने धार्मिक और राजनीतिक आधार पर इस प्रकार की नीति अपनाई थी।

खल्जी साम्राज्य का स्वरूप—अमीर वर्ग व उलेमा से सम्बन्ध

खल्जी साम्राज्य पूर्णतः स्वेच्छाचारी शासन था जिसमें निरंकुशता का पुट आवश्यकता से कहीं अधिक था। ऐसी रूपरेखा में कल्याणकारी राज्य की कल्पना करना भी नितान्त भूल होगी। खल्जी साम्राज्य और प्रशासन का यह स्वरूप अलाउद्दीन के शासन काल में उभरा जिसमें सुल्तान ही शासन की धुरी था।

शासन में सुल्तान की स्थिति, मन्त्रीगण तथा केन्द्रिय और प्रान्तीय शासन की व्यवस्था सम्पूर्ण काल में ही एक जैसी बनी रही जिसके लिये अध्याय देखना अधिक उपयोगी होगा।

अलाउद्दीन की पुलिस एव गुप्तचर व्यवस्था—एक गठित पुलिस व्यवस्था तथा योग्य गुप्तचर विभाग कुशल शासन के लिये आवश्यक तत्व हैं। सुल्तान ने पुलिस व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध किया। कोतवाल पुलिस विभाग का प्रमुख अधिकारी था। यह पद उत्तरदायित्व पूर्ण था। उसके अधिकार बहुत थे। उसका काम न केवल कानून और व्यवस्था की रक्षा करना था अपितु वह सुल्तान का महत्वपूर्ण मामलों में परामर्शदाता था। सुल्तान की अनुपस्थिति में वह उसके हरम का संरक्षक था। अलाउद्दीन का प्रथम कोतवाल नुसरतखां था जिससे जनता

आतंकित थी। उसके पश्चात मलिक अलाउलमुल्क को कोतवाल बनाया गया। अलाउद्दीन उसकी सलाह का बहुत आदर करता था।

अलाउद्दीन ने पुलिस-विभाग में सुधार किये तथा कुछ नये पद निर्मित किये जिन पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया गया। 'दीवान-ए-रियासत' नामक एक नये पद को आरम्भ किया गया जिससे कि वह व्यापारियों पर नियन्त्रण रख सके। इसी प्रकार से 'शहना' नामक अधिकारी भी था जो व्यापारियों की गति-विधियों पर ध्यान रखता था। अलाउद्दीन ने 'मुहतसिब' नामक अधिकारी की नियुक्ति कर उसे जन-साधारण के आचरण की देखभाल के लिये उत्तरदायी बनाया।

यदि एक ओर पुलिस व्यवस्था ने लोगों के व्यवहार में सुधार किया तो दूसरी ओर कठोर गुप्तचर व्यवस्था ने उन्हें आतंकित भी किया। गुप्तचरों की व्यवस्था कोई नवीन कार्य नहीं था क्योंकि गुप्तचर व्यवस्था ही निरंकुश शासन की आधार है। सल्तनत काल के आरम्भ में भी यह व्यवस्था विद्यमान थी परन्तु अलाउद्दीन के समय में इसको अधिक कुशल और कठोर बना दिया गया। बरनी लिखता है कि, "यदि सुल्तान अपने लोगों की स्थिति के बारे में अज्ञानी है तो वो उनकी सम्पन्नता के साधनों के निर्माण में भी असमर्थ होगा।"

गुप्तचर विभाग का प्रमुख अधिकारी 'बरीद-ए-मुमालिक' था जिसके अधीन अनेकों 'बरीद' हुआ करते थे। इनको कस्बों, बाजारों व प्रत्येक आबादी वाले स्थानों में नियुक्त किया जाता था। इनकी यह जिम्मेदारी थी कि राज्य में घटित प्रत्येक घटना की जानकारी वे सुल्तान तक पहुंचायें। डा. कुरैशी के अनुसार जब कभी बरीद सुल्तान को महत्वपूर्ण सूचनायें पहुंचाने में असफल पाये जाते तो उन्हें उसका भुगतान अपने जीवन से करना पड़ता था। बरीद के पद पर अत्यन्त ईमानदार और निष्ठावान व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था परन्तु कभी-कभी विद्वानों को भी सार्वजनिक कर्तव्य के अन्तर्गत इन पदों को स्वीकार करने के लिये बाध्य किया जाता था। शासन का कोई क्षेत्र बरीद द्वारा भेजने वाली जानकारी के बाहर नहीं गिना जाता था। वास्तव में बरीद सल्तनत की आंख और कान थे जिनसे सुल्तान को राज्य की प्रत्येक घटना की जानकारी मिलती थी। बरीदों के अतिरिक्त 'मुन्ही' भी हुआ करते थे जो सुल्तान को छोटे तथा बड़े लोगों से सम्बन्धित प्रत्येक छोटी-बड़ी बात से सूचित रखते थे। बरनी के अनुसार 'मुन्ही' को किसी भी व्यक्ति के घर में जाने की अनुमति थी और वे छोटे से छोटे अपराध को करने से भी लोगों को रोक सकते थे। अलाउद्दीन के गुप्तचर विभाग की कठोरता का अनुमान बरनी के विवरण से लगाया जा सकता है। बरनी ने लिखा है कि, "कोई व्यक्ति उसकी (अलाउद्दीन) जानकारी के बगैर इधर-उधर हिल भी नहीं सकता था। अमीरों, मलिकों अथवा राज्याधिकारियों के घरों में जो भी बातें होती थीं उनकी सूचना

सुल्तान के पास पहुंचा दी जाती थी। सूचनाओं की उपेक्षा नहीं की जाती थी। गुप्तचरों के भय के कारण अमीरों ने ऊंचे स्वर में बात करना बन्द कर दिया था। यदि उनको कुछ कहना होता तो वे संकेतों में समझा देते थे। दिन और रात वे इन खबरगीरों के भय से कांपते रहते थे। ऐसा कोई शब्द मुंह से नहीं निकालते थे और न ही कोई ऐसा काम ही करते थे जिसके कारण उन्हें फटकार सहनी पड़े अथवा दण्ड का भागी होना पड़े।" बरनी ने आगे लिखा है कि, "यदि एक अमीर आवश्यकता से अधिक पानी भी पी लेता था तो इसकी जानकारी सुल्तान को पहुंचा दी जाती थी।"

बरनी का विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है परन्तु इसमें से कम से कम उस कठोरता की गन्ध आती है जो अलाउद्दीन के सम्पूर्ण राज्यकाल में विद्यमान थी। उसने अमीरों को इतना अधिक आतंकित कर रक्खा था कि वे 'विद्रोह' का उच्चारण ही भूल गये थे और किसी प्रकार उसके प्रकोप से बचकर सम्मानित जीवन बिताने के लिये प्रयत्नशील थे। अलाउद्दीन की सफलता में जहां प्रथमतः सैनिक शक्ति का प्रथम स्थान है वहां गुप्तचर व्यवस्था भी किसी प्रकार से कम उत्तरदायी नहीं है।

डाक व्यवस्था—अलाउद्दीन ने डाक-व्यवस्था को भी अधिक कुशल बनाने का प्रयास किया। अलाउद्दीन की डाक-व्यवस्था का विस्तृत वर्णन इब्नबतूता ने दिया है। बरनी भी लिखता है कि जब कभी सुल्तान दूरस्थ प्रदेशों में अभियान भेजता था तो वह सेना के गन्तव्य स्थान तथा राजधानी के बीच चौकियां स्थापित करता था जहां घुड़सवार (उलाक) व पायक (धावा) तैनात रहते थे। तिलपत, जो कि दिल्ली से पहली मंजिल थी, से प्रत्येक आधे अथवा 1/6 कोस की दूरी पर अधिकारी, घुड़सवार आदि नियुक्त किये गये थे। ये अधिकारी प्रतिदिन अथवा प्रत्येक तीसरे दिन सेना के समस्त समाचार सुल्तान को पहुंचाते थे। इब्न बतूता द्वारा मुबारकशाह खलजी के वर्णन से मालूम पड़ता है कि अलाउद्दीन ने डाक-व्यवस्था को पूर्णतया व्यवस्थित किया था। कभी-कभी राजधानी से इन चौकियों का सम्बन्ध टूट जाता था जैसाकि मलिक काफूर के वारंगल के अभियान के समय हुआ था। अलाउद्दीन को लगभग चालीस दिन तक सेना की कोई जानकारी नहीं मिल पाई थी परन्तु ऐसी स्थिति अत्यन्त असाधारण ही होती थी। चौकियों की कुशल-कार्य प्रणाली के कारण ही सुल्तान को हाजी मौला के विद्रोह की सूचना तीसरे दिन ही मिल गई थी। चौकियों की कार्य-कुशलता के कारण ही खुसरव शाह को देवगिरि से दिल्ली तक केवल सात दिन में पहुँचाना सम्भव हो सका था। बरनी के विवरण से मालूम पड़ता है कि सुल्तान को अपने दूरस्थ प्रदेशों पर निगाह रखने में चौकियों से अत्यधिक सहायता मिली थी।

अमीर वर्ग से सम्बन्ध (संगठन)—अमीर वर्ग के संगठन के अध्ययन की आवश्यकता इसलिये महत्वपूर्ण है कि इस वर्ग की गतिविधियां अध्ययन काल में

निर्णायक थीं। इल्तुतमिश के राज्य-काल में 'तुर्कान-ए-चिहालगानी' (चालीस सरदारों का गुट) और खल्जियों के समय में 'बारबार सरदार' प्रमुख शक्तिशाली दलों में संगठित थे। इसके अतिरिक्त भी जातीय आधार पर बने हुये अनेक दल थे जिनमें अबीसिनियन, खोरासानी, अफगान दूसरों दलों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थे। समकालीन इतिहास में इस वर्ग की उत्पत्ति के आधार अत्यधिक अस्पष्ट है। डा. अशरफ ने 'लाइफ एण्ड कण्डीशन्स आफ द पिपुल आफ हिन्दुस्तान' में पहली बार इस वर्ग की उत्पत्ति के सम्बन्ध में खोज की और मोटे रूप से इसे उलेमा व उमराहों की श्रेणी में बांटा। साधारण रूप से इन्हें 'अहल-ए-कलम' (बुद्धिजीवी) व 'अहल-ए-तेग' (सैनिक) की संज्ञाओं से सम्बोधित कर सकते हैं। इन दो वर्गों के अतिरिक्त डा. अशरफ ने बारह वर्गों को बताया है परन्तु ये सब उन दो वर्गों की तुलना में नगण्य व शक्ति-हीन थे।

अमीर वर्ग का उत्थान आकस्मिक था और इसमें वे सब परिस्थितियां निहित थीं जिनके कारण दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई थी। मुहम्मद गोरी की पृथ्वीराज पर विजय के पश्चात हिन्दुस्तान में साम्राज्य स्थापना का कार्य केवल मुहम्मद गोरी के ही पौरुष अथवा रण-कुशलता का परिणाम न था अपितु उत्तरी-भारत की ये विजय-नीति अमीरों के सहयोग से ही पूरी हो पाई थी जिन्होंने उनके नाम पर विभिन्न प्रदेशों को विजित किया था। यही वर्ग सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। इस वर्ग के प्रत्येक सदस्य ने सुल्तान अथवा किसी अमीर के दास के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया और अपनी स्वामीभक्ति से अमीर का पद प्राप्त किया। तत्पश्चात् अपनी निजी प्राप्तियों से मलिक व खान की उपाधियां प्राप्त कीं। इनकी व्यक्तिगत श्रेणी, इनकी उपाधियां व इक्ता (सूबा) मरातिब पर आधारित थीं। ये इक्ता तथा शासकीय पद वंशानुगत न थे अपितु सुल्तान की इच्छा पर छीने जा सकते थे। अमीरों का राज्य के विरुद्ध कोई अधिकार न था और उनके पास केवल सुल्तान के प्रति स्वामिभक्ति अथवा स्वतन्त्र शासक रहने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। इसलिये ही डा. असरफ का मत है कि, "उनकी स्थिति एक भाड़े के नौकरशाही जैसी दयनीय थी जिसका सुल्तान की अनुपस्थिति में बने रहना सम्भव नहीं था।"

अमीर वर्ग में दूसरा स्थान उलेमाओं का था जो कि अपने में ही एक अभिन्न जाति थी, परन्तु उनको अमीर वर्ग का एक अंग स्वीकार करना उचित न होगा, क्योंकि सल्तनत काल की राजनीति में उनका सक्रिय योगदान नहीं था। राजनीति में वे केवल सहयोगी थे और साधारणतः सुल्तान और अमीर वर्ग के बीच संघर्ष में वे शक्तिशाली दल का ही पक्ष लेते थे। इसके अतिरिक्त सल्तनत काल के प्रथम तीन वंशों (इल्बरी तुर्क, खल्जी व तुगलक) के समय में समय-समय पर अमीर वर्ग में नये तत्वों के समावेश ने उनके संगठन को अत्यधिक प्रभावित किया

और कतिपय पुराने वर्ग को समाप्त कर नये वर्ग की स्थापना की। इन परिवर्तनों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने तथा उनके सगठन पर पड़े प्रभाव की जानकारी के लिए तीनों वशों के समय मे इस वर्ग का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है।

प्रो हबीब का यह मत सत्यता के अधिक निकट है कि 13 वीं शताब्दी म भारतीय-तुर्कीदास-नौकरशाही सयुक्त-कुटुम्ब की प्रारम्भिक स्थिति मे थी। अमीर वर्ग के सदस्य अधिकतर तुर्क थे यद्यपि खल्जी और ताजिकों का वर्ग भी अर्थपूर्ण था। क्योंकि तुर्कों को मुहम्मद गोरी की सरक्षता प्राप्त थी इसलिये उनको हिन्दुस्तान के उपजाऊ और सम्पन्न प्रदेशो को अपना कार्य क्षेत्र बनाने की अनुमति मिल गई थी और खल्जियों को सरक्षता की अनुपस्थिति मे खदेड़ दिया गया था तथा आसाम, बगाल, बिहार आदि के दूरस्थ-प्रदेशों मे जाने के लिये बाध्य कर दिया गया था। ये जातीय सगठन तुर्की अमीर वर्ग का विशिष्ट लक्षण था जो सुल्तान मुईजुद्दीन कैकूबाद के शासन के अन्त तक बना रहा।

इल्बरी तुर्कों के अमीर वर्ग के बाद दूसरा शक्तिशाली वर्ग विदेशियों का था जिनको ताजिक कह कर पुकारते थे। ये प्रारम्भ से ही दरबार मे प्रतिभाशाली पदों पर आसीन थे। मध्य एशिया की गतिविधियों तथा मगोल आक्रमणकारियों के कारण अनेकों राजवश के राजकुमार तथा परिवार व्यवसाय की खोज में हिन्दुस्तान आ गये थे और इल्तुतमिश तथा उसके उत्तराधिकारियों द्वारा सम्मानित व्यवहार प्राप्त करने मे सफल हुये थे। मलिक फीरोजशाह, मलिक अलाउद्दीन, मलिक इजाजुद्दीन इसी प्रकार के राजकुमार थे जो इल्तुतमिश के अमीर वर्ग मे सम्मिलित थे। सिराज ने रुक्नुद्दीन फीरोजशाह के समय मे तुर्की सैनिकों द्वारा अनेक ताजिकों के वध का वर्णन किया है जिससे यह स्पष्ट है कि उसके समय मे ताजिकों की सख्या मे अत्यधिक बढ़ोतरी हो गई थी। यह ठीक है कि इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियों के समय मे अनेक ताजिकों को अपदस्थ कर दिया गया था परन्तु फिर भी सुल्तान नासिरुद्दीन के समय मे वे अनेकों महत्वपूर्ण पदों पर थे और तुर्की अमीरों के साथ मिलकर वे इमादुद्दीन रहेयान के पतन मे सक्रिय थे।

हिन्दू जो कि कर देने वाले अमीर थे और दरबार मे समय-समय पर उपस्थित होते थे यद्यपि उनकी सख्या अच्छी थी परन्तु उनका राजनैतिक योगदान नगण्य था। राय दनुज, जिसने बलबन को तुगरिल के पकड़ने मे सक्रिय सहायता दी थी, के साथ किये गये सम्मानपूर्ण व्यवहार से यह स्पष्ट है कि बलबन ने हिन्दू कर देने वालों को शान्तिमय ढग से बने रहने की नीति अपनाई थी। सुल्तान मुइजुद्दीन कैकूबाद के राज्य-काल मे हिन्दू राय और राजा अगणित थे। कैकूबाद की मृत्यु के बाद जब सुल्तान जलालुद्दीन ने कड़ा के विद्रोही मलिक छज्जू के विरुद्ध सेना भेजी थी तो राय बीरम देव कोटल तथा राय भीम देव ने बलबन के वश के प्रति निष्ठा के कारण मलिक छज्जू की सहायता की थी।

अमीरों का एक अन्य वर्ग एबिसिनियन्स का था जो कि तुच्छ था। कुतुबुद्दीन ऐबक के समय में मलिक कमयाज रूमी अवध का मुक्ति था। इसी प्रकार नासिरुद्दीन कुबाचा का एक अमीर मलिक सिनान-उद-दीन था जो सिन्ध और देवल का मुक्ति था। रजिया के राज्यकाल में एबिसिनियन अमीर विशिष्टता प्राप्त कर सके परन्तु जमालुद्दीन याकूत की घटना से स्पष्ट हो गया कि इल्बरी तुर्क ये सहन नहीं कर सकते थे कि कोई विदेशी अमीर उनके शासक के साथ इतने घनिष्ठ सम्बन्ध रक्खे। उसके पतन के साथ ही दरबार से एबिसिनियन प्रभाव कुछ समय के लिये समाप्त हो गया यद्यपि सुल्तान अलाउद्दीन मसूदशाह के समय में उन्हें थोड़े समय के लिये पुनः प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी।

इल्बरी तुर्कों के उत्तरकालीन समय में नये मुसलमान जो कि पहले मंगोल थे उनका भी प्रभाव बढ़ा और बलबन के समय इनमें से कुछ सम्मानित पदों पर आसीन थे। सुल्तान कैकूबाद के राज्यकाल में अनेकों उच्च पद इन्हें प्राप्त हुये परन्तु इल्बरी तुर्क इनकी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा से इतने भयभीत थे कि इनमें से अधिकतर का उन्होंने वध कर दिया।

अफगान अमीरों की उत्पत्ति भी इल्बरी तुर्कों के समय में आरम्भ हुई और उन्होंने मुहम्मद गोरी की सैनिक कार्यवाहियों में सक्रिय भाग लिया। पृथ्वीराज के विरुद्ध युद्ध के समय उसकी सेना में 12,000 अफगान घुड़सवार उपस्थित थे। मलिक मुहम्मद लोदी उनका नेता था और मुहम्मद गोरी ने उसके भाई को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। कुतुबुद्दीन ऐबक ने भी अफगानों को आश्रय दिया और उनमें से अनेकों को अमीर बनाया। इल्तुतमिश तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय में अफगान अमीरों की कोई विशेष प्रगति नहीं हुई, परन्तु पुनः बलबन के समय में अफगान सैनिकों की संख्या लगभग 3,000 तक पहुंच गई। बलबन को अफगानों पर अत्यधिक विश्वास था और इसलिये जलाली का नव-निर्मित दुर्ग विजय करने के बाद उसने उसे अफगान अमीर के सुपुर्द कर दिया।

खलजी अमीर वर्ग की विशेषता जातीय-संगठन थी। यद्यपि जलालुद्दीन खल्जी ने पुराने तुर्की अमीरों को सन्तुष्ट करने का भरसक प्रयास किया परन्तु तुर्की अमीरों ने समय-समय पर खल्जियों को अपदस्थ करने का भरसक प्रयास किया। जलालुद्दीन ने इसलिये राज्य के महत्वपूर्ण पद अपने सम्बन्धियों को ही दिये। जलालुद्दीन के राज्यकाल में नये मुसलमानों को अधिक संरक्षण मिला। अनेकों नये मुसलमान जो कि इल्बरी तुर्कों के समय में पदासीन थे जलालुद्दीन ने उन्हें उनके पदों पर बने रहने दिया तथा शासन के दूसरे वर्ष में अनेकों नये मुसलमान अमीर बनाये गये। 1291-92 ई. में अब्दुल्ला के आक्रमण के समय सुल्तान ने उसके साथ एक समझौता किया और अपनी एक पुत्री का विवाह उलगू नामक नये मुसलमान के साथ कर दिया। अनेकों को सुल्तान ने जागीरें व इक्ता प्रदान किये और वे

कीलोखेड़ी, ग्यासपुर आदि मोहल्लों में बस गये। मलिक छज्जू के विद्रोह को दबाने में इन नये मुसलमान अमीरों ने सक्रिय भाग लिया था।

अलाउद्दीन ने बलबन की तरह इस व्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन किया और प्रत्येक ऐसे वर्ग को जिसने पुनः अपनी शक्ति स्थापित करने का प्रयास किया उसे कुचल दिया। उसने न केवल इल्बरी तुर्कों के अमीर-वर्ग को जो जलालुद्दीन के समय में आंशिक सफलता प्राप्त किये हुए थे, दमन किया अपितु जलालुद्दीन के समस्त खल्जी समर्थकों का भी अन्त कर दिया। तत्पश्चात् उसने मंगोल अमीरों के सर्वनाश के लिए विधिवत कदम उठाये।

अलाउद्दीन के समय में धर्म-परिवर्तित हिन्दू अमीर वर्ग के एक प्रमुख अंग थे। इनमें से अधिकतर ने एक दास के रूप में जीवन प्रारम्भ किया था और शनै-शनै अपनी स्वामीभक्ति से अमीर का पद प्राप्त किया था। मलिक काफूर-खुसरो खां, मलिक अहमद, मलिक नईम आदि का उत्थान ऐसे ही हुआ। अलाउद्दीन ने खल्जी अमीरों के विरुद्ध सन्तुलन बनाये रखने के लिये इस वर्ग को प्रोत्साहित किया। सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के समय में भी अमीरों का ये वर्ग शक्ति-सम्पन्न रहा, परन्तु अपने विरोधियों का समुचित नाश कर शक्ति-प्राप्त करने की मृग-तृष्णा में इन्होंने अपने सर्वनाश को आमन्त्रित किया।

अफगान अमीर वर्ग ने जिसने इल्बरी तुर्कों के समय में कुछ मान्यता प्राप्त की थी, खल्जियों के समय में इन्होंने और प्रगति की। अलाउद्दीन खल्जी ने उन्हें अमीर वर्ग में दीक्षा दी। खल्जियों के समय में मलिक इख्तियारुद्दीन अफगान व अब्दुल करीम शेरवानी प्रमुख अफगान अमीर थे।

तुगलकों के आगमन तक जाति पर आधारित अमीर वर्ग के संगठन का सिद्धान्त पूर्णतया बहिष्कृत हो गया था। स्वयं तुगलक भारत के लिए स्वयं विदेशियों जैसी स्थिति में थे और खल्जियों के पहले उनकी गणना कुलीन वर्ग में नहीं थी। इसके अतिरिक्त वे पुराने खल्जी अमीरों पर ही आश्रित थे क्योंकि उन्हीं के प्रयत्नों से वे सत्तारूढ़ हो पाये थे। मुहम्मद तुगलक की शासन के आधार को अधिक विस्तृत और प्रसारित करने की नीति भी इसके लिए उत्तरदायी थी और इसलिए उसने हिन्दू, मंगोल, अरब व खोरासनी लोगों को प्रोत्साहित किया। इस प्रोत्साहन के बाद भी उसने किसी भी वर्ग को अपने विरुद्ध संगठित होने का अवसर नहीं दिया। इसी कारण उसकी मृत्यु के समय अमीर वर्ग एक पिण्ड के समान था जिसमें विभिन्न नस्ल और जाति के लोग सम्मिलित थे। इस अमीर वर्ग ने एकमत से फीरोज तुगलक को उसका उत्तराधिकारी चुना।

फीरोज तुगलक ने अमीर वर्ग की इस स्वामिभक्ति का समुचित आदर किया और प्रत्येक को सन्तुष्ट करने के लिए वैमेन अमीर वर्ग को जन्म दिया। भाग्यवश ये व्यवस्था सन्तोषपूर्ण सिद्ध हुई, क्योंकि उसके स्वामिभक्त अधिकारियों ने अपने

स्वार्थों की अपेक्षा राज्य के स्वार्थों को प्राथमिकता दी। इस प्रकार से जातीय आधार पर अमीर वर्ग के निर्माण को सुल्तान के प्रति स्वामिभक्ति के सिद्धान्त में बदल दिया गया।

तुगलकों के राज्यकाल में अमीर वर्ग के संगठन के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि आरम्भ में जब गयासुद्दीन तुगलक गद्दी पर बैठा तब अधिकतर वही अमीर वर्ग बना रहा, जो अलाउद्दीन खल्जी व उसके पुत्र कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के समय में था। यही वर्ग मुहम्मद तुगलक और फीरोज तुगलक के समय में भी प्रभावपूर्ण बना रहा। गयासुद्दीन तुगलक ने न केवल पुराने खल्जी अमीरों को आश्रय प्रदान किया अपितु वे समस्त अमीर जो कि बलबन के समय के थे और इस समय भी जीवित थे, उनका यथोचित सम्मान किया।

मुहम्मद तुगलक ने पुराने अमीर वर्ग में तीन अभिन्न तत्व और जोड़ दिये। प्रथमतः उसने विदेशियों में मुख्यतः खुरासानी और अरबों को आश्रय प्रदान किया। उसने उनको राज्य में ऊंचे पद दिये और उनको 'अजीज' अथवा प्रिय संज्ञाओं से सम्बोधित किया। खुरासानी अमीरो में मलिक अलाउल-मुल्क, मलिक संजर, शेखजादा दमिश्की आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। दूसरा तत्व अफगान अमीरों का था। मलिक इख्तयारुद्दीन अफगान पहले की ही तरह मुहम्मद तुगलक के शासन में सम्मानित पदों पर आसीन रहा। बहराम अफगान और मलिक शाहू लोदी उसके प्रमुख अफगान अमीर थे। उसके उत्तराधिकारी फीरोज तुगलक ने भी मुहम्मद की नीति का अनुसरण किया और अफगानों को संरक्षण प्रदान किया। मलिक अफगान, मलिक दाऊदखां अफगान, मलिक मुहम्मदशाह अफगान आदि प्रमुख अफगान अमीर थे। तीसरा तत्व हिन्दू अमीरों का था जो कि मुहम्मद तुगलक के समय में राज्य कार्यों में सक्रिय सहयोगी था। बरनी ने अनेकों हिन्दू उच्च अधिकारियों की सूची दी है। रतना जिसको कि सुल्तान ने 'अजीम-उस-सिन्ध' की उपाधि दी थी सर्वविदित है। धरा को मुहम्मद तुगलक ने देवगिरि का नायब वजीर नियुक्त किया था और बहरल उसके समय में गुलबर्ग का मुक्ति था। सुल्तान फीरोज के समय उसकी धार्मिक असहिष्णुता की नीति से हिन्दू अमीरों की स्थिति सर्वथा महत्वहीन हो गयी और केवल इने-गिने ही हिन्दू अमीर रहे।

मंगोलों को भी तुगलकों के समय में सम्मानित स्थान मिला। मुहम्मद तुगलक और फीरोज तुगलक दोनों ही ने उनको संरक्षण प्रदान कर ऊंचे पदों पर नियुक्त किया। मलिक मुअज्जम, अमीर अहमद इकबाल आदि इस समय के प्रमुख मंगोल अमीर थे।

अमीर वर्ग का स्वरूप (तुर्क)—अमीर वर्ग को अनेक विद्वानों ने जागीरदारी की संज्ञा से सम्बोधित किया है। अमीर वर्ग उन व्यक्तियों के वर्ग की ओर संकेत करता है जो सुल्तान अथवा सम्राट के अधिकारी थे तथा साथ ही साथ जो

हैं जैसे राज्य का एक निश्चित भाग (प्रान्त); राज्य का एक अनिश्चित भाग (क्षेत्र); समुचित रूप से राज्य; एक विदेशी प्रदेश आदि। वली अथवा गवर्नर केवल नौकरशाही (bureaucratic) की स्थिति में था और शासक के नाम पर वह जिस भी प्रदेश का शासन संचालित करता था उसमें उसके अपने निहित स्वार्थ विद्यमान थे।

'विलायत' और 'वली' के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में 'इक्ता' और 'मुक्ति' शब्द सल्तनत कालीन इतिहासकारों ने बड़े ही खुले रूप से प्रयोग किये हैं। फारसी साहित्य में इक्ता शाब्दिक अर्थ उस जागीर से है जो सैनिक सेवा के बदले में प्रदान की जावे। इनके वृत्तान्तों में भी इसका यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है, परन्तु इसके *साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि 'इक्ता' विभिन्न क्षेत्रफल के थे और सुल्तान* ने सैनिक अथवा प्रशासकीय सेवाओं के अतिरिक्त अनेकों आधारों पर 'इक्ता' प्रदान किये थे, जैसे दरगाहों, पीर और फकीरों की मजार अथवा धार्मिक व साहित्यिक पुरुषों को उनके निर्वाह-हेतु अथवा पवित्र स्थानों को सुरक्षित बनाये रखने हेतु दिये गये थे। 'इक्ताओं' के ये भोगी 'मुक्ति' की संज्ञा से सम्बोधित नहीं किये जाते थे। 'मुक्ति' केवल वही थे जो निर्विवाद रूप से किसी एक भू-खण्ड (इक्ता) के अधिकारी थे और जो इसका शासन सुल्तान के नाम पर करते थे तथा आवश्यक रूप से सुल्तान द्वारा निश्चित सैनिक संख्या से उसकी सहायता के लिए सर्दव तत्पर रहते थे। मुक्तियों की स्थिति जागीरदारी अथवा नौकरशाही श्रेणी की थी जो तुर्की अमीर वर्ग के स्वरूप को समझने में अत्यधिक सहायक होगी।

आरम्भ में तुर्कों के अधीन, अमीर वर्ग भिन्न-गुण-प्रजोत्पत्ति (hetero geneous) अथवा विजातीय था। यद्यपि इसमें 13वीं शताब्दी में इल्बरी तुर्कों की अधिकता थी क्योंकि सुल्तान जो कि स्वयं इल्बारी तुर्क थे उन्होंने अपने समजाति वालों को संरक्षण प्रदान किया था। पैतृक तथा सुव्यवस्थित अमीर वर्ग की अनुपस्थिति में इन्होंने स्वामीभक्ति अथवा व्यक्तिगत सेवा के आधार पर ही अपने दासों में से अमीरों को चुनने की नीति अपनाई थी। बदलती हुई परिस्थितियों में खल्जी और तुगलक वंश के शासकों के समय में इसने पैतृक स्वरूप धारण कर लिया था जिसका एकमात्र आधार इस वर्ग के अपने अधिकारों की अपेक्षा केवल सुल्तान का संरक्षण मात्र था। यद्यपि यह सत्य है कि अमीर वर्ग का सम्पूर्ण इतिहास ताज से अपने अधिकारों को स्वीकार कराने का संघर्ष रहा, परन्तु इसके बाद भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यूरोप की तरह भारत में अमीर वर्ग की बढ़ोतरी में राजतन्त्र की शक्तिहीनता अथवा पतन किसी प्रकार से उत्तरदायी थी। ताज सदैव ही प्रभुसत्ता और शक्ति का स्रोत बना रहा और अमीर वर्ग ने इसी से शक्ति प्राप्त की। वे शासकीय ढांचे के अंग थे और उसके बाहर उनका कोई अस्तित्व नहीं था। साधारण भाषा में हम कह सकते हैं कि अमीर वर्ग का अस्तित्व तथा उनकी शक्ति ताज पर ही आधारित थी।

इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मुक्ति नौकरशाही व्यवस्था के केवल एक अंग मात्र थे। वे सुल्तान के द्वारा नियुक्त किये जाते थे तथा वही उनका स्थानान्तरण, पदच्युत करने तथा उनको दण्डित करने का एकमात्र अधिकारी था तथा वे राजस्व विभाग के कठोर नियन्त्रण में रहते थे। ये समस्त लक्षण यूरोप की जागीरदारी व्यवस्था के किसी प्रकार से भी अंग नहीं थे।

इस प्रकार से इन दोनों व्यवस्थाओं का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस स्थिति में हैं कि उनमें समानताओं व विभिन्नताओं को जानकर यह निष्कर्ष निकाल सकें कि दोनों व्यवस्थायें किसी सीमा तक एक दूसरे के समान्तरण थीं अथवा एक दूसरे के समरूप थीं।

प्रथमतः यूरोप में जागीरदारी प्रथा का जन्म शासक की शक्तिहीनता का परिणाम था परन्तु भारत में तुर्की अमीर वर्ग की उत्पत्ति मूलतः सुल्तान के शक्तिशाली होने के कारण हुई। परिस्थितियों-वश यूरोप के शासकों ने बाध्य होकर अपनी शक्ति को अमीर वर्ग के साथ विभाजित कर उसका उपयोग करना हितकर समझा परन्तु भारत में तुर्की सुल्तानों ने राज्य और शासन के आधार को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए अमीर वर्ग का निर्माण किया। इस वर्ग के निर्माण के पश्चात् भी सुल्तान उत्साहपूर्वक अपने अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए सतर्क रहे और अमीर वर्ग के प्रभुसत्ता में भागीदारी के प्रत्येक प्रयत्न को असफल कर दिया। यदि इल्तुतमिश के द्वारा स्थापित तुर्की राज्य अधिक समय तक जीवित रहता तो यह सम्भावना हो सकती थी कि अमीर वर्ग को दी गई अमुख्य (minor) शक्ति स्थायी अधिकारों में परिवर्तित हो जाती, परन्तु इल्तुतमिश का राज्य स्थापित परिपाटियों अथवा साधारणजन की इच्छा की अपेक्षा शक्ति पर आधारित था और केवल शक्ति के आधार पर ही इसे बनाये रखना सम्भव भी था परन्तु इसका आन्तरिक संगठन इस प्रकार का था कि शक्ति द्वारा बनाये रखना सम्भव नहीं था और इसीलिये इसका पतन हुआ।

इसके अतिरिक्त अनेकों क्षेत्रों में तुर्क कालीन पद्धति अपनी प्रतिरूप यूरोपीय पद्धति से भिन्न थी। तुर्की पद्धति में वे सब विशेषाधिकार न थे जिनका उपयोग यूरोपीय जागीरदार करते चले आये थे। छत्र, दूर्बेश, ध्वज अथवा नक्कारा रखने की अनुमति जिन्हें हम विशेषाधिकार अथवा मरातिब कह सकते हैं वास्तव में विशेषाधिकार न थे क्योंकि इनसे इनके धारण करने वाले को कोई आर्थिक लाभ न था। इसके अतिरिक्त ये मरातिब उनकी कुशल सेवाओं की स्वीकृति में दिया गया सम्मान था। एक प्रकार से ये राज्य के द्वारा प्रदान किये गये अधिकार थे जबकि यूरोपीय पद्धति में इस प्रकार की सुविधायें राज्य के विरुद्ध प्राप्त की गई थीं। इसके अतिरिक्त यूरोपीय पद्धति में जागीरदारों अथवा ताल्लुकेदारों को दी गई ये सुविधायें उनके भूमि प्राप्ति पर आधारित थीं और इसलिये स्थानीय थीं, जबकि सल्तनत कालीन

व्यवस्था में इन सुविधाओं का आधार राज्य पद की प्राप्ति थी और इसलिए अमीरों के स्थानान्तरण तथा पदोन्नति का उनकी विशेष सुविधाओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। तुर्की अमीर वर्ग को दी गई विशेष सुविधायें का उनका दिये गये 'इक्ता' से कोई सम्बन्ध नहीं था।

इस प्रकार इस विवेचन के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि तुर्क-कालीन अमीर वर्ग का स्वरूप प्रमुखत नौकरशाही था। इसमें कुछ समानतायें यूरोपीय जागीरदारी की भी थी परन्तु वे काफी बदले हुए रूप को लिये हुई थीं। यह भेद सम्भवत इसलिये था कि 13वीं व 14वीं शताब्दी का भारत समकालीन यूरोप से काफी भिन्न था। इसके अतिरिक्त तुर्की अमीर वर्ग अभी अपनी शैशव अवस्था में ही था तथा भारत में उसकी पृष्ठ-भूमि नाम-मात्र की थी। तुर्क शासक जो मध्य एशिया की विशेषकर मिस्र की नौकरशाही से अधिक परिचित थे, वे साधारण स्थिति में अपने स्वार्थ की रक्षा-हेतु उसी व्यवस्था को भारत में लागू करने के अतिरिक्त और कुछ करने में असमर्थ थे। बारम्बार वंश और राजनैतिक परिवर्तनों के कारण ये संस्था अपनी परिपक्वता को प्राप्त न कर सकी। इस तरह से तुर्ककालीन अमीर वर्ग का स्वरूप जागीरदारी की अपेक्षा नौकरशाही पर अधिक आधारित था।

खल्जी सुल्तान व अमीर वर्ग—बलबन के उत्तराधिकारी कैकूबाद की प्रशासनिक असफलता ने अमीर वर्ग को दो भागों में बांट दिया। एक के नेता मलिक फखरुद्दीन और मलिक छज्जू थे और दूसरे दल का नेता जलालुद्दीन फीरोज था। 1290 ई. में कैकूबाद का एक खल्जी अमीर द्वारा वध किये जाने पर जलालुद्दीन एक प्रकार से सर्वेसर्वा बन गया।

तुर्की अमीर खल्जियों को नहीं चाहते थे। दिल्ली में जनमत कैकूबाद के वध के विरुद्ध था और उसको बड़ी मुश्किल से कोतवाल फखरुद्दीन की सहायता से शान्त किया गया। मलिक छज्जू भी जलालुद्दीन के विरुद्ध षड्यन्त्र रचने में व्यस्त था। ऐसी स्थिति में जलालुद्दीन ने अनुभव किया कि इल्बारी अमीरों का दल अब भी शक्तिशाली है और उसको किसी प्रकार से अलग नहीं किया जा सकता। इसलिये उसने सुल्तान क्यूमर्स के काल में उन्हें उच्च पदों पर नियुक्त करने की नीति अपनाई। ख्वाजा खातिर को वजीर बनाया गया और फखरुद्दीन को दिल्ली का कोतवाल नियुक्त किया गया। मलिक छज्जू को कड़ा व माणिकपुर के मुक्ति का पद दिया। इसके साथ उन खल्जी अमीरों को जिनकी सहायता से वह सुल्तान बन सका था उच्च पदों पर नियुक्त किया।

सुल्तान की ये समझौते की नीति 'इल्बारी अमीरों' ने उसकी कमजोरी के रूप में आकी और इसलिये उन्होंने मलिक छज्जू व दूसरी बार सिद्दी मौला के नेतृत्व में सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह किये। यद्यपि दोनों ही विद्रोह दबा दिये गये परन्तु यह स्पष्ट हो गया कि अमीर वर्ग जलालुद्दीन का विरोधी था।

अलाउद्दीन ने अपने चाचा जलालुद्दीन का वध कर गद्दी प्राप्त की। जलालुद्दीन ने उसे मलिक छज्जू के बाद कड़ा का गवर्नर नियुक्त किया था परन्तु वह इससे सन्तुष्ट होने वाला नहीं था। 1292 ई. में भिलसा को लूटने के पश्चात् अलाउद्दीन को अवध की जागीर भी दी गई। उसे 'आरिज-ए-मुमालिक' का पद भी दिया गया जिस पद पर रहते हुए जलालुद्दीन ने सत्ता हथियाई थी, परन्तु वह इन सबसे सन्तुष्ट नहीं था। खल्जी क्रान्ति से अलाउद्दीन ने यह सीखा था कि शासन-प्राप्ति के लिये वंश परम्परा की अपेक्षा शक्ति ही एक मात्र आधार है। 1296 ई. में उसने इसी आधार पर अपने उपकार-कर्ता जलालुद्दीन का वध कर दिया।

अलाउद्दीन की इस योजना में इल्बरी अमीर सबसे अधिक सक्रिय थे। इनमें मलिक अला-उल-मुल्क व उसके भाई अल्मास बेग से अधिक सहायता मिली थी। परन्तु जलालुद्दीन के अनायास वध से सुल्तान के खेमे में भगदड़ मच गई। इसका लाभ उठाकर मलिका जहान ने अपने सबसे छोटे लड़के को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। 'जलाली' अमीरों ने अपने स्वार्थ के कारण उसे कोई सहयोग नहीं दिया और 'अलाई' अमीरों ने अलाउद्दीन की अपेक्षा अरकली खां का पक्ष लेने में अपना ज्यादा हित देखा। अलाउद्दीन ने एक ओर तो इन 'जलाली' अमीरों में फूट डलवाने की कोशिश की और दूसरी ओर वह उनकी गतिविधियों के प्रति बिल्कुल उदासीन रहा। परन्तु यह नीति केवल कुछ समय के लिये ही अपनाई। जैसे-जैसे वो स्वयं को सुरक्षित अनुभव करने लगा, वैसे ही वैसे अमीरों के प्रति अधिक कठोर हो गया।

अलाउद्दीन ने सबसे पहले जलाली अमीरों को कमजोर बनाने के लिये अपने निकट सम्बन्धियों व स्वामीभक्त सेवकों को एक नये अमीर वर्ग के रूप में संगठित किया, परन्तु शासन की वास्तविक शक्ति स्वयं तथा अपने चार सम्बन्धियों (उलुग खां, नुसरत खां, अलप खां व जफर खां) में ही केन्द्रित रखी क्योंकि सत्ता-प्राप्ति में इनसे ही सहायता मिली थी। धीरे-धीरे जब उसने अपनी विजय योजना लागू की तो उसे और अधिक अमीरों की आवश्यकता अनुभव हुई और उसने ऐसे इल्बरी अमीरों को जिन्होंने उसकी सहायता की थी, सम्मानित पद देना आरम्भ किया। अला-उल-मुल्क को इसी नीति के अन्तर्गत दिल्ली का कोतवाल बनाया गया। परन्तु इन अमीरों को उच्च पद देने के बाद भी वह इनके प्रति सतर्क रहा जिससे कि वे विद्रोह करने की सोच भी न सकें।

अलाउद्दीन ने जिस प्रकार सत्ता प्राप्त की थी उन्हीं साधनों को अपनाकर अन्य भी सत्ता प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हुये। उसने यह अनुभव किया कि शक्ति-सम्पन्न और धनाढ्य अमीर विद्रोह कर रहे हैं इसलिये इनकी शक्ति को समाप्त करना जरूरी है। अकतखां, अमीर उमर व मंगूखां के विद्रोह इसके प्रमाण थे और इसलिये उसने इनकी शक्ति को समाप्त करने के लिये कठोर नियम बनाये।

अमीरो को 'मिल्क', इनाम व मरदारतें (पेन्शन) के रूप मे जो जागीर दी गई थी उन्ह जब्त कर लिया। केवल 'इक्ता' के रूप मे अर्थात काम के बदले जो जागीर दी गयी थी उन्ह अमीरा के अधिकार मे रहने दिया। स्वाभाविक रूप मे अमीरो की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई। उसने स्वय शराब पीना बन्द कर दिया व अमीरो की शराब की दावता पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। अमीरो के पारिवारिक सम्बन्धो पर नियन्त्रण लगा दिया व सुल्तान की अनुमति के बगैर आपसी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने पर रोक लगा दी।

इन आदेशा का पालन कराने के लिये उसन गुप्तचर विभाग का सगठन किया। ये सुल्तान की आख व कान थ जो उस छोटी से छोटी घटना की सूचना देते थे। इस नीति का परिणाम निकाला कि अमीर सुल्तान से अत्यधिक आतकित हो गय और विद्रोह का उच्चारण ही भूल गये।

अमीरा के प्रति अलाउद्दीन की नीति मे विशेषता यह भी थी कि उसने अमीरों की एक नयी श्रेणी बनाई जिस पर कि वह विश्वास कर सकता था। मलिक काफूर इसी श्रेणी मे से था और सुल्तान के द्वारा अधिक सम्मानित किये जान के कारण दूसरे अमीर उमसे ईर्ष्या रखत थे। मलिक काफूर भी यह जानता था। वह यह भी समझता था कि उसके सरक्षक के अन्त के बाद अमीर उसे अपदस्थ कर देंगे। इसलिये उसने ऐसे अमीरा को मार्ग से अलग करने की विधिवध योजना आरम्भ की। शरफ कैनी और मलिक क्वाम-उल-मुल्क अलदवीर के दो पुत्रो को उनके पदा से अलग करना इसी नीति का प्रमाण है। अलपखा को भी इसी आधार पर अपदस्थ किया गया था। मलिक काफूर इनकी जगह ऐसे अमीरों की नियुक्ति कर रहा था जा उसके प्रति स्वामी-भक्त थे।

अलाउद्दीन की मृत्यु पर उसने स्वय सत्ता अपने हाथो मे न ली क्योकि वह अनुभव करता था कि अमीरो के द्वारा इसका विरोध किया जावेगा। इसलिये उसने शहाबुद्दीन को जो केवल पाच वर्ष का था, यह कहकर उत्तराधिकारी घोषित किया कि सुल्तान अन्तिम समय मे उसे ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। यह आश्चर्य है कि बरनी और अमीर खुसरो दोनो ही इस घटना के बारे मे पूरी तरह से मौन हैं। अधिक सम्भावना है कि मलिक काफूर ने सुल्तान के नाम पर इस प्रकार की घोषणा की हो। मलिक काफूर के वध के साथ ही उन अमीरों को अधिक सन्तोष मिला जो अलाउद्दीन के प्रति स्वामी-भक्त थे। सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारक शाह ने गद्दी पर बैठने के बाद यह अनुभव किया कि अलाउद्दीन द्वारा अमीरा पर लगाई गई पाबन्दियाँ उसके हित मे नहीं हैं इसलिये उसने उन्हें रद्द कर दिया। अमीर पुन शक्तिशाली हो गये जिसका परिणाम तुगलक वश के शासक गयासुद्दीन तुगलक द्वारा नये वश की स्थापना म निकला।

अलाउद्दीन के राजस्व सुधार

सल्तनत काल म अलाउद्दीन पहला सुल्तान था जिसने राजस्व सुधारा की ओर ध्यान दिया और उनम परिवर्तन कर भू-राजस्व क निर्धारण और एकत्रीकरण

में नया प्रयोग किया। इस नये प्रयोग के अनेक कारण थे जिनमें शक्तिशाली और निरंकुश राज्य की स्थापना करना, मंगोलों के आक्रमणों से राज्य को सुरक्षित रखने के लिये एक विशाल और सुसंगठित सेना की व्यवस्था करना तथा साम्राज्यवादी नीति को सफल बनाना; राज्य में विद्रोहों को कुचल देना तथा अमीरों की शक्ति पर अंकुश रखना था। इनके अतिरिक्त डा. यू. एन. डे ने लिखा है कि अलाउद्दीन राज्य और किसानों के बीच के वर्ग की शक्ति को तोड़ देना चाहता था जो राज्य की कीमत पर अपने स्वार्थों की पूर्ति में अधिक व्यस्त था और राज्य की बगैर अनुमति के अपने प्रभाव-क्षेत्र में वृद्धि कर लेता था और इस प्रकार भूमि के भाग पर अधिकार कर स्वयं अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली हो जाता था। अलाउद्दीन के राजस्व सम्बन्धी सुधार मोटे रूप से इसी वर्ग से सम्बन्धित थे जिसे मोरलैण्ड ने 'प्रतिनिधि' और बरनी ने खुत, चौधरी और मुकद्दमों की संज्ञा दी है।

इस क्षेत्र में ही सुधार करने के लिये अलाउद्दीन के पास एक विशेष कारण था, जो इसी वर्ग से सम्बन्धित था। अलाउद्दीन के पहले मुख्य रूप से 'सामूहिक कर निर्धारण' पद्धति ही थी जिसके अन्तर्गत गांवों के एक समूह का कर-निर्धारण एक निश्चित धन-राशि पर होता था जो परम्पराओं के अनुसार निश्चित कर दी जाती थी। यह धन राशि इकट्ठा करने का काम खुत, चौधरी अथवा मुकद्दम किया करते थे। जब तक ये निश्चित धन-राशि का भुगतान करते थे, तब तक सुल्तान को विधि-सम्मत इनके कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। परन्तु सुल्तान इसके लिये अवश्य उत्तरदायी था कि वे कार्य उचित रूप से कर रहे हैं। खुत, चौधरी और मुकद्दम अपने-अपने क्षेत्र से सरकारी भाग नकद या अनाज के रूप में एकत्रित कर उसे प्रान्तीय या केन्द्रिय खजाने में जमा करा दिया करते थे तथा अपने कार्य के लिये कमीशन प्राप्त करते थे। इस ठेकेदारी व्यवस्था में ऊपरी तौर पर कम बुराई दिखती है, परन्तु वास्तविकता यह है कि इसके अन्तर्गत ये अधिकारी अपने क्षेत्र से अधिक से अधिक वसूल कर केवल निश्चित धन-राशि राज्य में जमाकर, शेष का स्वयं उपभोग करते थे। बरनी ने इनकी सम्पन्न स्थिति का वर्णन करते हुये लिखा है कि, "वे अच्छे घोड़ों पर सवार होते हैं, अच्छे वस्त्र पहनते हैं, ईरानी धनुषों का प्रयोग करते हैं, आपस में युद्ध करते हैं""""उनमें कुछ कर वसूल करने वाले अधिकारियों के पास तक नहीं आते चाहे उन्हें बुलाया जावे, चाहे न बुलाया जावे और कर वसूल करने वालों की कोई परवाह नहीं करते हैं।" यह स्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती थी। डा. यू. एन. डे, ने लिखा है कि, "सम्भवतः विद्रोहों ने इस समस्या को प्रमुख बना दिया था, परन्तु ये सुधार एक ऐतिहासिक क्रम का परिणाम थे और अलाउद्दीन उनको कार्य-रूप में परिणित करने का साधन मात्र बना।" अलाउद्दीन ने इसके साथ ही बटाई-पद्धति के क्षेत्र में राज्य के भाग की भी वृद्धि की।

भूमि अनुदानों की समाप्ति—इस आधार पर अलाउद्दीन ने राजस्व सुधारों की ओर कदम उठाया। उसने सबसे पहले उस वर्ग पर आक्रमण किया जिन्हें इनाम, पेन्शन आदि के रूप में पिछले सुल्तानों से भूमि प्राप्त हुई थी और जो बगैर किसी सेवा के उसका उपभोग करते चले आ रहे थे। ये भूमि-अनुदान अथवा राजस्व-प्रदेश वशानुगत नहीं थे, पर शासन की कमजोरी से इन लोगों ने ऐसी भूमि पर वशानुगत अधिकार जमा लिये थे।

अलाउद्दीन के एक आदेश के अनुसार ऐसी समस्त भूमि छीन ली गई। सुल्तान ने आदेश दिया कि समस्त भूमि जो लोगों के पास मिल्क (सम्पत्ति), इनाम व वक्फ (उपहार) के रूप में हैं उन्हें वापिस लेकर खालसा में मिला लिया जावे। डा के एस लाल के अनुसार सम्भवत सारी भूमि जब्त न की गई हो क्योंकि भूमि-अनुदान की पद्धति अलाउद्दीन के समय में पूर्णतया त्यागी नहीं गई थी। डा यू. एन डे कि मान्यता है कि ऐसा नहीं था कि व्यक्तियों के पास ऐसी भूमि न रही हो, परन्तु अलाउद्दीन ने पहले ऐसे व्यक्तियों से भूमि छीनी और फिर उसको पुन वितरित की। उसने योग्यता तथा राज्य-सेवा के आधार पर व्यक्तियों को भूमि दी। डा त्रिपाठी ने भी लिखा है कि ऐसा करने मे उसका उद्देश्य "ऐसी सभी भूमियों के बारे में जिनके अधिकार को वह ठीक नहीं मानता था, निर्णय लेने, उन्हें समाप्त करने अथवा पुन अपनी शर्तों पर अन्य व्यक्तियों को देने के सुल्तान के अधिकार को स्थापित करना था।" अलाउद्दीन के इस सुधार के कारण एक ओर तो वशानुगत सरदारों का प्रभाव कम हुआ, राज्य ने भूमि बहुत कम मात्रा में और फिर केवल उपयुक्त व्यक्तियों को दी जिनसे वह राज-सेवा प्राप्त करने मे समर्थ हुआ और साथ ही खालसा भूमि बढ जाने से राज्य की आय में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त राज्य ने नकद वेतन देने के रूप में एक नया प्रयोग किया और न केवल इस आधार पर सेवकों को अधिक स्वामीभक्त बनाया अपितु राज्य के बढ़ते हुये फालतू के खर्चों पर जिनसे राज्य को कोई लाभ न था अकुश लगाया।

सम्पत्ति छीनना—अलाउद्दीन का दूसरा प्रहार खुत, चौधरी और मुकद्दमों पर हुआ जो पैतृक आधार पर लगान अधिकारी थे। ये अधिकांशत: हिन्दू थे और स्वाभाविक रूप से प्रभावित होने चाहिये थे। ये वर्ग एक ओर तो निश्चित राशि से अधिक राशि किसानों से वसूल करता था और दूसरी ओर राज्य के अनेक करों को देना टाल देता था। किसानों से अधिक वसूल किया हुआ धन ये स्वयं हथिया लेते थे। इस दोहरे लाभ के कारण वे अधिक धनाढ्य हो गये थे और राज्यादेशों का उल्लघन करते थे। उसने उनके लगान वसूल करने के अधिकार को छीन लिया और उनके विशेषाधिकारों को भी समाप्त कर दिया। उसने उन्हें साधारण किसानों की स्थिति में ला खड़ा किया और उनसे साधारण किसानों की तरह ही भूमि-कर वसूल किया जाने लगा। अन्य कर भी उनसे लिये जाने लगे तथा उनकी सेवाओं के

बदले में उन्हें धन दिया जाने लगा। अलाउद्दीन ने इसके अतिरिक्त दूध देने वाले जानवरों पर चराई-कर तथा आवास कर भी लागू किया। बरनी ने चराई-कर में दी गई छूट का वर्णन नहीं किया है परन्तु फरिश्ता के विवरण से मालुम पड़ता है कि उसने दो जोड़ी बैल, एक जोड़ी भैंस, दो गायें और बारह बकरियां तथा भेड़ें चराई-कर से मुक्त कर रखी थीं। यदि इस कथन को स्वीकार किया जावे तो अलाउद्दीन के राज्य में चरागाह-भूमि की कोई कमी न थी। फरिश्ता की बात को अस्वीकार करते हुये डा. के. एस. लाल ने लिखा है कि, "अलाउद्दीन ने केवल ऐसे पशुओं की छूट दी थी जो कृषि के लिये अनिवार्य थे।" इतनी बड़ी मात्रा में छूट देना सम्भव नहीं था क्योंकि ये आय का साधन थीं।

प्रो. निजामी ने लिखा है कि, "अलाउद्दीन को 'चौधरियों', 'खुतों' और 'मुकद्दमों' का दमन करने में कोई कठिनाई नहीं हुई जिन्हें उनकी वास्तविक या छिपी सम्पत्ति से शीघ्र ही वंचित कर दिया गया। उनका आज्ञापालन इस सीमा तक पहुंच गया कि नगर के राजस्व विभाग का एक सिपाही बीस 'खतों', 'मुकद्दमों' और 'चौधरियों' की गर्दन एक साथ बांधकर उन्हें लात और घूंसे मारकर 'खराज' वसूल करता था। गांव के हिन्दू (मुखिया) के लिये यह असम्भव था कि वह अपना सर उठाए। हिन्दुओं के घरों में सोना, चांदी, 'टंके', 'जीतल' तथा अन्य फालतू सामग्री (जो विद्रोह का कारण होती है) नहीं रह गई।"

भूमि की पैमाइश—अलाउद्दीन ने 'खराज' अथवा पैदावार का भाग भूमि-कर के रूप में वसूल करना शुरू किया। पिछले सुल्तानों ने यह कर कितनी मात्रा में लगाया था इसकी समुचित जानकारी नहीं है परन्तु अनुमानतः यह उपज का 1/3 भाग हुआ करता था। अलाउद्दीन ने इस भाग को 1/2 के रूप में लागू किया और इस हेतु राज्य की भूमि को नपवाने की वैज्ञानिक पद्धति पहली बार सल्तनत काल में आरम्भ की। इसके लिये 'बिस्वा' को इकाई माना गया और प्रत्येक व्यक्ति को जो खेती करता था इस नाप के आधार पर निश्चित भाग कर के रूप में देना पड़ता था। सुल्तान इस कर को उपज के रूप में ही लेना पसन्द करता था।

अलाउद्दीन की यह व्यवस्था समस्त राज्य में लागू करना सम्भव न था। यह केवल दिल्ली और उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में ही लागू की गई थी जहां से सरकारी कर्मचारी किसानों से सीधा कर वसूल कर लिया करते थे। अवध, बिहार, गोरखपुर, बंगाल, पश्चिमी पंजाब, गुजरात और सिन्ध इसके अन्तर्गत नहीं आते थे।

अलाउद्दीन की व्यवस्था के कारण बरनी के अनुसार राजस्व मंत्रालय के अधिकारियों और कर्मचारियों में भ्रष्टाचार बढ़ा। अलाउद्दीन ने इसको रोकने के लिये पहले तो वेतन में वृद्धि की परन्तु जब इससे कोई लाभ न निकला तो उसने कठोर दण्डों का सहारा लिया। बरनी के विवरण से मालुम पड़ता है कि, "पांच सौ अथवा एक हजार टंका के लिये एक लगान अधिकारी को वर्षों जेल में पड़े

रहना पड़ता था और एक अधिकारी किसी से भी रिश्वत के रूप में एक टका भी लेने का साहस न करता था। प्रजा भी भयभीत थी।" उसने कर वसूल करने में भी कठोरता से काम लिया और यदि किसी पटवारी की बही में एक जीतल भी बकाया निकल जाता तो वह उसे जेल में डाल देता था। अलाउद्दीन की इस कठोरता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उसके उत्तराधिकारी मुबारक शाह ने राज्यारोहण के समय लगभग सत्रह से अट्ठारह हजार व्यक्तियों को जेल से मुक्त किया था। यह सख्या अतिरंजित हो सकती है, परन्तु उसके बाद भी यह तो स्वीकार करना पड़ेगा कि भ्रष्टाचार के अपराध में हजारों व्यक्ति जेल में डाल दिये जाते थे। अलाउद्दीन पूरी तरह से भ्रष्टाचार को समाप्त कर सका होगा यह तो शंकापूर्ण है परन्तु तब भी अपने कठोर नियमों से उसने उसमें काफी अधिक मात्रा में सफलता प्राप्त की थी।

राजस्व सुधारों का प्रभाव—अलाउद्दीन अपने कठोर राजस्व नियमों के आधार पर अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल रहा। विद्रोहों की भावनाओं का ही अन्त करना तथा राज्य की आय में वृद्धि करना उसके राजस्व सुधारों की धुरी थे और निश्चित ही वह इन दोनों की प्राप्ति में सफल हुआ था। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या ये व्यवस्था प्रजा और राज्य के हितों के अनुकूल थी? इस संदर्भ में सब ही इतिहासकार ये स्वीकार करते हैं कि इस प्रकार की व्यवस्था प्रजा हित में नहीं हो सकती। अलाउद्दीन ने किसानों से उनकी उपज का 75 से 80 प्रतिशत कर के रूप में वसूल किया जो सामान्य आधार पर अत्यधिक बोझिल था। इसके देने के बाद शेष भाग में किसान मुश्किल से अपना निर्वाह करने में समर्थ होता था। ऐसी स्थिति में उसका खुशहाल रहना केवल एक कल्पना ही हो सकती थी। पुनः वह यह भी जानता था कि यदि उसने उत्पादन में वृद्धि की अथवा कृषि में किसी प्रकार के सुधारों का समावेश किया तो इसका लाभ उसे स्वयं न मिलकर राज्य को प्राप्त होगा क्योंकि कर की मात्रा अत्यधिक थी। इसलिये वो निरुत्साही होकर परम्परागत आधारों पर ही किसी प्रकार से खेती करता था। इस संदर्भ में डा. के. एस. लाल ने लिखा है कि, "मध्ययुगीन भारत के मुसलमान शासकों पर भारतीय जनता को निर्धन बनाने का आरोप ठीक अर्थ में लगाया जा सकता है।" डा. यू. एन. डे ने लिखा है कि, "सम्भवतः इस व्यवस्था ने किसानों की भौतिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डाला क्योंकि बढ़े हुये करों के बाद भी न तो कोई विद्रोह हुए और न ही किसान भूमि को छोड़कर भागे। यह भी कहा जाता है कि जब किसानों ने अपने ऊपर अत्याचार करने वालों (खुत, चौधरी और मुकद्दम) के साथ भी क्रूरता का व्यवहार देखा तो उन्हें एक अप्रत्यक्ष सन्तुष्टि हुई।" सैद्धान्तिक आधार पर ये ठीक है कि न तो विद्रोह ही हुये और न ही किसान भूमि छोड़कर भागे परन्तु प्रश्न यह है कि आखिर भूमि छोड़कर वे क्या कर सकते थे? उस समय न तो औद्योगिक विकास ही हो पाया था और न ही शहरों (कस्बों) में मध्यम-वर्ग

का ही उदय हुआ था जिसके आधार पर वे जीविका कमा सकें। इन दोनों के न होते हुये भूमि पर निर्भर रहना ही उनके पास एक मात्र विकल्प था, जिसे वे केवल आपत्तिकालीन परिस्थितियों को छोड़कर आसानी से त्यागने के लिये तत्पर नहीं थे। कस्बों में केवल अमीर वर्ग व निम्नतर वर्ग (सेवक) ही रहते थे और यद्यपि किसान का वर्ग भी निम्न हो गया था परन्तु वो इस निम्न वर्ग को छोड़कर निम्नतर वर्ग में सम्मिलित होने के लिये तत्पर नहीं था। दूसरे यद्यपि किसान को अप्रत्यक्ष रूप से सन्तोष मिला कि उस पर अत्याचार करने वालों को अपने किये का फल भुगतना पड़ रहा है परन्तु इस खोखली सन्तुष्टि पर वह कितने समय तक अपनी आवश्यकताओं को टाल सकता था अथवा उनसे समझौता कर सकता था। डा. डे. का केवल यह अनुमान है जिसमें अधिक सार्थकता नहीं है। इसी प्रकार **प्रो. इर्फान** हबीब ने लिखा है कि, "गांवों में दो वर्गों के परस्पर झगड़ों का लाभ उठाकर अलाउद्दीन ने जान-बूझकर शक्तिशाली के विरुद्ध निर्बल का समर्थन लेकर न्यायोचित कार्य किया।" **प्रो. निजामी** की मान्यता है कि यह उसी अवस्था में ठीक है जब शक्तिशालियों का अर्थ निम्न-कोटि या अभिजात वर्ग या मुखिया से लगाया जावे। विद्वान लेखक का यह तर्क अधिक रूचिकर नहीं लगता क्योंकि इसमें शक्तिशाली वर्ग अर्थात् खुत, चौधरी और मुकद्दमों आदि के विशेषाधिकारों की समाप्ति पर अधिक बल दिया गया है परन्तु किसानों पर जो बोझिल कर लाद दिया गया था उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। अतः ऐसा अनुभव होता है कि अलाउद्दीन की राजस्व व्यवस्था ने जनता की खुशहाली की कीमत पर अपने उद्देश्यों की प्राप्ति की।

सैनिक व्यवस्था

सम्पूर्ण सल्तनत युग में शक्ति ही राजसत्ता की चिर सहचरी रही। यह बात सर्वथा दूसरी है कि इसका कार्यकाल आवश्यकता से अधिक बना रहा अन्यथा प्रारम्भ में प्रत्येक राज्य की स्थापना केवल शक्ति पर ही आधारित रहती है। तुर्कों ने लगभग 325 वर्षों तक इसको राज्य का अविभाज्य आधार बनाये रक्खा इसमें ही थोड़ी-बहुत खराबी थी। शक्ति का आधार सेना है और अलाउद्दीन जैसा शासक जो कि स्वयं महत्वाकांक्षी था वो इस स्रोत को छोड़कर अपने स्वयं के लिए असमय विनाश को आमंत्रित नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त उसकी निरंकुशता, आन्तरिक विद्रोह का दमन और मंगोलों के आक्रमणों से राज्य की सुरक्षा भी ऐसी गहन समस्याएं थी जिनका हल केवल शक्ति द्वारा ही सम्भव था। **बरनी** ने लिखा है, "बादशाहत दो स्तम्भों पर आधारित होती है—एक स्तम्भ शासन है और दूसरा विजय। ये दोनों ही सेना पर निर्भर हैं इसलिये बादशाहत सेना है और सेना बादशाहत है।"

अलाउद्दीन ने इस आधार पर सेना को व्यवस्थित तथा शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया। इस दिशा में उसने केन्द्र में एक स्थायी सेना को रखने तथा

उसे नकद वेतन देने की नीति अपनाई। दोनो ही क्षेत्रो मे वह सल्तनत काल का पहला सुल्तान था जिसने इस वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया। उससे पहले सुल्तान सेना के लिये अपने अमीरो, मलिको और इक्तादारो पर निर्भर रहा करते थे। इसका यह अर्थ लगाना कि इक्तादारो की सैनिक टुकडियो का अन्त कर दिया गया था उचित न होगा। अलाउद्दीन ने सेना-मन्त्री, आरिजे मुमालिक को सैनिक-भर्ती का उत्तरदायित्व सौंपा और इस क्षेत्र मे उसने उसे वित्त-मन्त्री के अकुशो मे भी मुक्त कर दिया। इन स्थायी सैनिको को राजकीय कोष स नकद रूप मे वेतन का भुगतान किया जाने लगा। उनके शस्त्रो, वेष-भूषा और रसद आदि की व्यवस्था राज्य के द्वारा ही की जाती थी तथा उनकी नियुक्ति और पदोन्नति सुल्तान पर निर्भर थी।

प्रत्येक सैनिक के पास दो तलवारें, एक खजर, एक तुर्की कमान और अनेक अच्छी किस्म के तीर होते थे। काठी मे लगी हुई तलवार को रकाब की तलवार कहा जाता था और दूसरी तरकश की तलवार कहलाती थी। कई घुडसवार रुई की बडी (जेकेट) पहनते थे तथा शरीर के दूसरे अगों की रक्षा के लिये भी समुचित व्यवस्था की जाती थी जिसमे कवच और सिर-रक्षक अधिक महत्वपूर्ण थे। घोडो पर इस्पात की एक भूल लटकी रहती थी और यदि बारबोसा के कथन को स्वीकार कर लिया जावे तो यह भूल इतनी हल्की होती थी कि घोडे चौगान के खेल में भाग ले सकते थे।

युद्ध के अवसर पर सैनिको द्वारा अपने बदले किसी दूसरे व्यक्ति को भेजने मे रोकने के लिये अलाउद्दीन ने सैनिको की हुलिया लिखने की व्यवस्था आरम्भ की। इसमे उनकी आयु, जाति, गाव तथा पहचान के लिये नाक, कान, भौंह आदि की विशिष्ट जानकारी लिखने पर बल दिया। इसी प्रकार सैनिक अच्छे घोडों के बदले टट्टू न भेज सकें अथवा एक ही घोडे को बार-बार निरीक्षण के लिये प्रस्तुत न कर सकें, इसके लिये घोडों को दागना भी आरम्भ किया। अलाउद्दीन के पहले किसी दूसरे सुल्तान ने इन कार्यों को आरम्भ नहीं किया था।

अलाउद्दीन ने दुर्गों की महत्ता को जानते हुये दुर्गों की ओर ध्यान दिया। मगोलो द्वारा किये गये 1303 ई के आक्रमण के बाद उसने पुराने दुर्गों की मरम्मत व नये दुर्गों के निर्माण के आदेश दिये। बरनी के अनुसार दुर्गों के चारो ओर काटेदार वृक्ष व झाडिया दूर-दूर तक लगा दी जाती थीं जिससे कि शत्रु के अश्वारोही तेजी मे दुर्ग की ओर न बढ पायें। दुर्गों में रसद आदि की समुचित व्यवस्था रहती थी जिससे कि अधिक समय तक शत्रु का सफलता से सामना किया जा सके। इन दुर्गों में उसने अपने विश्वस्त अधिकारियों के अधीन सशक्त सैनिक टुकडियों को रख छोडा था।

दुर्ग मे साधारणतया एक अधिकारी हुआ करता था जिसे कोतवाल कहते थे। उसी के पास दुर्ग की चाबिया रहती थीं। कभी-कभी दुर्ग-अधिकारी और

कोतवाल अलग-अलग व्यक्ति होते थे। मंगूखां के कच्छ पर आक्रमण के समय मुखलीसुद्दीन कोतवाल था परन्तु दुर्ग अधिकारी एक खोजा था। कोतवाल के अतिरिक्त दुर्ग में कुछ मुफ़रिद हुआ करते थे। सम्भवतः ये इन्जीनियर थे जो दुर्गों का निर्माण करने व उनकी सुरक्षा की व्यवस्था बनाने के प्रति उत्तरदायी थे।

अलाउद्दीन ने अपने सैनिकों को नकद वेतन देना आरम्भ किया परन्तु सम्भवतः यह नीति केवल उन सैनिकों पर ही लागू की गयी जिनको केन्द्रीय सरकार के द्वारा ही भर्ती किया जाता था। प्रान्तों में भर्ती की गई सेना को अब भी पहले की ही तरह भूमि की आय से ही वेतन दिया जाता था। बरनी के द्वारा दिये गये भ्रमात्मक विवरण से सैनिकों का वेतन सम्बन्धी विवाद उठ खड़ा हुआ है।

डा. लाल के अनुसार अलाउद्दीन के समय में एक मुरातब सैनिक को प्रति वर्ष 234 टंक वेतन के रूप में दिये जाते थे। सरकारी आधार पर मुरावत सैनिक वह था जो कि पेशेवर रूप में सैनिक हो तथा जिसको निरीक्षण के पश्चात् सेना में नियुक्त किया हो। सैनिक के पास एक घोड़ा होना आवश्यक था और ऐसे सैनिक को प्रति वर्ष 234 टंक दिये जाते थे। यदि उसके पास एक अतिरिक्त घोड़ा हो, जो निश्चित रूप से उसकी कार्यक्षमता को बढ़ायेगा, तो उसको इस अतिरिक्त घोड़े के 78 टंक प्रति वर्ष मिलते थे और जो दो अस्पा कहलाता था उसे 312 टंक प्रति वर्ष मिलते थे। 234 टंक उसके वेतन के रूप में और 78 टंक अतिरिक्त घोड़े को रखने के। क्योंकि उसे अतिरिक्त भत्ता मिलता था इसलिए सुल्तान दो घोड़े रखने पर जोर देता था। साधारण सैनिक को जो एक घोड़ा ही रखता था उसे एक अस्पा कहा जाता था और प्रति वर्ष 234 टंक वेतन के रूप में मिलता था। बरनी के अतिरिक्त दूसरे समकालीन इतिहासकारों के विवरण से भी इसी की पुष्टि होती है कि एक घोड़ा रखने वाले सैनिक को प्रति वर्ष 234 टंक मिलते थे और एक अतिरिक्त घोड़ा रखने वाले को 78 टंक अतिरिक्त प्रतिवर्ष दिए जाते थे। परन्तु डा. आई. एच. कुरेशी इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं। डा. कुरेशी ने फरिश्ता के मत को स्वीकार करते हुए सैनिकों के तीन विभिन्न वेतनमान बताये हैं, जिनमें सैनिकों को 234,156 व 78 टंक दिये जाते थे। उसके अनुसार मुरातब, सवार व दो अस्पा को क्रमशः 234, 156, 78 टंक प्रति वर्ष वेतन दिया जाता था। उनके अनुसार सवार सैनिक दो अस्पा सैनिक से श्रेष्ठ था क्योंकि सवार अपने पराक्रम से एक सौ मंगोलों को खदेड़ सकता था जबकि दो अस्पा केवल दस मंगोलों को बन्दी बना सकता था।

डा. कुरेशी के मत को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। प्रथमतः हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह प्रमाणित किया जा सके कि मुरातब सैनिक एक वरिष्ठ अधिकारी था। यदि ऐसा होता तो बरनी कम से कम उसकी स्थिति के सम्बन्ध में जानकारी देता। इसके विपरीत यह अधिक सत्य

है कि मुरातब एक साधारण सैनिक (ग्रह्ल-ए-जिहाद) था जिसको 234 टंक प्रति वर्ष मिलते थे। इसके अतिरिक्त बरनी ने कहीं पर भी यह नहीं लिखा कि दो ग्रस्पा सैनिकों में सबसे निम्न था अथवा सवार दो ग्रस्पा से श्रेष्ठ समझा जाता था। 'सवार' शब्द का प्रयोग बरनी ने केवल ग्रश्वारोही के सन्दर्भ में ही किया है। उसका मतलब केवल यही था कि भारतीय सैनिक इतना शक्तिशाली एवं कुशल हो गया था कि वह दस युद्धबन्दी बना सकता था। साधारणतया 10 को युद्ध-बन्दी बनाना, 100 को खदेड़ना से कहीं अधिक कठिन था। बरनी का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन केवल भारतीय सैनिकों की श्रेष्ठता को ही बताता है। इस प्रकार से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि एक सैनिक को 234 टंक अथवा 19½ टंक प्रतिमाह मिलते थे और एक अतिरिक्त घोड़े के रखने पर 4⅓ टंक और दिया जाता था।

ग्रलाउद्दीन की सैनिक व्यवस्था सुदृढ़ थी इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उसे पुन वारंगल के ग्रसफल अभियान का अनुभव न करना पड़ा और मंगोलों को निरन्तर खदेड़ने के साथ ही वह दक्षिण भारत पर भी अपना अधिकार जमाने में सफल हुआ।

आर्थिक सुधार व बाजार व्यवस्था—ग्रलाउद्दीन ने राज्य की सुरक्षा-हेतु एक शक्तिशाली सेना की व्यवस्था की तथा उसे नकद वेतन देना आरम्भ किया। एक घोड़ा रखने वाले सैनिक को 234 टंक प्रतिवर्ष तथा एक अतिरिक्त घोड़ा रखने वाले पर 78 टंक अतिरिक्त दिया जाना निश्चित किया। बरनी के अनुसार "यदि इतनी बड़ी सेना (4,75,000 घुड़सवार) को साधारण वेतन भी दिया जाता तो सचित धन पाच अथवा छः वर्ष में ही समाप्त हो जाता।" उसने मन्त्रियों से सलाह करी और उन्होंने सुझाया कि वस्तुओं के मूल्य घटा दिये जाने पर एक घुड़सवार इतने वेतन में भी निर्वाह कर सकेगा। ग्रलाउद्दीन के चरित्र की विशेषता थी कि वह अपने मन्त्रियों की सलाह को यदि वो उसके विचारों के अनुकूल हो तो स्वीकार कर लेता था। इसलिये उसने सेना के व्यय में कमी करने के लिये सैनिकों के वेतन में कमी की परन्तु वह इसके लिये सतत सतर्क रहता था कि सैनिक सुविधा से रह सकें। ग्रलाउद्दीन ने देवगिरि में अत्यधिक सम्पत्ति लूटी थी और उसके बाद उसे दक्षिण के राज्यों से वार्षिक खराज भी मिलता था परन्तु यह सब धन सेना के व्यय की पूर्ति करने में असमर्थ था। इसलिये उसने एक ओर तो समस्त सोने और चांदी के शराब पीने के बर्तनों को तुड़वा डाला तथा दूसरी ओर राजस्व तथा दूसरे करों में वृद्धि करने के बाद भी सैनिक खर्चों को पूरा करना मुश्किल दिखाई दिया। इसलिये उसके पास सैनिकों का वेतन कम करने तथा साथ ही वस्तुओं के मूल्य में कमी करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। डा. के. एस. लाल ने लिखा है, कि यह "गणित की एक साधारण गणना और साधारण आर्थिक सिद्धान्त था। क्योंकि उसने सैनिकों के

वेतन को कम करके निश्चित करने का निर्णय किया था, अतएव उसने दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्य को भी कम करके निश्चित किया।"

डा. यू. एन. डे ने इसके विपरीत एक अन्य विचार को प्रतिपादित किया है। डा. डे के अनुसार, "अलाउद्दीन की बाजार व्यवस्था का मूल कारण सैनिकों के वेतन में कमी करना न था अपितु वस्तुओं के मूल्य को बढ़ने से रोकना था।" उनके अनुसार अलाउद्दीन ने अपने एक सैनिक को 234 टंक प्रतिवर्ष दिये जब कि अकबर ने ताबीनान (सैनिक) को 240 रुपये प्रतिवर्ष और शाहजहां ने 200 रु. प्रतिवर्ष दिये। इस प्रकार अलाउद्दीन ने अपने सैनिक को अकबर के सैनिक से 6 रुपये कम और शाहजहां से 34 रुपये प्रतिवर्ष अधिक दिये। इस आधार पर अलाउद्दीन द्वारा दिया गया वेतन किसी प्रकार से कम न था। डा. यू. एन. डे के अनुसार अलाउद्दीन के समय तक दिल्ली का एक साम्राज्य की राजधानी के रूप में विकास हो चुका था तथा इस कारण दिल्ली व्यापार और आवागमन का केन्द्र बन चुकी थी। अलाउद्दीन की स्थायी सेना भी दिल्ली ही में रहती थी और उसके साथ ही राज्य के अमीरों का भी अधिक मात्रा में यही निवास-स्थान था। स्वाभाविक था कि जनसंख्या दिल्ली में केन्द्रित हो रही थी। इसके साथ ही मुद्रा में बढ़ोतरी के कारण (नकद वेतन दिये जाने के कारण) वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो जाना निश्चित था। व्यापारियों की सामान्य मनोवृत्ति भी मूल्य बढ़ाने में उत्तरदायी थी, क्योंकि वे वस्तुओं को संग्रह कर उनकी अप्राप्ति के तथाकथित आधार पर मूल्य वृद्धि के लिये उत्सुक रहते थे। इन कारणों से वह वस्तुओं के मूल्य में होने वाली वृद्धि को रोकना चाहता था। डा. डे के अनुसार "अलाउद्दीन का उद्देश्य व्यापारियों द्वारा चालाकी के विभिन्न उपायों के प्रयोगों से वस्तुओं के मूल्य में होने वाली वृद्धि को रोकना था, न कि उनके सामान्यतया प्रचलित मूल्यों में कमी करना।"

कुछ आधुनिक इतिहासकार यह मानते हैं कि बाजार-नियन्त्रण करने में अलाउद्दीन का उद्देश्य मानवीय था। वह अपनी समस्त प्रजा को उचित मूल्य पर वस्तुएँ उपलब्ध कराना चाहता था। इस विचार का आधार 'खैरुलमजालिस' में वर्णित शेख हमीदुद्दीन तथा अलाउद्दीन के बीच हुआ वार्तालाप है। परन्तु डा. पी. ने शरण अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन मेडिवल हिस्ट्री' में लिखा है कि, "यदि उसने लोगों को सम्पन्न तथा प्रसन्न रखने का प्रयास किया होता तो यह उसकी उस नीति का विरोधाभास होता जिसके आधार पर उसने लोगों को आर्थिक क्षेत्र में अत्यन्त दयनीय बनाने के लिये अपनाई थी और जिसे बाजार-नियन्त्रण के एक वर्ष पहले ही लागू किया गया था।" इसके साथ ही जिस कठोरता के साथ बाजार-नियन्त्रण को लागू किया गया था और जिस प्रकार लोगों पर इसका प्रभाव पड़ा उसको देखते हुये यह उचित नहीं मालुम पड़ता कि उसने लोगों की भलाई के लिये बाजार-नियन्त्रण की नीति अपनाई थी।

कुछ लेखकों का यह भी विचार है कि मलिक काफूर के द्वारा देवगिरि से लाई सम्पत्ति के कारण मुद्रा-स्फीति आई जिसके कारण वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हुई। यह विचार डा. पी. शरण (स्टडीज इन मेडिवल हिस्ट्री) के अनुसार इतिहास-संगत नहीं है, क्योंकि मलिक काफूर का देवगिरि का अभियान बाजार-नियन्त्रण के कई वर्षों के बाद हुआ था। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि बाजार-नियन्त्रण में अलाउद्दीन का उद्देश्य केवल राजनीतिक था जिसके आधार पर वो कम खर्च में एक शक्तिशाली सेना रखना चाहता था।

अलाउद्दीन के बाजार नियन्त्रण के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह उठता है कि ये पूरे साम्राज्य पर लागू किये गये थे अथवा केवल दिल्ली तक ही सीमित थे। बरनी के विवरण से यह आभास होता है कि यह केवल दिल्ली में ही लागू किया गया था। परन्तु बरनी 'फतवा ए-जहांदारी' में कहीं-कहीं 'नगर' की जगह पर 'नगरों' शब्द का भी प्रयोग करता है जिससे यह भ्रम होने लगता है कि दिल्ली के अतिरिक्त भी लागू किया गया था। फरिश्ता के विवरण से यह लगता है कि ये व्यवस्था देश के दूसरे भागों में भी लागू थी। परन्तु डा के एस लाल ने यह प्रमाणित कर दिया है कि बाजार नियन्त्रण दिल्ली तक ही सीमित था। उनके अनुसार (1) बरनी की 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में 'दीवान-ए रियासत' तथा 'शहना-ए-मंडी' नामक अधिकारियों का उल्लेख मोटे रूप से दिल्ली के सन्दर्भ में किया गया है। राज्य के दूसरे भागों में 'शहना-ए-मंडी' अथवा बाजार के दूसरे अधिकारियों के नाम का कोई विवरण नहीं मिल पाया है।

2 बरनी ने यह भी लिखा कि वस्तुएँ कम मूल्य पर खरीदी जाकर दूसरी जगहों पर ऊँचे मूल्य में बेची जाती थीं। यदि सम्पूर्ण राज्य में बाजार-नियन्त्रण किया गया होता तो दिल्ली तथा दूसरे भागों में भावों में किसी प्रकार का अन्तर न होना चाहिये था और ऐसी स्थिति में एक जगह से खरीदकर दूसरी जगह ऊँचे मूल्य पर बेचने का प्रश्न ही नहीं उठता।

3 बरनी ने लिखा है कि दिल्ली में मूल्यों की कमी के कारण दूर-दूर से विद्वान, कारीगर व अन्य पेशेवर लोग दिल्ली में आकर बस गये थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि सभी दूर दिल्ली के समान ही मूल्य कम होते तो ऐसे व्यक्तियों को राजधानी में आकर बसने की आवश्यकता नहीं होती।

4 बरनी के ही विवरण से इसकी और अधिक पुष्टि होती है। उसने लिखा है कि, "उन वर्षों में जब वर्षा के अभाव के कारण अकाल जैसी स्थिति बन जाती थी तब दिल्ली में कोई अकाल नहीं होता था। सरकारी गोदामों अथवा दुकानदारों के गोदामों के कारण मूल्य बिलकुल नहीं बढ़ पाता था।" इसी के साथ उसने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि "इन नियमों के कारण वस्तुएँ दिल्ली में सस्ती हो गईं और अनेक वर्षों तक सस्ती रहीं।"

5. प्रत्येक व्यापारी को 'शहना-ए-मण्डी' के यहां अपने को पंजीकृत करना पड़ता था। ये इसलिये कि यदि सब ही दूर एक जैसा मूल्य होता तो व्यापारियों को एक जगह छोड़कर दूसरी जगह जाने में कोई रुचि नहीं होती। परन्तु क्योंकि बाजार-नियन्त्रण दिल्ली से ही सम्बन्धित था इसलिये व्यापारी अधिक लाभ प्राप्त करने के लिये उन प्रदेशों में जा सकते थे जहां बाजार पर नियन्त्रण न हो। इसी को रोकने के लिये अलाउद्दीन ने उनके दिल्ली में रहने और पंजीकृत करने पर जोर दिया।

6. सुल्तान ने 'सराय-ए-अदल' में स्थित कपड़ा-बाजार में कपड़ा लाने के लिये व्यापारियों को बीस लाख टंक अग्रिम रूप में दिये। इससे यह स्पष्ट है कि व्यापारी दूसरी जगहों से महंगा कपड़ा खरीद कर उसे दिल्ली में सुल्तान द्वारा निश्चित दरों पर बेचने में असमर्थ थे और इसीलिये इसको खरीदने के लिये इतनी राशि अग्रिम रूप में देनी पड़ी। यदि नियन्त्रित मूल्य दिल्ली के बाहर भी प्रचलित होते तो न तो कपड़ा खरीदने के लिये अग्रिम धन ही देना पड़ता और न ही इस बात की व्यवस्था करनी पड़ती कि दिल्ली से बाहर के प्रदेशों में कपड़ा न जा सके।

7. व्यापारियों की बेईमानी को रोकने के लिये समय-समय पर छोटे-छोटे गुलामों को मण्डियों में भेजा जाता था और बेईमानी करने की स्थिति में उनको अ-अनुपातित दण्ड भी दिये जाते थे। बरनी के विवरण से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की दण्ड-व्यवस्था का सम्बन्ध केवल दिल्ली से ही था। दूसरी ओर हमें कहीं पर भी प्रान्तीय राजधानियों में इस प्रकार की कठोर कार्यवाही का विवरण नहीं मिल पाया है। ये मानना कि केवल दिल्ली के व्यापारी ही बेईमानी करते थे तथा अन्य ईमानदार थे, मानव व्यवहार के आधार पर तर्क-संगत नहीं दीखता है। इससे हम यही निष्कर्ष निकालते हैं कि बाजार नियन्त्रण केवल दिल्ली में ही लागू था।

खाद्यान्न सम्बन्धी नियम—अलाउद्दीन ने यह अनुभव किया कि जीवन की आवश्यक वस्तुएँ अन्न के सस्ते होने पर ही सस्ती हो सकती हैं इसलिये उसने सबसे पहले अनाज की दरों को निश्चित किया। बरनी के अनुसार ये इस प्रकार थीं—

गेहूँ	प्रति मन	$7\frac{1}{2}$ जीतल
जौ	,,	4 ,,
धान	,,	5 ,,
उड़द	,,	5 ,,
चना	,,	5 ,,
मोठ	,,	3 ,,

प्रो. अतहर अब्बास रिजवी ने 'खल्जी कालीन भारत' में उस समय के विनिमय व तौल के आंकड़ों के सम्बन्ध में लिखा है कि 'आज के हिसाब से उस

समय का मन 12 से 14 सेर के बीच का था और एक टके मे 46 से 48 जीतल होते थे। इसी प्रकार से उसने अपने पहले नियम के अन्तर्गत दूसरे खाद्यान्नों के भाव भी निश्चित किए जो इस प्रकार से थे—

शक्कर	प्रति सेर	$1\frac{2}{3}$ जीतल
गुड़		$1\frac{2}{3}$
मक्खन		$\frac{1}{3}$

दूसरे नियम के अन्तर्गत उसने मलिक कबूल को शहना ए मंडी नियुक्त किया। उसको यह व्यवस्था करनी थी कि मंडी मे अनाज स्थायी रूप से सस्ता रहे।

तीसरे नियम के अनुसार सुल्तान ने सरकारी गोदामों मे अनाज इकट्ठा करने के आदेश दिए। इसके अनुसार खालसा तथा दोआब से खराज (राजस्व) अनाज के रूप मे वसूल किए जाने की व्यवस्था की गई। यह भी आदेश दिया गया कि झायन तथा उसकी विलायतों मे राजकीय हिस्से का आधा भाग अनाज के रूप मे लिया जावे और सब झायन मे जमा कर लिया जाय। फिर उसे बजारों के हाथ दिल्ली भेजा जाय। ऐसी स्थिति मे दिल्ली मे इतना अनाज पहुच जाता था कि वहां कोई ऐसा महल्ला न था जहां दो तीन घर सरकारी अनाज से न भरे हो। वर्षा न होने की स्थिति मे अथवा बजारों द्वारा अनाज पहुचाने मे देरी की स्थिति में सरकारी गोदामों से अनाज निकालकर मण्डी मे भेज दिया जाता था जिसे वहां सरकारी भावों पर प्रजा को आवश्यकता के अनुसार बेच दिया जाता था। झायन मे सरकारी गोदामों से व्यापारियों को अनाज बेच दिया जाता था। इस प्रकार न तो कभी कमी पड़ती थी और न ही अनाज के भावों मे एक दाम' की ही बढोतरी होती थी।

चौथे नियम के अनुसार गल्ले का परिवहन करने वाले व्यापारी शहना ए मंडी मलिक कबूल के अधिकार मे रक्खे गये। सुल्तान ने आदेश दिया कि ये सब उसकी प्रजा समझे जायेंगे। वह उनके मुकद्दमों (सरदारों) को बन्दी बनाकर अपने सामने रखेगा और उस समय तक नहीं छोड़ेगा जब तक वे उन पर लगाई गई शर्तें पूरी न करें। उन्हें एक दूसरे की जमानत लेकर एक समूह मे परिवर्तित करता था। वे अपनी स्त्रियों बच्चे सम्पत्ति और मवेशी यमुना नदी के किनारे स्थित गावों मे रखते थे और मलिक कबूल को उनकी गतिविधियों की निगरानी करने के लिए एक शहना नियुक्त करना था। सामान्य समय मे ये इतना गल्ला दिल्ली मे लाते थे कि सरकारी गोदामों को छूने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती थी।

पाचवें नियम के अनुसार मुनाफाखोरी को बिलकुल बन्द कर दिया गया। दोआब के अधिकारियों को यह लिखित रूप मे देना पड़ता था कि वे किसी को मुनाफाखोरी न करने देंगे। यदि किसी अधिकारी के क्षेत्र मे मुनाफाखोरी पकड़ी जाती तो उसे राज्य की ओर से दंडित किया जाता था। इसी प्रकार मुनाफाखोर

का इकट्ठा किया हुआ गल्ला जब्त कर लिया जाता था और उसे भी कठिन दंड दिया जाता था। बरनी के अनुसार किसी व्यापारी के लिये यह असम्भव था कि वह एक मन गल्ला भी मुनाफाखोरी के लिये इकट्ठा कर सके अथवा सरकारी दर से अधिक मूल्य पर उसे बेच सके।

छठे नियम के अनुसार देश के समस्त राजस्व अधिकारियों से यह लिखा लिया जाता था कि वे व्यापारियों को खेत से ही अनाज राज्य द्वारा निर्धारित्त कीमत पर नकद मूल्य के बदले दिलवा देंगे और किसानों को अनाज अपने घर न ले जाने देंगे। दोआब के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के आदेश थे, जिससे कि किसान मुनाफाखोरी के लिये अनाज को अपने घर ही न ले जा पावें। उन्हें आदेश था कि दोआब के प्रदेश से खराज कठोरता से वसूल किया जावे।

सातवें नियम के अनुसार सुल्तान को मंडी में गल्ले के भावों के बारे में प्रतिदिन तीन मूत्रों से जानकारी दी जाती थी। प्रथम शहना-ए-मंडी, द्वितीय बरीद (गुप्तचर अधिकारी) तथा अंतिम 'मुनहियों' (गुप्तचर)। यदि बरीद, गुप्तचर तथा शहना-ए-मंडी की सूचनाओं में कोई अन्तर होता तो शहना-ए-मंडी को कठोर दण्ड दिया जाता था। अधिकारी-वर्ग ईमानदारी से काम करता था, क्योंकि उसे एक ओर तो यह मालुम था कि सुल्तान के तीन सूत्रों से सूचना मिलती है और दूसरी ओर सुल्तान ने इसके लिये कठोर दण्ड निर्धारित किये हैं। यदि वर्षा न होने पर शहना-ए-मंडी एक-दो बार यह निवेदन करता कि अनाज का भाव आधा जीतल बढ़ा दिया जावे तो उसे दण्ड-स्वरूप बीस बेंत लगाये जाते थे।

बरनी के अनुसार वर्षा न होने की स्थिति में प्रत्येक मोहल्ले के पंसारी को उस मोहल्ले की जनसंख्या के अनुपात में प्रतिदिन केन्द्रीय मंडी से गल्ला दिया जाता था। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय मंडी से कोई व्यक्ति एक दिन में आधा मन गल्ले से अधिक नहीं खरीद सकता था। अमीर वर्ग तथा विशिष्ट व्यक्तियों को, जिनके पास अपनी भूमि या गांव नहीं होता था, उन्हें उन पर निर्भर व्यक्तियों के अनुपात में केन्द्रीय मंडी से गल्ला लेने की अनुमति थी।

अलाउद्दीन के अनाज मंडी के लिए बनाये गये नियमों के विवरण के आधार पर हमें अनेक तथ्य स्पष्ट होते हैं। सर्वप्रथम उसने अनाज के मूल्य की दरें काफी घटा कर निश्चित की थीं। इसके साथ ही उसने अनाज-मंडी और सरकारी अनाज-बिक्री-केन्द्र स्थापित किये जहां से जनसाधारण और व्यापारी अनाज खरीद सकते थे। द्वितीय, अकाल आदि के समय अन्न को उपलब्ध कराने के लिए राजकीय अन्नागार स्थापित किये गये थे जहां से अनाज की पूर्ति की जा सकती थी। इसके साथ ही उसने यह भी नियम बनाया कि अकाल के दिनों में एक निश्चित परिमाण में ही अनाज खरीदा जा सकता था। यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में इस प्रकार का कोई बन्धन न था। तृतीय, इस समस्त व्यवस्था को ठीक रूप से चलाने के लिये

बड़ी संख्या में बाजार-अधिकारियों की नियुक्ति की गई। शहना-ए-मंडी, बरीद व मुनही इसी प्रकार के अधिकारी थे जो एक ओर तो मंडी में मूल्यों तथा दूसरे नियमों को कार्यान्वित करने के लिए उत्तरदायी थे तथा दूसरी ओर सुल्तान को प्रतिदिन स्वतन्त्र रूप से मंडी में प्रचलित भावों की जानकारी देते थे। इस प्रकार सुल्तान बाजार की सही स्थिति की जानकारी रखने में समर्थ था। इस व्यवस्था से न तो कर्मचारी ही असावधान रहते थे और न ही व्यापारी बाजार के नियमों का उल्लंघन कर पाते थे।

विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में बाजार नियन्त्रण

(अ) कपड़ा बाजार—अलाउद्दीन की नीति केवल अनाज के मूल्यों को निर्धारित करने में सफल होना कठिन थी। इसलिये अनाज के साथ ही दूसरी आवश्यक वस्तुओं का मूल्य निर्धारण न केवल आवश्यक अपितु इसकी पूरक भी थी। इसलिये उसने कपड़ा, घी, तेल, शक्कर आदि चीजों का भी बाजार नियन्त्रित किया जिसके अन्तर्गत पाँच नियमों को लागू कर उन्हें भी कठोर बना दिया। बरनी ने 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में कपड़े के बाजार का विस्तार से वर्णन किया है। उसके अनुसार पहले नियम के अन्तर्गत एक 'सराय-ए-अदल' स्थापित की गई। बदायूं दरवाजे के अन्दर 'कुश्के सब्ज' (हरा राजमहल) के पास इसका निर्माण किया गया। सुल्तान ने आदेश निकाला कि प्रत्येक वस्तु जो व्यापारी लावें उन्हें इसी 'सराय-ए-अदल' में लावें। ये यहाँ के अतिरिक्त किसी घर या अन्य बाजार में न ले जाई जावें। यदि कोई व्यापारी इस आदेश का उल्लंघन करता अथवा निर्धारित मूल्य से अधिक पर वस्तु को बेचता तो न केवल उसका माल जब्त कर लिया जाता था अपितु उसे कठोर दंड भी दिया जाता था। इस नियम के अनुसार एक 'टंके' से लेकर दस हजार 'टंका' मूल्य की प्रत्येक वस्तु इस सराय-ए-अदल में ही लाई जाती थी। यह बाजार सूर्योदय से दोपहर की नमाज तक खुला रहता था।

बरनी दूसरे नियम में वस्तुओं की सरकारी मूल्य की सूची देता है, परन्तु उसकी सूची में एक भूल रह गई है। रेशमी कपड़ों के सम्बन्ध में वह मूल्य की जानकारी तो देता है परन्तु उसके साथ नाप का कोई उल्लेख नहीं करता है। यह सम्भव है कि एक मानक माप रहा हो और बरनी ने ये समझकर कि यह सब को मालूम ही है उसको लिखना उचित नहीं समझा। उसके अनुसार 'खुज्जे दिल्ली' 16 टंक, 'खुज्जे कोनला' 6 टंक, मशारूशेरी (उत्तम) 3 टंक, बुर्द (उत्तम) लाल धारियों वाला 6 जीतल था। इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति 40 गज साधारण मध्यम, 20 गज उत्तम रूई का, कता, सूती कपड़ा खरीद सकता था। अन्य वस्तुओं के भाव भी बरनी ने दिये हैं जिसके अनुसार मिश्री $2\frac{1}{2}$ जीतल प्रति सेर, चीनी $1\frac{1}{2}$ जीतल प्रति सेर, भूरी खांड 1 जीतल में तीन सेर, घी 1 जीतल में $1\frac{1}{2}$ सेर, सरसों का तेल एक जीतल में तीन सेर। अन्य वस्तुओं का मूल्य इसी सूची के आधार पर लगाया जा सकता है।

तीसरे नियम के अनुसार अलाउद्दीन ने दिल्ली तथा साम्राज्य के सभी व्यापारियों को आदेश दिया कि वे 'दीवान-ए-रियासत' के दफ्तर में अपना पंजीकरण करायें। समस्त व्यापारियों के लिये नियम बनाये गये। दिल्ली में जो व्यापारी इसके पहले तक माल आयात किया करते थे उनसे यह लिखित रूप में लिया गया कि वे प्रत्येक वर्ष वही वस्तुयें उतनी ही मात्रा में लाते रहेंगे और उन्हें 'सराय-ए-अदल' में सरकार द्वारा निर्धारित भाव पर ही बेचेंगे।

चौथे नियम के अनुसार अलाउद्दीन ने मुल्तानी व्यापारियों को बीस लाख टंक दिये जिससे कि वे विभिन्न प्रदेशों से कपड़ा आदि ला सकें और सरकारी भाव पर सराय-ए-अदल में बेच सकें। जब सामान्य रूप से व्यापारियों का कपड़ा न पहुँच पाता था तो इस तरह से कपड़े लाकर मूल्य को स्थायी बनाये रक्खा जाता था।

पांचवां नियम बहुमूल्य वस्तुओं के बेचने से सम्बन्धित था जिनकी साधारण जनता को आवश्यकता नहीं होती थी। ये वस्तुएं किसी भी व्यक्ति को उस समय तक नहीं बेची जा सकती थीं जब तक कि 'परवाना नवीस' व्यक्तियों की आय को आंक कर उसके लिये परमिट न दे दे। परवाना नवीस सदैव यह ध्यान रखता था कि किसी ऐसे व्यक्ति को परमिट न मिले जो 'सराय-ए-अदल' से कम मूल्य पर इन कीमती चीजों को खरीद कर दूसरी जगह उन्हें मनमाने मूल्य पर बेच दे।

(ब) घोड़ों, दासों व मवेशियों के बाजार—बरनी के अनुसार घोड़ों, दासों तथा दूसरे मवेशियों के भावों को सस्ता करने के लिए अलाउद्दीन ने चार नियम लागू किये—(i) किस्म के अनुसार मूल्य निश्चित करना, (ii) व्यापारियों और पूंजीपतियों का बहिष्कार, (iii) दलालों के साथ कठोरता व (iv) सुल्तान द्वारा बार-बार जांच पड़ताल।

पहले नियम के अनुसार सेना के लिए घोड़ों को तीन भागों में बाँटा गया। प्रथम श्रेणी 100 से 120 टंक, द्वितीय श्रेणी 80 से 90 टंक व तृतीय श्रेणी 60 से 70 टंक निश्चित किये गये। टट्टू का मूल्य 10 से 25 टंक तक रक्खा गया।

दूसरे नियम के अनुसार अलाउद्दीन ने यह प्रतिबन्ध लगाया कि कोई भी व्यापारी अथवा धनी न तो स्वयं घोड़ा खरीद सकता था और न किसी अन्य द्वारा खरीदा हुआ घोड़ा ले सकता था। उसने यह भी आदेश दिया कि कोई व्यापारी बाजार में घोड़ों के निकट न जावे। प्रमुख घोड़ों के दलालों की छान-बीन की गई और दोषी दलालों को व्यापारियों सहित बन्दी बनाकर दूरस्थ किलों में भेज दिया गया।

तीसरे नियम के अनुसार उसने बड़े-बड़े दलालों को कठोर दण्ड दिया। इसका कारण था कि घोड़ों के बड़े दलाल बाजार के हाकिमों के बराबर होते थे

और यदि उनको कठोर दण्ड न दिया जाता तो वे दोनों तरफ से धन लेकर क्रय-विक्रय में सहायता करना बन्द न करते।

चौथे नियम के अनुसार घोड़ों के दलाल घोड़ों सहित प्रत्येक चालीस दिन अथवा दो महीने बाद सुल्तान के समक्ष लाये जाते थे और सुल्तान उनके साथ अत्यन्त कठोर व्यवहार करता था। बरनी ने लिखा है कि दलाल सुल्तान के सम्मुख उपस्थित होने के बदले मृत्यु की कामना करते थे। बरनी का विवरण अतिरंजित हो सकता है परन्तु इतना निश्चित है कि इनके साथ किया गया व्यवहार अत्यन्त कठोर रहा होगा। बाजारों में गुप्तचर भी नियुक्त किये जाते थे और उनकी रिपोर्टों में किसी बात की उपेक्षा नहीं की जाती थी। इन नियमों को कठोरता से लागू करने पर दो वर्षों में घोड़ों का मूल्य स्थिर हो गया।

बरनी ने लिखा है कि दासों और मवेशियों के सम्बन्ध में भी ऐसे ही नियम बनाए गए जैसे घोड़ों के सम्बन्ध में लागू थे। अन्तर केवल इतना था कि घोड़ों की भांति राज्य का सरोकार एक अन्तिम ग्राहक के रूप में नहीं था और व्यापारियों को निश्चित सीमा के अन्दर व्योपार करने की आज्ञा दे दी गई थी।

सामान्य बाजार—अलाउद्दीन ने इन वस्तुओं के अतिरिक्त प्रत्येक छोटी से छोटी वस्तु का भी मूल्य निर्धारित किया जैसे टोप, मोजे, सुई, मिट्टी के बर्तन, पान आदि। अलाउद्दीन दुकानदारों की प्रवृत्ति को जानता था और यह भी समझता था कि जब तक इनके साथ कठोर और क्रूर व्यवहार नहीं किया जावेगा तब तक ये अपनी बेईमानी, धृष्टता को नहीं छोड़ेंगे, इसलिए उसने वाणिज्य मन्त्री के रूप में याकूब नजीर को चुना। याकूब एक ओर तो दुकानदारों के द्वारा करी जाने वाली कार्यवाहियों से पूरी तरह परिचित था और दूसरी ओर ईमानदार व विश्वसनीय होने के साथ ही अत्यधिक कठोर और पाषाण-हृदय भी था। बरनी के अनुसार, "वृद्ध और युवा सभी व्यक्ति यह मानते थे कि याकूब नजीर की भांति कठोर व्यक्ति वाणिज्य मन्त्रालय में कभी नहीं हुआ है।" याकूब ने प्रत्येक बाजार में एक 'शहना' अर्थात् प्रमुख नियुक्त किया, जिसको आदेश दिया गया कि वह मूल्य-सूची लागू करने के अतिरिक्त उन वस्तुओं के उचित मूल्य की भी व्यवस्था करे जो सूची में नहीं थे। वह कई बार बाजार-भावों की जांच-पड़ताल करता था और यदि कोई दुकानदार मूल्य-सूची में दिये गए भावों से अधिक दाम ले लेता था तो उसे अत्यधिक कठोर दण्ड दिया जाता था। इस कठोरता के कारण दुकानदारों ने अपने भाव कम कर दिये। परन्तु इसके साथ ही वे वस्तुओं को कम तौल सकते थे। इसके लिए *याकूब किसी को जांच किया करता था और यदि कोई दुकानदार सामान तौलने में* पूरा तौल न देता था तो बरनी के अनुसार तौल से दुगने भार के बराबर उस दुकानदार के शरीर से मांस कटवा लिया करता था। इस नाप-तौल तथा भावों की जानकारी के लिये वह कम उम्र के गुलामों को बाजार सामान खरीदने के लिए भेजा करता था।

दुकानदार स्वयं सुल्तान की कठोरता से आतंकित थे तथा बाजार के अधिकारियों को क्योंकि दण्ड देने के विस्तृत अधिकार दिये गये थे इसलिए कोई व्यापारी, सरदार अथवा धनवान व्यक्ति भी कानूनों को तोड़ने की हिम्मत नहीं करता था। इस आतंक के फलस्वरूप बाजार व्यवस्थित हो गया।

बाजार-नियन्त्रण की समीक्षा—अलाउद्दीन की बाजार-व्यवस्था उसके लक्ष्य की पूर्ति में सफल रही। वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करने में अलाउद्दीन का एक उद्देश्य कम वेतन पर अधिक सेना रखने का था। अलाउद्दीन की सेना बड़ी ही नहीं अपितु शक्तिशाली भी थी क्योंकि इस सेना ने न केवल मंगोलों को खदेड़ने में सफलता प्राप्त की परन्तु साथ ही साथ दूरस्थ प्रदेशों को भी विजित किया जिनको विजय करने की नीति अलाउद्दीन के पहले किसी सुल्तान ने सोची भी नहीं थी। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन की बाजार-नियन्त्रण नीति से सभी वस्तुएँ राज्य द्वारा निश्चित मूल्य पर बेची जाती रहीं। यह व्यवस्था अलाउद्दीन के अन्तिम समय तक बनी रही। बरनी ने लिखा है कि, *"जब तक अलाउद्दीन ने शासन किया तब तक वस्तुओं के मूल्य न तो बढ़े और न ही घटे बल्कि सर्वदा निश्चित बने रहे।"*

दिल्ली के नागरिकों को भी इससे लाभ था *क्योंकि उन्हें सामान्य मूल्य पर सभी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती थी और बेईमानी की भी कोई गुंजाइश नहीं थी।* वस्तुओं की कोई कमी न थी और अनाज इतना इकट्ठा हो गया था कि अलाउद्दीन की मृत्यु के तीस वर्ष बाद भी वह राजकीय भंडारों में उपलब्ध था। दिल्ली के *नागरिकों की भावनाओं का आभास हमीद कलन्दर के शब्दों से* होता है। उसने कहा था कि, "व्यक्ति उसके (अलाउद्दीन खल्जी) मकबरे पर श्रद्धा प्रकट करने जाते थे, उसकी कब्र पर धागे बांधते थे, दुआयें मांगते थे और उनकी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती थीं।" अलाउद्दीन की व्यवस्था निश्चित ही सफल रही। डा. के. एस. लाल जहां अलाउद्दीन की व्यवस्था में अनेक दोष निकालते हैं, वे भी ये स्वीकार करते हैं कि, "अलाउद्दीन के शासन का वास्तविक महत्व वस्तुओं के मूल्यों के कम करने में नहीं है, बल्कि बाजार में मूल्यों को निश्चित रखने में है, जो अपने युग का एक आश्चर्य था।" उन्होंने आगे लिखा है कि, "अलाउद्दीन के समय की भांति किसी अन्य सुल्तान के समय में मंगोलों के इतने आक्रमण नहीं हुए और न ही सल्तनत युग में विजयों की इतनी विस्तृत नीति ही अपनाई गई। इन परिस्थितियों में यह तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि उसने सभी सुधार सेना के लाभ के लिये किये थे। इसके अतिरिक्त भारत के कितने सुल्तानों ने सेना की तुलना में किसानों व व्यापारियों की समृद्धि की ओर ध्यान दिया? आवश्यकता, धार्मिक उत्साह और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से प्रेरित विजय से प्राप्त यश उनके लिए किसानों और व्यापारियों को अधिक समृद्ध बनाने वाले कानूनों की तुलना कहीं अधिक आकर्षक था और अलाउद्दीन इस क्षेत्र में अपवाद न था।"

अलाउद्दीन की इस सफलता के बाद भी यह स्पष्ट है कि यह व्यवस्था न तो जन-साधारण के हित मे थी, न ही राज्य के अन्तिम हितो की पूर्ति मे सहायक और न ही स्थायी। इस व्यवस्था से किसानों को कोई लाभ न था। किसानों की स्थिति अलाउद्दीन के नियमो के कारण अत्यन्त दयनीय हो गई। मोरलैंड ने लिखा है कि अलाउद्दीन के राजस्व नियम सम्पन्न मध्यम वर्ग के कुचलने के लिए थे, किसानो को कुचलने के लिये नहीं परन्तु डा के. एस. लाल इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार यह ठीक है कि अलाउद्दीन के नियमो से भूमि-पतियो को सेवक की स्थिति मे ला दिया परन्तु इससे किसानो को कोई लाभ नही हुआ। जिन किसानों को अपनी पैदावार का आधा भाग लगान के रूप मे देना पड़ता हो तथा इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कर भी देने पड़ते हो, और फिर उसे अपना शेष अनाज सरकारी व्यापारियो को सस्ती दरों पर बेचने के लिए बाध्य किया जाता हो तो ऐसी विरोधी परिस्थितियो मे किसान के लिये सुखी अथवा सम्पन्न रहना सम्भव ही नहीं था। ये ठीक है कि किसानों को अपना अनाज शहर के बाजार मे ले जाने की मुश्किल से छूट मिल जाती थी अथवा उन्हें वहा के मध्यस्थो और दलालों के अत्याचार का शिकार नहीं होना पड़ता था परन्तु जिस कीमत पर ये नाम मात्र की सुविधायें मिलती थीं वह कीमत बहुत अधिक थी। बाजार चुनने की स्वतन्त्रता के न होने पर तथा लाभ का प्रतिशत अत्यन्त कम होने की स्थिति मे यह कल्पना करना भी कि किसान सुखी एवं सन्तुष्ट होगा निरर्थक है।

अलाउद्दीन की बाजार व्यवस्था से व्यापारी वर्ग का सन्तुष्ट रहना सम्भव नहीं दीखता। यह ठीक है कि अलाउद्दीन ने व्यापारी-वर्ग द्वारा जो अधिक लाभ कमाने, कम तौलने अथवा विभिन्न उपायो से क्रेताओं को छलने के आदी हो गये थे उस पर अंकुश लगा दिया परन्तु जिन कठोर दडो को उसने इसके लिये लागू किया वे किसी प्रकार से अनुपादिक नही कहे जा सकते। कम तौलने पर शरीर से दुगुना मास कटवाने की आज्ञा देना किसी प्रकार से न्याय-सगत नहीं था। इसके अतिरिक्त उसने व्यापारियो को बाध्य किया कि वे वस्तुएँ राजधानी लायें तथा बेचें और इसके लिये उसने उन्हें एक दूसरे के लिये तथा उनके परिवार के सदस्यो को बन्धक के रूप मे रखना इससे व्यापारियों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यदि इसके बाद भी व्यापारी व्यापार करते रहे तो इसका एकमात्र कारण उनकी विवशता तथा सरकारी दण्ड का भय था। दूसरी ओर राजधानी मे वस्तुओ के भाव कम होने के कारण व्यापारी वहां अपनी वस्तुएँ लाना पसन्द नहीं करते थे। इसलिए अच्छी और बहु-मूल्य वस्तुओ का बाजार मे आना बन्द हो गया। राजधानी मे उन्हें खरीदने वाला कोई नहीं था क्योंकि जो भी इन वस्तुओं का उपभोग करने मे समर्थ थे उन्हें या तो आर्थिक रूप से इतना पगु बना दिया गया था कि वे इन्हें खरीद न पायें अथवा उन्हें इनके सदृश्य वस्तुएँ कम मूल्य पर राज्य की मडी मे मिल जाती थीं।

इसके अतिरिक्त क्योंकि वस्तुओं के भाव राज्य द्वारा निर्धारित किये गये थे और राज्य का उद्देश्य वस्तुओं को सस्ता बेचना था इसलिये स्वाभाविक है कि लाभ का प्रतिशत अधिक नहीं रहा होगा। इसका यह अर्थ लगाना नितान्त भूल होगी कि लाभ का प्रतिशत अत्यधिक होना चाहिये। हमारा विचार केवल यह है कि व्यापार में इतना लाभ अवश्य मिले जिससे कि व्यापारी को अपनी लागत का उचित लाभ मिल सके और व्यापार को यथोचित प्रोत्साहन मिल सके। अलाउद्दीन के बाजार-नियन्त्रण में इन दोनों ही बातों का अभाव था। ऐसी स्थिति में व्यापार के पनपने का कोई प्रश्न ही नहीं था।

कारीगरों को भी इस व्यवस्था से लाभ न था क्योंकि उनके द्वारा बनाई गई वस्तुएं अधिक से अधिक उत्पादन मूल्य के ऊपर नाम मात्र के लाभ पर ही बिक सकती थी, यदि अलाउद्दीन ने उत्पादन मूल्य को अपना आधार बनाया हो। ऐसी स्थिति में कलात्मक वस्तुओं के बनाने के गृह-उद्योग को और भी धक्का लगा होगा क्योंकि इन वस्तुओं के निर्माण में माल लगाने से कहीं अधिक परिश्रम का मूल्य होता है जो कि सुल्तान आंकने के लिये तत्पर न था।

राज्य कर्मचारी भी इससे प्रसन्न नहीं थे क्योंकि साधारण भूलों पर भी उन्हें कठोर दण्ड दिया जाता था। सुल्तान की कठोरता के कारण कर्मचारी भी जनता के प्रति अत्यधिक कठोर हो गये और वे इतने अप्रिय हो गये कि लोग उन्हें महामारी से भी अधिक खतरनाक समझते थे।

इस प्रकार अलाउद्दीन के बाजार-नियन्त्रण ने एक ऐसी जीवन-प्रणाली को जन्म दिया जो सर्वसाधारण की मनोभावनाओं के प्रतिकूल थी। विलासिता और और वैभव के अभ्यस्त अमीर अलाउद्दीन के नीरस नियमों और उनसे सम्बद्ध दण्डों से ऊब गये थे और ज्यों-ज्यों सुल्तान अवस्था के कारण राज्य के कार्यों की देख-भाल में शिथिल पड़ने लगा, वैसे ही वैसे उसके स्वामीभक्त सरदार उससे विलग हो नियमों का उल्लंघन करने की दिशा में तत्पर होने लगे। अलाउद्दीन ने अपने सुधारों की धुरी सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति को निश्चित किया और यद्यपि ये धुरी राज्य के उषा-काल में तो उसे दृढ़ता प्रदान कर सकने में समर्थ हुई परन्तु राज्य की संध्या में उसे स्वयं यह अनुभव होने लगा कि जो उपलब्धियां उसने अर्जित की हैं वे लुप्त होने लगी हैं। वह यह भूल गया कि राज्य के गैर-सैनिक नागरिक रक्षा की दूसरी पंक्ति हैं और उन्हें भी सन्तुष्ट रखना उतना ही आवश्यक है जितना कि सैनिकों को।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि अलाउद्दीन की बाजार-नियन्त्रण की नींव इतनी कमजोर थी कि उसकी मृत्यु के साथ ही उसे भी उसकी कब्र में दफना दिया गया। यह अपेक्षित भी था क्योंकि उसकी मृत्यु के बाद कुतुबुद्दीन न तो इतना योग्य था कि वह वह इस ताने-बाने को सुरक्षित रख सके और न ही उसकी इच्छा

अथवा इन नियमों की आवश्यकता हो थी। साम्राज्यवाद का अध्याय अलाउद्दीन के साथ ही समाप्त हो गया था और मंगोल आक्रमणों का तूफान भी शान्त हो रहा था। इसलिये जब एक बड़ी सेना को रखने की आवश्यकता ही नहीं रही तब बाजार-नियन्त्रण भी अनुपयोगी हो गया। बाजार नियन्त्रण आपत्काल की उपज थी और उसके समाप्त होते ही इन नियमों का खोखलापन भी स्पष्ट हो गया। डा. पी सरण ने 'स्टडीज इन मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री' में लिखा है कि, "सुल्तान की सम्पूर्ण नीति केवल एक ही निष्कर्ष को स्पष्ट करती है कि यह पूर्णतया तर्कहीन और बनावटी थी तथा आर्थिक सिद्धान्तों का प्रकट रूप से उल्लंघन थी।"

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन तथा मृत्यु

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन कष्ट-मय बीते। नवीन मुसलमानों ने जो उसकी नीति से नितान्त असन्तुष्ट थे उसका वध करने का षड़यन्त्र रचा परन्तु सुल्तान को उसकी सूचना मिल गई। उसने लगभग 20 से 30 हजार का वध करवा दिया और उनके बीवी-बच्चों के साथ भी अनुचित व्यवहार किया। अलाउद्दीन बुद्धि और शरीर से अब थक चुका था और वह अत्यधिक सन्देहपूर्ण प्रवृत्ति का हो गया था। इसलिये उसने अपने सभी योग्य सरदारों को दिल्ली से दूर भेज दिया परन्तु इसके बाद भी वह अपने परिवार पर नियन्त्रण न रख सका। हरम षड़यन्त्रों का केन्द्र बन गया।

खिज्रखां की पत्नी मलिका-ए-जहान अपने पति से उदासीन हो, अपने भाई अलपखां के साथ मिलकर नायब काफूर की शक्ति को तोड़ने में लग गई। फरवरी 1312 ई. में खिज्रखां का विवाह अलपखां की एक पुत्री से कर दिया गया और खिज्रखां को सिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित कर दिया गया। 1313 ई. में काफूर के देवगिरि के अभियान में जाने के कारण मलिका-ए-जहान व अलपखां राजधानी में प्रभावशाली हो गये। इस समय मलिका-ए-जहान ने अपने दूसरे पुत्र शादीखां का विवाह अलपखां की दूसरी पुत्री से कर दिया और खिज्रखां का विवाह देवल देवी से कर दिया।

अलाउद्दीन इन घटनाओं को बड़ी सतर्कता से देख रहा था और यह अनुभव कर रहा था कि सत्ता उसके हाथों से निकल रही है। इसलिये उसने अपने विश्वास पात्र मलिक काफूर को 1315 ई. में दक्षिण से वापिस बुला लिया। परन्तु मलिक काफूर में स्वामीभक्ति अब तक काफी कम हो चुकी थी इसलिये उसने यह देखकर कि सुल्तान का समय निकट आ गया है स्वयं अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसने सुल्तान को विश्वास दिलाया कि खिज्रखां, मलिका-ए-जहान व अलपखां उसके शत्रु हैं तथा इनके रहते हुये उसे शान्ति मिलना सम्भव नहीं है। उसने अलपखां को महल ही में मार दिया, मलिका-ए-जहान को कैद कर लिया व खिज्रखां को पहले अमरोहा भेजा तत्पश्चात् ग्वालियर के किले में कैद कर दिया

गया। मलिक काफूर अब सर्वेसर्वा था। केन्द्र में इन कुचक्रों को देखते हुये गुजरात, चित्तौड़ व देवगिरि में विद्रोह होने लगे। गुजरात में अलपखां की सेना ने विद्रोह किया परन्तु काफूर उसको दबाने में असमर्थ रहा। चित्तौड़ में हम्मीरदेव ने मालदेव को चुनौती दी और देवगिरि में रामचन्द्रदेव के दामाद हरपालदेव ने तुर्कों को बाहर निकाल कर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। अलाउद्दीन अपनी आंखों के सामने अपने साम्राज्य को विघटित होते देखता रहा और सम्भवतः इसी मानसिक पीड़ा के कारण 5 जनवरी, 1316 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

अलाउद्दीन का मूल्यांकन

अलाउद्दीन ने सल्तनत काल के शासकों में स्वयं को सर्वाधिक शक्तिशाली शासक सिद्ध किया। एक नगण्य स्थिति से उठकर वह सुल्तान बना और इसके लिये उसने उन सभी साधनों का उपयोग किया जो सत्ता-प्राप्ति में सहायक हो सकते थे। अपने संरक्षक व चाचा जलालुद्दीन के वध से आरम्भ होकर ये नवीन मुसलमानों की हजारों की संख्या के वध में समाप्त हुये। उसके लिये साध्य से ही साधन की श्रेष्ठता स्थापित होती थी। उसका विश्वास आतंक, भय, रक्तपात, कठोरता तथा अनुशासन में था और इन्हीं आधारों पर उसने सत्ता की नींव रक्खी थी। *दया, क्षमा, सहिष्णुता के गुणों का उसमें पूर्णतया अभाव था।*

परन्तु अलाउद्दीन एक कर्मठ सैनिक, कूटनीतिज्ञ, महान विजेता तथा एक महत्वाकांक्षी सुल्तान था। भिलसा व देवगिरि के अभियानों में उसने अपनी सैनिक प्रतिभा का परिचय दिया जिसे उसने रणथम्भौर और चित्तौड़ विजय कर प्रमाणित किया। मंगोलों के विरुद्ध सफल अभियान कर उसने अपना पराक्रम व कूटनीतिज्ञता दर्शाई। दक्षिण के प्रदेशों को पहली बार सल्तनत के प्रभाव क्षेत्र में लाकर उसने अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा का परिचय दिया। यह उसने उस समय किया जब दिल्ली पर मंगोलों के तूफान के बादल मंडरा रहे थे। परन्तु इसके साथ एक व्यावहारिक शासक होने के नाते वह समझ सका कि दक्षिण के इन प्रदेशों पर प्रत्यक्ष रूप से शासन करना सम्भव न होगा इसलिये उसने इन राज्यों को करद-राज्यों की श्रेणी में रक्खा।

शासन-प्रबन्ध के रूप में भी अलाउद्दीन ने अपनी श्रेष्ठता कई आधारों पर सिद्ध की। उसने अनेक नये प्रयोग किये और कम से कम उसके जीवन-काल में वे सफल रहे। उसने एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया और उसके वेतन का भुगतान नकद रूप से आरम्भ किया। सेना के व्यय को वहन करना अत्यधिक कठिन था परन्तु सेना को रखना परमावश्यक था इसलिये उसने बाजार-नियन्त्रण की नीति अपनाई और राजस्व की मात्रा काफी बढ़ा दी। उसने स्थायी सेना रखने, घोड़ों को दागने, सैनिकों का हुलिया लिखने आदि की व्यवस्था की। इस क्षेत्र में वह पहला सुल्तान था जिसने इन सुधारों को लागू किया हो। साथ ही वह पहला

सुल्तान था जिसने भूमि की पैमाइश कराकर सरकारी कर्मचारियों द्वारा लगान वसूल करने की नीति अपनाई थी।

अलाउद्दीन की सबसे बड़ी दुर्बलता थी कि उसका शासन और राज्य शक्ति एवं आतंक पर आधारित था इसलिये उसकी मृत्यु के बाद चार साल ही के समय में यह नष्ट हो गया। यदि अलाउद्दीन इसके लिये उत्तरदायी था तो उसके उत्तराधिकारियों को भी उनके उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं किया जा सकता। कोई भी कठोर व व्यवस्थित शासन के लिये दुर्बल सुल्तानों के समय में अधिक समय तक बने रहना सम्भव ही नहीं था। परन्तु इसके बाद भी उसके सिद्धान्त जीवित रहे और बाद के शासकों ने उन्हें अपनाकर लाभ उठाया।

अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी

शिहाउद्दीन उमर और मलिक काफूर—सुल्तान अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् काफूर परिस्थितियों का स्वामी' हो गया। उसने मृत सुल्तान के दफनाने के दूसरे दिन राज्य के सभी अमीरों तथा अधिकारियों को बुलाकर सुल्तान का एक जाली उत्तराधिकार पत्र दिखाया। इसमें नाबालिग उमरखां को सिंहासन के लिए नामजद किया गया था। अमीरों ने सुल्तान के मुहर वाले दस्तावेज को आदेश स्वीकार किया। बालक उमरखां शिहाउद्दीन उमर खल्जी के नाम से गद्दी पर बिठा दिया गया। काफूर स्वयं उसका संरक्षक बनकर राज्य-कार्य करने लगा। काफूर गद्दी हड़पना चाहता था। उसकी नीति यह थी कि भूतपूर्व सुल्तान के सभी शहजादों का एक-एक करके वध कर दिया जावे। नपुंसक होने पर भी काफूर ने सुल्तान की मां से विवाह कर लिया। फिर उसने मलिक सम्बूल को ग्वालियर में नियुक्त कर उस शहजादे खिज्रखां की आँखें निकाल लेने का काम सौंपा। इस नृशंस कार्य के लिए उसे ऊंचा पद देने का वचन दिया गया, तथा दूसरे शहजादे शादी खां के साथ भी इसी तरह का व्यवहार किया गया। एक उस्तरे से उसकी आंखें खरबूजे की फांक की तरह निकाल ली गईं। इनकी मां मलिका-ए-जहां के आभूषण और सम्पत्ति छीन कर उसे ग्वालियर भेज दिया गया। सुल्तान अलाउद्दीन के अन्य दो पुत्रों को भी अन्धा करके काफूर स्वयं को अब पूर्ण सुरक्षित समझ रहा था। सुल्तान शिहाबुद्दीन उमर को वह बालक की तरह सिंहासन पर बैठा देता था और उच्च अधिकारियों तथा अमीरों को अपनी उपस्थिति में दरबार में खड़ा कर अलाउद्दीन की तरह ही सम्बोधित किया करता था। वह अपने मित्रों के साथ अलाउद्दीन के सभी वंशजों और उसके समय के अधिकारियों को मार्ग से हटाने के उपायों विचार-विमर्श किया करता था।

लेकिन काफूर की योजनाएं उसके मन में ही रह गई क्योंकि वह पैंतीस दिन तक ही सत्ता का उपयोग कर सका। उसकी उद्दण्डता तथा शक्ति के दुरुपयोग करने से पुरानी पीढ़ी के लोग अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित हो गए और वे उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचाने लगे।

काफूर ने मृत-सुल्तान के पुत्र मुबारकशाह को भी अन्धा करने की कोशिश की परन्तु वह काफूर से भी अधिक तेज निकला। उसने हत्यारों को सुल्तान अलाउद्दीन की याद दिलाकर उनकी क्षुब्ध भावनाओं को उकसाया और न केवल अपनी जीवन-रक्षा ही करने में समर्थ हुआ अपितु काफूर की हत्या करने के लिये प्रेरित कर सका। इन्होंने दूसरे पदाति सैनिकों से मिलकर 11 फरवरी 1316 ई. को काफूर का अन्त कर दिया।

कुतुबुद्दीन मुबारकशाह

काफूर की हत्या के बाद मुबारकशाह को बन्दी गृह से मुक्त कर उसे शिहाबुद्दीन उमर का संरक्षक बनाया। दो माह के अल्पकाल में ही मुबारकशाह ने शिहाबुद्दीन को अन्धा कर ग्वालियर के किले में कैद कर दिया। मुबारकशाह, 18 अप्रेल, 1316 ई. को कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के नाम से सुल्तान बना। अपने राज्याभिषेक के समय अमीरों और मलिकों को अनेक उपाधियां तथा उपहार दिये गये।

सुल्तान ने अलाउद्दीन के कठोर नियमों को समाप्त कर अमीर-वर्ग को अपनी ओर मिला लिया। बाजार-नियन्त्रण सम्बन्धी कठोर दण्डों को हटा दिया। अमीरों की जब्त की हुई भूमि को लौटा दिया गया तथा उनके वेतनों में बढ़ोत्तरी की गई। हसन नामक सामान्य दास को जिस पर सुल्तान की विशेषांकृपा थी, खुसरो खां की उपाधि से विभूषित किया तथा उसे मलिक नायब के इक्ता और वेतन दिया गया। फिर थोड़े समय बाद उसे अपना वजीर बना लिया। सुल्तान के इस व्यवहार से अन्य अमीर असन्तुष्ट थे क्योंकि वे एक साधारण गुलाम की पदोन्नति इतनी शीघ्रता से होते हुये नहीं देख सकते थे।

सुल्तान बनने के बाद लगभग दो वर्ष तक वह बड़ी तत्परता और निष्ठा से कार्य करता रहा परन्तु तत्पश्चात् वह विलासिता, व्यभिचार आदि में बुरी तरह फंस गया और स्वाभाविक था कि शासन शिथिल और अव्यवस्थित हो गया।

उसके समय की घटनाओं में 1316 का गुजरात अभियान पहली घटना है। इस वर्ष नाजी मलिक तुगलक और एनुल्मुल्क मुल्तानी को गुजरात विजय के लिये भेजा गया। अलाउद्दीन के अन्तिम समय से ही गुजरात पर खल्जियों का अधिकार समाप्त हो चला था। सुल्तान ने अपने श्वसुर जफरखां को गुजरात का हाकिम नियुक्त किया था और उसने शासन को इतनी अच्छी तरह व्यवस्थित किया कि कुछ ही समय में वह वहां अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। उसकी लोकप्रियता सुल्तान के लिये असहनीय थी, अतः सुल्तान ने उसका वध करवा दिया और उसकी जगह पर हिसामुद्दीन को गुजरात का हाकिम नियुक्त किया। हिसामुद्दीन न तो लोकप्रियता ही प्राप्त कर सका और न ही शासन को व्यवस्थित कर पाया। अतः सुल्तान ने उसके स्थान पर वहीदुद्दीन कुरेशी को हाकिम बनाकर भेजा।

1318 ई. में सुल्तान स्वयं देवगिरि के शासक हरपालदेव का विद्रोह दबाने के लिये गया। खुसरोखां भी सुल्तान के साथ था। सुल्तान ने बिना किसी प्रतिरोध के देवगिरि पर अधिकार कर लिया तथा हरपालदेव को बन्दी बना लिया। सुल्तान ने उसके साथ नृशंसता का व्यवहार करके उसकी जिन्दा ही खाल खिंचवा ली। मलिक यकलखी को देवगिरि का शासक नियुक्त किया। उसके विद्रोह करने पर उसे बन्दी बनाकर दिल्ली बुलाया गया जहां उसके नाक, कान काट दिये गये।

इसके बाद सुल्तान के दिल्ली लौटने समय ही रास्ते में उसके चाचा ने उसके विरुद्ध षडयन्त्र किया। बरनी लिखता है कि, "उसने देवगिरि के कुछ विद्रोहियों को अपनी ओर मिलाकर यह षडयन्त्र रचा कि जब सुल्तान अपनी स्त्रियों के साथ मदिरा पान और भोग विलास में ग्रस्त घाटी सागौन से गुजरे तो उसके सिलहदारों, जादारों और पायकों की अनुपस्थिति में कुछ सवार नंगी तलवारें लिए हुए उसकी स्त्रियों के बीच में घुस जायें और सुल्तान कुतुबुद्दीन की हत्या कर दें। फिर मलिक असदुद्दीन, जो सुल्तान का भाई और राज्य का उत्तराधिकारी था, उस स्थान पर छत्र धारण कर ले।" लेकिन एक षयड्न्त्रकारी ने भेद को खोल दिया और सागौन घाटी के पड़ाव पर मलिक असदुद्दीन, उसके भाइयों तथा सहायक षडयन्त्रकारियों को रातों-रात बन्दी बनाकर शाही शिविर के सामने मौत के घाट उतार दिया गया। दिल्ली की ओर आगे बढ़ते हुए सुल्तान ने ग्वालियर में आदेश भिजवाया कि खिज्रखां, शादी खां और शिहाबुद्दीन को (जिन्हें पहले से ही अन्धा किया जा चुका था) कत्ल कर दिया जावे। उनकी माताओं तथा स्त्रियों को दिल्ली बुलाकर उन्हें भी कत्ल करा दिया गया।

प्रारम्भिक सफलताओं ने सुल्तान मुबारक की बुद्धि खराब कर दी और असदुद्दीन के षड्यन्त्र ने उसे सन्देही प्रवृत्ति का बना दिया। वह व्यवहार में क्रूर एवं शासन में उदासीन हो गया। खुसरोखां अपने दुराचार तथा व्यभिचार के कारण सुल्तान की निगाहों में चढ़ता गया। उसके प्रभाव में आकर सुल्तान ने अनेक सरदारों को अपमानित किया। उसने मलिक तबर को दरबार से निष्कासित कर दिया। उसने मलिक तुल्वगायगढा के मुंह पर, जो खुसरोखां की ओर से सुल्तान को सावधान करना चाहता था, चांटे मारे और उसका पद तथा इक्ता जब्त कर लिया। सुल्तान ने खुसरो खां पर विश्वास कर लिया कि अमीर उसके विरुद्ध षडयन्त्र रच रहे हैं। सुल्तान का खुसरोखां से प्रेम दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। उसने अपने भाई खिज्रखां की विधवा पत्नी देवल देवी से विवाह कर लिया। वह बहुत ही कामुक बन गया, उसे नग्न स्त्री पुरुषों की संगत पसन्द थी।

डा ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में "मनुष्य को चरित्रहीन पतन की चरम सीमा पर पहुंचा देने वाले घृणित आचरण उसके दैनिक जीवन में प्रमुख स्थान पाने लगे। बहुधा वह स्त्रियों जैसी वेश-भूषा धारण कर तथा शरीर को चमक-दमक वाले

गहनों से सजाकर वेश्याओ के साथ नगर मे निकल पडता और सरदारो के घरो मे नाचता फिरता था। उसके पदाधिकारियो एव सामन्तो ने इसका विरोध किया था परन्तु उसके विरोध का कोई परिणाम नही निकला।"

सुल्तान पर खुसरोखा का प्रभाव बढता गया। वह सुल्तान की हत्या करके गद्दी हडपने के षडयन्त्र रचने लगा। तरह-तरह के बहाने बनाकर उसने सुल्तान के चारों ओर अपने विश्वसनीय और सजातीय लोगो को नियुक्त करवा दिया। जियाउद्दीन ने सुल्तान को खुसरोखाँ की ओर से सावधान किया, पर उसने अपने शिक्षक की बात पर कोई ध्यान नही दिया। खुसरो का षडयन्त्र पूरा हुआ और **तारीख-ए-मुबारकशाही** के लेखक के अनुसार, "सुल्तान कुतुबुद्दीन का 26 अप्रेल, 1320 की रात्रि को वध कर दिया गया। पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार खुसरो खाँ के समर्थक महल मे घुस आए। उस समय खुसरोखां सुल्तान के पास ही बैठा हुआ था। सुल्तान ने कोलाहल सुनकर खुसरोखा से पूछा कि महलो मे नीचे शोर कैसा हो रहा है। तो खुसरोखाँ ने उत्तर दिया कि कुछ घोड़े खुल गए हैं और लोग उन्हे घेर कर पकड रहे है। लेकिन थोडी ही देर मे सुल्तान को षडयन्त्र का बोध हो गया। वह अपने अन्तःपुर की ओर भागा। खुसरोखाँ ने दौड़ कर उसके केश पीछे से पकड लिए। सुल्तान ने खुसरोखाँ को जमीन पर गिरा दिया, पर इसी समय हत्यारे पहुच गए और एक ने सुल्तान का सिर काट लिया। मध्य रात्रि को ही दरबार लगाया गया। अमीरो तथा सरदारो से बलात् स्वीकृति लेकर "खुसरोखां नासिरुद्दीन" की उपाधि धारण कर गद्दी नशीन हुआ। उसका विरोध करने का साहस किसी मे भी इसलिये नही था क्योकि वह मृत सुल्तान कुतुबुद्दीन की कृपा से लगभग 40,000 बरवारियो की सेना इकट्ठी कर चुका था और ये सब सैनिक उसके निष्ठावान समर्थक थे।"

नासिरुद्दीन खुसरो शाह

खुसरो शाह धर्म परिवर्तित मुसलमान था इसलिए उसे गुजराती हिन्दू सैनिकों का पूरा समर्थन प्राप्त था। जब वह सुल्तान बना तो उसने शाही हरम और अमीरो तथा सरदारों की स्त्रियों को उनके सजातियो मे बाट दिया। खुसरोशाह ने हिन्दू प्रभुत्व की स्थापना करनी चाही। अत उसने बरवारियों को जो उसके सजातीय थे ऊँचे पद दिये, इस्लाम धर्म के प्रति घृणापूर्वक व्यवहार किया। उसने राजमहल के अन्दर हिन्दू देवी देवताओ की स्थापना की, मस्जिदों मे मूर्तियां स्थापित की और कुरान को इन मूर्तियों का आसन बनाया।

बरनी के इस विवरण मे अतिशयोक्ति जान पड़ती है, लेकिन इस बात मे सन्देह नहीं कि उसने इस्लाम का पराभव और हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित करना चाहा। इस कारण खुसरो के विरोधियों की संख्या बढने लगी। तुर्की अमीरो और भारतीय मुसलमानो का लम्बे समय से चल रहा संघर्ष उग्र हो गया। अलाई अमीरों को लम्बे समय तक नियन्त्रण में रखना असम्भव था, क्योकि वे सब शासकीय जाति

के थे। वे विजेता खुसरो और बरवारियों के निम्न कुल के होने के कारण अत्यधिक घृणा करते थे। ऐसे समय मे गाजी मलिक तुगलक ने जो कि दीपालपुर का सूबेदार तथा सीमारक्षक था, इस स्थिति से लाभ उठाना चाहा। असन्तुष्ट अलाई सरदारों म से एक मलिक फखरुद्दीन जूना ने जो कि गाजी मलिक का पुत्र था, उसने राजधानी से अपने पिता को सारे समाचार लिख भेजे। वह स्वयं भी अपने समर्थकों सहित वहां जा पहुँचा। इस प्रकार गाजी मलिक ने दुराचारी खुसरो तथा इस्लाम के शत्रुओं से प्रतिशोध लेने की नीति अपनाई। उसने सेना को लेकर दिल्ली की ओर कूच किया। साम्राज्य के अधिकतर सरदार गाजी मलिक के साथ हो गए। इनमें से केवल मुल्तान का हाकिम ही तटस्थ रहा। मार्ग म समाना के सूबेदार मलिक यकलखी न उसका मुकाबला किया, लेकिन वह पराजित हुआ और अपने ही आदमियों द्वारा उसे मार दिया गया। सिरसा के निकट खुसरोशाह के भाई हिसामुद्दीन ने गाजी मलिक का मुकाबला किया पर वह भी बुरी तरह पराजित हुआ।

खुसरोखां फखरुद्दीन जूनाखा के दिल्ली से चले जाने के बाद ही स्थिति को माप चुका था। वह युद्ध की तैयारी करने लगा। उसने गाजी मलिक का सामना करने के लिए अपने सैनिकों को अग्रिम वेतन दिया, लेकिन फिर भी नैतिक रूप से प्रतीन ये सैनिक गाजी मलिक के सम्मुख नगण्य थे। सैन्य संचालन में अनुभवहीनता और अनुशासन के अभाव के कारण खुसरो के पक्ष की पराजय प्रारम्भ से ही निश्चित थी। जब राजधानी के निकट स्वयं खुसरोशाह और गाजी मलिक की सनाएं आमने-सामने हुई तो प्रारम्भ मे खुसरो को कुछ सफलता मिली लेकिन अन्त मे वह बुरी तरह पराजित हुआ और उसका वध कर दिया गया। खुसरो के समर्थकों को ढूंढ कर उनकी भी इसी प्रकार की दुर्गति की गई। इस प्रकार राजधानी के अमीरों तथा सरदारों ने राजमहलों की चाबियाँ गाजी मलिक को सौंप दी। तब वृद्ध गाजी ने शासक का पद ग्रहण करने मे सकोच करते हुये अलाउद्दीन के परिवार के किसी जीवित सदस्य की जानकारी चाही। अमीरों और सरदारों ने बताया कि अलाई वंश का कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं है। गाजी से सत्ता सम्भालने की प्रार्थना की गई तो वह अनमने मन से गद्दी पर बैठने को सहमत हो गया। गाजी मलिक "गयासुद्दीन तुगलक शाह" के नाम से 8 फरवरी, 1320 को गद्दी पर बैठा। इस प्रकार खल्जी वंश का पतन तथा तुगलक वंश का उदय हुआ।

तुगलककालीन भारत

गयासुद्दीन तुगलक (1320–25 ई.)

नाम तथा जातीय उद्भव—गयासुद्दीन तुगलक ने एक नये वंश की नींव डाली परन्तु यह कहना कि तुगलक किसी वंश अथवा नस्ल का नाम था, भूल होगी। अमीर खुसरो ने तुगलकनामा में स्पष्ट लिखा है कि तुगलक उसका व्यक्तिगत नाम था, जाति नहीं। अफीफ ने भी इसकी पुष्टि की है। उसके अनुसार तुगलक इस वंश के प्रथम शासक का नाम था। फिर इसकी पुष्टि मुहम्मद बिन (पुत्र) तुगलक अर्थात् तुगलक का पुत्र से होती है।

इब्नबतूता के अनुसार तुगलक तुर्कीस्तान व सिंध के मध्यवर्ती पहाड़ी क्षेत्र में बसने वाले करौना कबीले के थे, परन्तु करौना शब्द की नस्ली तथा शब्द-व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं हो पाई इसलिए इसको स्वीकार करना सम्भव नहीं है। प्रो. निजामी करौना को मिश्रित जाति का मानते हैं जिनके पिता तातार व माताएँ भारतीय थीं। फरिश्ता के अनुसार गाजी तुगलक का पिता मलिक तुगलक बलबन का एक तुर्क दास था जिसने एक स्थानीय जाट परिवार की स्त्री से विवाह किया था। उनका पुत्र गाजी तुगलक गयासुद्दीन तुगलक के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बैठा।

तुगलक के भारत में आने की कोई निश्चित जानकारी नहीं मिल पाई है। क्योंकि समकालीन इतिहास में तुगलक के भारत में आने की कोई जानकारी नहीं मिल पाई है, इसलिए यह अनुभव होता है कि उसका जन्म भारत में ही हुआ होगा। सर्वप्रथम हमें तुगलक की जानकारी जलालुद्दीन खल्जी के समय में मिलती है जब उसे सुल्तान के अंगरक्षक के रूप में नियुक्त किया गया था। अपनी योग्यता से वह प्रगति करता गया और 1305 ई. में अलाउद्दीन ने उसे दीपालपुर का सूबेदार और सीमा-रक्षक नियुक्त किया। तुगलक ने मुल्तान फिर दीपालपुर के राज्यकाल के रूप में प्रशंसनीय सेवायें कीं और मंगोलों की सीमा के अन्तर्गत क्षेत्रों से भी राजस्व वसूल किया। अलाउद्दीन के शासनकाल में यद्यपि वह विशिष्ट अमीरों में से था परन्तु इसके बाद भी उसने मलिक काफूर की क्रूरता के विरुद्ध कुछ नहीं किया जो अलाउद्दीन के उत्तराधिकारियों का अन्त कर शासन को स्वयं हथियाना चाहता था। खुसरवशाह के समय में वह अपने पद पर बना रहा। तत्पश्चात् उसने खुसरवशाह

को समाप्त कर दिल्ली के सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया और 8 सितम्बर 1320 ई को सुल्तान बन गया।

उसकी कठिनाइयां—गद्दी पर बैठने के समय गयासुद्दीन के सामने अनेक कठिनाइयां थीं। अलाउद्दीन की व्यवस्था पूर्णतया ध्वस्त हो चुकी थी और रही सही कमी मुबारकशाह खल्जी और खुशरवशाह ने पूरी कर दी थी। दोनों ही सुल्तानों ने अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए सैनिकों में मुक्त-हस्त से धन बांटा था जिसके कारण कोष खाली हो गया था। सरदारों और दरबारियों में धन लोलुपता, विलासिता और अकर्मण्यता कूट कूट कर आ गयी थी। परन्तु इनसे अधिक गहन समस्या सूबेदारों और अधीन शासकों को दिल्ली के अधीन रखने की थी। सिंध नाममात्र के लिए दिल्ली के अधीन था। वहां के शासक उमर ने थट्टा और निचले सिंध पर अधिकार कर लिया था। गुजरात से आइनुलमुल्क को बुला लेने के बाद वहां विद्रोह होने लगे तथा व्यवस्था स्थापित करने के सब प्रयत्न निष्फल रहे थे। राजपूताना में चित्तौड़ जालौर और जालौर पर राजपूतों के आक्रमण बढ़ गए थे। बंगाल पहले से ही दिल्ली में तनाव के लिये एक समस्या प्रान्त था और अब मालवा तथा बुन्देलखण्ड में भी जगह जगह विद्रोह होने लगे थे।

दक्षिण के राज्यों ने दिल्ली की अधीनता को उतार फेंकने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे। तेलंगाना के शासक प्रतापरुद्र देव ने स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था और उसने पश्चिमी घाट पर अपने राज्य का विस्तार भी कर लिया था। इसी प्रकार होयसल प्रदेश भी दिल्ली की सत्ता से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील था।

इस प्रकार गयासुद्दीन तुगलक के सामने आन्तरिक और बाहरी समस्यायें मुंह फाड़े खड़ी थी। गयासुद्दीन यद्यपि मुख्य रूप से एक सैनिक था परन्तु फिर भी उसने अपने प्रशासकीय अनुभवों व व्यक्तिगत गुणों से इन समस्याओं का समाधान निकाला तथा जनता को शांति और समृद्धि प्रदान की। कुछ ही समय में ऐसा अनुभव होने लगा जैसे अलाउद्दीन पुनर्जीवित हो गया हो।

आन्तरिक व्यवस्था—गयासुद्दीन के लिये प्रमुख समस्या थी कि वह रिक्त राजकोष को भरे। इस दिशा में उसने राजस्व सुधार की ओर ध्यान दिया। वह यह अनुभव करता था कि न तो अलाउद्दीन के कठोर नियम और न ही उसके उत्तराधिकारियों की उदारता इस समस्या को हल कर सकेगी। अतः उसने प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में सतुलन अथवा मध्यवर्ती मार्ग को अपनाया।

उसने तीन स्तरों पर इसका समाधान करने की नीति अपनाई—अर्थात् मुक्ताओं (प्रान्तीय राज्यपाल), मुकद्दमों (गांव के मुखिया) व किसान। क्योंकि मोटे रूप से किसान भूमि से अधिक सम्बन्धित था इसलिये बगैर उसकी स्थिति को सुधारे हुए आर्थिक स्थिति को सुधारना सम्भव नहीं था। उसने यह आदेश दिया

कि किसानों से इस प्रकार व्यवहार किया जावे कि वे अधिक समृद्ध हो विद्रोह के लिए उत्सुक न हों और न ही उनसे इतना राजस्व वसूल किया जावे कि वे इसके बोझ के कारण खेती छोड़ने के लिए बाध्य हो जावें। अलाउद्दीन की कठोर राजस्व नीति ने किसानों की कमर तोड़ दी थी और उनकी कार्य करने की प्रेरणा समाप्त हो गई थी। खेती से होने वाले लाभों से वंचित किये जाने पर उन्हें उसकी उन्नति में कोई रुचि नहीं रह गई थी। कर के बोझ ने उन्हें दरिद्र और अपंग बना दिया था। मुकद्दम आदि भी क्योंकि अपने परम्परागत अधिकारों से वंचित कर दिये गये थे इसलिए उनकी स्थिति भी दयनीय थी। इन दोनों की खराब स्थिति का प्रभाव आनुपातिक रूप में मुक्ताओं पर पड़ना भी स्वाभाविक था।

गयासुद्दीन ने सबसे पहले किसानों के कर का बोझ हल्का करने के लिये अलाउद्दीन की नपाई की नीति को त्याग कर उसकी जगह साझेदारी का नियम लागू किया। इससे दो लाभ हुये। प्रथम इससे किसान को यह विश्वास हो गया कि खेती की उन्नति में उसका लाभ भी निहित है। दूसरे फसल की आंशिक अथवा पूर्ण खराबी का ध्यान रक्खा गया। प्रो. निजामी[1] ने लिखा है कि, *"यह आवश्यक नहीं रह गया था कि संकट की स्थितियों का विचार किया जावे या उन क्षेत्रों में अन्तर किया जावे जिनमें फसल हुई या जिनमें नहीं हुई।"*

बरनी राज्य की मांग के हिस्से के बारे में स्पष्ट नहीं है। उसने लिखा है कि, सुल्तान ने आज्ञा दी कि इक्ता के दसवें अथवा ग्यारहवें भाग से अधिक कर निश्चित न करें। यदि उसके इस कथन को स्वीकार कर लिया जावे तो इसका अर्थ होगा कि राजस्व के रूप में केवल 1/10 अथवा 1/11 भाग वसूल किया जाने लगा। परन्तु सुल्तान के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुये इसे मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि सुल्तान यद्यपि किसानों को राहत पहुंचाने के पक्ष में था परन्तु साथ ही साथ वह राज्य की अर्थ व्यवस्था को भी सुदृढ़ करना चाहता था 1/10 अथवा 1/11 भाग वसूल कर आर्थिक व्यवस्था को सुदृढ़ करना नितान्त असम्भव था। अधिकतर यह सम्भावना थी कि उसने भूमि कर के रूप में परम्रागत उपज का 1/5 भाग लेना निश्चय किया हो। इससे उसके दोनों ही उद्देश्य पूरे हो जाते थे। उसने इसके साथ ही यह शर्त भी लगा दी हो कि एक साल में कर में 1/10 अथवा 1/11 से अधिक की वृद्धि न हो, यदि ऐसा करना सम्भव हो। इस नियम की पूर्ति बरनी के उस कथन से होती है जिसके अनुसार सुल्तान ने आदेश दिया था कि भूमि कर धीरे-धीरे और थोड़ा-थोड़ा बढ़ाया जावे क्योंकि अचानक बढ़ोतरी से खेती नष्ट हो जावेगी तथा समृद्धि में रुकावट आ जावेगी। सुल्तान ने अपने अधिकारियों को बार-बार कर बढ़ाने के विरुद्ध आगाह किया, क्योंकि इससे किसान जोत में रुचि लेना कम कर देंगे अथवा नई भूमि पर खेती करने के लिए प्रोत्साहित नहीं होंगे।

---

1. हबीब व निजामी, वही, पृ. 405

किसानों को सुविधा देने के पश्चात् उसने मुकद्दमों की ओर ध्यान दिया। उसे अलाउद्दीन की नीति में आस्था नहीं थी कि इस वर्ग को सामान्य किसान के स्तर पर रखा जावे। इसके विपरीत वह सीमित आधार पर उनके परम्परागत अधिकारों को देने के पक्ष में था। इसलिए उसने उनके खेतों और चरागाहों को कर मुक्त कर दिया परन्तु साथ ही साथ इस बात पर भी बल दिया कि वे धन की अधिकता के कारण विद्रोह न कर जावें और शासन के अधिकार को भी न भूलें। इसके पश्चात् उसने मुक्ता (वलियों) के भूमि कर वसूल करने में साम्प्रदायिक व्यवहार के नियम भी बनाये और किसानों को उनके अत्याचारों से बचाने के लिए भी सभी उपाय लागू किये।

गयासुद्दीन ने इन सुधारों से निश्चित ही राजस्व को बढ़ाया परन्तु वह ठेकेदारी प्रथा के आधार पर भू राजस्व को इकट्ठा करने की दूषित प्रणाली को पूरी तरह न उखाड़ सका क्योंकि राजपदों के पद ठेके पर ही आधारित होते थे। परन्तु यहाँ पर भी उसने इन पर अंकुश लगाने का सफल प्रयास किया। उसका कहना था कि वे ईमानदारी से काम करते हुए अपने पद के हक (लगान का 1/20 या 1/22 अथवा 1/10 या 1/15 भाग) का उपभोग कर सकते थे। उनके सहायक भी अपने वेतन के अतिरिक्त 1/2 प्रतिशत या 1 प्रतिशत धन लगान से ले सकते थे किसी भी दशा में इससे अधिक नहीं।" प्रो निजामी ने लिखा है कि "यदि वे इस नियम का उल्लंघन करें तो उन्हें बेंत मार मार कर उनका अहंकार दूर कर उनका अपमान करता था और पूरा धन वसूल करता था।" प्रो निजामी ने उसकी भू व्यवस्था का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि उसने माप के नियम की जगह साझे के नियम को धीरे धीरे लागू किया तथा किसानों के हितों का समुचित आदर किया और अन्धाधुन्ध कर बढ़ाने की नीति को त्यागकर किसानों को उत्तम तथा विस्तृत खेती से होने वाले लाभों की गारंटी दी।

मोरलैण्ड ने गयासुद्दीन की भू राजस्व व्यवस्था के सम्बन्ध में लिखा है कि, 'वास्तव में गयासुद्दीन का शासन अल्पकालीन रहा, कि वह कोई नवीन परम्परा कायम न कर सका। अतः वह नीति-निर्धारक ही था। चूंकि वह मूलभूत रूप से सैनिक था इसलिए उसने सेना का पूर्ण ध्यान दिया। उसके बाद उसका ध्यान किसानों की उन्नति पर था। उसकी धारणा थी कि किसान अपनी भूमि को जोतने के साथ ही साधनों में वृद्धि कर खेती योग्य भूमि को जोत में लाने की कोशिश करें।" उसके अनुसार लगान की अचानक और अन्धाधुन्ध वृद्धि हितकर नहीं थी। राज्यों के पतन में मुख्यतः दो ही कारण उत्तरदायी होते हैं—(1) अत्यधिक लगान तथा (2) राज्य की बढ़ती हुई मांग। यह पतन क्रूर सूबेदारों अथवा कर्मचारियों द्वारा ही पनपता है।"

राजकोष की दशा में सुधार—राजकोष भरने के लिए उसने अनेक कदम उठाये—

(1) उसने खुसरोखाँ द्वारा लुटाये गये धन को वसूल किया। उसका ये विचार था कि राजकोष का धन जनता का था जिसे केवल जनता के हितों में ही खर्च किया जा सकता था। उस पर व्यक्तिगत रूप से खुसरोखां का कोई अधिकार न था, उसने पहले तो नर्माई से इसे वसूल करने की नीति अपनाई। उसकी यह नीति अधिकतर सफल रही और बरनी के अनुसार अधिकांश लोगों ने धन लौटा दिया। परन्तु जिन लोगों ने बहानेबाजी अथवा आनाकानी की, उनके साथ कठोरता का व्यवहार किया गया। इसमें अमीर, शेख अथवा मौलवियों तक को न छोड़ा गया। शेख निजामुद्दीन औलिया तक से खुसरो खां द्वारा प्राप्त किये धन को लौटाने के लिये कहा गया, परन्तु वह इसे देने में असमर्थ था, क्योंकि वह धन उसने गरीबों और फकीरों में पहले ही बांट दिया था। बरनी के अनुसार लूटी हुई धन सम्पत्ति को पुनः प्राप्त करने के सम्बन्ध में एक वर्ष के परिश्रम से राजकोष पहले के समान फिर मालामाल हो गया।

(2) गयासुद्दीन ने उन मलिकों तथा अमीरों को जिनको उसने इक्ताएँ दी थीं, सेना के लिए कुछ देने की सलाह दी। उसने कहा, "यह तुम्हारे हाथ की बात है कि अपने पास से सेना को कुछ दो या न दो, परन्तु सेना के लिये जो कुछ निश्चित् हो चुका है यदि उसमें से तुम कुछ आशा रखते हो तो फिर तुम्हें अमीरी व मलिकी का नाम नहीं लेना चाहिये।"

(3) उसने इक्तादारों के साथ कठोर व्यवहार करके उनसे खराज आदि का हिसाब पूर्णरूप से लेना शुरू किया। वे इक्तादार जो अपने इक्ता अथवा विलायत के खराज में से अत्यधिक धन अपने पास रख लेते थे उन्हें दण्डित करने के आदेश दिये। कभी-कभी अपहरण का धन उनके परिवारों वालों तक से वसूल किया जाता था।

अमीरों और दरबारियों को सन्तुष्ट करना—गयासुद्दीन ने नस्ल के आधार पर तुर्की अमीरों का सहयोग प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। उसने अलाई परिवार के लिये सुख से रहने की व्यवस्था की और वे अमीर जिन्होंने उसके विरुद्ध खुसरोखां का पक्ष लिया था उसने उनको उनके पदों पर रहने दिया जिससे कि वे सन्तुष्ट रहें। उसने अलाउद्दीन के वंश की लड़कियों के विवाह करवाये तथा उन लोगों को दण्डित किया जिन्होंने पिछले राजवंश की महिलाओं के साथ अत्याचार किये थे। गयासुद्दीन की नीति का यह उदार पक्ष था। इस उदार नीति के बाद भी जो अमीर उसके विरोधी रहे उनके साथ उसने कठोरता की नीति अपनाकर उनकी जागीरें व पद छीन लिये।

दानशीलता—गयासुद्दीन ने अपनी दान देने की प्रवृत्ति के आधार पर भी लोकप्रियता प्राप्त की। प्रत्येक सप्ताह वह जनता तथा विशेष व्यक्तियों को उनकी श्रेणी के अनुसार ईनाम देता था। परन्तु यहां पर भी वह सदैव ही मध्यम मार्ग को

नीति अपनाता था। वह न तो इतना अधिक देता था कि लोग अपव्यय करें और न ही इतना कम देता था कि उनकी आवश्यकतायें ही पूरी न हों। अपनी इस नीति के कारण उसे एक ऐसा वर्ग मिल सका जो उसके प्रति वफादार था तथा उसकी सहायता के लिए सदैव प्रस्तुत था।

शासन सम्बन्धी सुधार—गयासुद्दीन ने शासन के सम्बन्ध में उदार सिद्धान्तों को अपनाया। उसने अलाउद्दीन के समय के कठोर दण्डों को समाप्त कर दिया, परन्तु इसके बाद भी वे लोग जो सरकारी धन का गबन करते थे अथवा खराज में से अत्यधिक राशि स्वयं रख लिया करते थे अथवा चोरी आदि करते थे उनको कठोर दण्ड दिये जाते थे। उसने न्याय व्यवस्था को भी ठीक किया और यदि बरनी के विवरण का स्वीकार किया जावे तो उसके राज्यकाल में भेड़िया और बकरी एक ही घाट पानी पीते थे। उसने शरा के नियमों के पालन के लिए काजियों, मुफ्तियों और मुहतसिबों को विशेष आदेश दिये और स्वयं भी एक सच्चे मुसलमान की तरह (शासक होने पर भी) जीवन यापन करता रहा।

उसने डाक-विभाग में भी सुधार किये। डाक को शीघ्रता से पहुँचाने के लिये उसने प्रत्येक 3/4 मील पर डाक-चौकियां स्थापित कीं और इन चौकियों पर घुड़सवार और धावक (तेज चलने वाले) तैनात किये। इसी प्रकार से उसने सड़कें ठीक करायीं तथा पुलों और नहरों का निर्माण कराया जिससे यातायात में सुविधा हो गई।

सैनिक व्यवस्था—वित्त-व्यवस्था के बाद सुल्तान ने सैनिक व्यवस्था की ओर ध्यान दिया। अलाउद्दीन के समय का सैनिक संगठन समाप्त हो चुका था। गयासुद्दीन स्वयं एक सैनिक था और उस क्षेत्र का अनुभव होने के कारण वह सैनिकों की प्रवृत्ति को समझता था। इसलिए उसने उनके साथ पुत्रवत् व्यवहार करने की नीति अपनाकर उन्हें सन्तुष्ट रखने का यथासम्भव प्रयास किया। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि वह सैनिकों के अनुशासन में किसी प्रकार की ढील देना चाहता था। उसने अलाउद्दीन के समय में प्रचलित सैनिकों का हुलिया लिखने तथा घोड़ों को दाग लगाने के नियम को कठोरता से लागू किया। सैनिकों द्वारा कायरता दिखाने पर अथवा युद्ध-क्षेत्र में जाने के लिए बहानेबाजी करने पर वह उनको कठोर दण्ड देता था। प्रो निजामी का मत है कि दो वर्षों में ही उसने सेना को इतना संगठित कर लिया था कि वह उसको सुदूर दक्षिण के अभियानों पर भेजने की सोच सकता था।

हिन्दुओं के प्रति नीति—गयासुद्दीन ने हिन्दुओं के प्रति अपनी उदार नीति का परिचय नहीं दिया। हिन्दुओं के प्रति उसका दृष्टिकोण रहा कि उनको न तो इतना निर्धन बनाया जावे कि वे खेती-बाड़ी छोड़ जावें और न ही उनके पास इतना धन छोड़ा जावे कि वे विद्रोह करने को तत्पर हो जावें। सुल्तान की इस नीति के कारण यद्यपि हिन्दू पहले के शासन की तुलना में अधिक सम्पन्न हो गये परन्तु इसके

बाद भी जो निकटता सुल्तान तथा हिन्दुओं के बीच हो जानी चाहिए थी वह न पनप पाई। यद्यपि यह ठीक है कि उसने अन्य सुल्तानों की तरह हिन्दुओं के साथ नृशंसता का व्यवहार नहीं किया, परन्तु इसके साथ ही यह भी ठीक है कि उसने उनको उनके मान्य अधिकार भी नहीं दिये। उसने उन्हें उस स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया जो अलाउद्दीन के समय में थी, अन्तर केवल इतना था कि वो आर्थिक रूप में अलाउद्दीन की तरह उनका शोषण नहीं करता था।

साम्राज्य विस्तार

वारंगल पर आक्रमण व विजय—प्रशासन के गठन के बाद गयासुद्दीन ने विद्रोही प्रदेशों की ओर ध्यान दिया। तेलंगाना के शासक प्रताप रुद्रदेव ने स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिल्ली को भेजे जाने वाले वार्षिक खराज को बन्द कर दिया था। गयासुद्दीन ने अपने पुत्र उलूगखां को 1321 ई. में इस अभियान का नेतृत्व सौंपा। सम्भवतः सुल्तान का उद्देश्य उस प्रदेश पर अधिकार करना था। अलाउद्दीन की तरह वह वार्षिक खराज लेने से सन्तुष्ट नहीं था। उलूगखां महाराष्ट्र होता हुआ देवगिरि पहुंचा जहां उसने कुछ नये सैनिकों की भर्ती की। तत्पश्चात् वह बगैर किसी रोक-टोक के तैलंगाना की राजधानी वारंगल पहुंच गया और दुर्ग की घेराबन्दी कर दी।

इसामी के अनुसार लगभग छः मास तक घेरा चलता रहा और कोई सफलता हाथ न लगी। उलूगखां ने प्रदेश को नष्ट करने तथा दुर्ग की सेना की आवश्यकताएं पूरे करने वाले सभी साधनों को नष्ट कर दिया। दूसरी ओर रक्षक-सेना यह मानकर कि दिल्ली से इतनी दूर अधिक समय तक घेरा चलाना सम्भव न होगा, दुर्ग की रक्षा करती रही। परन्तु दुर्ग में रसद की व्यवस्था अधिक समय तक न कर सकने की स्थिति में प्रताप रुद्रदेव पुनः खराज चुकाने के लिए तत्पर हो गया, यदि उलूगखां घेरा उठाकर चला जावे। परन्तु उलूगखां केवल सत्ता स्वीकार कराने से सन्तुष्ट नहीं था, वह तो उस प्रदेश पर अधिकार जमाना चाहता था इसलिये संधि की बातचीत को ठुकरा दिया। उलूगखां द्वारा सन्धि को ठुकराने का यह सम्भावित कारण हो सकता है कि प्रताप रुद्रदेव ने इसी प्रकार का वायदा अलाउद्दीन से भी किया था, किन्तु बाद में खराज भेजना बन्द कर दिया था। दूसरे यदि वारंगल पर पूर्ण विजय प्राप्त किये बगैर सन्धि कर ली जाती तो दक्षिण के राज्य इसे अजेय मानकर पुनः विद्रोह करते रहते और फिर दक्षिण की ओर अभियान का अध्याय आरम्भ होता।

इतने अधिक समय तक घेरा चलने के कारण सुल्तान को उलूगखां की निष्ठा में सन्देह होने लगा। **इब्नबतूता** के अनुसार उसे यह सन्देह होने लगा कि उसका पुत्र विद्रोह की योजना बना रहा है। परन्तु **बरनी और इसामी** इसकी पुष्टि नहीं करते हैं, यद्यपि दोनों ही को उलूगखां से कोई सहानुभूति नहीं थी। इब्नबतूता

का कहना है कि उलूगखां ने जानबूझकर अपने मित्र उबेद द्वारा यह अफवाह फैलवा दी कि सुल्तान की मृत्यु हो चुकी है जिससे सेना और सरदार उसके साथ हो जावें। परन्तु इसका परिणाम उल्टा हुआ। उसकी सेना के कुछ वरिष्ठ अधिकारियों ने प्रताप रुद्रदेव से समझौता कर लिया और ऐसी स्थिति में उलूगखां सेना के साथ दिल्ली की ओर चला। जब वह देवगिरि पहुंचा तो उसके छोटे भाई महमूदखां ने जो वहां का राज्यपाल था, विद्रोहियों को बन्दी बना लिया तथा उन्हें दिल्ली भेज दिया जहां उन्हें कठोर दण्ड दिया गया। दिल्ली में दूसरी सेना भर्ती करके उलूगखां के पास भेजी गई तथा उसे आदेश दिया गया कि वारंगल की विजय पूरी करे। इस दूसरी सेना के भेजने से यह सिद्ध होता है कि इब्नबतूता का आरोप गलत था और गयासुद्दीन को उसकी स्वामिभक्ति में कोई सन्देह नहीं था। इस बार उलूगखां ने दिल्ली के साथ संचार व्यवस्था बनाये रखने की उचित व्यवस्था की।

प्रताप रुद्रदेव इस आकस्मिक आक्रमण से स्तब्ध रह गया। परन्तु फिर भी अपनी पुरानी नीति के अनुसार वह इस बात का प्रयत्न करने लगा कि शत्रु को थका कर वापस लौटाने के लिए बाध्य करे। इस बार भी घेरा पांच महीने तक चलता रहा। जब दुर्ग में रसद की समाप्ति होने लगी तब राय ने आत्मसमर्पण का निश्चय किया। उसने उलूगखां के पास दूत भेजकर सुरक्षा की याचना की और दुर्ग छोड़ने का प्रस्ताव रखा। उलूगखां ने दुर्ग पर अधिकार कर लिया और कदरखां के संरक्षण में उसे उसके सम्बन्धियों तथा आश्रितों सहित दिल्ली भेज दिया गया। डा. बी. पी. सक्सेना के अनुसार या तो राय की मृत्यु कारागार में हुई अथवा उसने आत्महत्या कर ली। डा. आर. सी. मजूमदार का मत है कि राय को छोड़ दिया गया था और उसने या तो एक साधारण अधीन शासक के रूप में अपना जीवन समाप्त किया अथवा एक स्वतन्त्र शासक के रूप में उसकी मृत्यु हुई।

गुट्टी, कुन्त तथा माबार की विजयें वारंगल अभियान के पश्चात् हुई। गुट्टी के शासक गनीदेव ने उलूगखां के सामने समर्पण किया और फिर मदुरा पर भी अधिकार कर लिया गया।

तैलंगाना को दिल्ली राज्य में मिला लिया गया और उसकी राजधानी वारंगल का नाम बदल कर सुल्तानपुर रखा गया। तैलंगाना के राज्य को अनेक प्रशासनिक इकाइयों में बांट दिया गया तथा मोटे रूप से हिन्दू अधिकारियों को उनके पद पर रहने दिया। उलूग खां ने अपनी उदार नीति से सुल्तानों की नीति के विरुद्ध मन्दिर आदि तोड़ने की नीति नहीं अपनाई। इतना होते हुये भी तैलंगाना पर दिल्ली का अधिकार डांवाडोल ही रहा।

जाजनगर पर आक्रमण—तैलंगाना के सफल अभियान के बाद 1324 ई में उलूगखां ने जाजनगर (उड़ीसा) पर आक्रमण किया। यह अभियान वहां के शासक भानुदेव द्वितीय को दण्ड देने के लिए किया गया था, क्योंकि उसने तैलंगाना

के शासक प्रताप रुद्रदेव की सहायता की थी तथा गोंडवाना से संधि की थी। राय ने उलूगखां का विरोध किया और अन्त में पराजित हुआ। उलूगखां ने हाथियों के अतिरिक्त लूट में अत्यधिक धन प्राप्त किया जो दिल्ली भेज दिया गया। गयासुद्दीन ने इस विजय के लिए उलूगखां को सम्मानित किया।

मंगोल आक्रमण—दक्षिण अभियान पूरी तरह से समाप्त भी नहीं हो पाया था कि मंगोलों ने शीरमुगल के नेतृत्व में उत्तरी-पश्चिमी सीमा के द्वार खटखटाये। समाना के राज्यपाल, गुरशास्प, ने सुल्तान को सूचित किया कि मंगोलों की दो सेनायें सिन्ध नदी पार कर आगे बढ़ रही हैं। सुल्तान ने तुरन्त ही मलिक शादी, नायब वजीर के नेतृत्व में समाना की ओर सेना भेजी जिसने मंगोलों को पराजित किया तथा अनेक को बन्दी बना लिया।

गुजरात-अभियान—गुजरात की स्थिति अलाउद्दीन की मृत्यु के समय से ही डावांडोल थी। गुजरात केवल नाम-मात्र के लिए ही दिल्ली सल्तनत का अंग था। गयासुद्दीन के समय गुजरात में विद्रोह हुआ परन्तु समकालीन साधनों से न तो इसके नेता के नाम की ही जानकारी मिल पाई है और न ही स्थान की। केवल इसामी इस ओर संकेत करता है। विद्रोह होते ही सुल्तान ने मलिक शादी को इसके विरुद्ध भेजा। विद्रोही दुर्ग में छिपे हुए थे। कुछ समय तक दोनों के बीच छुटपुट झड़पें हुईं, परन्तु बाद में दुर्ग वालों ने धोखे से मलिक शादी की हत्या कर दी। दुर्ग वालों ने इसके लिए छद्म वेश में गायकों तथा नृत्य करने वालों को भेजा था।

बंगाल-अभियान—बंगाल का दूरस्थ प्रदेश सदैव से ही सुल्तानों के लिए सरदर्द रहा है। बलबन ने बड़ी कठिनाई से इस पर अधिकार किया था। बलबन के पश्चात् किसी सुल्तान ने बंगाल पर अधिकार करने का प्रयत्न नहीं किया। अतः बंगाल एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में बना रहा। गयासुद्दीन के समय वहां तीन भाइयों में सत्ता के लिए संघर्ष चल रहा था। बंगाल के शासक गयासुद्दीन बहादुर ने अपने दोनों भाइयों को हराकर बंगाल पर अपना अधिकार कर लिया था। सबसे छोटे भाई नासिरुद्दीन ने गयासुद्दीन बहादुर के विरोध में सुल्तान से सहायता मांगी। सुल्तान ने बंगाल में हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर देखा। उसने स्वयं अभियान का नेतृत्व सम्भाला। अपने पीछे शासन की व्यवस्था के लिए उसने तीन व्यक्तियों—उलूगखां, शाहीन व अहमद अयाज की एक राजसी-परिषद बना दी।

सुल्तान की सेनाओं ने गयासुद्दीन बहादुर को पराजित किया तथा उसे बन्दी बना लिया। उसके स्थान पर नासिरुद्दीन को लखनौती का शासक बनाया गया। उसने दिल्ली की अधीनता स्वीकार की। सतगांव तथा सुनारगांव लखनौती से अलग कर तातारखां के अधीन रखे गये। इसामी के अनुसार बंगाल से लौटते समय सुल्तान ने तिरहुत (मिथिला) पर आक्रमण किया। राजा हरसिंहदेव जंगलों में भाग गया। उसका पीछा करते हुए सुल्तान की सेना भी जंगल में भटक गई। अन्त में तिरहुत पर अधिकार कर लिया गया और इसे अहमद खां के अधिकार में रक्खा गया। सुल्तान इसके बाद दिल्ली की ओर लौटा।

अफगानपुर की दुर्घटना व गयासुद्दीन की मृत्यु—गयासुद्दीन जब बंगाल और तिरहुत के अभियान से लौटा तो अफगानपुर में एक लकड़ी का मण्डप बनाकर उसके स्वागत की तैयारी की जाने लगी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि सुल्तान का नगर में प्रवेश इस समय शुभ नहीं है इसलिये शुभ घड़ी आने तक वह यहीं इस मण्डप में विश्राम करे। शिष्टाचार के बाद भोजन कराया गया। बरनी ने लिखा है कि जब मलिक व अमीर अपने हाथ धोने के लिए बाहर आये तो विपत्ति की बिजली आकाश से पृथ्वी के लोगों पर गिरी। सुल्तान जिस मण्डप के नीचे बैठा था उसकी छत अकस्मात गिर पड़ी और उसी के साथ सुल्तान तथा पाँच अथवा छः व्यक्ति कुचल कर मर गये।

इस घटना को लेकर काफी वाद विवाद है और यह शंका की जाती है कि उलूगखाँ का अपने पिता की हत्या में हाथ था। बरनी का विवरण इतना संक्षिप्त है कि उससे किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। इब्न बतूता उलूगखाँ को दोषी मानता है। उसका तर्क है कि एक बार बहराम आइबा ने गाजी मलिक को सम्बोधित करते हुये कहा था कि यदि वह ताज पहनने को तैयार नहीं है तो उसके पुत्र का चयन किया जायेगा। बतूता का इससे अर्थ है कि पिता और पुत्र में पहले से ही एक दूसरे के प्रति अविश्वास था। इसकी पुष्टि वह उलूगखाँ के तेलंगाना के अभियान से करता है जब कि उस पर पिता के विरुद्ध विद्रोही होने की शंका की गई थी। वह यह सिद्ध करना चाहता है कि उलूगखाँ में प्रारम्भ से ही अपने पिता के प्रति विश्वासघात का दुर्गुण विद्यमान था। बतूता यह भी कहता है कि शेख निजामुद्दीन औलिया ने समाधि की अवस्था में उसे सुल्तान बनने का आशीर्वाद दिया था क्योंकि उसने शेख की मर्जी को काफी दिया था। इसी के साथ यह भी कहा जाता है शेख ने कहा था कि 'हनुज दिल्ली दूरअस्त' अर्थात् दिल्ली अभी दूर है। इससे यह आशय निकलता है कि गयासुद्दीन जीवित दिल्ली नहीं लौट पायेगा। वह यह भी बताता है कि सुल्तान उलूगखाँ से रुष्ट था क्योंकि उसने अत्यधिक संख्या में दास खरीदे थे, परन्तु इन सब आरोपों के बाद बतूता यह स्पष्ट कहता है कि मण्डप का निर्माण सुल्तान के आदेशानुसार किया गया था।

इसामी के विवरण के अनुसार मण्डप के निर्माण में उलूगखाँ ने पहल की थी जबकि बतूता का विवरण इसके बिलकुल विपरीत है। इसामी लिखता है कि इस मण्डप का निर्माण उलूगखाँ ने प्रलोभन देकर अहमद अयाज को दिया था और सफलता से काम करने के कारण ही उलूगखाँ ने उसे सुल्तान बनने पर अपना वजीर बनाया था जिससे उलूगखाँ की संदिग्धता सिद्ध होती है। इसामी यह भी लिखता है कि सुल्तान ने अभियान से लौटने पर उलूगखाँ का सद्भावना से आलिंगन नहीं किया था, क्योंकि उसे बंगाल और तिरहुत में उलूगखाँ के प्रतिकूल अनेक समाचार मिले थे।

बतूता और इसामी के विवरण से ऐसा अनुभव होता है कि गयासुद्दीन की मृत्यु में उलूगखां का सक्रिय हाथ था।

इब्न बतूता और इसामी के विवरण को स्वीकार करने के पहले इनका परीक्षण करना आवश्यक है। सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि बतूता ने घटना के घटने के आठ साल बाद अपना विवरण लिखा और स्पष्ट है कि उसने अपना विवरण सुनीसुनाई बातों पर ही आधारित किया होगा क्योंकि वह स्वयं उस समय भारत में नहीं था। इसामी तो स्पष्ट स्वीकार करता है कि उसने सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही घटना का विवरण प्रस्तुत किया है। दोनों ही ने क्योंकि सुनी-सुनाई बातों पर विवरण लिखा इसलिये उनका दोषारोपण कम वजनी हो जाता है। इब्न बतूता ने अपने विवरण का आधार शेख रुकनुद्दीन को बताया है जो एक धार्मिक व्यक्ति या तथा मुहम्मद तुगलक (उलूगखां) से उसके सम्बन्ध अच्छे थे। शेख रुकनुद्दीन ने इस घटना के सम्बन्ध में एक विदेशी को अपना विश्वासपात्र बनाया, यह स्वयं में आश्चर्य है। अधिक सम्भावना यह है कि बतूता ने अपने विवरण को प्रमाणिकता देने के लिये एक धर्म-निष्ठ व्यक्ति का नाम जोड़ दिया हो।

इब्न बतूता के अनुसार सुल्तान के आदेश पर ही जंगी हाथी उसके सामने दौड़ाने का आदेश दिया गया था। इसामी इसके विरुद्ध अनेक हाथियों की दौड़ के कम्पन के कारण मण्डप के गिरने की बात कहता है। इसामी उलूगखां पर हाथी दौड़ाने का आरोप नहीं लगाता यद्यपि वह यह आरोप लगाकर उलूगखां को और अधिक दोषी ठहरा सकता था। उसके अनुसार हाथियों की दौड़ सुल्तान के आदेश पर ही हुई थी। इसामी के द्वारा उलूगखां पर आरोप न लगाने से उलूगखां का पक्ष और अधिक मजबूत हो जाता है।

इसके बाद भी तुगलक आन्दोलन से लेकर मुहम्मद तुगलक के राज्यारोहण तक की समस्त घटनाओं का अध्ययन करें तो सम्भवतः हमारा निष्कर्ष अधिक ठोस हो सकेगा।

नासिरुद्दीन खुसरोखां के अमीर-ए-आखूर के रूप में उलूगखां अपने को ठीक रूप से संयोजित नहीं कर सका और इसलिये अपने पिता के पास दीपालपुर चला गया। उसके बाद उसने युद्ध में सक्रिय भाग लिया जिससे प्रसन्न होकर उसके पिता ने उसे उलूगखां की उपाधि दी। तैलंगाना के दोनों अभियानों का नेतृत्व उसे सौंपा गया। यदि उसकी स्वामिभक्ति में सुल्तान को शंका होती तो उसे दक्षिण से वापस बुला लिया जाता। अन्त में बंगाल के लिये कूच करते समय सुल्तान ने उसे राजसी परिषद में सम्मिलित किया। यदि सुल्तान को उलूगखां पर किसी प्रकार की शंका होती तो वो उसे उस परिषद में न रखता। इसके अतिरिक्त वह उत्तराधिकारी घोषित कर ही दिया गया था और इस लिये इस दिशा में उसे कोई चिन्ता न थी।

इन सब के अतिरिक्त सुल्तान गयासुद्दीन की हत्या के बारे में जिस बात पर सबसे अधिक बल दिया जाता है वह यह है कि सुल्तान तथा शेख निजामुद्दीन औलिया में अत्यधिक कटुता थी और क्योंकि शेख और उलूगखाँ के सम्बन्ध मधुर थे इसलिये सुल्तान और उसके पुत्र के सम्बन्ध अवश्य अप्रिय रहे होंगे। परन्तु ये अप्रिय सम्बन्ध सुल्तान के राज्यारोहण के समय नहीं थे क्योंकि सब ही समकालीन लेखक यह मानते हैं कि उस समय उलूगखाँ अपने पिता का सहायक था। बंगाल के अभियान के समय शेख और उलूगखाँ में घनिष्ठता बढ़ी इस पर विश्वास करना सम्भव नहीं है। इसके बाद भी यह स्वीकार करना कि चिश्ती सिलसिला का शेख धर्महीन राजनीति में हस्तक्षेप करेगा अथवा ऐसा सोचना अनुचित होगा क्योंकि यह सिलसिला राजनीति के प्रतिकूल था और सुल्तानों आदि से मिलना अथवा उनको अपने खानकाह में विशेष सम्मान दिखाने के विरुद्ध था।

प्रो. निजामी उलूगखाँ को पितृ-हत्या में निर्दोष मानते हैं। उनके अनुसार इसके तीन कारण हैं—(1) राजसत्ता ग्रहण करने के बाद सुल्तान व उसकी माता के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण बने रहे। यदि उलूगखाँ का इसमें कोई हाथ होता तो इन सम्बन्धों का स्नेहपूर्ण बना रहना सम्भव न होता। (2) उसके उत्तराधिकार को न तो उसके किसी सम्बन्धी ने अथवा किसी अमीर ने ही चुनौती दी। हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं है जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि मुहम्मद बिन तुगलक ने अमीरों को इनाम आदि देकर उन्हें अपनी ओर मिला लिया हो। यदि उसका इसमें कोई हाथ होता तो स्वाभाविक रूप से किसी न किसी पक्ष के द्वारा उस पर गद्दी हथियाने का आरोप लगाया जाता। (3) उलूगखाँ स्वभावतः अपने परिवार के सदस्यों के प्रति दयालु और स्नेहपूर्ण था।

इस प्रकार हमारे पास कोई ऐसे प्रमाण नहीं हैं जिनके आधार पर पितृ-हत्या में उलूगखाँ को दोषी ठहराया जा सके।

मूल्यांकन—गयासुद्दीन तुगलक ने एक साधारण सैनिक की स्थिति से उठकर सुल्तान का पद प्राप्त किया लेकिन इसके बाद भी न तो उसने कभी मानसिक सन्तुलन ही खोया और न ही उसका जीवन असमर्यादित ही हुआ। प्रारम्भ से अन्त तक उसके जीवन के मूल्य एक जैसे ही बने रहे और सुल्तान होने के बाद भी उनमें कोई परिवर्तन न आ पाया। स्त्री और शराब के अभिशाप से वह मुक्त था और उसने यह प्रयत्न किया कि शराब का दुर्व्यसन समाप्त हो जावे। गयासुद्दीन धर्म भीरु और शान्ति प्रिय मुसलमान था। वह इस्लाम के नियमों का पालन करता था तथा धार्मिक व्यक्तियों का सम्मान करता था। हिन्दुओं के प्रति वह असहिष्णु भी रहा परन्तु फिर भी उसने नृशंस व्यवहार नहीं किया। सैनिक अभियानों के समय वह हिन्दुओं के मन्दिर आदि को नष्ट करने से भी नहीं चूका।

गयासुद्दीन की सफलता उसके एक सफल शासक तथा योग्य सेनापति होने में निहित है। उसने अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी उसे ठीक किया और इस समस्त कार्य में उसने मध्यम मार्ग की संयमित नीति अपनाई। एक ओर उसने सरकारी कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की तथा लगान अधिकारियों को पूरी सुविधायें पुनः दी तो दूसरी ओर उसने भ्रष्टाचार को उखाड़ फेंकने का श्लाघनीय प्रयास भी किया। किसानों को सरकारी अधिकारियों के नियम-व्यवहार से सुरक्षित करने के लिये नियम बनाये तो साथ ही साथ कृषि के प्रोत्साहन के लिये उसने नहरों और पुलों का भी निर्माण करवाया। सैनिक के रूप में भी उसने जिस विजय-नीति को अपनाया वह पूरी तरह से सफल रही। इस प्रकार अपनी विजयों और सफल प्रशासन में उसने सुल्तान और शासन की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित किया। वह न केवल नई नीतियों और सिद्धान्तों को जन्म देने वाला था, अपितु एक व्यवस्थापक व संगठनकर्ता के रूप में भी उसका महत्वपूर्ण स्थान था। बरनी ने लिखा है कि साम्राज्य के सभी शहरों में अपने शासन को स्थापित करने के लिये वह सभी कुछ जो सुल्तान अलाउद्दीन ने इतने अधिक रक्तपात, कुटिल-नीति आदि से किया वह उसने बगैर किसी कुटिलता, कठोरता अथवा रक्तपात से प्राप्त कर लिया।

मुहम्मद-बिन-तुगलक (1325-1351 ई.)

राज्यारोहण—गयासुद्दीन तुगलक की मृत्यु के तीन दिन बाद फरवरी, 1325 ई. में उलूगखाँ (जूनाखाँ) मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से तुगलकाबाद में सुल्तान बना। साधारणतया उसे मुहम्मद तुगलक के नाम से ही जाना जाता है। 40 दिन तक तुगलकाबाद में रहने के बाद उसने दिल्ली में प्रवेश किया। सभी वर्गों ने उसका स्वागत किया और उसने भी उदारतापूर्वक अपनी प्रजा में सोने और चांदी के टंके लुटाये तथा अमीरों में महत्वपूर्ण पदों को बांटा। मुहम्मद तुगलक का निर्विरोध गद्दी प्राप्त करना एक महत्वपूर्ण बात थी क्योंकि उसके तीन जीवित भाई थे और अपने पिता की मृत्यु में उसकी भूमिका संदिग्ध थी।

मध्य-युग के शासकों में मुहम्मद तुगलक का चरित्र और कार्य अत्यन्त विवादास्पद हैं। इसका कारण यह नहीं कि उसके सम्बन्ध में कुछ लिखा नहीं गया अपितु अत्यधिक लिखा गया और इस अति ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी। उसके समकालीन इतिहासकारों में इसामी, बरनी व इब्न-बतूता जैसे मौलिक विद्वान थे जिन्होंने विस्तृत विवरण छोड़ा है, परन्तु उसके बाद भी उसके विभिन्न कार्यों की तिथियां अथवा उनका क्रम ही निश्चित हो पाया है, उद्देश्यों की बात तो अलग है। बरनी ने जो कुछ भी अपनी स्मृति और दुर्दिनों में लिखा उससे स्थिति और भी जटिल हो गई।

मुहम्मद तुगलक का चरित्र बड़ा ही रोचक है और उससे भी अधिक आकर्षक उसकी विभिन्न योजनाओं की सफलता व असफलता है जिसने समकालीन

इतिहासकारों को आश्चर्य में डाल दिया। अपनी विद्वता में वह समस्त सुल्तानों की तुलना में अद्वितीय था और विषयों पर एकाधिकार उसकी विशेषता थी। अपने पिता से उसने एक वृहत साम्राज्य प्राप्त किया था और अपने पौरुष से उसमें वृद्धि भी की थी परन्तु मात्र दस वर्षों में वह साम्राज्य खण्डित हो गया और दिल्ली की सीमाएँ पहले की अपेक्षा कहीं अधिक सिकुड़ गईं। अपने पिता से भरा-पूरा खजाना पाने के बाद भी उसे आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। पूर्व-सुल्तानों के संकुचित दृष्टिकोण से ऊपर उठकर उसने धर्म-भेद को अलग रख केवल योग्यता को नियुक्तियों की कसौटी बनाया और धार्मिक मान्यताओं को राजकीय क्षेत्र में न घुसने दिया, परन्तु इन सब रचनात्मक गुणों के होते हुये भी जन-साधारण उससे अप्रसन्तुष्ट हो रहा, उसने उसके विरुद्ध लगातार विद्रोह किये और सुल्तान इनमें इतनी बुरी तरह उलझ गया कि अन्त में एक असफल करार दे दिया गया।

राजत्व सिद्धान्त व धार्मिक विचार—मुहम्मद तुगलक की राजनीतिक मान्यताएँ व धार्मिक विचार उस युग से ऊपर थीं और इन्हीं के आधार पर उसकी नीतियों और परियोजनाओं की भावना स्वाभाविक है।

(1) सुल्तान असाधारण रूप से सूझ-बूझ वाले व्यक्तित्व का स्वामी था और इसलिये वह परम्परागत और रूढ़िवादी समाधान से सन्तुष्ट न था अपितु वह ऐसे दृष्टिकोण से घृणा करता था।

(2) राजनीतिक दृष्टिकोण से वह भारत में राजनीतिक और प्रशासनिक एकता स्थापित करना चाहता था। उत्तर तथा दक्षिण की पृथकता का विचार उसे अमान्य था। सम्भवतः सम्राट अशोक के बाद वह पहला शासक था जो प्राकृतिक सीमाओं से परे उत्तर और दक्षिण की एक इकाई की कल्पना कर सकता था। उसका दक्षिण में राजधानी बनाने का प्रयोग इसी का मूर्तरूप था जिससे कि सांस्कृतिक रूपांतर तेजी से किया जा सके। दिल्ली और दौलताबाद (देवगिरि) भौतिक रूप में एक ही राज्य के रूप में उभरने लगे और रही-सही दूरी को जो शताब्दियों से मकीर्णता पर टिकी हुई थी व्यापारियों, विद्वानों, कवियों और रहस्यवादियों ने पाट दी।

(3) सुल्तान बनते समय मुहम्मद तुगलक ने मध्य-एशिया के राजनीतिक जीवन में शून्यता अनुभव की और उसने इस शून्यता को समाप्त करने का विचार किया। खुरासान की विजय योजना जो उसने बनाई वह इस 'महान साम्राज्य के युग' की पृष्ठ-भूमि थी। उसकी महत्वाकांक्षाओं का वर्णन करते हुये बरनी[1] ने लिखा है कि, "समस्त संसार उसके राजकोष का कर दाता बन जाता और संसार के लोग उसके आदेशों के अधीन हो जाते और उसके नाम का सिक्का सम्पूर्ण वसं

1. हबीब व निजामी, दिल्ली सल्तनत, पृ 423

हुये संसार में प्रचलित हो जाता तो भी यदि कोई कहता कि भूमि का कुछ भाग किसी द्वीप पर या एक कमरे के बराबर कुछ भाग किसी देश में उसके नियन्त्रण में नहीं है तो उनके नदी-समान हृदय तथा विश्व-विजयी आत्मा को उस समय तक शांति नहीं मिलती जब तक वह द्वीप या वह छोटे कमरे बराबर स्थान उसके अधिकार में न आ जाता।" वह सिकन्दर के साथ ही साथ सुलेमान की प्रतिष्ठा प्राप्त करने का इच्छुक था। उसका विश्वास था कि सुल्तान बनना ईश्वर की इच्छा है इसीलिये उसने अपने सिक्कों पर 'अल सुल्तान जिल्ली अल्लाह' (सुल्तान ईश्वर की छाया है) अंकित कराया था। वह प्रजा से अपनी आज्ञाओं को पालन करवाना अपना अधिकार मानता था और उसमें किसी प्रकार की अवज्ञा को स्वीकार करने के लिये तत्पर न था। उसने बरनी से कहा था कि, "मैं सन्देह तथा विद्रोह, अव्यवस्था और षड्यन्त्र की आशंका के आधार पर कठोर दण्ड देता हूं। मैं आज्ञा की लेशमात्र भी अवज्ञा होने पर उन्हें मृत्यु-दण्ड देता हूं और मैं तब तक इसी प्रकार कठोर दण्ड देता रहूंगा जब तक या तो मैं स्वयं नष्ट नहीं हो जाता अथवा प्रजा ठीक नहीं हो जाती तथा विद्रोह और अवज्ञा नहीं छोड़ देती है।"

(4) भारत की राजनीतिक व सांस्कृतिक पृथकता का विचार उसे खलता था। वह बाहरी संसार के साथ राजनयिक व आर्थिक सम्पर्कों में विश्वास करता था। इस आर्थिक खाई को पाटने के लिये उसने 1340-41 में अनेक करों में छूट दी। उसकी राजनीतिक दृष्टि भारत की सीमाओं से निकलकर मिस्र और चीन तक को अपने में लपेटे हुये थी। प्रो. हबीब व निजामी का विचार है कि सुल्तान के उदय के साथ ही बाहरी विश्व के साथ भारत के कूटनीतिक सम्बन्धों के क्षेत्र में एक नये चरण का सूत्रपात हुआ और एशिया के विभिन्न भागों से प्रतिनिधियों का आना-जाना आरम्भ हुआ। ईराक, ख्वारजम और चीन के शिष्टमण्डल उसके इस दृष्टिकोण की पूर्ति करते हैं। सम्भवतः समस्त सल्तनत काल में विभिन्न देशों के शिष्टमण्डलों का भारत आना उसकी अपने राज्यकाल की विशेषता है।

(5) धर्म के क्षेत्र में भी सुल्तान के विचार स्वतन्त्र व मौलिक थे। विवेक उसकी कुंजी थी और वह केवल उन्हीं विचारों को मानने के लिये तत्पर था जो बुद्धि और तर्क की कसौटी पर खरे उतरते हों। उसने उलेमा-वर्ग को शासन में हस्तक्षेप नहीं करने दिया और क्योंकि उलेमा-वर्ग इसे अपना अधिकार मानता था इसलिये उनका रुष्ट हो जाना स्वाभाविक था। जियाउद्दीन बरनी इसी उलेमा-वर्ग का सदस्य था जो राजनीति में प्रतिक्रियावादी और धर्म में रूढ़िवादी था। बरनी सुल्तान के राजनीति में नव-प्रवर्तक व धर्म में प्रगतिवादी विचारों को पचाने में असमर्थ था, इसलिये उसने सुल्तान पर अनेक दोषारोपण किये। उसने सुल्तान पर पैगम्बर की परम्पराओं व 'हदीस' में विश्वास खो बैठने का आरोप लगाया है, परन्तु इब्नबतूता यह स्पष्ट कहता है कि सुल्तान निरन्तर लोगों को नमाज नियमित

रूप से पढ़ने के प्रति सचेत करता रहता था और इसका उल्लंघन करने वालों को दण्डित करता था। सुल्तान धर्म-सम्बन्धी विवाद न केवल उलेमाओं से अपितु गैर-मुस्लिम विद्वानों और जैन साधुओं से भी करता था। जैन साधु जिनप्रभा सूरी जैसे विद्वानों को उसका संरक्षण प्राप्त था। उसकी वैचारिक-स्वतन्त्रता इतनी अधिक थी कि वह जैन साधुओं के निकटतम सम्पर्क में रहने के बाद भी उनके अहिंसा सिद्धान्त से अछूता रहा।

(6) सुल्तान नमाज और इस्लाम के नियमों को नियमपूर्वक पूरा करता था, परन्तु साथ ही साथ वह दूसरे धर्मों के प्रति भी पूर्ण सहिष्णु था। वह दिल्ली का पहला सुल्तान था जो हिन्दुओं के होली के त्यौहार में भाग लेता था। अनेक योगी अपने मुस्लिम अनुयायियों के साथ उसके साम्राज्य में घूमते थे, परन्तु उसने इस पर कभी आपत्ति नहीं उठाई। विविध-जातीय अथवा विरोधी धार्मिक समूह और व्यक्ति बड़ी संख्या में उसके राज्य में स्वतन्त्रतापूर्वक इसीलिये विचरण कर सके तथा पनप पाये कि सुल्तान ने बौद्धिक स्वतन्त्रता का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। ऐसा कहा जाता है कि उसने पालीताना के शत्रुंजय तथा गिरनार के मन्दिरों में गया और पालीताना के मन्दिर में उसने जैन संघ के नेता के उपयुक्त भक्ति के कुछ विधान पूरे किये। उसने एक नई बस्ती 'बस्ती उपश्रय' (साधुओं के ठहरने के लिये धर्मशाला) के निर्माण के लिए भी आदेश दिये। सम्भवतः सुल्तान की इसी धार्मिक भावना ने इसामी जैसे कट्टर व्यक्ति को उसको विधर्मी कहने के लिये प्रेरित किया।

(7) मुहम्मद तुगलक राजकीय सेवाओं के लिये योग्यता को एकमात्र कसौटी स्वीकार करता था। इसीलिये उसने निम्न वर्ग के लोगों को यदि वे प्रतिभा-वान हों तो शासन के उच्च पदों पर नियुक्त करने की नीति अपनाई। बरनी जिसे निम्न वर्ग के लोगों से अत्यधिक घृणा थी लिखता है कि, 'सुल्तान इस प्रकार बात करता था जैसे उसे अकुलीनों से भी ज्यादा मूर्तियों से घृणा थी। फिर भी मैंने उसे एक गवैये के पुत्र नजबा की इतनी पदोन्नति इस सीमा तक देखी है कि वह अनेक मलिकों से ऊंचा उठ गया।" बरनी को आश्चर्य था कि सुल्तान ने नाई, बावर्ची और जुलाहे के पुत्रों को राज्यपाल के पद तक नियुक्त किया है जो कि केवल बड़े-बड़े खानों और वजीरों के लिये सुरक्षित था। सुल्तान ने इन निम्न कुल के लोगों को जो सम्मानित पद दिये थे वे स्वयं बरनी के अनुसार उन व्यक्तियों को दिये गये थे जो शिक्षित और कुशल थे। इसीलिये बरनी लिखता है कि अकुलीन व्यक्तियों को लिखने पढ़ने का अधिकार नहीं मिलना चाहिये। सुल्तान की इस नीति ने उन गिने-चुने कुलीन परिवारों के हितों पर प्रहार किया जो ये मानते थे कि राज्य के समस्त उच्च और सम्मानित पदों के केवल वे ही एकमात्र अधिकारी हैं।

(8) सुल्तान का विश्वास था कि प्रशासन को विस्तृत आधार देकर ही वह अपनी सत्ता की नींव मजबूत बना सकता है। किसी वर्ग-विशेष पर सत्ता को

आधारित करना दूसरे वर्गों को अपने विरुद्ध निमन्त्रित करने के समान था और फिर वर्ग-विशेष स्वयं को शासन के लिये अवश्यंभावी मानने लगता था। फलस्वरूप जितने अधिक लोगों को शासन में भाग लेने दिया जावे शासन उतना ही दृढ़ होगा। इसका अर्थ था कि यदि मुस्लिम-वर्ग को प्रशासन में उच्च पद दिये जावें तो उसी के साथ समान रूप से हिन्दुओं को भी उच्च पदों पर नियुक्त किया जावे। इस नीति के आधार पर उसने हिन्दुओं को उच्च पदों पर नियुक्त किया। उसकी नीति यहीं तक सीमित न थी अपितु उसने हिन्दू विद्वानों को संरक्षण दिया। प्रो. निजामी ने शिहाबुद्दीन अल उमरी के कथन के आधार पर लिखा है कि, "सुल्तान के दरबार में एक हजार अरबी, फारसी तथा हिंदी के कवि थे।"

इस प्रकार मुहम्मद तुगलक दिल्ली का प्रथम सुल्तान था जिसने अपने समय से ऊपर उठकर उन विचारों को क्रियान्वित करने का प्रयास किया जो निश्चय रूप से प्रगतिवादी थे, परन्तु दुर्भाग्य से समकालीन इतिहासकार पूर्णतया विरोधी और प्रतिक्रियावादी विचारों के थे और ऐसी स्थिति में उनके लिये सम्भव भी नहीं था कि वे सुल्तान के मौलिक विचारों को उचित रूप में रख सकें। इसीलिये उन्होंने सुल्तान की भरपूर निन्दा की है। बरनी के 'इल्म-ए-हदीस' व 'इल्म-ए-तावारीख' की समानता के विचार को उसकी रूढ़िवादिता ने निगल लिया।

सुल्तान की नीतियाँ व प्रयोग—सुल्तान नवीन अन्वेषण करने वाला एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसने राजस्व व्यवस्था में सुधार करने के लिये सबसे पहले सूबों की आय व व्यय का हिसाब रखने के लिये एक रजिस्टर तैयार करवाया। उसने सूबेदारों को आदेश दिया कि वे नियमित रूप से अपने-अपने सूबों का हिसाब भेजा करें। उसका उद्देश्य था कि साम्राज्य के सभी प्रदेशों में लगान व्यवस्था एक ही समान हो और कोई भी गाँव लगान देने से मुक्त न रह जावे। समकालीन विवरण से यह जानकारी नहीं मिल पाई है कि सुल्तान ने इस रजिस्टर से क्या लाभ उठाया तथा विभिन्न श्रेणी की भूमियों के उत्पादन व विभिन्न स्थानों पर प्रचलित मूल्यों का ध्यान किस प्रकार रखा था।

अपने शासन के आरम्भिक वर्षों में सुल्तान ने दोआब के प्रदेश में कर बढ़ाने की योजना बनाई। इसका सम्भवतः कारण केवल यही था कि वह राजकोष की आय बढ़ाना चाहता था और दोआब का प्रदेश केन्द्र के लिये सुरक्षित था। परन्तु इस प्रयोग के वर्णन में तिथियां नहीं मिल पाई हैं और केवल पूर्वापर (Suquence) के आधार पर ही इसकी जानकारी सम्भव है। बरनी[1] ने इसका विवरण देते हुये लिखा है कि, "सुल्तान की पहली योजना जिसके फलस्वरूप प्रजा का विनाश हुआ तथा राज्य में अशान्ति हुई यह थी कि सुल्तान मुहम्मद के हृदय में यह बात आई

---

1. एस. ए. ए. रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग 1, पृ.40-41

कि दोआब के मध्य की विलायत का खराज एक के स्थान पर दस और बीस लेना चाहिये। सुल्तान की उपर्युक्त योजना को कार्यान्वित कराने में कुछ और भी कठोर अबवाब (अतिरिक्त कर) जारी कर दिये गये। कुछ नवीन कर भी लागू किये गये, जिनके फलस्वरूप प्रजा की कमर टूट गई। उन अबवाबों को इस कठोरता से वसूल किया गया कि निस्सहाय तथा निर्धन प्रजा का पूर्णतया विनाश हो गया। धनी प्रजा, जिसके पास धन-सम्पत्ति थी, विद्रोही बन गई। दूर-दूर की विलायतों की प्रजा को दोआब की प्रजा के विनाश के समाचार से यह भय हुआ कि कहीं उनसे भी इसी प्रकार का व्यवहार न किया जाय, जो दोआब वालों से किया गया। इस भय से उन्होंने विद्रोह कर दिया और जंगलों में घुस गये।'

बरनी ने आगे लिखा है कि, "दोआब में कृषि की कमी, वहां की प्रजा के विनाश, व्यापारियों की कमी तथा हिन्दुस्तान की अक्ताओं से अनाज के न पहुंचने के कारण देहली तथा देहली के आस-पास एवं दोआब में घोर अकाल पड़ गया।"...... वह अकाल कई वर्ष तक चलता रहा।'

बरनी के विवरण से ऐसा लगता है कि खराज (भूमि कर) दस या बीस गुना अधिक कर दिया गया। बरनी ने प्रत्येक स्थान पर 'यके व देह' (अर्थात् दस गुना) का प्रयोग कई स्थानों पर किया है और प्रत्येक स्थान पर यह शब्द अतिशयोक्ति सूचक शब्द ही है। प्रो होडीवाला का विचार है कि बरनी ने सम्भवतः 'यके व देह बिस्त' लिखा हो और नकल करने वालों ने 'यके व देह व यके व बिस्त' बना दिया हो। दोनो के अर्थों में अत्यधिक अन्तर है क्योंकि पहले का अर्थ 1/10 या 1/20 है और दूसरे का अर्थ दस गुना अथवा 20 गुना है। फरिश्ता के अनुसार कर में वृद्धि तीन या चार गुना कर दी गई थी, जब कि गार्डनर ब्राउन के अनुसार यह वृद्धि बहुत साधारण थी। डा ए. एल श्रीवास्तव ने लिखा है कि सुल्तान अपनी आय में 5% से 10% तक वृद्धि करना चाहता था और उसने भूमि-कर न बढ़ा कर केवल मकानों और चारागाहों पर कर लगाया था। बदायूनी भी स्वीकार करता है कि कर दुगुना हो गया। वास्तविकता यही मालूम पड़ती है कि कर में वृद्धि हुई थी और स्वाभाविक रूप से इन बढ़े हुये कर के कारण लोगों को परेशानी हुई होगी।

इसी समय जब कि कर बढ़ाया गया था तभी दोआब में अकाल पड़ गया। अतएव किसानों ने कृषि करना छोड़ दिया और जंगलों में भाग गये। अनेक किसानों ने चोरी-डकैती का पेशा अपना लिया। लगान अधिकारियों ने बड़ी कठोरता से कर वसूल करना शुरू किया जिसके फलस्वरूप अनेक स्थानों में विद्रोह हो गये। इस असाधारण स्थिति के समय ही लगभग 1329 ई. के आस-पास ही सुल्तान ने राजधानी परिवर्तन की जिससे किसानों की दशा और भी अधिक शोचनीय हो गई। मोरलैण्ड ने लिखा है कि, "कर-वृद्धि का परिणाम वैसे ही प्रतिकूल पड़ रहा था,

तब भी जो कुछ अन्न किसानों के खाने-खर्चे के बाद बचता था उसे वे दिल्ली के बाजारों में बेच दिया करते थे। अब क्योंकि दिल्ली का बाजार ही नहीं था इसलिये बाकी अनाज को बेचने की नई समस्या खड़ी हो गई। बाजार न होने के कारण अधिक अन्न उपजाने में कोई लाभ की गुंजाइश नहीं थी। अत: किसानों ने कम भूमि पर ही खेती करना शुरू की जिससे लगान कम देना पड़ा। अत: राजकोष में लगान की रकम में पहले से भी अधिक कमी आ गई।"

मोरलैण्ड[1] ने आगे लिखा है कि, "सन् 1332 में सुल्तान दिल्ली वापस आया। राजधानी अभी दक्षिण में ही थी। उसने देखा कि कर-वृद्धि ने दिल्ली और दोआब को बरबाद कर दिया था। अनाज के गोदाम जला दिये गये थे और गांवों में कृषि-योग्य पशु दिखाई नहीं देते थे। जिन किसानों का काम केवल खेती करना और लगान देना था वे अब विद्रोह पर उतारू हो चुके थे। वे भयंकर गरीबी में जीवन घसीट रहे थे। तभी बादशाह के विद्रोह-दमन के आदेशों ने कोढ़ में खाज का काम किया। कितने ही व्यक्ति मार डाले गये और कितनों की ही आंखें फोड़ दी गईं और हम यह कह सकने की स्थिति में हैं कि जब सुल्तान दौलताबाद से लौटा तो उसने समस्त प्रदेश को उजाड़, जनहीन तथा पहले से भी खराब अवस्था में छोड़ा।"

सुल्तान ने किसानों को राहत पहुंचाने के लिये बीज, बैल आदि दिये तथा सिंचाई के लिये कुएं आदि की व्यवस्था की परन्तु इनसे कुछ लाभ न हुआ क्योंकि सहायता पहुंचाने में काफी देर हो चुकी थी और किसान इतने पीड़ित हो चुके थे कि इस सहायता का उपयोग उन्हें अपनी तात्कालीन कठिनाइयों को दूर करने में किया।

डा. ईश्वरी प्रसाद सुल्तान द्वारा बढ़ाये गये कर को अनुचित नहीं मानते क्योंकि दोआब का प्रदेश उपजाऊ था, अलाउद्दीन ने भी इसी प्रदेश में कर-वृद्धि की थी और सुल्तान के उत्तराधिकारी फीरोज के द्वारा लगाया गया राजस्व-कर मुहम्मद तुगलक के समय के भूमि-कर से कम नहीं था। इसके अतिरिक्त वास्तविकता यह है कि किसानों को कर-वृद्धि से कम बल्कि अकाल पड़ जाने से अधिक कठिनाई अनुभव हुई और जब सुल्तान को स्थिति की जानकारी हुई तो उसने किसानों को हर सम्भव सहायता पहुंचाई।

सुल्तान की योजना सैद्धान्तिक आधार पर तो गलत नहीं थी परन्तु प्रत्येक देश में प्रत्येक समय बढ़े हुये करों का विरोध किया जाता रहा है। सैद्धान्तिक आधार पर ठीक होने के बाद भी जिस कठोरता से इसे लागू किया गया था वह

1. मोरलैण्ड, डब्लयू. एच. :द एग्रेरियन सिस्टम आफ मुस्लिम इण्डिया, पृ. 62

उचित नहीं कहा जा सकता। जब अकाल की स्थिति पैदा हो गई तो सुल्तान को कर-वसूली में ढील देनी चाहिये थी। जब किसान खेती छोड़कर भागने लगे तो उनकी दुर्दशा का अनुमान लगाकर सुल्तान को उनके प्रति सहानुभूति दिखानी चाहिये थी। परन्तु क्या सुल्तान विद्वान होने के बाद भी इस सुगम बात को न समझ सका था? हमें इसमें थोड़ी आशंका है। सम्भवतः सुल्तान के पदाधिकारी उससे दण्ड पाने की सम्भावित आशंका के कारण उसे किसानों की दुर्दशा बताने में हिचकते थे और स्थिति यहां तक पहुंच गई होगी कि सुल्तान को वस्तु-स्थिति की जानकारी हो न हो और ऐसी स्थिति में विनम्र अथवा सहानुभूतिपूर्ण होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न यह है कि आखिर सुल्तान ने अपने अधिकारियों को इतना भयभीत क्यों किया? हम केवल यह कह सकते हैं कि भारत के मध्यकालीन इतिहास में 14वीं शताब्दी निरंकुशता का युग था और सुल्तान मुहम्मद तुगलक में इस निरंकुशता के तत्व तुलनात्मक आधार पर कहीं अधिक थे। इस आधार पर सुल्तान को दोष-मुक्त नहीं कर रहे, अपितु समकालीन इतिहासकारों ने जो दोष बढ़ा चढ़ा-कर बताया है उसकी तीव्रता को केवल उचित सदर्भ में देखने का प्रयास-मात्र कर रहे हैं।

कृषि-उन्नति का प्रयास—सुल्तान ने कृषि की उन्नति तथा उजड़े भू-भाग को कृषि-योग्य बनाने के लिये एक नया विभाग खोला जिसे 'दीवान-ए-कोही' की संज्ञा दी गई। इसके मंत्री को 'अमीर-ए-कोही' कहा जाता था। प्रयोग के लिये लगभग 60 वर्ग मील का एक भू-क्षेत्र चुना गया। लगभग 100 शिक़दार नियुक्त किये गये और राज्य की ओर से कृषि-सुधार तथा फसलों के सुधार के लिये 70 लाख टंक दिये गये। फसलों को बारी बारी से बोया गया और लगभग तीन साल तक लगातार यह प्रयोग किया जाता रहा। परन्तु सब ही अव्यवस्थित ढंग से था और रही-सही कमी कर्मचारियों की अयोग्यता और बेईमानी ने पूरी कर दी। जिन भू-क्षेत्रों पर धन लगाया गया था वे अधिकतर खेती के अयोग्य थे और सुल्तान की गुजरात और दक्षिण में व्यस्तता का लाभ उठाकर कर्मचारियों ने मनमाने ढंग से अपने पेट भरे। स्वाभाविक रूप से योजना असफल हुई।

योजना के असफल होने का पहला कारण था कि जिन भू-क्षेत्रों को चुना गया था वह इस प्रयोग के लिये उपयुक्त नहीं था, (2) प्रयोग एकदम नया था और सुल्तान को स्वयं इस ओर ध्यान देना चाहिये था परन्तु सुल्तान ऐसा न कर सका और राज्य कर्मचारी इसे सही ढंग से चला न पाये, (3) तीन साल का काल अत्यधिक कम था जिससे ऐसे प्रयोग के परिणाम की आशा नहीं की जा सकती थी और (4) निर्धारित धन का दुरुपयोग किया गया। मोरलैण्ड ने लिखा है कि, "योजना की असफलता को वर्षा की अत्यधिक कमी के माथे मढ़ दिया जाता है, परन्तु वास्तव में वर्षा की कमी के कारण योजना उतनी असफल नहीं हुई जितनी प्रशासनिक गड़बड़ी के कारण।"

यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि सुल्तान के द्वारा किया गया यह अनूठा और मौलिक प्रयोग असफल रहा जिसमें उसकी कम गलती होते हुये भी उसे दोषी ठहराया गया, परन्तु इसके बाद भी इस प्रयोग का विशेष महत्व है। मोरलैण्ड ने लिखा है कि भारतीय इतिहास में पहली बार यह प्रकट हुआ कि खेती और खेती के तरीकों को सुधारना भी राज्य के कर्तव्यों के अन्तर्गत आते हैं। यह पहला अवसर था जब सरकार की ओर से न केवल सही दिशा दिखाई गई अपितु सरकारी कोष से काफी धन भी खर्च किया गया। इसने इस बात पर बल दिया कि जोती जाने वाली भूमि को बराबर जोता जावे परन्तु साथ ही खाली पड़ी हुई भूमि को भी जोत के अधीन लाया जावे। हमें क्योंकि समस्त सल्तनत काल में कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है जिसके आधार पर यह प्रमाणित किया जा सके कि मुहम्मद तुगलक के पहले भी इस प्रकार से विचार किया गया था, इसलिये इस प्रकार की नीति का श्रेय मुहम्मद तुगलक को जाता है। योजना की महत्ता इसी में है कि इसने राज्य के कार्यों को अधिक विस्तृत बना दिया और उसका यह उत्तरदायित्व निश्चित कर दिया कि भूमि व कृषि में सुधार उसके कर्तव्यों में है।

राजधानी परिवर्तन—सुल्तान का दूसरा प्रयोग राजधानी को दिल्ली से देवगिरि ले जाना था और इस सम्बन्ध में समकालीन इतिहासकारों ने इतना अधिक विरोधी विवरण छोड़ा है कि उससे सही स्थिति की जानकारी करना काफी कठिन है। परन्तु इसके बाद भी उन्ही के विवरण से इस प्रयोग के मूल तत्व निकालना सम्भव हो पाया है। सुल्तान के उद्देश्यों के बारे मे समकालीन इतिहासकारों ने विभिन्न विवरण दिया है। बरनी के अनुसार देवगिरि, (दौलताबाद) दिल्ली की तुलना मे उसके राज्य के मध्य में स्थित था जिससे गुजरात, लखनौती, सतगांव, सुनारगांव, तेलंग, माबर, द्वारसमुद्र तथा कम्पिला बराबरी की दूरी पर थे। परन्तु बरनी का भौगोलिक ज्ञान त्रुटिपूर्ण होने के बाद भी उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। बरनी यह भूल गया कि यदि दिल्ली से देवगिरि पर नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता था तो देवगिरि से दिल्ली पर नियन्त्रण रखना भी उतना ही कठिन था। फिर भी बरनी के कथन में इतनी सत्यता अवश्य है कि सुल्तान इससे दक्षिण पर 'प्रभावशाली प्रशासनिक नियन्त्रण रखना चाहता था।'

इब्नबतूता इस राजधानी परिवर्तन के प्रयोग के पांच साल बाद भारत आया। मुहम्मद तुगलक के इस प्रयोग का उद्देश्य दिल्ली के नागरिकों को दंडित करना था क्योंकि वे सुल्तान को गालियों और कलंक से पूर्ण पत्र लिखा करते थे। बतूता की यह बात अधिक तर्क-संगत नहीं लगती क्योंकि 14वीं शताब्दी निरंकुशता की शताब्दी थी और सुल्तान एक नहीं अनेक आधार पर उनको दंडित कर सकता था। इसके साथ ही उसने लिखा है कि सुल्तान ने दिल्ली-निवासियों से उनके घर तथा निवास-स्थान खरीद लिये तथा उनको उनका मूल्य चुका दिया। एक दंडात्मक कार्यवाही के साथ सम्भवतः इस प्रकार की सहृदयता मेल नहीं खाती

और फिर यदि यह एक दण्डात्मक कार्यवाही ही थी तो क्यों कर सुल्तान ने दिल्ली से दौलताबाद जाने के लिये नागरिकों को रास्ते में सुविधायें प्रदान की ? प्रो निजामी[1] का मत है कि, "पत्र फेंकने की घटना यदि सत्य भी हो तो वह देवगिरि निष्क्रमण का परिणाम रही होगी न कि कारण।

इसामी के अनुसार सुल्तान दिल्ली के लोगों को सन्देह की दृष्टि से देखता था और वह उनकी शक्ति क्षीण करने के लिये महाराष्ट्र ले जाना चाहता था। इसामी इस उद्देश्य से केवल यह सिद्ध करना चाहता है कि सुल्तान और जनता के बीच द्वेष भाव था और सुल्तान अपने प्रत्येक कार्य में इसी वैर-भाव से प्रेरित हुआ। परन्तु इसामी की यह बात ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ठीक नहीं उतरती।

यह अधिक सम्भव है कि जब बहाउद्दीन गुरशास्प ने विद्रोह किया और सुल्तान ने उसके विरुद्ध अभियान किया तब या उसके तुरन्त बाद सुल्तान ने यह अनुभव किया कि दक्षिण में उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों से सफलतापूर्वक निपटने के लिये एक सशक्त प्रशासन केन्द्र की आवश्यकता है। उसके सलाहकारों ने इसके लिये उज्जैन का सुझाव रखा परन्तु सुल्तान को क्योंकि देवगिरि के प्रति आकर्षण था इसलिये उसने इसको चुना।

प्रो निजामी यह स्वीकार नहीं करते हैं कि यह प्रशासनिक प्रयोग में इसकी या अथवा नवीनता के लिये सनकी उन्माद था। सुल्तान ने योजना लागू करने के पहले इसके प्रत्येक पक्ष पर पूरी तरह विचार किया था और फिर एक ऐसे सुल्तान द्वारा जिसे सम्भवतः समस्त दिल्ली के सुल्तानों में दक्षिण का सबसे अधिक अनुभव था। इसलिये इसे सुल्तान की जल्दबाजी का कदम अथवा उसके पागलपन की सूझ कहना उचित न होगा।

प्रो हबीब ने सुल्तान के इस प्रयोग का एक महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण दिया है। उनके अनुसार मुहम्मद तुगलक को अपने समकालीन लोगों की तुलना में दक्षिण का अधिक ज्ञान था और मुस्लिम साम्राज्य की सुरक्षा व सुदृढ़ता के लिये वह यह मानता था कि जब तक दक्षिण भारत को भी उत्तर भारत की ही तरह साम्राज्य का 'स्वदशी' जामा न पहना दिया जावे तब तक राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता है। दक्षिण में शक्तिशाली हिन्दू राज्य थे और वे किसी भी समय संगठित हो मुस्लिम राज्य को विन्ध्याचल के पार खदेड़ सकते थे। इसी सन्दर्भ में उसने अपने पिता के काल में वारंगल पर असफल आक्रमण भी किया था क्योंकि वह जानता था कि वारंगल के राज्य का अस्तित्व रहते हुये, देवगिरि की स्थिति को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता है। इसी कारण सुल्तान बनने पर उसने वारंगल पर दूसरा सफल आक्रमण किया और देवगिरि की तरह वारंगल को भी अपने अमीरों को सौंप दिया। परन्तु राजनैतिक रूप में इसका समाधान निकालने के बाद भी सामाजिक रूप में इसका हल निकालना भी आवश्यक था। उसने यह

1 हबीब व निजामी, वही, पृ 434

अनुभव किया कि दक्षिण के लिये दिल्ली की जनता एक उत्तम सामाजिक और आर्थिक इकाई होगी और इसलिये वह उसे वहां ले जाना चाहता था। किन्तु यह पर्याप्त नहीं था। जब तक एक व्यापक-प्रचार नहीं किया जावे तब तक मुस्लिम सामाजिक व धार्मिक केन्द्र दक्षिण में स्थापित नहीं किये जावें तब तक उसकी योजना असफल रहेगी। इसलिये रहस्यवादी भी प्रचार तथा उपदेश के लिये भेजने जरूरी थे। इसीलिये वो सूफियों और सन्तों को भी वहां ले गया जो उसके इस उद्देश्य की पूर्ति करते। डा. मेहदी हुसैन का भी यह विचार है कि सुल्तान दौलताबाद को मुस्लिम संस्कृति का केन्द्र बनाने के लिये राजधानी वहां ले जाना चाहता था।

गार्डनर ब्राउन का कहना है कि, "मुहम्मद बिन तुगलक के राज्यारोहण के साथ साम्राज्य के आकर्षण का केन्द्र उत्तर से दक्षिण हो गया। पंजाब लगभग सौ वर्षों से मंगोलों द्वारा विनाश के कारण अपना महत्व खो चुका था। जब मुहम्मद तुगलक ने अपना दक्षिण-प्रयोग क्रियान्वित किया तो वास्तव में उसने केवल कतिपय आर्थिक शक्तियों के एक एजेंट की भूमिका निभायी। ये आर्थिक शक्तियां उस समय देश के जीवन में प्रभावशाली थीं और उनकी मांग थी कि राजधानी का स्थानान्तरण एक ऐसे क्षेत्र में किया जावे जो आर्थिक रूप से अधिक समृद्ध हो ताकि एक अखिल भारतीय शासन के ढांचे को स्थायित्व दिया जा सके। जब हम सभी समकालीन और आधुनिक व्याख्याओं पर विचार करते हैं तो यह प्रतीत होता है कि दक्षिण-प्रयोग मूल रूप में राजनैतिक आवश्यकताओं का परिणाम था। एक ऐसे साम्राज्य के लिये, जिसमें मावार और बंगाल जैसे सुदूर क्षेत्रों में निरन्तर विद्रोह और विप्लव होते रहते थे, स्थिति का मुकाबला करने के लिये इसके अतिरिक्त दूसरा और कोई प्रभावपूर्ण उपाय नहीं था जिसके लिये कि सुल्तान प्रयत्न करता।"

डा. मेहदी हुसैन और प्रो. निजामी के अनुसार मुहम्मद तुगलक दो राजधानियां बनाना चाहता था—दिल्ली तथा दौलताबाद, परन्तु समकालीन इतिहासकारों के लेखों से इसकी स्पष्ट पुष्टि नहीं होती है। 730 हिजरी और 731 हिजरी में ढाले गये दो सिक्के मिले हैं जिनमें एक पर दिल्ली को 'तख्तगाहे देहली' और दूसरे पर दौलताबाद को 'तख्तगाहे दौलताबाद' लिखा गया है, जिससे यह परिणाम निकाला जाता है कि दौलताबाद को केवल दूसरा प्रशासनिक नगर बनाया गया था।

परिपालन—योजना को कई चरणों में लागू किया गया। सुल्तान ने दिल्ली से दौलताबाद के रास्ते पर प्रत्येक दो मील पर सराएँ बनवाई तथा मार्ग के दोनों ओर वृक्ष भी लगवाये। सबसे पहले सुल्तान, उसकी मां तथा अमीरों और मलिकों सहित सम्पूर्ण शाही घराना और उसके बाद छः कारवां बनाकर लोगों को वहां भेजा गया। सुल्तान ने दौलताबाद में लोगों के लिये खाने पीने और रहने की मुफ्त व्यवस्था की।

याहिया सरहिन्दी के इस विचार के विरोध में बरनी का कथन है कि सम्पूर्ण जनता को दौलताबाद जाने के लिये बाध्य किया गया था। बरनी के अनुसार, 'ऐसा भीषण विनाश हुआ कि नगर के मकानों, महलों या मुहल्लों में एक भी कुत्ता या बिल्ली तक दिखाई न देते थे।" इब्नबतूता लिखता है कि, "सुल्तान के आदेश पर जब खोज की गई तो उसके गुलामों को एक लगड़ा और एक अन्धा व्यक्ति प्राप्त हुआ। लँगड़े को मार डाला गया और अन्धे को घसीट कर दौलताबाद ले जाया गया जहाँ उसकी केवल एक टाग ही पहुची थी।" उसने आगे लिखा है कि, "मुझे एक विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि सुल्तान एक रात्रि को अपने राजभवन की छत पर चढ़ा और उसने शहर की ओर देखा तो उसे न तो आग दिखाई दी न धुआ और न ही कोई चिराग। तब उसने कहा कि अब मेरा हृदय प्रसन्न है और मेरी आत्मा को शान्ति है।"

समकालीन इतिहासकारों ने इस विरोधी विवरण को अपने-अपने दृष्टिकोण से लिखा है। बरनी और इसामी विशिष्ट वर्ग से सम्बन्धित थे इसलिये उन्होंने इस वर्ग को होने वाली कठिनाइयों को बढ़ा-चढ़ा कर लिखा है। बरनी मुहम्मद तुगलक की उदार नीति से अत्यधिक नाराज था इसलिये उसने इस प्रकार से लिखा है और इसामी को पारिवारिक दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा था (उसके पिता की रास्ते ही में मृत्यु हो गई थी।) प्रो. निजामी[1] यह मानते हैं कि सम्पूर्ण जनता को दिल्ली छोड़ने के लिये बाध्य नहीं किया गया था अपितु अमीर, उलेमा, शेख आदि को ही वहां जाने के आदेश दिये गये थे। 1327 व 1328 ई के दो संस्कृत शिलालेखों से भी यह जानकारी मिलती है कि हिन्दू इस सम्पूर्ण अवधि में शान्तिपूर्वक रहे। इसी प्रकार डा मेहदी हुसैन[2] भी यह मानते हैं कि, 'दिल्ली राजधानी न रहा हो—ऐसा कभी नहीं हुआ और इस कारण वह न कभी आबादी-रहित हुआ और न निर्जन।" डा. ईश्वरी प्रसाद और वूल्जले हेग बरनी और बतूता के विवरण को अतिरंजित मानते हुये भी इस मत के पोषक हैं कि सुल्तान ने दिल्ली की समस्त जनता को दौलताबाद जाने के लिये बाध्य किया था।

जनता की प्रतिक्रिया—सुल्तान ने दिल्ली से दौलताबाद की 40 दिन की यात्रा के लिये प्रत्येक प्रकार की सुविधा पहुंचाने का प्रयत्न किया था, परन्तु साधारणतया लोग अपने घरों को छोड़कर एक दूरस्थ और अनजाने प्रदेश में आकर बसने के लिये तत्पर नहीं होते हैं। ये तथ्य 14वीं शताब्दी में और अधिक अर्थ रखता था जब आवागमन के साधन अत्यधिक सीमित होने के साथ ही असुरक्षित भी थे। पिछले लगभग एक सौ साठ वर्षों से दिल्ली राजधानी थी और वहां के नागरिक व सांस्कृतिक जीवन अलग ढंग से ही विकसित हो चुका था। मुहम्मद तुगलक की इस योजना ने दिल्ली के 'खानकाहों' और उसके सांस्कृतिक केन्द्रों को उजाड़

1. हबीब व निजामी, वही, पृ 437
2. मेहदी हुसैन, तुगलुक डायनेस्टी, पृ 145

दिया था। सुल्तान ने साधु-सन्तों तक को बाल पकड़-पकड़ कर दौलताबाद भेजा था और क्योंकि इन लोगों का साधारण जनता पर अधिक प्रभाव था इसलिये इन्होंने सुल्तान को अलोकप्रिय बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। दिल्ली की साधारण जनता सुल्तान के रोष से पूरी तरह परिचित थी, इसलिये न चाहते हुये भी उसे भीषण गर्मी के दिनों में जो लम्बी यात्रा करनी पड़ी थी उससे कष्ट कई गुना बढ़ गये थे। ऐसी स्थिति में सुल्तान के प्रति प्रत्येक वर्ग मे तीव्र प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था।

दौलताबाद पहुंचने पर भी सुल्तान शान्ति से नहीं बैठ सका। एक ओर तो देवगिरि (दौलताबाद) की जलवायु सुल्तान और लोगों के अनुकूल नहीं थी और दूसरी ओर साम्राज्य के उत्तरी भागों में शासन व्यवस्था बिगड़ने लगी। मंगोल पुनः क्रियाशील हो गये और मुल्तान के गवर्नर बहराम ऐबा ने भी विद्रोह कर दिया। दो आब में कर-वृद्धि न केवल असफल हो गई अपितु उसके कारण विद्रोह पनपने लगे। अतः सुल्तान ने 1335 ई. मे ही लोगों को अपनी इच्छानुसार दिल्ली वापिस जाने की आज्ञा दे दी थी। लोगों को पुनः अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ी। बरनी ने लिखा है कि राजकोष का धन बगैर किसी प्राप्ति के बर्बाद हुआ और योजना पूरी तरह असफल रही। सुल्तान ये न समझ सका कि मगोलों के आक्रमणों से सुरक्षा के लिए दिल्ली अधिक उपयुक्त स्थान था। अव्यवस्थित दक्षिण भारत की तुलना में व्यवस्थित उत्तर भारत दिल्ली सल्तनत के लिए अधिक उपयोगी और महत्व-पूर्ण था।

परिणाम—प्रो. निजामी[1] ने राजधानी परिवर्तन के प्रयोग को दो आधारों पर आंका है अर्थात् तात्कालिक व दूरवर्ती। उन्होंने लिखा है कि, "उसका तात्कालिक प्रभाव सुल्तान के विरुद्ध व्यापक असन्तोष था, जिसने सदैव के लिए जनता का विश्वास खो दिया तथा अपनी यातनाओं के परिणामस्वरूप उसके विरुद्ध कटुता उनके मन में अनेक दशकों तक बनी रही।" दूसरे आधार पर सुल्तान के इस प्रयोग ने उत्तर और दक्षिण को विभाजित करने वाली सीमाओं को तोड़ दिया। यद्यपि इससे सल्तनत की प्रशासनिक शक्ति का दक्षिण में प्रसार न हो सका परन्तु सांस्कृतिक संस्थाओं का प्रसार हुआ। बरनी के इस कथन पर कि, "दौलता-बाद के चारों ओर मुसलमानों की कब्रें नजर आती थीं।" प्रो. निजामी ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि इन कब्रों ने उत्तर के निवासियों के दिल दक्षिण की भूमि से जोड़ दिये और इसी कारण बहमनी राज्य का उदय सम्भव हो सका।

सांकेतिक मुद्रा का चलाना—सुल्तान ने लगभग 1329-30 ई. में सांकेतिक मुद्रा चलाई। सुल्तान ने चाँदी के 'टंका' के स्थान पर तांबे अथवा कांसे के सिक्के

1. हबीब व निजामी, वही, पृ. 439

ढलवाये और इनको चांदी के टका के बराबर मूल्य का घोषित किया। सांकेतिक मुद्रा चीन तथा ईरान में 13वीं शताब्दी में चलाई गई थी और यद्यपि यह ईरान में असफल रही परन्तु चीन में इसको पूर्ण सफलता मिली थी।

बरनी के अनुसार क्योंकि सुल्तान की उदारता और विदेशों पर विजय प्राप्त करने की योजनाओं से राजकोष खाली हो गया था इसलिए उसने दिवालियेपन को दूर करने के लिए यह युक्ति अपनाई। यद्यपि यह ठीक है कि खुरासान और कराचिल की नीतियों के फलस्वरूप आर्थिक दबाव अवश्य पड़ा था परन्तु यह मानना कि सुल्तान दिवालिया हो चुका था उचित नहीं है क्योंकि हमें यह पूर्ण जानकारी है कि प्रयोग के असफल होने पर सुल्तान ने सांकेतिक मुद्रा के बदले सोने और चांदी के सिक्के दिये थे।

यह भी स्वीकार किया जाता है कि चांदी की कमी के कारण सुल्तान ने यह प्रयोग किया। इस कारण में सत्यता अवश्य है, क्योंकि नेलसन राइट से हमें मालूम पड़ता है कि बंगाल के अतिरिक्त चाँदी की पूर्ति के साधन थोड़े थे और दक्षिण भारत से लाई गई सम्पत्ति समाप्त हो गई थी। ऐसी स्थिति में मिश्रित धातु का प्रयोग सुल्तान के लिए जरूरी हो गया था।

सम्भवतः सुल्तान एक नया प्रयोग भी करना चाहता था। सुल्तान के चरित्र की विशेषता थी कि वह मौलिक समस्याओं के अस्थाई समाधान से सन्तुष्ट नहीं होता था। जब भी कभी कोई कठिनाई सामने आती तो वह उसके समाधान के लिए सैद्धान्तिक समाधान निकालने का प्रयत्न करता था और चाँदी की कमी एक विश्वव्यापी मौलिक समस्या थी जिसका सैद्धान्तिक समाधान उसने सांकेतिक मुद्रा में निकाला था।

सुल्तान ने 1330 ई. में बरनी के अनुसार तांबे के और फरिश्ता के अनुसार पीतल के सिक्के चलाये। आरम्भ में तो ये आराम से चले परन्तु थोड़े ही दिन बाद गड़बड़ी पैदा होने लगी। लोग यह नहीं समझ सके कि केवल राजाज्ञा से तांबा और चांदी बराबर नहीं हो सकते हैं। साधारण लोगों के लिए तांबा, तांबा ही था और चांदी, चाँदी ही थी। उनका यह भ्रम था कि सुल्तान इस प्रकार से उनकी चांदी को अपने लिये राजकोष में रखना चाहता है और उसके बदले यह तांबे के टुकड़े दे रहा है। अतः वे इसके प्रति किसी प्रकार से स्वयं के मनोभावों को ठीक न कर सके।

प्रभाव—सांकेतिक मुद्रा का विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूप में विभिन्न प्रभाव पड़ा। बरनी के अनुसार प्रत्येक हिन्दू का घर टकसाल बन गया, जहां बहुतायत में नकली सिक्के बनाये जाने लगे। परन्तु हिन्दू ही क्यों मुसलमान भी इस लोभ से वंचित नहीं रहे होंगे और जो भी नकली सिक्के बना सकता था, उसने उन्हें बनाया। सुल्तान टकसाल पर एकाधिकार नहीं रख सका और न ही ऐसी धातु का प्रयोग किया जो आसानी से उपलब्ध न हो।

मुहम्मद हबीब[1] ने लिखा है कि, "टकसाल के पास सिक्कों के लिए एक विशेष प्रकार के कांसे की मिश्रित धातु थी, जिसे कसौटी पर सरलता से पहचाना जा सकता था। किन्तु कांसे के सिक्कों में धातुओं के अनुपात का भेद सुनार न जान सके।" उस समय लोग जब सोने या चांदी के सिक्के लेते थे तो वे कसौटी पर उसकी परख करते थे तथा तौलते थे। सुल्तान यह समझता था कि जनता नये सिक्कों के साथ भी वही व्यवहार करेगी और इस प्रकार से असली और नकली सिक्कों की पहचान सम्भव होगी परन्तु जनता ने उस विषय में उसे निराश किया और परिणाम हुआ कि असली सिक्के अधिकाधिक नकली सिक्कों में मिल गये।

जनता ने चांदी जमा करना शुरू कर दी और अपनी समस्त आवश्यकतायें सांकेतिक मुद्रा से खरीदने लगे। विदेशी व्यापारी अपनी वस्तुएं बेचते समय तो चांदी के सिक्के स्वीकार करते थे परन्तु भारतीय वस्तुओं को खरीदते समय सांकेतिक मुद्रा का ही प्रयोग करते थे। इसके फलस्वरूप देश का व्यापार चौपट होने लगा और चारों ओर अव्यवस्था ही अव्यवस्था दिखाई देने लगी।

खुत, चौधरी और मुकद्दमों ने भू-राजस्व का भुगतान सांकेतिक मुद्रा में करना शुरू किया। इससे वे पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली व सम्पन्न बन गये। हठीले स्वभाव के व्यक्तियों ने जाली प्रतीक मुद्रा से हथियार तथा युद्ध-सामग्री खरीदना शुरू की।

सुल्तान ने तीन अथवा चार साल में ही सांकेतिक मुद्रा का चलन बन्द कर दिया। लोगों को आदेश दिया गया कि वे इस मुद्रा को राजकोष में जमा करायें तथा इसके बदले सोने और चांदी के सिक्के ले लें। फलस्वरूप राजकोष के सामने इन सिक्कों का ढेर लग गया और सुल्तान ने इनके बदले चांदी व सोने के सिक्के दिये। राजकोष को सुल्तान के इस प्रयोग से काफी हानि उठानी पड़ी।

सुल्तान की योजना सैद्धान्तिक आधार पर ठीक होने पर भी पूरी तरह असफल रही। डा. मेहदी हुसैन का यह विचार ठीक लगता है कि सुल्तान का प्रयोग सामूहिक रूप से अच्छा और राजनीतिज्ञतापूर्ण था, परन्तु व्यावहारिक रूप में उसने वे सब सावधानियां नहीं बरतीं जो ऐसे प्रयोग के लिए आवश्यक थीं। उसने टकसाल पर एकाधिकार नहीं रखा अथवा जालसाजी को रोकने के लिए सक्रिय कदम नहीं उठा सका। जनता भी इस योजना की विफलता में कम उत्तरदायी नहीं थी क्योंकि एक ओर तो वह सुल्तान के प्रयोजन को न समझ पाई और दूसरी ओर द्वेषभाव के कारण वह इसके अच्छे पक्ष को देखने में असमर्थ रही। सुल्तान ने न तो जाली सिक्का ढालने वालों का पता लगाने की ही कोशिश की और न ही उनको दण्डित करने की व्यवस्था की और इसलिये योजना असफल रही।

---

1. हबीब व निजामी, वही, पृ. 441

मंगोल आक्रमण

मुहम्मद तुगलक के समय में मंगोलों का एक आक्रमण 1327-28 ई में हुआ। ट्रान्स-ग्रॉक्सियाना के मंगोल नेता अलाउद्दीन तार्माशीरीन ने एक बड़ी सेना लेकर भारत पर आक्रमण किया। डा मेंहदी हुसैन की यह मान्यता है कि मंगोल नेता गजनी के निकट अमीर चोबन से पराजित होकर एक शरणार्थी की तरह भारत आया था और सुल्तान ने उसे 5,000 दीनार देकर वापिस भेज दिया। परन्तु इसामी के कथन से मालुम पड़ता है कि सुल्तान की एक सेना ने मेरठ के निकट उसका मुकाबला किया और उसे पराजित कर वापिस जाने के लिये बाध्य किया। प्रो. निजामी भी यह मानते हैं कि सुल्तान के समय में मंगोलो का यह पहला और अन्तिम आक्रमण था। मंगोलों के वापिस चले जाने के बाद सुल्तान ने उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा की ओर समुचित ध्यान दिया। इसामी के अनुसार सुल्तान ने कलनूर (पंजाब) तथा पेशावर को अपने अधिकार में कर लिया और वहा सुरक्षा की व्यवस्था की।

साम्राज्य विस्तार

मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली सल्तनत का अत्यधिक विस्तार हुआ। अपने पिता गयासुद्दीन तुगलक की तरह उसने विजित राज्यों को दिल्ली मे सम्मिलित करने की नीति अपनाई। इसामी ने लिखा है कि मंगोलों के जाने के बाद उसने पंजाब के पेशावर और कलनूर को अपने राज्य में मिला लिया।

खुरासान की विजय योजना—1327-28 में मंगोलो के वापिस चले जाने के बाद सुल्तान ने खुरासान-विजय की योजना बनाई। उसने लगभग 3,70,000 सैनिकों को एकत्र किया और उन्हें एक वर्ष का अग्रिम वेतन भी दिया। मध्य-एशिया और ईरान की अव्यवस्थित परिस्थितियाँ और सुल्तान के दरबार में खुरासान से भागकर आये हुए अमीरों का प्रोत्साहन इस योजना के लिए उत्तरदायी तत्व थे। परन्तु यह योजना कार्यान्वित नहीं की जा सकी। सुल्तान ने सेना को भंग कर दिया। मध्य एशिया की परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया था और सुल्तान के लिए सम्भव न था कि वह एक बड़ी सेना के वेतन का भुगतान लम्बे समय तक करता रहे। सुल्तान की इस योजना मे राज्य को आर्थिक हानि उठानी पड़ी और सेना से निकाले गये सैनिकों ने असन्तोष पैदा किया। योजना मूल आधार पर भी दोषपूर्ण थी क्योंकि एक तो इतने दूरस्थ प्रदेश को जीतना काफी कठिन था और दूसरे यदि जीत भी लिया जाता तो उसे अपने अधिकार में रखना उससे भी अधिक कठिन था।

नगरकोट की विजय—यह दुर्ग पंजाब में कांगड़ा जिले में था। सुल्तान ने पहली बार सल्तनत काल में इसे जीतने की नीति अपनाई। सुल्तान साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से इस पर अधिकार करना चाहता था। 1337 ई में सुल्तान ने

उसे जीत लिया, परन्तु अपनी अधीनता स्वीकार करवा कर पुनः इसे वहां के हिन्दू शासक को लौटा दिया।

कराजल पर आक्रमण (1337-38 ई.)—यह राज्य हिमालय की तराई में स्थित आधुनिक कुमायूं जिले में था। फरिश्ता लिखता है कि सुल्तान का लक्ष्य कराजल की विजय नहीं अपितु चीन की विजय था। बरनी इसे ईराक और खुरासान की विजय का प्रथम चरण मानता है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इन मतों को स्वीकार नहीं करते हैं। प्रो. निजामी का कहना है कि क्योंकि हिमालय खुरासान अभियान के मार्ग में बाधक नहीं था इसलिए बरनी का कथन मान्य नहीं है। अधिकतर इतिहासकार यह मानते हैं कि सुल्तान का उद्देश्य उन पहाड़ी राज्यों को अपने अधीन करना था जहां पर अधिकांश विद्रोहियों ने शरण ले रक्खी थी।

सुल्तान ने अपने भानजे खुसरो मलिक के साथ लगभग 10,000 सेना कराजल की ओर भेजी। सेना ने जिद्या पर अधिकार कर लिया और सुल्तान ने उसे अपने साम्राज्य में मिलाने के प्रतीक-स्वरूप एक काजी की वहां नियुक्ति की। सुल्तान ने खुसरो मलिक को जिद्या से आगे न बढ़ने की चेतावनी दी थी परन्तु अपनी सफलता से प्रफुल्लित खुसरो ने इसकी अवज्ञा कर तिब्बत की ओर बढ़ना शुरू किया। पहाड़ी निवासियों ने पत्थरों के खड फेंककर सेना को काफी परेशान किया और रही-सही कसर वर्षा व बीमारी ने पूरी कर दी। बरनी के अनुसार केवल दस व्यक्ति जीवित लौटे परन्तु इब्नबतूता इनकी संख्या केवल तीन बताता है।

यद्यपि खुसरो मलिक की विपत्ति के लिये सुल्तान दोषी नहीं ठहराया जा सकता है परन्तु फिर भी सुल्तान होने के नाते उसे परिणाम भुगतने पड़े। राजकोष को भारी क्षति पहुंची और लोगों में सुल्तान की आस्था में कमी आई। ऐसा माना जाता है कि चूंकि पहाड़ के नागरिक तराई के भाग में खेती करते थे इसलिए उन्होंने सुल्तान से सन्धि कर ली और उसे कर देना स्वीकार किया।

दक्षिण भारत—सुल्तान ने अपने समय में तेलंगाना और पांड्य राज्य के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया था। अपने शासन के आरम्भिक वर्षों में बहाउद्दीन गुर्सास्प के विद्रोह ने उसे दक्षिण के अन्य भागों को भी अपने अधिकार में करने का अवसर दिया। गुर्सास्प ने कम्पिली में शरण ली। वहां का शासक अलाउद्दीन खल्जी के समय देवगिरि के अधीन था परन्तु अलाउद्दीन द्वारा देवगिरि की विजय के बाद उसने स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था। सुल्तान के समय में वहां के शासक कम्पिलीदेव ने विद्रोही को शरण दे सुल्तान के आक्रोश को उकसाया और सुल्तान ने आक्रमण करने के आदेश दिये। कम्पिलीदेव युद्ध में मारा गया तथा उसके राज्य को दिल्ली में मिला लिया गया। अपनी मृत्यु के पहले उसने गुर्सास्प को द्वारसमुद्र के शासक वीर बल्लाल के यहां भेज दिया।

वीर बल्लाल ने गुर्शास्प की रक्षा करने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। सुल्तान ने उसे पराजित कर द्वारसमुद्र का अधिकांश भाग उससे छीन कर दिल्ली राज्य में मिला लिया। प्रो निजामी के अनुसार सुल्तान ने देवगिरि के निकट काडन (मिटपद) को भी नाग नायक से छीन लिया था। इन विजयों के कारण दक्षिण भारत के कुछ भाग को छोड़कर अब सभी प्रदेश मुहम्मद तुगलक के अधिकार में आ गये।

राजपूताना—मुहम्मद तुगलक को राजपूताना में कोई सफलता नहीं मिली। ऐसा माना जाता है कि चित्तौड़ के शासक हम्मीरदेव ने उसे पराजित किया और राजपूत ख्यातों के अनुसार सुल्तान पचास लाख टके देकर ही स्वयं को मुक्त करा सका। डा मेहदी हुसैन व डा ईश्वरी प्रसाद इस राजपूत विवरण को अस्वीकार करते हैं क्योंकि किसी भी समकालीन इतिहासकार ने इसका विवरण नहीं दिया है।

इस प्रकार मुहम्मद तुगलक ने साम्राज्य विस्तार करने में सफलता प्राप्त की। परन्तु सुल्तान की यह सफलता स्थायी नहीं रही। दस वर्षों में ही उसके विस्तृत साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया। उसके अन्तिम समय में उसके राज्य की सीमाएं अलाउद्दीन खलजी के राज्य की सीमाओं से अधिक न रहीं। इस प्रकार वह राज्य विस्तार में तो सफल रहा परन्तु उसे अपने काबू में न रख सका। भारत का एक विस्तृत भू प्रदेश होना यातायात की असुविधाएं और एक लम्बे समय तक राजनीतिक एकता के अभाव ने उसकी असफलताओं में योगदान दिया।

विद्रोह तथा साम्राज्य का विघटन

मुहम्मद तुगलक के समय अनेक विद्रोह हुए। इनमें से अधिकांश उसकी दमन-नीति के कारण थे, परन्तु कुछ विद्रोह महत्वाकांक्षी सरदारों ने भी किये। इनका परिणाम साम्राज्य के विघटन के रूप में निकला। ये विद्रोह निम्न थे—

(1) 1326 27 ई में गुलबर्गा के निकट सागर के जागीरदार बहाउद्दीन गुर्शास्प ने किया। 1327 ई में सुल्तान ने उसे देवगिरि के निकट पराजित किया और सागर तक उसका पीछा किया। गुर्शास्प भाग कर कम्पिली के हिन्दू शासक कम्पिलीदेव के यहां पहुंच गया। सुल्तान ने कम्पिली पर आक्रमण के लिये सेना भेजी और राजा युद्ध में मारा गया परन्तु अपनी मृत्यु के पहले उसने गुर्शास्प को द्वारसमुद्र के होयसल शासक वीर बल्लाल की शरण में भेज दिया। वीर बल्लाल ने दिल्ली की सेना का मुकाबला किया, परन्तु अपनी स्थिति कमजोर देखकर उसने गुर्शास्प को शाही सेना को सौंप दिया। मुहम्मद तुगलक ने गुर्शास्प की खाल में भूसा भरवाकर उसे साम्राज्य के सभी महत्वपूर्ण शहरों में घुमवाया और उसके शरीर के मांस को चावल के साथ पकाकर उसके परिवार के लोगों के पास खाने को भेजा।

(2) इसी वर्ष (1327-28 ई) उच्छ सिन्ध और मुल्तान के सूबेदार किश्लू खां ने विद्रोह किया। वह सीमा पर तैनात था इसलिये उसका

विद्रोह राज्य के लिए खतरनाक था। सम्भवतया इस विद्रोह का कारण था कि किश्लूखां ने दौलताबाद जाने से मना कर दिया था और जिस व्यक्ति ने उसको सुल्तान का सन्देश दिया था उसका उसने वध कर दिया था। सुल्तान को जैसे ही उसके विद्रोह की सूचना मिली वह दक्षिण से उत्तर की ओर चला और उसे परास्त कर दिया। किश्लूखां भाग खड़ा हुआ, परन्तु पकड़ा गया और उसका वध कर दिया गया।

(3) 1327-28 ई. में ही गयासुद्दीन बहादुर ने बंगाल में विद्रोह किया। सुल्तान के सौतेले भाई बहरामखां ने उसे परास्त किया और उसकी खाल में भूसा भरवाकर सुल्तान के पास भेज दिया। परन्तु बहरामखां की बंगाल में शीघ्र ही मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् विभिन्न सरदारों में झगड़े शुरू हो गये। अन्त में सुल्तान के वफादार अमीर सरदार अली ने लखनौती पर अधिकार करके सुल्तान से किसी सूबेदार को भेजने की प्रार्थना की। परन्तु जब ऐसी व्यवस्था न हो सकी तो उसने स्वयं को सुल्तान अलाउद्दीन के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। बाद में मलिक हाजी इलियास ने उसका वध करके लखनौती पर अधिकार कर लिया और सुल्तान शमसुद्दीन के नाम से स्वतन्त्र शासक बन बैठा। सोनारगांव पर भी उसने अधिकार कर लिया। मुहम्मद तुगलक बंगाल की ओर ध्यान न दे सका और वहां शमसुद्दीन का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया।

(4) सुनम और समाना में किसान-जागीरदारों ने विद्रोह किया परन्तु सुल्तान ने इसे दबा दिया और नेताओं को दिल्ली ले जाकर मुसलमान बना लिया गया।

(5) 1338 ई. में कड़ा के सूबेदार निजाम ने विद्रोह किया और सुल्तान की उपाधि धारण कर स्वतन्त्र शासक बन गया। परन्तु अवध के सूबेदार ने उसे पराजित किया और उसकी खाल में भूसा भरवाकर सुल्तान के पास भिजवा दिया।

(6) 1338-39 ई. में बीदर के सूबेदार नसरतखां ने विद्रोह किया। परन्तु उसकी पराजय हुई और उसने आत्मसमर्पण किया।

(7) 1339-40 ई. में गुलबर्गा में अलीशाह ने विद्रोह किया परन्तु वह पराजित हुआ और उसे गजनी भेज दिया गया। वहां से लौटने पर उसका वध कर दिया गया।

(8) 1340-41 ई. में अवध के सूबेदार आईन-उल-मुल्क ने विद्रोह किया। सुल्तान ने उसे दौलताबाद का सूबेदार नियुक्त किया था। इससे उसे यह सन्देह हो गया की सुल्तान उसे बरबाद करना चाहता है। इसलिये उसने सुल्तान के आदेश की अवज्ञा कर विद्रोह कर दिया। वह पराजित हुआ परन्तु सुल्तान ने उसकी योग्यता और निष्ठा को देख उसे क्षमा कर दिया।

(9) मुल्तान में शाहू अफगान ने सूबेदार का वध कर विद्रोह किया परन्तु जैसे ही सुल्तान पहुंचा वह पहाड़ों की ओर भाग गया।

(10) 1334-35 ई. में सैय्यद अहसान शाह ने मलाबार में विद्रोह कर दिया। सुल्तान ने जो सेना उसके विरुद्ध भेजी वह उसके साथ मिल गयी। अतः

सुल्तान स्वयं दक्षिण की ओर गया। परन्तु इसी समय वारंगल में प्लेग फैल गया जिसका स्वयं सुल्तान भी शिकार हुआ। उसी समय लाहौर में विद्रोह हो गया और दिल्ली तथा मालवा में अकाल पड़ गया। सुल्तान को मजबूर होकर वापिस आना पड़ा। अहसान शाह ने मदुरा में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।

(11) सुल्तान की बीमारी का लाभ उठाकर जब वह वारंगल से ही वापस आ गया था, तब मलाबार के हिन्दुओं ने इसका लाभ उठाकर विद्रोह कर दिया। हिन्दू इससे पहले भी तैलंगाना में स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। यद्यपि मुस्लिम आक्रमणों के कारण तैलंगाना का राजवंश नष्ट हो गया था परन्तु फिर भी विभिन्न स्थानों पर हिन्दू सामन्त शक्तिशाली थे। इनमें से एक प्रोलय नायक था जिसने मत्तिराज जैसे सम-विचारों से सहायता लेकर मुस्लिम सेनाओं को अनेक स्थानों से खदेड़ दिया और पूर्वी गोदावरी जिले में एकपल्ली नामक स्थान पर एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना की। परन्तु 1330-35 ई के बीच उसकी मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी काप्य नायक ने होयसल राज्य के वीर बल्लाल से सहायता लेकर तैलंगाना पर आक्रमण किया। तैलंगाना में नियुक्त मुस्लिम सूबेदार, मलिक मक्बूल को उन्होंने भगा दिया और इस प्रकार 1335 ई में सम्पूर्ण तैलंगाना में एक हिन्दू राज्य की स्थापना हो गई। उसने मदुरा के नवीन स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य के कुछ भाग पर भी अधिकार कर लिया और इस प्रकार कांची में भी हिन्दू राज्य की स्थापना में सफलता प्राप्त की।

(12) इसी प्रकार का आन्दोलन कृष्णा नदी के दक्षिण में भारत के पश्चिमी तट पर भी चल रहा था। यहाँ के आन्दोलन का नेतृत्व चालुक्य सोमदेव कर रहा था। उसे पूर्वी तट के नेता प्रोलय वेम की भी सहायता मिल रही थी। उसने कम्पिली के मुसलमान सूबेदार मलिक मुहम्मद को निकालकर उस पर अधिकार कर लिया। ऐसे समय में मुहम्मद तुगलक ने हरिहर और बुक्का को कम्पिली का सूबेदार और नायब सूबेदार बनाकर भेजा। (मुहम्मद तुगलक ने इनको कम्पिली की विजय के बाद दिल्ली ले जाकर मुसलमान बना लिया था) परन्तु इनकी पराजय हुई। बाद में कम्पिली पर मुसलमानों का अधिकार हो गया परन्तु हिन्दू इसे स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न करते रहे। अन्त में हरिहर और बुक्का पुनः हिन्दू धर्म स्वीकार करने के बाद 1336 ई में विजयनगर राज्य की नींव डाली। इस प्रकार कृष्णा नदी के दक्षिण का प्रदेश दिल्ली सल्तनत के हाथों से सदैव के लिए निकल गया।

(13) 1347 ई में एक नये मुसलमानी राज्य की नींव पड़ी। यह बहमनी राज्य कहलाया। सुल्तान ने कुतुलुगखां को दौलताबाद से हटाकर तथा अजीज हिमार को मालवा का सूबेदार नियुक्त कर दो भूलें की थीं। कुतुलुगखां एक योग्य सूबेदार था। अजीज हिमार ने सुल्तान की इच्छा के अनुसार विदेशी मुसलमानों में से अनेकों का वध कर दिया। इस कारण गुजरात के अमीरों ने विद्रोह किया। परन्तु यह दबा दिया गया। तत्पश्चात् दौलताबाद में विद्रोह हुआ। वहाँ विद्रोहियों ने

इस्माइल को नासिरुद्दीन के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। सुल्तान ने इस विद्रोह को दबा दिया। परन्तु इसी बीच दौलताबाद में भी विद्रोह हो उठा। सुल्तान के लिये कठिनाई थी कि अगर वो एक ओर विद्रोह को दबाता तो दूसरी ओर विद्रोह शुरू हो जाता था। इसी कशमकश में न तो वो गुजरात के दूसरे विद्रोह को दबा सका और न ही बहमनी राज्य की स्थापना को ही रोक सका।

(14) गुजरात में पुनः विदेशी अमीरों ने विद्रोह कर दिया था। उसी के कारण मालवा, बरार और दौलताबाद में भी विद्रोह हुये थे। आरम्भ में नायब वजीर ने विद्रोह को दबा दिया परन्तु जब सुल्तान दौलताबाद में था तब तागी के नेतृत्व में गुजरात में एक भीषण विद्रोह हुआ। सुल्तान स्वयं गुजरात गया। तागी एक जगह से दूसरी जगह भागता रहा परन्तु अन्त में उसकी पराजय हुई और वह भागकर सिन्ध चला जहां पहले से ही विद्रोह हो रहा था। सुल्तान ने गुजरात के विद्रोह को दबाया और फिर सिन्ध की ओर गया। मार्ग में सुल्तान बीमार पड़ गया और थट्टा के निकट 20 मार्च, 1351 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। बदायूंनी ने लिखा है कि, "सुल्तान को उसकी प्रजा से और प्रजा को सुल्तान से मुक्ति मिल गयी।"

इस प्रकार मुहम्मद तुगलक के गद्दी पर बैठने के समय से ही अन्त तक विद्रोह होते रहे। सम्भवतया इतने विद्रोह और किसी सुल्तान के समय में नहीं हुये थे। सुल्तान ने इनमें से अनेक विद्रोहों को दबाया परन्तु बाद में धन की कमी और विभिन्न युद्धों में सैनिक शक्ति के अपव्यय के कारण वह उनमें से अनेकों को दबाने में असफल रहा। मुहम्मद तुगलक के समय इन विद्रोहों ने साम्राज्य को खोखला कर दिया जो तुगलक वंश के पतन के लिए कारण बना।

मुहम्मद तुगलक का चरित्र व मूल्यांकन

मध्यकालीन भारत में मुहम्मद तुगलक का चरित्र और उसके कार्य विवाद का विषय रहे हैं। विवाद उसके सम्पूर्ण चरित्र को लेकर नहीं है अपितु उसके चरित्र की क्रूरता, उसके दुराग्रह व उसके कार्यों की असफलता में उसके उत्तरदायित्व को लेकर है। विवाद सम्भवतः इसलिये खड़ा हुआ कि समकालीन इतिहासकारों ने उसके बारे में कोई निश्चित मत प्रकट नहीं किया।

सब ही इतिहासकार उसके व्यक्तिगत गुणों के बारे में एकमत हैं। सल्तनत-काल में कोई ऐसा शासक न हुआ जिसे अरबी, फारसी पर उस जैसा एकाधिकार हो। गणित, नक्षत्र-विज्ञान, भौतिक-शास्त्र, दर्शन व चिकित्साशास्त्र में वह अद्वितीय था। स्वयं विद्वान ही नहीं अपितु वह विद्वानों का संरक्षक भी था। वह मुक्त हृदय से दान करता था और लगभग 40,000 गरीब प्रतिदिन शाही भोजनालय से भोजन प्राप्त करते थे। उसका नैतिक जीवन सैद्धान्तिक था और उसमें सुल्तानों में पाये जाने वाले सामान्य अवगुण नहीं थे। स्त्री-सम्बन्धी मामलों व शराब के क्षेत्र में वह रूढ़िवादी था। स्वयं शराब न पीता था और दूसरों को पीने से रोकने के लिए प्रयत्नशील रहता था। अपने सम्बन्धियों के प्रति वह सहृदय था और उनका सम्मान करता था।

सुल्तान एक योग्य सैनिक था जिसने शाहजादा काल में वारंगल पर अभियान कर अपनी योग्यता का परिचय दिया था। शासक बनने के बाद भी उसने जिस वृहत्त साम्राज्य का निर्माण किया वह उसकी रण-कौशलता का परिचायक है। उसके राज्यकाल में अनेक विद्रोह हुये परन्तु सुल्तान जहाँ-जहाँ गया उसे सफलता ही मिली। यह ठीक है कि उसने अपने जीवन-काल में ही अनेक दूरस्थ प्रदेशों को खो दिया परन्तु इसके बाद भी उसकी सैनिक योग्यता में इससे कमी नहीं आयी, कारण कि उसने ऐसी परिस्थितियों का निर्माण कर लिया था जिन पर न तो वह काबू ही पा सका और न ही स्वयं ध्यान दे सका। उसने अपने जीवन का अधिकतर समय सैनिक अभियानों में ही व्यतीत किया और उनमें वह सफल भी रहा।

सुल्तान पर यह आरोप लगाया जाता है कि अपने पिता से एक वृहत्त साम्राज्य मिलने और स्वयं द्वारा उसमें बढ़ोतरी करने के बाद भी केवल दस साल के बाद ही वह साम्राज्य अत्यधिक सीमित होकर रह गया। परन्तु अपने अन्तिम समय में उसने दिल्ली सल्तनत द्वारा सीधे प्रशासित क्षेत्र की सीमाएं उतनी ही छोड़ी जितनी अलाउद्दीन खल्जी की मृत्यु के समय थीं। दिल्ली के अन्तर्गत 23 मुख्य प्रान्तों की शासन व्यवस्था करना और उस समय जबकि यातायात के साधन नहीं के बराबर हों सम्भव नहीं दीखता। विकेन्द्रीय प्रवृत्तियों को अकाल और प्लेग ने बढ़ावा दिया और परिणाम विद्रोहों तथा स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना में निकला।

सुल्तान की स्थिति का सही अनुमान हम तीन आधार पर कर सकते हैं। प्रथम, किसी भी सुल्तान के समय इतने अधिक विद्रोह नहीं हुये जितने उसके समय में हुये थे और उसने उनका सामना कर अनेकों को दबा दिया था। इससे यह स्पष्ट है कि उसकी समस्त कमियों के बाद भी उसके पास स्वामिभक्त अधिकारियों का समूह रहा होगा। इसके अतिरिक्त विद्रोहियों की सफलता उन क्षेत्रों तक ही सीमित थी जिन्हें अलाउद्दीन खल्जी की मृत्यु के बाद जीता गया था। इसका अर्थ था कि अलाउद्दीन ने उन प्रदेशों को अपने राज्य में न मिलाकर दूरदर्शिता दिखाई थी परन्तु मुहम्मद तुगलक यह समझने में असमर्थ रहा था।

दूसरे हमें किसी भी समकालीन इतिहासकार से यह जानकारी नहीं मिलती कि उसकी हत्या का कभी प्रयत्न किया गया था। सल्तनतकाल में सुल्तान की हत्या कर देना साधारण सी बात थी और एक नहीं अनेकों अवसरों पर इस प्रकार किया गया था। मुहम्मद तुगलक की हत्या का षडयन्त्र रचना अथवा हत्या करना अधिक उचित भी होता क्योंकि उसके राज्य से असंख्य ऐसे व्यक्ति अवश्य होंगे जो जिनके पास सुल्तान से बदला लेने के लिये ठोस वैयक्तिक कारण रहे होंगे। यह भी कहीं नहीं मिलता है कि सुल्तान ने अपनी सुरक्षा-हेतु पहले शासकों की तुलना में अतिरिक्त उपाय अपनाये थे।

अन्तिम बात यह है कि मुहम्मद तुगलक ने अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया था और दो दिन तक सिन्ध में सेना बगैर किसी सुल्तान के ही रही

परन्तु फिर भी किसी सैनिक अथवा अधिकारी ने न तो कोई विद्रोह ही किया और न ही किसी ने स्वयं को सुल्तान बनाने का ही प्रयास किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि सुल्तान के लोग उसके प्रति वफादार थे अन्यथा सल्तनत काल में अमीर व अधिकारी इस तलाश में रहते थे कि केन्द्रीय सत्ता की दुर्बलता का लाभ उठाकर वे स्वयं शक्ति-सम्पन्न हों। कुछ अल्पसंख्यक ही फीरोज के लिये समस्या खड़ी कर सकते थे, परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ और फीरोज उसका उत्तराधिकारी चुन लिया गया। बंगाल और दक्षिण स्वतन्त्र हो गये परन्तु उत्तरी भारत के सभी विद्रोहों को कुचल दिया गया।

इन बातों पर सहमत होने के बाद भी मुख्य प्रश्न उसके चरित्र, व्यवहार व व्यक्तित्व का है। डा. मेहदी हुसैन यह मानते हैं कि सुल्तान की असफलता जनता के असहयोग और परिस्थितियों के कारण थी। परन्तु अधिकतर इतिहासकार इसको स्वीकार करने को तत्पर नहीं हैं, उनके अनुसार उसका उत्तेजक चरित्र, दुराग्रह, व्यावहारिक बुद्धि की कमी उसकी असफलता के मुख्य कारण थे। सुल्तान की योजनायें सैद्धान्तिक आधार पर ठीक थीं, परन्तु एक ओर तो वे समय से आगे थीं और इसलिये साधारण लोगों की समझ के बाहर थीं और दूसरी ओर उसमें इतना धैर्य नहीं था कि वो उनको शान्ति से क्रियान्वित करे। विद्वान होने के बाद भी वह घोर तानाशाह भी था और अवज्ञा को सहन करने के लिये तत्पर न था। इसलिये सुल्तान संयम खोकर कठोर दण्ड देता था और फिर अपने स्वयं की अधीरता और जल्दबाजी को दूसरों के सिर थोपकर क्रूर बन जाता था। उसका यही चारित्रिक दोष उसकी असफलता के लिये उत्तरदायी बना।

मुहम्मद तुगलक के बारे में मुख्य विवाद उसकी क्रूर और आत्म-विरोधी प्रकृति का है। इब्नबतूता लिखता है कि, "मुहम्मद तुगलक एक ऐसा व्यक्ति था जो उपहार देने तथा रक्त बहाने में अन्य सभी से अधिक रुचि रखता है। उसके द्वार पर किसी निर्धन को धनवान बनते हुये अथवा जीवित व्यक्ति को मृत्यु के मुख में जाते हुए किसी भी समय देखा जा सकता है।" बरनी ने भी लिखा है कि, "सुल्तान ने निरपराध मुसलमानों का रक्त बतनी क्रूरता से बहाया कि सर्वदा उसके महल के दरवाजे से बहता हुआ खून का दरिया देखा जा सकता था।" इस आधार पर बरनी और बतूता ने उसे रक्त-पिपासु बताया है। इन समकालीन विवरणों के आधार पर बाद के इतिहासकार उसमें पागलपन का अंश भी बताते हैं। इनके अनुसार उसके समस्त गुणों के साथ ही उसमें किसी भी प्रकार से निर्णय का औचित्य नहीं था और इस आधार पर वह ऐसे काम कर बैठता था जो पागलपन के निकट थे। निस्सन्देह उसने साधारण अपराधों के लिये अमानवीय दंड दिये और नृशंस हत्याएँ भी कीं। परन्तु इस आधार पर हम उसे क्रूर अवश्य कह सकते हैं परन्तु क्रूरता और पागलपन में काफी अन्तर है और आवश्यक

नहीं कि क्रूर व्यक्ति पागल ही हो। डा. ए एल श्रीवास्तव उसे पागलपन के दोष से सर्वथा मुक्त मानते हैं। उनके अनुसार, "मुहम्मद तुगलक साधारण अपराधों के लिये मृत्यु-दण्ड इसलिये नहीं दिया करता था कि वह पागल था बल्कि इसलिये कि उसमें साधारण और भीषण अपराधों में अन्तर समझने की विवेकपूर्ण बुद्धि न थी।

बरनी ने जो उसके साथ लगभग सत्रह वर्ष तक रहा, उसे 'विरोधी तत्वों का मिश्रण' कहता है। यदि बरनी के पूरे विवरण को ध्यान से देखा जावे तो ऐसा लगता है कि बरनी शोचनीय अन्तर्द्वन्द्व का शिकार था और अपेक्षाकृत इसके कि उसने सुल्तान को विपरीत तत्वों का माना है, अपने पृष्ठों में स्वयं की मनोवैज्ञानिक स्थिति को प्रतिबिंबित किया है। यह सुल्तान की नीतियों का ही परिणाम था कि पद योग्यता के आधार पर दिये जाने लगे, अनेक नवीन आदेश जारी किये गये, अमीरों के वर्ग में मिश्रित जन समूह से नियुक्तियां की गई, पैगम्बर की प्रकटित पुस्तकों और परम्पराओं के प्रति सदेह की मनोवृत्ति पैदा की गई जिसने चारों ओर अराजकता फैलाई और प्रतिष्ठित अमीरों की स्थिति डावाडोल कर दी। ऐसा लगता है कि बरनी सुल्तान की इन बातों को पचा नहीं पाया और इसीलिये उसने सुल्तान की निन्दा की है। परन्तु बरनी की यह मनोदशा अधिक समय तक नहीं रहती है। जैसे ही वह पुन. मुहम्मद तुगलक के युग से लौटता है और अकस्मात अपनी वर्तमान दयनीय दशा के प्रति सजग होता है तभी उसके मनोभावों की स्थिति बदल जाती है। वह लिखता है,[1] "मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में मैंने प्रतिष्ठा और पदवी का उपयोग किया। उसके समान सरक्षक तथा उपकारी प्रशसा का पात्र है।" तब वह उसकी अत्यधिक प्रशंसा करता है। प्रो निजामी[2] ने लिखा है कि, "जब बरनी वर्तमान में है तो मुहम्मद बिन तुगलक के लिये उसके मन में प्रेम है। जब वह भूतकाल में है तो उसके पास उसके लिये घृणा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" इस तरह बरनी की मनोदशा लगातार अस्थिर है और उसी के अनुसार उसने अपने सरक्षक की मनोस्थिति का चित्रण किया है। बरनी की यह मनोदशा समझने के बाद ही सुल्तान के चरित्र को समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। डा मेंहदी हुसैन भी लिखते हैं कि, "मुहम्मद तुगलक के विरोधी गुण उसके जीवन के विभिन्न अवसरों पर प्रकट हुये और उनके लिये स्पष्ट कारण भी थे।"

मुहम्मद तुगलक की विभिन्न असफलताओं के बाद भी इतिहास में उसका अलग ही व्यक्तित्व व स्थान है। डा ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि, "मध्य-युग में

1. बरनी, तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ. 466
2. खलीक निज़ामी, वही, पृ. 473

अपना सिर रख दिया। अफीफ ने लिखा है कि "खुदावन्दजादा ने सुल्तान फीरोज का सिर अपनी गोद में रख लिया और सुल्तान तुगलकशाह व सुल्तान मुहम्मद शाह का ताज फीरोज को पहना दिया।"

क्या फीरोज अपहरणकर्ता था—फीरोज द्वारा इस प्रकार सत्ता-प्राप्ति में पहली विचारणीय बात यह है कि क्या फीरोज सिंहासन का अपहरणकर्ता था अथवा क्या सिंहासन पर उसका न्यायोचित अधिकार न था? डा. **आर. सी. जौहरी** ने समकालीन स्त्रोतों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि फीरोज अपहरणकर्ता था। (अ) उनके अनुसार बरनी के अतिरिक्त किसी समकालीन इतिहासकार ने मुहम्मद तुगलक के द्वारा फीरोज को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने की बात नहीं लिखी है। यद्यपि बदायूंनी ने इस बात की चर्चा की है परन्तु एक ओर तो बदायूंनी ने अपने ग्रन्थ की रचना 16वीं शताब्दी में की और दूसरे उसने बरनी के ही विवरण के आधार पर लिखा इसलिये उसे अधिक मान्यता देना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त स्वयं बरनी फीरोज शाह का प्रशंसक था इसलिये उसने दावर मलिक व मुबारकखाँ के विरुद्ध फीरोज के पक्ष को दृढ़ करने के लिये इस प्रकार की मनगढ़न्त कहानी जोड़ दी थी। डा. जौहरी[1] का कथन है कि यदि मुहम्मद तुगलक ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया होता तो सुल्तान मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के तुरन्त बाद तथा अपने आप ही फीरोज का राज्याभिषेक हो जाता और अमीरों अथवा मलिकों को उसको चुनने की आवश्यकता नहीं होती। (ब) यदि फीरोज मुहम्मद तुगलक के द्वारा अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया गया होता तो खुदावन्दजादा बेगम फीरोज के विरुद्ध अपने पुत्र दावर मलिक के अधिकार की माँग न करती। इसके साथ ही यह भी तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि अमीरों ने दावर मलिक के अधिकार की उपेक्षा उसके अयोग्य होने के आधार पर की थी। उन्होंने यह युक्ति नहीं रक्खी थी कि सुल्तान ने फीरोज को मनोनीत किया। (स) फिरोज जिसे समस्त इतिहासकार मुहम्मद तुगलक के प्रति अत्यधिक आज्ञाकारी मानते हैं, यदि मनोनीत किया गया होता तो गद्दी पर बैठने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट न दिखाता। इसीलिये वूल्जले हेग ने कहा है कि क्योंकि फीरोज यह जानता था कि वह मुहम्मद तुगलक का उत्तराधिकारी नहीं है अतः उसने गद्दी पर बैठने में आनाकानी की। (द) इसके अतिरिक्त यदि मुहम्मद तुगलक ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया होता अथवा मृत्यु शय्या पर उसकी इस प्रकार की इच्छा होती तो निश्चित ही समकालीन इतिहासकार अफीफ इस तथ्य को लिखने में न चूकता। (य) अन्त में यद्यपि मुहम्मद तुगलक ने गद्दी छोड़कर काबा जाने का विचार किया था परन्तु उस स्थिति में भी उसने शासन सूत्र फीरोज के हाथों में नहीं

---

1. आर. सी. जौहरी—फीरोज तुगलक, पृ.12–13

इसीलिये वह उसे प्रशासन के प्रत्येक क्षेत्र से भिज्ञ करना चाहता था। समय-समय पर वह उसे अपने साथ अभियानों म भी ले जाता था। 1340-41 ई में ऐन-उल-मुल्क मुल्तानी के विद्रोह के समय फीरोज उसके साथ था। 1346 में जब मुहम्मद बिन तुगलक गुजरात के विद्रोह को दबाने के लिये गया तो उसने फीरोज को नायब प्रतिशासक (वाइस-रीजेन्ट) नियुक्त कर दिल्ली में रखा। इस पद पर वह लम्बे समय तक रहा।

फीरोज का राज्याभिषेक—थट्टा के निकट सोंडा नामक स्थान पर जब मुहम्मद बिन तुगलक की 20 मार्च 1351 ई को मृत्यु हुई तब फीरोज शाही शिविर में मौजूद था। शाही खेमे में घोर निराशा व्याप्त थी क्योंकि न तो सैनिकों को तगी के विरुद्ध कोई नेतृत्व दे सकता था और न ही उन्हें सुरक्षित रूप में दिल्ली पहुंचाने में ही कोई समर्थ था। तगी के विरुद्ध अभियान में भर्ती किये गये मगोल शाही शिविर को लूटने म लगे थे। शाही खेमे में यदि कोई चीज देखने को मिलती थी तो यह केवल अव्यवस्था ही थी। ऐसी स्थिति में शाही खेमे में उपस्थित अमीरों, मलिकों व विशिष्ट व्यक्तियों ने फीरोज को उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय लिया। शेख नासिरुद्दीन अवधी चिराग-ए-देहलवी व खलीफा अल्मुस्तमिर बिल्ला के वशज गयासुद्दीन ने इसमें सक्रिय भाग लिया। अमीरों के इस प्रकार एकमत होने पर भी फीरोज सुल्तान बनने के लिये आनाकानी करता रहा। अफीफ ने इसका वर्णन करते हुये लिखा है कि "तातारखां ने, जो सबसे अधिक वृद्ध था, खड़े होकर जबरदस्ती फीरोज को गद्दी पर बैठा दिया। सुल्तान ने नमाज पढ़ी, ईश्वर से सहायता की प्रार्थना की और राजमुकुट धारण किया।" डा त्रिपाठी[1] ने लिखा है कि अमीरों ने अपने निर्णय को पुष्ट करने के लिये यह घोषणा की कि मुहम्मद तुगलक ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। 23 मार्च 1351 ई. को फीरोज इस प्रकार सुल्तान बना।

फीरोज के गद्दी प्राप्त करने के बाद पहला विद्रोह सुल्तान ग्यासुद्दीन की पुत्री व मुहम्मद तुगलक की बहन खुदावन्दजादा के रूप में सामने आया। खुदावन्दजादा ने अपने पुत्र दावर मलिक के अधिकार की पुष्टि की तथा उसके होते हुये फीरोज के अधिकार को अनुचित बताया। अमीरों तथा मलिकों ने मलिक सैफुद्दीन के माध्यम से, जो बड़ा ही स्पष्टवादी था, खुदावन्दजादा को यह कहला भेजा कि "यदि उनके अयोग्य पुत्र को सुल्तान बनाया गया तो हमारे लिये न तो कोई सुरक्षा के लिये घर ही मिलेगा और न ही हमें प्रसन्न रखने के लिये स्त्री तथा बच्चे ही मिलेंगे। यदि तुम स्वय की सैनिकों से रक्षा चाहती हो तो हमारे निर्णय को स्वीकार करो। नायब बारबक के पद से तुम्हारे पुत्र को सुशोभित किया जावेगा।" खुदावन्दजादा मन मसोस कर रह गई। फीरोज सुल्तान बन गया और उसने अन्तःपुर में जाकर खुदावन्दजादा के चरणों में

1. आर. पी त्रिपाठी—सम आस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 65

अपना सिर रख दिया। अफीफ ने लिखा है कि "खुदावन्दजादा ने सुल्तान फीरोज का सिर अपनी गोद में रख लिया और सुल्तान तुगलकशाह व सुल्तान मुहम्मद शाह का ताज फीरोज को पहना दिया।"

क्या फीरोज अपहरणकर्ता था—फीरोज द्वारा इस प्रकार सत्ता-प्राप्ति में पहली विचारणीय बात यह है कि क्या **फीरोज** सिंहासन का अपहरणकर्ता था अथवा क्या सिंहासन पर उसका न्यायोचित अधिकार न था? **डा. आर. सी. जौहरी** ने समकालीन स्त्रोतों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि फीरोज अपहरणकर्ता था। (अ) उनके अनुसार बरनी के अतिरिक्त किसी समकालीन इतिहासकार ने मुहम्मद तुगलक के द्वारा फीरोज को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने की बात नहीं लिखी है। यद्यपि बदायूंनी ने इस बात की चर्चा की है परन्तु एक ओर तो बदायूंनी ने अपने ग्रन्थ की रचना 16वीं शताब्दी में की और दूसरे उसने बरनी के ही विवरण के आधार पर लिखा इसलिये उसे अधिक मान्यता देना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त स्वयं बरनी फीरोज शाह का प्रशंसक था इसलिये उसने दावर मलिक व मुबारकखां के विरुद्ध फीरोज के पक्ष को दृढ़ करने के लिये इस प्रकार की मनगढ़न्त कहानी जोड़ दी थी। डा. जौहरी[1] का कथन है कि यदि मुहम्मद तुगलक ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया होता तो सुल्तान मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के तुरन्त बाद तथा अपने आप ही फीरोज का राज्याभिषेक हो जाता और अमीरों अथवा मलिकों को उसको चुनने की आवश्यकता नहीं होती। (ब) यदि फीरोज मुहम्मद तुगलक के द्वारा अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया गया होता तो खुदावन्दजादा बेगम फीरोज के विरुद्ध अपने पुत्र दावर मलिक के अधिकार की मांग न करती। इसके साथ ही यह भी तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि अमीरों ने दावर मलिक के अधिकार की उपेक्षा उसके अयोग्य होने के आधार पर की थी। उन्होंने यह युक्ति नहीं रखी थी कि सुल्तान ने फीरोज को मनोनीत किया। (स) फिरोज जिसे समस्त इतिहासकार मुहम्मद तुगलक के प्रति अत्यधिक आज्ञाकारी मानते हैं, यदि मनोनीत किया गया होता तो गद्दी पर बैठने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट न दिखाता। इसीलिये वूल्जले हेग ने कहा है कि क्योंकि फीरोज यह जानता था कि वह मुहम्मद तुगलक का उत्तराधिकारी नहीं है अतः उसने गद्दी पर बैठने में आनाकानी की। (द) इसके अतिरिक्त यदि मुहम्मद तुगलक ने फीरोज को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया होता अथवा मृत्यु शय्या पर उसकी इस प्रकार की इच्छा होती तो निश्चित ही समकालीन इतिहासकार अफीफ इस तथ्य को लिखने में न चूकता। (य) अन्त में यद्यपि मुहम्मद तुगलक ने गद्दी छोड़कर काबा जाने का विचार किया था परन्तु उस स्थिति में भी उसने शासन सूत्र फीरोज के हाथों में नहीं

1. आर. सी. जौहरी—फीरोज तुगलक, पृ.12-13

अपितु फीरोज, मलिक कबीर व अहमद अयाज के हाथों में संयुक्त रूप से छोड़ने की इच्छा व्यक्त की थी। इन आधारों पर फीरोज को न्यायोचित अधिकारी मानना उचित न होगा।

आधुनिक इतिहासकारों ने बरनी के विवरण के आधार पर यह विचार व्यक्त किया है कि "संयुक्त मुस्लिम जनमत" के आधार पर फीरोज सत्तारूढ़ हुआ था। परन्तु खुदावन्दजादा का विरोध तथा फीरोज के द्वारा उसको शान्त करना और थट्टा से देहली की यात्रा के बीच उस पर किये गये आघात यह बताते हैं कि फीरोज को गद्दी पर बैठने के बाद भी न तो उसे समस्त शिविर के लोगों ने सुल्तान स्वीकार किया था और न ही उसको अपदस्थ करने के प्रयास को ही छोड़ा था। बरनी स्वयं यह स्वीकार करता है कि खुदावन्दजादा के समर्थकों ने लगभग पांच बार फीरोज की हत्या करने का प्रयास किये थे। सीरत-ए-फीरोज शाही में भी षड्यन्त्रकारियों के नाम दिये बगैर इन प्रयासों का विवरण मिलता है। लेखक केवल यही कहता है कि ये षड्यन्त्रकारी सुल्तान के सम्बन्धी थे। डा जौहरी[1] ने लिखा है कि फीरोज इनको दण्डित करने का साहस न रखता था सम्भवतः इसलिये कि ये सुयोजित थे तथा अपराधी परिणामों को भुगतने के लिये काफी शक्तिशाली थे। यह भी सम्भव हो सकता है कि फीरोज का पक्ष दुर्बल था और यदि उसने इन षड्यन्त्रकारियों के विरुद्ध कोई कार्यवाही की होती तो यह एक असुखद घटना को ख्याति देने के बराबर होती।

क्या फीरोज अनिच्छा से गद्दी पर बैठा था?—बरनी के विवरण से ऐसा आभास होता है कि फीरोज स्वयं सिंहासन पर बैठने के लिये उत्सुक नहीं था बल्कि अमीरों और मलिकों द्वारा बाध्य किये जाने पर गद्दी पर बैठा था। परन्तु अब इस विचार को अधिक मान्यता नहीं दी जाती है। डा यू एन डे ने यह सिद्ध किया है कि फीरोज बहुत सच्चरित्र नहीं था। वह शराब पीता था और नाच-गाने, विशेषकर गाना सुनने का शौकीन था। ऐसा भी नहीं माना जा सकता कि उसमें महत्वाकांक्षायें नहीं थी बल्कि मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद सिंहासन के उत्तराधिकार के लिये जो विभिन्न गुट बन गये थे, फीरोज उनमें से एक गुट में था। प्रभावशाली उलेमा-वर्ग और इस्लाम के कट्टर समर्थक जो मुहम्मद तुगलक की नीति से असन्तुष्ट थे फीरोज के पक्ष में थे और वह भी बड़ी सावधानी से उनका समर्थन प्राप्त करता रहा। थट्टा से दिल्ली आते समय वह सभी सूफी सन्तों की मजार के दर्शन के लिये गया। उसने जीवित धर्माधिकारियों को सम्मान प्रदान किया और सर्दव वह सूफियों के प्रति सद्भावना दिखाता रहा। जब उसे गद्दी पर बैठने के लिये आमन्त्रित किया गया, इस अवसर पर यद्यपि उसके समर्थकों की संख्या काफी थी परन्तु फिर भी उसकी स्थिति सुनिश्चित नहीं थी। उसके संकोच का यही कारण था अन्यथा उसने

1. आर. सी. जौहरी, वही, पृ 17

कट्टर सुन्नी-वर्ग का समर्थन प्राप्त कर सिंहासन को प्राप्त करने की लालसा की थी। डा. डे ने लिखा है कि, "उसकी अरुचि और संकोच का कारण राज्य के सभी वर्गों से अपने लिये समर्थन प्राप्त करने की अनिश्चितता का परिणाम था।" डा. डे ने पुनः लिखा है कि, "सुल्तान मुहम्मद के एक पुत्र था जो उस समय शिकार पर गया था और जिसका फीरोज ने अपने अमीरों की सहायता से वध करवाकर सिंहासन पर अधिकार कर लिया।" बरनी और अफीफ फीरोज के कृपा-पात्र थे और उन्होंने एक ओर तो उसके विरुद्ध लिखने का साहस नहीं किया और दूसरी ओर ऐसी मनगढ़न्त कहानियों को जोड़ दिया जिनसे फीरोज का पक्ष दृढ़ किया जा सके। डा. डे का मत तर्क-संगत है क्योंकि ऐसे संकट के समय में जब कि सेना थट्टा में थी उस समय फीरोज को चुनना, जिसमें कोई सैनिक-प्रतिभा नहीं थी, उपयुक्त नहीं था। फिर वह अपने समस्त राज्य-काल में उलेमा-वर्ग पर निर्भर रहा। ये तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि फीरोज ने धार्मिक वर्ग और मुहम्मद तुगलक की नीतियों से असन्तुष्ट वर्ग से सांठगांठ कर गद्दी प्राप्त करने का प्रयास किया और उसमें वह सफल हुआ।

अहमद अयाज ख्वाजा जहां का विद्रोह—जब फीरोज थट्टा से दिल्ली की ओर बढ़ रहा था तो उच्छ में उसे सूचना मिली की वजीर ख्वाजा जहां ने एक छः अथवा सात वर्ष के बालक को सुल्तान मुहम्मद तुगलक का पुत्र घोषित कर 1 अप्रेल 1351 ई. को ग्यासुद्दीन महमूद की उपाधि से सुल्तान घोषित कर दिया है। ख्वाजा ने अनेक अमीरों जैसे आजम-ए-मुल्क, हिसामुद्दीन आदि को अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया परन्तु उन्होंने फीरोज के प्रति अपनी आस्था दिखाई। यह देखकर कि फीरोज शीघ्रताशीघ्र दिल्ली की ओर बढ़ रहा है, ख्वाजा ने धन आदि बांटकर लगभग बीस हजार घुड़सवारों की सेना फीरोज के विरोध के लिये तैयार कर ली। उसने फीरोज के पास दूतों को भेजकर यह सन्देश पहुँचाया कि, "सल्तनत व राजसत्ता दिवंगत सुल्तान के परिवार में ही है इसलिये वह राज्य की सुरक्षा में 'नायब' का उच्च पद स्वीकार कर ले।" फीरोज ने शेख, उलेमाओं, मलिक, खान आदि को सलाह के लिये एकत्रित किया जिन्होंने फीरोज को इसके विरोध में सलाह दी।

ख्वाजा जहां ने सुल्तान फीरोज का विरोध करने की नीति अपनाई, परन्तु एक के बाद एक उसके सहायक सुल्तान से जा मिले। मलिक मकबूल द्वारा ख्वाजा का पक्ष छोड़े जाने पर उसने सुल्तान के सम्मुख आत्मसमर्पण करना अधिक उचित समझा जिससे कि वह उसे समुचित परिस्थितियों की जानकारी दे सके। ख्वाजा ने सुल्तान को जानकारी दी कि सुल्तान मुहम्मद तुगलक की मृत्यु तथा फीरोज और तातारखां के लापता होने की सूचना पाकर तथा मंगोलों की उग्र गतिविधियों को ध्यान में रखकर उसने सल्तनत की सुरक्षा के लिये यह कदम उठाया था। फीरोज

ने ख्वाजा की आयु को देखते हुये उसे समाना की जागीर दे दी जिससे वह अपने अन्तिम वर्ष ईश्वर-भक्ति मे व्यतीत करे। परन्तु सम्भवत उसी के इशारे पर समाना पहुँचने के पहले ही शेरखा ने ख्वाजा की हत्या कर दी। उसके सहायकों को भी दण्डित किया गया तथा बरनी के अनुसार उन सब का वध कर दिया गया।

डा आर पी त्रिपाठी, प्रो श्रीराम शर्मा तथा वूल्जले हेग बालक को मुहम्मद तुगलक का पुत्र स्वीकार करते हैं जबकि डा. ईश्वरी प्रसाद, ए. सी बनर्जी आदि उसे सुल्तान मुहम्मद तुगलक का पुत्र स्वीकार नहीं करते हैं। आगा मेंहदी हुसैन का मत है कि सुल्तान मुहम्मद तुगलक के दो पुत्र थे जिनमें से एक वही बालक था जो ख्वाजा के द्वारा सुल्तान घोषित किया गया था।

फीरोज की कठिनाइयाँ—मुहम्मद तुगलक के अन्तिम वर्षों मे ही तुगलक साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा था। दक्षिण मे विजयनगर और बहमनी राज्यो की स्थापना से वह प्रदेश तुगलकों के हाथ से निकल चुका था। बगाल ने सल्तनत के परन्तत्रता के जूडे को उतार फेंका था और थट्टा से फीरोज के दिल्ली की ओर चलने पर सिन्ध का प्रदेश भी स्वतन्त्र हो गया था। इस प्रकार सल्तनत की सीमाएँ पजाब, दिल्ली, दोआब, अवध, बिहार का कुछ भाग, मालवा तथा गुजरात मे सकुचित हो गयी थीं।

इससे भी अधिक गहन समस्या आन्तरिक शासन से सम्बन्धित थी। बरनी[1] ने लिखा है कि, "कुछ लोगों का अकाल के कारण विनाश हो गया और कुछ व्यापक रोगो के कारण मृत्यु को प्राप्त हो गये। कुछ लोगो ने कठोर दण्ड (मृत्यु दण्ड) के कारण प्राण त्याग दिये। कुछ लोग घर-बार छोडकर दूर-दूर के स्थानो को चले गये और परदेश तथा दीनता स्वीकार कर ली। कुछ लोग पर्वतो तथा जगल के आचलो में घुस गये।" राज्य की गिरती हुई आर्थिक स्थिति फीरोज के लिये एक चुनौती थी। इसके साथ ही अधिकाश मुस्लिम-वर्ग मुहम्मद तुगलक की धार्मिक नीति और व्यवहार मे उसके विरोध में हो गया था। फीरोज के लिये इन समस्याओं का हल निकालना एक कठिन कार्य था।

फीरोज ने स्वय की कमियों को ध्यान मे रखते हुये यह प्रयत्न करना भी ठीक नहीं समझा कि वह उन प्रदेशों से पुन दिल्ली की अधीनता स्वीकार करवाये जो उससे मुक्त हो गये थे। इसलिये बची हुई सीमाओं की सुरक्षा करना, राज्य के नागरिको मे सन्तोष उत्पन्न करना, राज्य की आर्थिक सम्पन्नता स्थापित करना तथा मुस्लिम-वर्ग को सन्तुष्ट करके उनकी सहानुभूति प्राप्त करना उसके उद्देश्य रहे। वह स्वय यद्यपि कुशल शासन-प्रबन्धक नहीं था, परन्तु योग्य व्यक्तियों को खोज निकालने की क्षमता उसमे अद्वितीय थी और फिर वह उनमे विश्वास कर अधिकार

---

1 सइहर अब्बास रिजवी—तुगलक कालीन भारत, भाग 2, पृ 30

प्रदान करता या तथा उनसे वफादारी प्राप्त कर सकता था। इसलिये उसका समस्त शासन-काल सम्पन्नता की दृष्टि से अत्यन्त सफल रहा। दिल्ली के सुल्तानों में वह एकमात्र शासक रहा जिसने अपनी प्रजा की भलाई के लिये सतत प्रयत्न किया। इस दृष्टि से वह एक अपवाद ही था। विभिन्न दृष्टिकोणों से अपने समय से आगे होते हुये और जन-कल्याण का आदर्श रखते हुये भी उसकी इच्छा एक आदर्श मुसलमान बनने की रही। इसीलिये उसकी धार्मिक नीति सुन्नी मुसलमानों के समर्थन उलेमा वर्ग से प्रभावित व हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता की रही।

फीरोज का आन्तरिक शासन

राजस्व व्यवस्था—फीरोज की सत्तारूढ़ होते समय राज्य की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। मुहम्मद तुगलक के प्रयोगों के कारण खजाना खाली था और रही-सही कसर विद्रोहों को दबाने के खर्चे ने पूरी कर दी थी जिनकी उसके शासन के अन्तिम वर्षों में झड़ी सी लग गई थी। मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के बाद वजीर ख्वाजा जहान ने अपने समर्थकों में धन आदि लुटाकर स्थिति को और भी दयनीय बना दिया था। अफीफ[1] ने लिखा है कि राजकोष का धन खत्म करने के बाद उसने सोने और चांदी के बर्तन अपने समर्थकों में बांटे। अफीफ[2] ने लिखा है कि फीरोज को थट्टा से दिल्ली तक के मार्ग में अपने सैनिकों का भुगतान करने के लिये साहूकारों से धन उधार लेना पड़ा था।

फीरोज इस आर्थिक संकट के प्रति जागरूक था। सबसे पहले उसने अपने पक्ष को दृढ़ करने के लिये जिस सम्पत्ति को विभिन्न व्यक्तियों को दिया गया था उसे उनके पास ही रहने दिया और शरा के अनुसार शासन करने का आश्वासन दिया। शरा के अनुसार उसने केवल चार कर लगाये जिनको मोटे रूप से जकात, खराज, जजिया व खम्स कहते हैं।

शरा का पालन करते हुये उसने उन समस्त उपकरों (Cesses) को रद्द कर दिया जिनकी उसमें आज्ञा नहीं दी गई थी। फतूहात-ए-फीरोज शाही के अनुसार उसने राज्य की आय खराज, उसर, जकात, जजिया, खम्स व तरकत पर आधारित की। सीरत-ए-फीरोज शाही में ऐसे रद्द उपकरों की संख्या 25 बताई गई है जबकि फतूहात-ए-फीरोज शाही में इनकी संख्या 26 है। काजी नसरुल्लाह ने शाही फरमान के आधार पर इन गैर-कानूनी उपकरों को रद्द होने की घोषणा की। डा. आर. जी. जौहरी[3] के अनुसार, "इन उपकरों की मनसूखी के कारण राज्य को प्रतिवर्ष तीस लाख टंक का नुकसान उठाना पड़ा।" अफीफ ने उपकरों के रद्द करने की

1. अफीफ—तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ. 52–53
2. वही, पृ. 61
3. आर. सी. जौहरी—फीरोज तुगलक, पृ. 94

तिथि 1375-76 ई में बताई है परन्तु यह इसलिये मान्य नहीं है कि सरित-ए-फीरोज शाही, जिसको लिखकर 1371 ई में ही पूरा कर दिया गया था, इन उपकरों की समाप्ति का विवरण देती है। इसलिये निश्चित ही ये उस तिथि के पहले रद्द किये गये होंगे।

खराज तथा उसर—खराज का शाब्दिक अर्थ भूमि पर लगाया गया कर है। शरा के अनुसार यह उपज के 1/5 भाग से कम अथवा 1/2 भाग से अधिक नहीं हो सकता। बरनी के अनुसार उसने खराज व जजिया उत्पत्ति के आधार पर वसूल करने का आदेश दिया। बटाई, अत्यधिक वसूली व काल्पनिक हिसाब-किताब को पूरी तरह से खत्म कर दिया। वह उसी निश्चित कर से सन्तुष्ट रहता था जिसे किसान बिना किसी आपत्ति, कठिनाई तथा कठोरता से दे सकता था। परन्तु अफीफ[1] ने लिखा है कि, "सुल्तान ने राज्य-कर नये सिरे से निश्चित करने का विचार करके ख्वाजा हुसामुद्दीन जुनैद को इस कार्य के लिये नियुक्त किया।" छः वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद राज्य की आय 6 करोड़ 75 लाख टंक निश्चित किया गया जो फीरोज के सम्पूर्ण राज्यकाल में बना रहा।

इस प्रकार बरनी तथा अफीफ के विचारों में विरोध है। डा. आर. सी जौहरी[2] बरनी के विवरण को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि जजिया उपज के अनुपात में वसूल नहीं किया जा सकता था। यह केवल प्रति व्यक्ति निश्चित कर था। अफीफ स्पष्ट लिखता है कि ख्वाजा ने राज्य में घूम-घूमकर अपने निरीक्षण के आधार पर कर निश्चित किया था इसलिये बरनी का विवरण मान्य नहीं है। साथ ही क्योंकि राज्य की आय सुल्तान के समस्त राज्यकाल में एक जैसी ही बनी रही इसलिये उपज के आधार पर जो कि विभिन्न फसलों के बोये जाने पर प्रत्येक वर्ष भिन्न हो सकती थी इसलिये इसको अपनाना सम्भव न था। डा. जौहरी का स्पष्ट मत है कि फीरोज ने अनुपातिक खराज की अपेक्षा निश्चित खराज लेने की नीति अपनाई थी जो पुराने लेखे-जोखे पर आधारित थी। उसर उपज का 1/10 भाग था जो मुसलमानों से वसूल किया जाता था।

जकात—जकात एक धार्मिक तथा सम्पत्ति कर था। इस्लाम के पाँच आधारभूत सिद्धान्तों में जकात एक था। प्रत्येक मुसलमान के लिये इसका पालन करना एक फर्ज था। इसके धार्मिक गुणों तथा एकत्रित और बाटने के सम्बन्ध में जो कड़े नियम थे उनके कारण भारत में यह एक धार्मिक कर के रूप में समाप्त हो गया था। इसके बदले यह सर्वसाधारण से चुंगी कर के रूप में वसूल किया जाने लगा। यह स्पष्ट नहीं है कि इसे किस प्रकार से एकत्रित किया जाता था अथवा बाटा

1 अफीफ-वही, पृ 94
2. आर. सी जौहरी-वही, पृ. 97

जाता था। अफीफ के विवरण से केवल यह जानकारी मिल पाई है कि फीरोज सराय-ए-अदल पर इसे चुंगी कर के रूप में लेता था। कट्टर सुन्नी मुसलमान होने के नाते वह इसे मुस्लिम-वर्ग के लाभ के लिये ही खर्च करता था। अफीफ ने लिखा है कि, "दिल्ली में एकत्रित किये गये जकात में से सुल्तान ने दरिद्र मुसलमानों को जिनको अपनी अनेक कन्याओं का विवाह सम्पन्न करना था प्रतिदिन एक टंका अनुदान देता था।" मकबरों, मस्जिदों आदि की मरम्मत में भी जकात का एक बड़ा भाग खर्च किया जाता था।

जजिया—एक मुस्लिम राज्य में गैर-मुस्लिमों (जिम्मियों) द्वारा जीवन-रक्षा के बदले दिये जाने वाले कर को जजिया कहते थे। यह भी माना जाता है कि विधर्मी होने के नाते उनसे इस्लाम के राज्य की सुरक्षा में सहयोग की आशा नहीं की जा सकती थी। इस सैनिक के बदले में उनसे जो कर वसूल किया गया वह जजिया कहलाया। फीरोज ने जजिया वसूल करने में विशेष रुचि ली। 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में वह इसे जजिया-ए-हुनूद (हिन्दू) कहता है। अपने राज्यकाल में वह 40 टंका, 20 टंका व 10 टंका प्रति वर्ष क्रमशः धनी, मध्यम व गरीब हिन्दू वर्ग से वसूल करता था। फीरोज तुगलक के समय में पहली बार ब्राह्मणों से भी ये कर वसूल किया जाने लगा। ब्राह्मणों ने इसका प्रतिरोध किया तथा आत्मदाह की भी धमकी दी। डा. आर. सी. जौहरी के अनुसार फीरोज कर वसूल करने के लिए कटिबद्ध था और इसलिए दिल्ली के हिन्दू अमीरों ने उनकी ओर से इस कर को चुकाने की जिम्मेदारी उठाई। फीरोज ने केवल यह रियायत (छूट) दी कि ब्राह्मणों से पचास-पचास जीतल के मूल्य के दस टंका ही लिये जावें।[1]

तरकत—ऐसी सम्पत्ति जो किसी व्यक्ति के द्वारा बगैर उत्तराधिकारी के छोड़ी गई हो तरकत कहलाती थी। इस प्रकार की सम्पत्ति राज्य में मिला ली जाती थी। ऐसी सम्पत्ति से प्राप्त आय नगण्य ही रही होगी क्योंकि फीरोज इस प्रकार की सम्पत्ति को मृतक व्यक्ति के निकट सम्बन्धी का दे देता था। परन्तु एमादुलमुल्क की 12 करोड़ की सम्पत्ति में से फीरोज ने 9 करोड़ की सम्पत्ति राज्य में मिला ली। यह केवल एक अपवाद था।

खम्स—लूट में प्राप्त धन को खम्स कहते थे। शरा के अनुसार इसका 1/5 भाग राज्य का तथा 4/5 भाग सैनिकों का माना जाता था। सुल्तान अलाउद्दीन ने इसके विपरीत 4/5 भाग राज्य में लेना आरम्भ कर दिया। फीरोज ने शरा के नियम के अनुसार यह आदेश दिया कि 4/5 भाग सैनिकों में बांट दिया जावे और केवल 1/5 भाग ही राज्य-कोष में जमा कर दिया जावे। जाजनगर के अभियान के बाद उसने इसी आधार पर लूट के माल का बंटवारा किया था।

1. एस. ए. ए. रिजवी—तुगलक कालीन भारत, भाग 2, पृ. 151

सिंचाई व्यवस्था—सिंचाई की सुविधा की ओर फीरोज ने ध्यान दिया। डा आर सी जौहरी के अनुसार, गयासुद्दीन ने जिस नीति को प्रारम्भ किया था फीरोज के शासनकाल में उसका फलन हुआ। फीरोज ने पाच बडी नहरो का निर्माण कराया। इनमे से एक 150 मील लम्बी नहर यमुना नदी से हिसार तक बनायी गई। दूसरी 96 मील लम्बी सतलज से घग्घर तक जाती थी। तीसरी नहर सिरमौर की पहाडियो के निकट से शुरू होकर हांसी तक जाती थी। चौथी नहर घग्घर से फीरोजाबाद तक और पाँचवीं यमुना नदी से फीरोजाबाद तक जाती थी।

यद्यपि ये नहरें आज की तुलना में प्रारम्भिक अवस्था में थी जिनका मुख्य उद्देश्य उस द्वारा नव निर्मित शहर हिसार फीरोजा व फीरोजाबाद तक पानी पहुचाना था। परन्तु फिर भी इनके कारण कृषि योग्य भूमि में वृद्धि हुई। बरनी ने लिखा है कि 'अब जल के कारण मोठ तथा तिल के स्थान पर गन्ना गेहू तथा चने बोये जाने लगे अजीर नींबू व आम उगने लगे। इस भू भाग में इतनी अधिक उत्तम वस्तुएँ उगने लगी कि बाहुल्य के कारण बिकने के लिए दिल्ली में जाने लगी। फीरोज की इस व्यवस्था के कारण ही अफीफ के अनुसार अकेले दोआब में 52 गाव नये बस गये तथा हासी, समाना और जिन्द के शिक और इक्ताओं में इनकी सख्या चार गुनी बढ गई। फीरोज को इससे अतिरिक्त लाभ यह भी हुआ कि उसने इन प्रदेशो से सिंचाई-कर लेना प्रारम्भ किया जो इन प्रदेशों से लगभग दो लाख टक प्रतिवर्ष वसूल किया जाता था।

फीरोज को बाग लगाने का बडा चाव था। सुल्तान ने दिल्ली के आस पास लगभग 1200 बाग लगवाये जिनमें फलो की खेती जाने लगी। अगूर इतनी अधिक मात्रा में पैदा किये जाने लगे कि वे 1 जीतल प्रति सेर के हिसाब से बिकने लगे। इन बागो से राज्य को प्रति वर्ष 80 हजार टका की आय थी।

राजस्व नीति के परिणाम—यद्यपि फीरोज की राजस्व नीति कट्टर इस्लामी सिद्धान्तो पर आधारित थी जिसमें जजिया जैसा घृणापूर्ण कर सम्मिलित था तथा जागीरों को पुन देने की व्यवस्था भी गई थी परन्तु फिर भी उसकी नीति से उपज में वृद्धि हुई श्रेष्ठ किस्मो की फसलो को पैदा किया जाने लगा और वस्तुओं के बाहुल्य से उनकी कीमत गिर गई। अनाज कपडा फल तथा जीवन की आवश्यकतायें इतनी सस्ती हो गई थीं कि लोग अलाउद्दीन के समय के सस्तापन को भूल गये। अलाउद्दीन का सस्तापन नकली अथवा कृत्रिम था परन्तु फीरोज के समय में सस्तापन स्वाभाविक था तथा आर्थिक कारणो पर आधारित था। अनाज का भाव प्रति मन केवल 8 जीतल था तथा एक सेर घी दो से अढाई जीतल में खरीदा जा सकता था। मिठाइया अत्यधिक सस्ती थीं क्योकि एक सेर चीनी का मूल्य केवल 3 से 3½ जीतल

1 आर. सी जौहरी वही पृ 104

था। अफीफ[1] ने लिखा है कि, "प्रजा के घरों में इतना अनाज, धन, घोड़े एवं सम्पत्ति एकत्रित हो गई कि इसका उल्लेख सम्भव नहीं। प्रत्येक के पास सोना, चाँदी एवं सम्पत्ति हो गई। प्रजा में, स्त्रियों में से कोई ऐसी स्त्री न थी जिसके पास आभूषण न हों। प्रजा में से प्रत्येक के घर में सुन्दर बिछौने, अच्छे पलंग, अत्यधिक वस्तुएं एवं धन सम्पत्ति एकत्र हो गई थी।" अफीफ[2] ने आगे लिखा है कि, "इस प्रकार देहली राज्य के शहर तथा कस्बों के सभी लोगों को सुख तथा शान्ति प्राप्त थी। सभी वस्तुएं सस्ती थीं और प्रत्येक सामग्री का बाहुल्य था। लोग इतने सुख में थे कि निर्धन लोग भी अपनी पुत्रियों का विवाह अल्पावस्था में कर देते थे।" डा. आर. सी. जौहरी ने लिखा है कि, "अफीफ का यह विवरण अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण है। प्रथमतः यह सम्पन्नता केवल नहरों के आस-पास के क्षेत्रों तक ही सीमित रही होगी। राज्य के दूसरे भागों में लोगों का भाग्य उसके राज्यकाल के पहले की ही तरह रहा होगा। यह कहना अनुचित है कि कोई स्त्री ऐसी न थी जिसके पास आभूषण न हों तथा कोई घर ऐसा न था जो अनाज तथा जीवन की दूसरी आवश्यकताओं से परिपूर्ण न हो।" केवल यही कहा जा सकता है कि फीरोज के राज्यकाल में लोगों की भौतिक स्थिति में सुधार हुआ था।

परन्तु फीरोज की व्यवस्था में दो मूल दोष रहे। फीरोज के समय में जागीरदारी प्रथा प्रचलित थी और जागीरदारों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे किसानों की भलाई के प्रति जागरुक रहेंगे। यह स्थिति उस समय और अधिक गम्भीर हो जाती है जब उस समय जागीरें केवल राज्य के बड़े पदाधिकारियों को ही नहीं वल्कि सभी महत्वपूर्ण सैनिक और असैनिक पदाधिकारियों को भी दी जाती थीं। दूसरे भूमि को ठेके पर लेने वाले पेशेवर व्यक्ति भी किसानों से अधिक धन वसूल करते थे। ऐसी स्थिति में किसान की दशा अधिक अच्छी नहीं रही होगी। परन्तु इन दो दोषों के होते हुए भी फीरोज के समय में प्रजा सम्पन्न व सुखी थी।

परोपकार के कार्य—फीरोज ने बेरोजगारी को समाप्त करने के लिए एक रोजगार का दफ्तर स्थापित किया। उसने कोतवाल को आदेश दिया कि वह प्रत्येक मोहल्ले में घूमकर ऐसे प्रतिष्ठित लोगों का पता लगावे जो गरीबी के कारण परेशान थे। सुल्तान क्योंकि उनमें से प्रत्येक के पूर्वजों को जानता था अतः वह उन्हें किसी कार्य में लगा देता था। अफीफ ने लिखा है कि, "यदि कोई अहले कलम (विद्वान) से सम्बन्धित होता तो उसे कारखाने में दाखिल कर दिया जाता। यदि कोई

---

1. अफीफ, तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ. 99-100
2. एस. ए. ए. रिजवी, तुगलककालीन भारत, भाग 2, पृ. 121
3. आर. सी. जौहरी, वही, पृ. 109

महत्वपूर्ण कारकून होता तो वह खानेजहा को सौंप दिया जाता।" अफीफ[1] ने पुन लिखा है कि, "बहुत कम लोग बेकार रह गये थे। जहां कही भी इन बेकारो को किसी को सौंपा जाता, वहा उसकी जीविका का उत्तम प्रबन्ध हो जाता। इस प्रकार बहुत से लोगो को व्यवसाय प्राप्त हो गया।"

फीरोज ने 'दीवान-ए-खैरात' नामक एक विभाग की स्थापना भी की जो फीरोजाबाद की मस्जिद के निकट स्थित था। सैय्यद अमीर-ए-मीरान नामक व्यक्ति जो ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध था इसका अधिकारी नियुक्त किया गया। यह विभाग मुसलमान अनाथ स्त्रियो और विधवाओ को आर्थिक सहायता देता था और निर्धन मुसलमान लडकियो के विवाह को व्यवस्था करता था। सुल्तान ने ऐसी कन्याओ के पिताओ को तीन श्रेणियो म बाटा। प्रथम श्रेणी को 50, द्वितीय श्रेणी को 30 व तृतीय श्रेणी को 25 चादी के टका देने का आदेश दिया। अफीफ लिखता है कि, "सुल्तान की दया तथा उदारता से कई हजार सुशील कन्याओ का विवाह हो गया।" फीरोज न दिल्ली के निकट एक खैराती अस्पताल भी बनवाया। दीवान-ए-खैरात व खैराती अस्पताल (दारुल शफा) के खर्च के लिए अनेक समृद्ध गाव दिये गये।

शिक्षा—फीरोज स्वय विद्वान था और विद्वानों का सम्मान करता था। वह विशेषकर इस्लामी शिक्षा तथा उसके अध्ययन में रुचि रखता था। फीरोज ने पुराने मदरसो की मरम्मत करवाई तथा कई नये मदरसों को स्थापित किया। उसके द्वारा स्थापित मदरसों (स्कूल) म सबसे प्रसिद्ध दिल्ली मे होजखास के पास 'मदरसा-ए-फीरोजशाही' था। इन मदरसो में इस्लामी कानून, धर्मशास्त्रों तथा हदीस की शिक्षा दी जाती थी। यह संदिग्ध है कि इनम नक्षत्र-शास्त्र इतिहास अथवा चिकित्सा-शास्त्र की शिक्षा भी दी जाती थी। डा आर. सी जौहरी[2] के अनुसार प्रो. निजामी की ये मान्यता कि इनम इन शास्त्रो की शिक्षा दी जाती थी केवल अनुमान अथवा अन्दाजा है।

फीरोज ने ज्वालामुखी के मन्दिर के पुस्तकालय मे से प्राप्त 1300 सस्कृत के ग्रन्थों मे से कुछ का अनुवाद फारसी भाषा में करवाया। इनमे से एक का नाम 'दलायले-फीरोजशाही' था जो दर्शन और नक्षत्र विज्ञान से सम्बन्धित था। डा एन. बी. राय का यह विचार कि ये अनुवाद फीरोज की उदार तथा गैर-साम्प्रदायिक नीति के परिणाम थे, डा. आर सी जौहरी को मान्य नहीं है। उनके अनुसार क्योंकि इनका व्यावहारिक मूल्य था इसीलिये फीरोज ने इनका अनुवाद करवाया था।

---

1 एस ए ए रिजवी, तुगलुक कालीन भारत, भाग 2, पृ 136

2 आर सी जौहरी, वही पृ 155

फीरोज स्वयं एक लेखक था जिसने 'फतुहात-ए-फीरोजशाही' की रचना की। वह विद्वानों को भी संरक्षण देने में आगे था। इसी कारण बरनी ने 'फतवा-ए-जहांदारी', 'तारीख-ए-फीरोजशाही' व 'सन-ए-मुहम्मदी' को लिखा। शम्से-सिराज अफीफ ने 'तारीख-ए-फीरोजशाही' व चार अन्य ग्रन्थों की रचना की। एक अन्य विद्वान ने 'सरित-ए-फीरोजशाही' लिखी। इनके अतिरिक्त उसके समय के अन्य विद्वानों में मौलाना अहमद थानेश्वरी, मौलाना कमालुद्दीन, एन-उल-मुल्क मुल्तानी तथा अब्दुल मुक्तदीर प्रसिद्ध हैं। अफीफ के अनुसार फीरोज विद्वानों को सहायता के रूप में 36 लाख टंका देता था। कुरान के शिक्षकों को 200 से 1000 टंका और साधारण शिक्षकों को 400 से 700 व विद्यार्थियों को 100 से 300 टंका प्राप्त होता था।

नगर व सार्वजनिक निर्माण कार्य—ऐसा कहा जाता है कि फीरोज ने लगभग 300 नवीन नगरों का निर्माण कराया। इनमें सम्भवतया वे गांव भी सम्मिलित थे जो पहले उजड़ गये थे परन्तु फीरोज की कृषि-सुविधा के कारण पुनः बस गये थे। उसके द्वारा बसाये गये नगरों में फतेहाबाद, हिसार फीरोजा, फीरोजपुर, जौनपुर व फीरोजाबाद प्रमुख थे। फीरोज को आधुनिक फीरोज कोटला कहलाने वाला फीरोजाबाद नगर अधिक प्रिय था और वह अवसर वहां ठहरता था। फरिश्ता ने लिखा है कि, "फीरोज ने 40 मस्जिदें, 30 विद्यालय, 20 महल, 100 सरायें, 100 अस्पताल, 5 मकबरे, 100 सार्वजनिक स्नान-गृह, 10 स्तम्भ तथा 150 पुल बनवाये थे।" उसने अशोक के दो स्तम्भों को भी दिल्ली मंगवाया जिनमें से एक खिज्राबाद और दूसरा मेरठ के निकट से लाया गया था।

फीरोज ने नई इमारतों की सुरक्षा और मरम्मत की व्यवस्था की। उसने पुरानी ऐतिहासिक इमारतों की मरम्मत करवायी। अपनी आत्मकथा 'फतुहात-ए-फीरोजशाही में उसने लिखा है कि उसने दिल्ली की जामा-मस्जिद, शम्सी-तालाब, अलाई तालाब, जहांन-पनाह, इल्तुतमिश का मदरसा तथा अनेक मकबरों और समाधियों की मरम्मत करायी।

दास—फीरोज को दासों बहुत शौक था। उसने समस्त इक्ताओं के अधिकारियों को यह आदेश दिया कि वे अच्छे दासों को चुनकर उन्हें दरबार में भेजें। इसलिए जब प्रति वर्ष मुक्ति दरबार में आते तो वे अपनी स्थिति के अनुसार सुल्तान की रुचि के दासों को चुनकर लाते थे। इस प्रकार उसके समय में दासों की संख्या 1,80,000 तक पहुंच गई। उसके पहले अलाउद्दीन ने ही केवल 50,000 दास एकत्र किये थे। जब दासों की संख्या काफी अधिक हो गई तो उसने उनकी देखभाल के लिए एक पृथक विभाग और एक पृथक अधिकारी की नियुक्ति की। दासों की शिक्षा-दीक्षा की पूर्ण व्यवस्था की और उनमें से अनेक को दीपालपुर, हिसार फिरोजा आदि भेज दिया और उनका इक्ताओं में ही प्रबन्ध कर दिया। अन्य दास

जो दिल्ली म बचे थे उनका वेतन 10 टका से लेकर 100 टका तक निश्चित किया। यह स्पष्ट नही है कि यह वेतन प्रति मास या अथवा छठे मास चौथे माम दिया जाता था। कुछ दासा को उसने कुरान पढन कण्ठस्थ करने आदि म लगा दिया। अनेको को विभिन्न प्रकार के शिल्पो की शिक्षा दिलवाई गई तथा उन्हें राजकीय कारखाना म नियुक्त कर दिया।

फीरोज का यह शौक राज्य क लिए हानिकारक सिद्ध हुआ। इससे शाही व्यय म अनावश्यक रूप म वृद्धि हुई और य बाद म राजनीति म हस्तक्षप करने लगे जिसस तुगलक वश का पतन हुआ। अफीफ[1] न लिखा है कि अन्त म उपर्युक्त दासो ने सुल्तान फीरोजशाह के पुत्र के सिर काट कर दरबार के सामने लटका दिये।

सैन्य सगठन—फीरोज ने गद्दी पर बैठन के बाद अपन एक विश्वासपात्र एमादुलमुल्क को आरिज ए मुमालिक नियुक्त किया। उसे सना की भर्ती रख रखाव आदि के पूर्ण अधिकार प्रदान किये। फीरोज की सेना म 80 से 90 हजार घुड सवार थे जिनको वेतन का भुगतान जागीर के रूप म किया जाता था। ये एक तरह की स्थायी सना थी जिसे वजीही सेना कहते थे। इसके अतिरिक्त गैर वजीही' (irregular troops) सैनिक थे जिनको लूट के हिस्से के साथ ही कुछ धन एक मुश्त दिया जाता था। अभियान की समाप्ति क बाद इन गैर वजीही' सनिका को सेवा मुक्त कर दिया जाता था। इनक पास अपन घोड वर्दी व अस्त्र शस्त्र होते थे और इसके लिए उन्ह राज्य की ओर से अग्रिम धन दिया जाता था।

सैनिक व्यवस्था न केवल ढीली थी अपितु भ्रष्ट भी थी। हुलिया लिखने तथा घोडो को दागने की नीति त्याग दी गई था। बरनी[2] ने लिखा है कि, अनक सैनिक अपने दास सेवक तथा सम्बन्धी अर्ज (सना क निरीक्षण तथा नई भर्ती) क समय प्रस्तुत कर देत हैं और उनका वेतन स्वय ले लेते हैं। निरीक्षण क समय कम मूल्य के घोडो को प्रस्तुत करना तथा उन्ह स्वीकार करा लेना बड़ी साधारण बात थी। डा जौहरी ने लिखा है कि अधिकतर सैनिक वार्षिक निरीक्षण को टाल दिया करते थे। जब यह सूचना सुल्तान तक पहुचती थी तो वह भी इस सुनी अनसुनी कर देता था। यह अव्यवस्था इतनी अधिक घर कर गई थी कि एक अवसर पर स्वय सुल्तान ने एक सैनिक को इसलिए एक टका दिया कि वह अधिकारी को रिश्वत देकर अपने घोड की स्वीकृति ले ले। सुल्तान ने रही सही अव्यवस्था सैनिक सेवा को वशानुगत कर के पूरी कर। एक व्यक्ति के पश्चात् उसका पुत्र दामाद अथवा गुलाम

---

1 एस ए ए रिजवी वही पृ 114
2 वही प 19

सेना में स्थान प्राप्त करने का अधिकारी था।[1] ऐसी स्थिति में सेना के शक्तिशाली होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

धार्मिक नीति—धार्मिक नीति के क्षेत्र में फीरोज औरंगजेब का आदिप्ररूप (protype) था। इस्लाम के राजनीतिक व धार्मिक सिद्धान्तों से ओतप्रोत फीरोज ने भारत को एक इस्लामी राज्य में परिवर्तित करने का उद्देश्य निश्चित किया। राज्य-नीति के प्रत्येक क्षेत्र में उसने इस्लामी नियमों को लागू करने का भरसक प्रयत्न किया। इस्लाम की विशेषता है कि यह धर्म के साथ ही शासन-पद्धति भी है। इस्लाम में राजनीति मात्र राजनीति नहीं और धर्म मात्र धर्म नहीं है। इसलिए उस समय की गतिविधियों का अर्थ निकालते समय इस्लाम के इन मूलभूत आधारों का ध्यान रखना आवश्यक है। फीरोज ने कट्टर सुन्नी-वर्ग, जिनके सहयोग से वह गद्दी पर बैठा था, का समर्थन प्राप्त करने के लिये इस्लाम के सिद्धान्तों को अपने राज्य की नीति का आधार बनाया। क्योंकि वह स्वयं इस्लामी कानूनों में पारंगत नहीं था इसलिए उलेमा-वर्ग से सलाह लेना और उसी पर निर्भर करना उसके लिए आवश्यक हो गया। फीरोज ने इस्लामी कानूनों को किस प्रकार लागू किया इसका विवरण उसने स्वयं फतूहात-ए-फीरोजशाही[2] में इस प्रकार दिया है, "ईश्वर को बहुत धन्य है कि उसने तुच्छ फीरोज को सुन्नत के पुनरुत्थान, बिदअतों के निराकरण, निषिद्ध के खंडन तथा हराम की बातों रोकने और (इस्लाम के लिए बताई गई) अनिवार्य बातों को रोकने की शक्ति प्रदान की......ईश्वर की अनुकम्पा से मैंने यह निश्चय कर लिया कि मुसलमानों का रक्त एवं मोमिन (धर्मनिष्ठ मुसलमान) की मान-मर्यादा पूर्ण रूपेण सुरक्षित रहे। जो कोई शरा के मार्ग से विचलित हो उसे कुरान के आदेश तथा काजी के न्याय के अनुसार व्यवहार किया जाये।"

फीरोज ने कट्टर सुन्नी होने के नाते शरा के नियमों का न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन में पालन किया अपितु उसने उन समस्त रीति-नीतियों को बन्द कर दिया जो शरा-विरोधी थीं। इसके अन्तर्गत उसने सोने और चांदी के बर्तनों का प्रयोग बन्द कर दिया और धातुओं तथा मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग आरम्भ किया। इसी प्रकार उसने रेशमी वस्त्रों की खिलअत आदि देना बन्द कर दी और उन पर उन चित्रों के बनाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया जो शरा-विरोधी थे। दीवारों और महलों में जो चित्र बनवाये गये थे उन्हें भी मिटवा दिया। सुल्तान ने आदेश दिया कि मुसलमान स्त्रियां मजारों के दर्शन के लिये न जावें क्योंकि शरा के अनुसार स्त्रियों को बाहर जाने की मनाही है।

सुल्तान स्वयं को एकमात्र मुसलमानों का शासक मानता था और हिन्दुओं को 'जिम्मी' मानता था। उसने लिखा है कि, "मैंने अपनी काफिर प्रजा को पैगम्बर

1. एस. ए. ए. रिजवी, वही, पृ. 126
2. फतूहात-ए-फीरोजशाही (अनुवादित रिजवी) पृ. 326-28

का धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और यह घोषणा की कि जो भी अपने धर्म को छोड़कर इस्लाम स्वीकार करेगा उसे जजिया से मुक्त कर दिया जावेगा।" जजिया को कठोरता से वसूल करने के अतिरिक्त उसने उड़ीसा के जगन्नाथ-मंदिर तथा नगरकोट के मंदिर को जिस प्रकार नष्ट किया वह उसकी कट्टरता के प्रमाण हैं। फरिश्ता ने लिखा है, "सुल्तान ने ज्वालामुखी की मूर्तियों को तोड़ दिया, उनके टुकड़ों को गाय के मांस में मिलाया और उसके गन्ध के थैले बनाकर ब्राह्मणों के गले में लटकवा दिये तथा मुख्य मूर्तियों को विजय-चिन्ह की भांति मदीना भेज दिया।" दिल्ली के आसपास के मन्दिरों को गिराने में भी उसने कोई कसर नहीं रक्खी। वह स्वयं 'फतूहात-ए-फीरोजशाही' में लिखता है कि उसने किस प्रकार मलूहा (ओखला के निकट) के हिन्दू मन्दिर व पवित्र कुण्ड को नष्ट कर उनके स्थान पर किस प्रकार तुगलिकपुर व सालारपुर की स्थापना की। गोहाना के मूर्तिपूजकों को सार्वजनिक रूप से जिन्दा जलवा दिया तथा भविष्य के लिए यह चेतावनी दी कि हिन्दू लोग एक मुस्लिम राज्य में इस प्रकार (मूर्तिपूजा) के इस्लाम-विरोधी कार्य सार्वजनिक रूप में न करें। अफीफ[1] ने लिखा है कि सुल्तान ने दिल्ली के एक ब्राह्मण को केवल इसलिये जिन्दा जलवा दिया कि वह अपने घर में मूर्तिपूजा करता था तथा एक मुस्लिम स्त्री को हिन्दू धर्म स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया था। फीरोज पहला सुल्तान था जिसने ब्राह्मणों से भी जजिया कर वसूल किया। ब्राह्मणों के द्वारा आत्मदाह की धमकी देने के बाद भी उसने उन्हें पूर्णतया इस कर से मुक्त नहीं किया। इसलिए डा. आर सी मजूमदार ने लिखा है कि, "फीरोज इस युग का सबसे धर्मान्ध सुल्तान था और इस क्षेत्र में सिकन्दर लोदी तथा औरंगजेब का अग्रसर था।"

फीरोज की ये धर्मान्धता केवल हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं थी। शिया-वर्ग के प्रति भी उसने कट्टरता का व्यवहार किया। ये लोग जनसाधारण को शिया धर्म की ओर आमन्त्रित करते थे तथा कुरान को उचित सम्मान नहीं देते थे। फीरोज के लिये यह असहनीय था। फीरोज ने इसके साथ दुर्व्यवहार किया। फतूहात ए-फीरोजशाही में वह स्वयं लिखता है कि, "मैंने उन सबको बन्दी बना लिया। जो लोग कट्टर थे, उनको मैंने वध करा दिया। अन्य लोगों के प्रति दण्ड देकर, भय दिला कर, खुले आम अनादर करके कठोरता दिखाई। उनकी पुस्तकों को खुले आम जलवा दिया।"

फीरोज ने खलीफा से दो बार अपने सुल्तान के पद की स्वीकृति ली, स्वयं को खलीफा का नायब पुकारा और अपने सिक्कों पर खलीफा का नाम भी अंकित कराया। फीरोज इस आधार पर कट्टर मुसलमानों और उलेमा-वर्ग की सहानुभूति

1. वार सी. जौहरी, वही, पृ 150

प्राप्त करने में समर्थ हुआ क्योंकि इन्हीं के समर्थन से वह सुल्तान बना था और इन्हीं की सहानुभूति से वह गद्दी पर सुरक्षित रह सकता था।

फीरोज की धर्मान्धता की नीति राज्य के लिये हानिकारक सिद्ध हुई। बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा और शिया-वर्ग उसकी नीति से पूर्णतया असन्तुष्ट थे और फीरोज ये भूल गया कि राज्य का स्थायित्व जन-साधारण की सहानुभूति और सद्इच्छा पर ही सम्भव है। उसने जिस कठोरता से हिन्दुओं का दमन किया वह किसी प्रकार से न्याय संगत नहीं कहा जा सकता। अपनी इस धर्मान्धता के कारण यद्यपि वह मुस्लिम जगत में अत्यधिक लोकप्रिय हो गया परन्तु भारत के बहुसंख्यक हिंदुओं से वह किसी प्रकार का भी सम्मान प्राप्त न कर सका। यह ठीक है कि जिस युग में फीरोज था वह युग इस प्रकार की कट्टरता और धर्मान्धता को अस्वीकार नहीं करता था परन्तु फीरोज को राज्य और अपने वंश के हितों में इस प्रकार की नीति अपनाना किसी प्रकार से उचित न था।

युद्ध, आक्रमण व विद्रोह

मुहम्मद तुगलक के शासन काल में बंगाल व दक्षिण भारत दिल्ली सल्तनत की अधीनता से मुक्त हो चुका था। फीरोज ने दक्षिण भारत को जीतने का कोई प्रयत्न नहीं किया और अमीरों की पेशकश को यह कहकर टाल दिया कि वह मुसलमानों का रक्त बहाने के लिये तत्पर नहीं है। बंगाल के प्रदेश को जीतने का उसने प्रयत्न, किया परन्तु असफल रहा। उसने राजपूताना को जीतने अथवा उसे अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। इस प्रकार फीरोज की नीति साम्राज्य विस्तार की नहीं रही। वह केवल दिल्ली सल्तनत के वे प्रदेश जो उसके अधिकार में थे उन्हें ही संगठित करने में लगा रहा। फीरोज ने न तो कभी सेना को पुनः शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न किया यद्यपि उसके पास इसके लिये धन की कमी न थी और न ही उसने कभी अपनी सैनिक प्रतिभा का ही परिचय दिया। अपनी कमजोरी को छिपाने के लिये उसने इस्लाम के नियमों को अपना कवच बनाया परन्तु हिन्दुओं के विरुद्ध उसने कवच को तेग के रूप में बदल कर उनके मन्दिरों आदि को नष्ट करने में कोई हिचकिचाहट न दिखाई।

बंगाल व उड़ीसा—फीरोज के समय बंगाल का शासक शमसुद्दीन हाजी इलियास शाह था। उसने तिरहुत, बिहार को अपने अधीन कर तथा बनारस और गोरखपुर पर धावे करके फीरोज को आक्रमण के लिये उकसाया था। इस कारण 1353 ई. में फीरोज ने बंगाल पर आक्रमण किया। हाजी इलियास इस समय गोरखपुर की ओर व्यस्त था। जैसे ही उसने आक्रमण का सुना वैसे ही वह गोरखपुर के अभियान को छोड़कर बंगाल की ओर बढ़ा। क्योंकि फीरोज ने इस बीच उसकी राजधानी पांडुआ पर अधिकार कर लिया था। अतः इलियास ने इकदला के किले में शरण ली। फीरोज ने किले को घेर लिया परन्तु वह उसे जीतने में असमर्थ

रहा । फीरोज ने कूटनीति से काम ले यह दिखावा किया कि वह घेरे को उठाकर वापिस लौट रहा है और लगभग 14 मील तक वह अपनी सेना को हटा लाया। इलियास ने उसका पीछा किया परन्तु फीरोज ने पूर्व-निश्चित नीति के आधार पर उससे युद्ध किया और उसे पराजित कर पुन भागने के लिये बाध्य किया । इलियास ने फिर इकदला के दुर्ग में शरण ली ।

इलियास के पलायन के बाद विजेताओं ने लगभग 44 हाथी, इलियास की छतरी व बड़ी मात्रा में घोड़ों को प्राप्त किया। अफीफ लिखता है कि इलियास केवल सात सैनिकों के साथ युद्ध-क्षेत्र से भाग निकला था अतिशयोक्तिपूर्ण मालूम पड़ता है । इसी प्रकार यह कहना की लगभग 1,80,000 बगाली इस युद्ध में मारे गये थे और फीरोज ने प्रत्येक बगाली के सिर के लिये एक चाँदी का टका दिया था उचित नहीं मालूम पड़ता । सीरत-ए फीरोजशाही मृत बगालियों की सख्या केवल 60,000 बताती है जो डा जौहरी के अनुसार मान्य नहीं है ।[1]

फीरोज ने युद्ध बन्द कर दिल्ली की ओर कूच किया जहां वह 1 सितम्बर, 1354 ई. को पहुचा । इलियास ने पुन बगाल पर अधिकार कर लिया परन्तु साथ ही उसने अपने प्रतिनिधि भेजकर सुल्तान से सधि कर ली और दिल्ली तथा लखनौती (बगाल) के बीच की सीमायें निर्धारित कर ली ।

1359 ई. मे फीरोज ने पुन बगाल पर आक्रमण किया । पूर्वी बगाल के एक दिवगत सुल्तान का दामाद जफरखा ने उससे सहायता मागी । फीरोज ने यह अच्छा बहाना देखकर पुन बगाल पर आक्रमण करने की नीति अपनाई । इस समय तक शमसुद्दीन इलियास की मृत्यु हो चुकी थी और उसका पुत्र सिकन्दर वहा का शासक था । उसने भी इकदला के किले मे शरण ली । फीरोज ने किले को घेर लिया परन्तु वह पुन इसे जीतने मे असमर्थ रहा । इस प्रकार फीरोज के बगाल के दोनो अभियान असफल रहे ।

बगाल से लौटते समय वर्षा ऋतु के कारण फीरोज जौनपुर मे ठहरा हुआ था । यहा पर उसने यात्रियो द्वारा जाजनगर म रहने वाले सन्थाल जाति के लोगो की सम्पन्नता आदि के बारे में सुना । फीरोज ने इस विवरण को सुनकर जाजनगर पर आक्रमण करने का निश्चय किया । डा जौहरी[2] के अनुसार जगन्नाथ पुरी के प्रसिद्ध मन्दिर को ध्वस्त करना व हिन्दुओं को दण्डित करना आक्रमण के मुख्य उद्देश्य थे । मार्ग में जनता के विरोध को समाप्त करता हुआ फीरोज कटक तक पहुच गया । उडीसा का शासक भानुदेव तृतीय भाग गया परन्तु उसके सैनिकों ने फीरोज का विरोध किया । उन्हे परास्त करता हुआ सुल्तान जगन्नाथ के मन्दिर तक

1. आर सी. जौहरी, वही, पृ. 51
2 वही, पृ 70

पहुंच गया। उसने मन्दिर और मूर्तियों को नष्ट कर दिया। महमूद गजनवी की तरह मूर्ति को जमीन पर फेंककर अपमानित किया गया। मुस्लिम सैनिकों ने जगन्नाथ देव के आसपास की मूर्तियों को खोदकर इसी प्रकार अपमानित किया। मूर्तियों के टुकड़े दिल्ली ले जाये गये जिससे कि उनको मस्जिद की सीढ़ियों पर लगा दिया जावे और मुसलमान नमाज के समय आते-जाते उनको अपने पैरों के नीचे रौंद सकें। तत्पश्चात राजा ने आत्मसम्पर्ण किया और प्रति वर्ष कुछ हाथी भेंट स्वरूप भेजने का वचन दिया।

नगरकोट व सिन्ध—फीरोज ने 1363 ई. में कांगड़ा में स्थित नगरकोट पर आक्रमण किया। नगरकोट के राजा रामचन्द्र ने मुहम्मद तुगलक के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था परन्तु उसके अन्तिम दिनों में फैली हुई अव्यवस्था का लाभ उठाकर पुनः स्वतन्त्र हो गया था। सुल्तान का उद्देश्य उसे पुनः अपने अधीन करने की अपेक्षा ज्वालामुखी के मन्दिर को ध्वस्त करना था। फीरोज के दरबारी इतिहासकार राजा के अक्खड़पन को आक्रमण का कारण बताते हैं परन्तु इसका कोई विवरण नहीं देते हैं। फरिश्ता के अनुसार राजा रूपचन्द्र ने दिल्ली तक के प्रदेशों को लूटा था और फीरोज उसको इसके लिये दण्डित करना चाहता था। यह कारण रहा था अथवा नहीं इसका स्पष्टीकरण नहीं मिल पाया है, परन्तु फीरोज यह अपना कर्तव्य समझता था कि वह हिन्दुओं तथा उनके मन्दिरों को अपमानित करें इसलिये ही उसने आक्रमण किया। छः महीने के घेरे के बाद राजा ने आत्म-समर्पण किया। फरिश्ता ने लिखा है कि, "सुल्तान ने ज्वालामुखी की मूर्तियों को तोड़ दिया और उनके टुकड़े गाय के मांस में मिलाये और उसके गन्ध के थैले बना कर ब्राह्मणों के गले में लटकवा दिये।"

सिन्ध—फीरोज ने तत्पश्चात् सिन्ध पर आक्रमण किया। किसी भी समकालीन इतिहासकार ने इस आक्रमण की तिथी नहीं दी है। अफीफ के विवरण से ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 1365 ई. में ही सिन्ध पर आक्रमण किया गया था। फिरोज 90,000 घुड़सवार और 400 हाथियों की एक विशाल सेना लेकर सिन्ध की ओर बढ़ा। उस समय सिन्ध दो भागों में बंटा था—एक भाग सिन्धु नदी पर दिल्ली की ओर दूसरा भाग उसके दूसरे किनारे पर था। सिन्ध के शासक जाम, बाबनियां ने 4 लाख पैदल व 20,000 घुड़सवार से उसका मुकाबला किया। दोनों पक्षों में छुट-मुट झड़पें होती रहीं। जाम, बाबनियां खुले युद्ध को टालता रहा यहां तक कि शाही खेमे में अनाज की कमी पड़ने लगी तथा घोड़ों में महामारी फैल गई जिसके कारण फीरोज की तीन-चौथाई सेना का सर्वनाश हो गया। सेना की ऐसी स्थिति को देखकर फीरोज ने वापिस लौटना अच्छा समझा। मार्ग में वह कच्छ के रन में फंस गया। रन से निकलने पर वह रेगिस्तान में फंसा और बड़ी ही कठिनाई से छः माह के पश्चात वह गुजरात पहुंच सका। यहीं पर

उस बहमनी-वंश के विरोधी सरदार बहराम का दक्षिण भारत पर आक्रमण करने का निमन्त्रण मिला परन्तु सुल्तान ने उसे अस्वीकृत कर दिया।

फीरोज ने दिल्ली से कुमुक मगवाकर पुन सिन्ध पर आक्रमण करने की योजना बनाई। थट्टा को घेर लिया गया। जाम तथा बाबनिया ने इस बार फीरोज के आधिपत्य को स्वीकार किया। सुल्तान ने उन्हें अपने परिवारों के साथ दिल्ली चलने का आदेश दिया। थट्टा को बाबनिया के भाई को प्रदान किया गया जिसने सुल्तान को चार लाख टका भेंट किये तथा प्रतिवर्ष वार्षिक कर भेजना भी स्वीकार किया। फतहखां को सिन्ध का गवर्नर नियुक्त कर फीरोज दिल्ली लौट आया।

विद्रोह व उनका दमन—फीरोज के राज्यकाल में उसकी बहन खुदावन्द जादा के षडयन्त्र के अतिरिक्त तीन विद्रोह हुये। इनमें पहला विद्रोह गुजरात के सूबेदार शमसुद्दीन दामगानी ने किया क्योंकि वह सुल्तान को अपने वायदे के अनुसार राजस्व चुकाने में असमर्थ था। यह विद्रोह असफल हुआ तथा दामगानी का सिर काटकर दिल्ली भेज दिया गया। दूसरा विद्रोह इटावा के जमींदारों ने किया परन्तु यह असफल रहा। तीसरा विद्रोह कटेहर के शासक खड़कू ने किया। उसने बदायूं के सूबेदार सैयद मुहम्मद और दो सैयद बन्धुओं का वध कर दिया, फीरोज यह सहन नहीं कर सकता था। वह स्वयं इस विद्रोह को दबाने के लिये गया। फीरोज के आने की खबर सुनकर खड़कू कुमायूं की पहाड़ियों में भाग गया। फीरोज ने क्रुद्ध हो उसकी प्रजा से उसके अपराध का बदला लिया। हजारों हिन्दुओं का वध कर दिया गया तथा 23,000 हिन्दुओं को पकड़कर उन्हें जबर्दस्ती मुसलमान बना लिया गया। सुल्तान इतने दण्ड से ही सन्तुष्ट न था। उसने एक अफगान अधिकारी की नियुक्ति कर उसे आदेश दिया कि वह इसी प्रकार पांच वर्ष तक कटेहर को बरबाद करता रहे।

इस प्रकार सिन्ध के अतिरिक्त फीरोज के अभियान असफल रहे। बंगाल पर दो बार अभियान करने के बाद भी उसे कोई सफलता नहीं मिली। जाजनगर व नगरकोट की विजयें साधारण थीं एवं उनसे राज्य विस्तार भी नहीं हुआ। इस प्रकार फीरोज इस क्षेत्र में असफल रहा।

अन्तिम दिन और मृत्यु

फीरोज के अन्तिम दिन कष्टमय रहे। 1374 ई में उसके बड़े लड़के फतहखां की मृत्यु हो गई। उसके दूसरे पुत्र जफरखां की भी मृत्यु हो चुकी थी। इन दोनों की मृत्यु के बाद उसका एकमात्र उत्तराधिकारी मुहम्मदखां बचा था। सुल्तान लगभग 80 वर्ष का हो चुका था। पहले से ही स्वयं शासन करने में उसकी रुचि नहीं थी और रही-सही कसर उसकी वृद्धावस्था ने पूरी कर दी थी। सुल्तान ने शासन की समस्त शक्ति अपने वजीर खानेजहां के हाथों में छोड़ रखी थी।

परन्तु खानेजहां स्वयं सिंहासन की आकांक्षा रखता था और मुहम्मदखां उसके रास्ते में एकमात्र रोड़ा था। खानेजहाँ ने उसके वध का एक असफल प्रयास किया। शाहजादा मेवात के सरदार कोका चौहान के यहां भाग गया। 1387 ई. में शाहजादा ने सुल्तान के साथ सत्ता का उपयोग करना आरम्भ किया और सुल्तान ने उसे 'नासिरुद्दीन मुहम्मदशाह' की उपाधि दी। परन्तु शाहजादा विलासप्रिय था। गुजरात में विद्रोह की सूचना पाकर भी उसने उसे दबाने का कोई प्रयास नहीं किया बल्कि भोग-विलास में डूबा रहा। उसके व्यवहार से सरदार असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने विद्रोह कर दिया। दो दिन तक राजधानी में युद्ध होता रहा। विद्रोहियों ने राजमहल पर अधिकार कर लिया और सुल्तान फीरोज को पालकी में बैठाकर युद्ध करने वालों के बीच में ले जाकर खड़ा कर दिया। सुल्तान को देखते ही सैनिक उसके साथ हो गये और शाहजादा मुहम्मद भाग गया। उसे पकड़ कर उसका वध कर दिया गया। सुल्तान ने अपने बड़े पुत्र फतहखां के पुत्र तुगलकशाह को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। इन विषय परिस्थितियों के बीच 20 सितम्बर 1388 ई. को सुल्तान की मृत्यु हो गई।

चरित्र, मूल्यांकन व तुगलक-वंश के पतन में उसका उत्तरदायित्व

समकालीन इतिहासकार फीरोज के शारीरिक आकृति के प्रति मौन हैं। अफीफ के वर्णन से केवल इतनी जानकारी मिल पाती है कि वह गौर-वर्ण, मध्यम कद का व हृष्ट-पुष्ठ व्यक्ति था। गयासुद्दीन तुगलक व मुहम्मद तुगलक के अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण वह अधिक आराम-प्रिय युवक हो गया था जो कि विलासी होने के साथ ही शराब आदि का व्यसनी था। टांक कन्या के साथ जिन परिस्थितियों में उसने विवाह किया वह इसके लिये काफी प्रमाण हैं। उस समय की सामाजिक मान्यताओं को ध्यान में रखते हुये भी उसका शराब का व्यसन उसके चरित्र पर एक बड़ा धब्बा था क्योंकि वह अपने समय का सच्चा मुसलमान समझा जाता था और उसके बाद भी इस्लाम में वर्जित वस्तुओं का उपभोग करता था। बंगाल के दूसरे अभियान के समय तातारखाँ की घटना यह प्रमाणित करती है कि वह अवसर की बगैर परवाह किये हुये किस प्रकार शराब पीने में डूब जाता था।

इन दुर्गुणों के होते हुये भी फीरोज उदार, दयालु व अपने सम्बन्धियों के प्रति स्नेहशील था। अपने भाई मुहम्मद तुगलक के प्रति आज्ञाकारिता, खुदावन्दजादा के प्रति उसकी उत्कण्ठा तथा अपनी हिन्दू माता के सम्बन्धियों के प्रति उसकी सहृदयता उसके चरित्र की इस विशेषता को बताते हैं। अपने सौतेले भाइयों—मलिक इब्राहिम, मलिक कुतुबुद्दीन के साथ उसके मधुर सम्बन्ध थे। अपने पुत्रों के प्रति उसका असीम स्नेह था और सम्भवतः उसके इस लगाव ने लाभ की अपेक्षा हानि अधिक पहुँचाई।

फीरोज विद्वान तथा कला-प्रेमी था। फीरोज ने इस्लामी ज्ञान व साहित्य की बढ़ोतरी में प्रबल योगदान किया। विद्वानों को संरक्षण देकर तथा मदरसों को उदारता से दान आदि देकर फीरोज ने अपनी इस प्रवृत्ति का परिचय दिया। यद्यपि यह ठीक है कि उसके काल में अमीर खुसरो अथवा अमीर हसन जैसे साहित्यानुरागी नहीं हो सके परन्तु इसके बाद भी इतिहास, इस्लामी कानून, धर्म-शास्त्र तथा चिकित्सा-शास्त्र में जिन पुस्तकों की रचना हुई वे फीरोज को साहित्य के संरक्षक के रूप में खड़ा करने के लिये पर्याप्त हैं। नवीन इमारतों के निर्माण, नये नगरों की स्थापना आदि में जो उसने रुचि दिखाई यद्यपि वह गुणात्मक आधार पर अधिक उपयुक्त नहीं थी परन्तु संख्यात्मक आधार पर वह पिछले सुल्तानों से कहीं अधिक थी। वास्तविकता यह है कि इस क्षेत्र में वह समस्त सुल्तानों में श्रेष्ठ था।

फीरोज में सैनिक प्रतिभा नहीं थी और न कभी उसने स्वयं को एक योग्य सेनापति ही सिद्ध किया। बरनी फीरोज की तुलना ईरान के रूस्तम, जमशेद आदि से करता है परन्तु यह अतिशयोक्ति पूर्ण है। यद्यपि फीरोज एक राजपूत माता और तुर्की पिता की सन्तान था परन्तु न तो उसमें राजपूत शौर्य था और न ही तुर्की सैन्यवाद। बंगाल के दो अभियान, उड़ीसा, नगरकोट और सिन्ध पर आक्रमण उसके सैनिक खोखलेपन को प्रमाणित करते थे। सुल्तान युद्ध को अन्तिम घड़ी तक लड़ने के लिये कभी तत्पर न रहता था। अभियानों को शीघ्रताशीघ्र समाप्त करने की नीति के आधार पर फीरोज ने पलायनवाद को अपनाया। यह फीरोज का सौभाग्य था कि सैनिकवाद के उस युग में भी शान्तिप्रिय फीरोज लगभग 37 वर्ष शासन कर सका।

फीरोज की सफलता अपने राज्य और प्रजा को सम्पन्न बनाने में थी। इस आधार पर वह पहला सुल्तान था जिसने साम्राज्यवादी नीति की अपेक्षा अपनी प्रजा की भौतिक उन्नति को अधिक महत्व दिया। सभी इतिहासकार ये स्वीकार करते हैं कि फीरोज के समय में राज्य सम्पन्न था तथा प्रजा सुखी और समृद्ध थी। अफीफ का सम्पन्नता सम्बन्धी विवरण अतिरंजित हो सकता है परन्तु इतना फिर भी निश्चित है कि वस्तुएँ अत्यधिक सस्ती थीं और बहुतायत में प्राप्त भी थीं। उसकी नहरों, बागों व्यापारिक सुविधाओं तथा राजस्व सुधारों ने राज्य की आर्थिक स्थिति को दृढ़ करने के साथ ही साधारण लोगों की स्थिति में भी सुधार किया था। पुल, बाँध, कुएँ नगरों और नये भवनों का निर्माण कर फीरोज ने शासक के उत्तरदायित्व को पूरा किया। बेरोजगारों की सहायता 'दीवान-ए-खैरात', खैराती अस्पताल की स्थापना उसकी कर्तव्यपरायणता की ओर इंगित करते हैं। मदरसों की स्थापना और शिक्षा के क्षेत्र में किये गये उपकारी कार्य फीरोज के शासक के रूप में किये गये कार्यों में महत्वपूर्ण थे। परन्तु इन सब की महत्ता उस समय

काफी कम हो जाती है जब यह स्पष्ट होता है कि इनमें से अधिकांश का उद्देश्य केवल मुस्लिम प्रजा की भलाई करना ही था। परन्तु इसके बाद भी यह नहीं नकारा जा सकता कि वह पहला सुल्तान था जिसने शासकों के कर्तव्यों को निभाने का प्रयास किया। इसीलिये डा. त्रिपाठी ने लिखा है कि, "जनता के लिये शासक की कसौटी वह भौतिक समृद्धि है जिसे वह देख अथवा अनुभव कर सकती है।"

फीरोज के समय में आर्थिक सम्पन्नता थी परन्तु इसमें उसका अपना श्रेय अधिक नहीं है। वह स्वयं तो अपनी विवेक-रहित उदारता के कारण शासन चलाने में असमर्थ था परन्तु उसकी विशेषता थी कि वह बाबर की तरह मनुष्य के चरित्र का कुशल पारखी थी। बेईमान व्यक्तियों को माफ कर देना अथवा स्वयं उदारतावश में भ्रष्टाचार को पनपाना एक अच्छे शासक के गुण नहीं कहे जा सकते परन्तु इसके बाद भी अपने अधिकारियों को चुनकर उन पर पूर्ण विश्वास करना तथा उन्हें विस्तृत अधिकार दे देना उसकी सफलता के आधार थे। यद्यपि यह नीति सफल रही परन्तु यह राज्य के अन्तिम हित में नहीं थी। इसीलिये वूल्जले हेग ने लिखा है कि, "अच्छी युक्ति से निकाली गई नीति भी उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में शक्ति को सुरक्षित न रख सकी और न ही उस भयंकर आघात को सहन कर सकी जो उसकी मृत्यु के दस वर्षों में ही राज्य को लगा, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि उसकी विकेन्द्रीयकरण की व्यवस्था उसके योग्यतम उत्तराधिकारी को भी कठिनाई में डालने में समर्थ थी और इसीने उसके वंश के पतन की गति को अधिक तेज कर दिया।"

फीरोज ने शासन में उलेमा वर्ग को अत्यधिक हस्तक्षेप करने के अधिकार को देकर राज्य की जड़ों को खोखला बना दिया। वह स्वयं को एक वर्ग विशेष का शासक मानता था और ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से शासन में दोष उत्पन्न हो जाते थे। उलेमा-वर्ग ने सुल्तान को इस बात के लिये प्रेरित किया वह 'दारुल-हर्ब' को 'दारुल इस्लाम' में परिवर्तित कर दे। ऐसे वातावरण में जब शासन किसी विशेष-वर्ग के लिये किसी विशेष-वर्ग के द्वारा चलाया जावे तब शासन की अपेक्षा कुशासन होने की अधिक सम्भावना रहती है और यह बात फीरोज पर लागू थी। डा. यू. एन. डे ने लिखा है कि, "उलेमा-वर्ग के समर्थन ने एक ऐसे सिद्धान्तहीन और स्वार्थी व्यक्तियों के वर्ग को प्रोत्साहन दिया जिन्होंने दम्भपूर्ण व्यवहार किया और मुस्लिम आत्म-नैतिकता के संरक्षक होने का दिखावा किया। इन सभी ने मिलकर ऐसी परिस्थिति बना दी जिसमें राज्य का विघटन आवश्यक दिखाई देने लगा।" फीरोज ने जो प्रतिक्रियावादी नीति अपनाई उसने उत्पन्न असन्तोष ने राज्य और वंश को ही भस्म कर दिया और यह सब उसकी मृत्यु के दस वर्ष के अन्दर ही घटित हो गया।

फीरोज की एक अन्य असफलता एक सुसगठित सेना का निर्माण न करने मे थी। मध्ययुग म शक्ति ही राज्य की सहचरी थी और उसी के आधार पर शासन, सुल्तान तथा वश की सुरक्षा निर्भर थी। फीरोज इस बात को भूल गया कि भारत मे राज्यो और वशो का उत्थान तथा पतन इसी पर आधारित है। उसने इस क्षेत्र मे जितनी छूट दी वह न तो नीति सगत थी और न ही समयानुकूल। पैतृक आधार पर सैनिको को सेवा मे लेना, बूढे और दुर्बल व्यक्तियो को मानवता के आधार पर सैनिक-सेवा मे रहने देना अथवा सैनिको मे जागीरो का वितरण करना तथा सैनिको के वार्षिक निरीक्षण म ढील देना भले ही मानवीय आधार पर उचित हो पर शासन को चलाने और बनाये रखने के लिये ये अभिशाप थे जिसका प्रायश्चित उसको तथा उसके निर्बल उत्तराधिकारियो को करना पडा। ऐसी अव्यवस्था किसी वर्ग विशेष को सन्तुष्ट अवश्य कर सकती थी परन्तु दुर्भाग्य से यह वर्ग अत्यधिक अल्पमत मे था और अल्पमत की महानुभूति शासन को अधिक समय तक घसीट सकने मे असमर्थ थी। फीरोज ने अपनी सैनिक अयोग्यता को छुपाने के लिये तो मुसलमानो का रक्त न बहाने का जो बहाना बनाया वह इतना शिथिल सिद्ध हुआ कि उसमे न तो अपनी अयोग्यता और न ही शासन की जर्जर अवस्था के छिपा सका। इसके साथ ही उसने राज्य मे दासो के रूप मे जो परजीवी (parasite) पाल थे उन्होने रही सही कसर पूरी कर दी और वे सुल्तान को प्रतिष्ठित अथवा अपदस्थ करने की प्रक्रिया मे लग गये। इस प्रकार अपनी सैनिक और प्रशासकीय कमी के कारण न तो दिल्ली सल्तनत की को खोई गरिमा को पुन स्थापित कर सका और न ही उसको जीवित रखने के लिये आवश्यक तत्वो को ही जुटा सका।

फिरोज के उत्तराधिकारी

सुल्तान फीरोजशाह तुगलक की मृत्यु के बाद साम्राज्य की रही-सही सकुचितता और अधिक सिकुड गई तथा राज्य महत्वहीन होने लगा। सुल्तान में इतनी सामर्थ्य न था कि वह साम्राज्य क खोये हुये प्रभुत्व को पुन स्थापित करे और बाकी कसर उसकी निर्बल और उदार नीति ने पूरी कर दी। इसका एक ही परिणाम सम्भव था कि राज्य छिन्न-भिन्न होन लगा। सुल्तान की कमजोरी का लाभ उठाकर प्रान्तीय शासक स्वतन्त्र होने का प्रयास करने लगे और साधारण जनता के हृदय मे सुल्तान के प्रति जो आस्था और ताज के प्रति भय था वह समाप्त होने लगा स्थिति इतनी गिर चुकी थी कि एक समय जब साम्राज्य उत्तर के एक छोर मे लेकर सुदूर दक्षिण तक फैला हुआ था और जिसने बर्बर मगोल को बर्बस लौटने के लिये मजबूर किया था वह सल्तनत तैमूर के एक झटके को सहन करने म असमर्थ। तैमूर के आक्रमण से दिल्ली सल्तनत पगु हो गई और उसी के साथ दिल्ली के निकटवर्ती और दूरस्थ प्रदेशो मे व्यवस्था का स्थान अव्यवस्था न ले लिया।

गयासुद्दीन तुगलक शाह द्वितीय (1388-89)—फीरोजशाह के दो उत्तराधिकारी थे। उसके पुत्र सुल्तान मुहम्मद का विधिवत राज्याभिषेक हुआ था किन्तु सुल्तान फीरोज के दासों ने उसे सिरमूर भागने के लिये बाध्य कर दिया। सुल्तान के दूसरे लड़के का विधिवत राज्याभिषेक नहीं हुआ था और फीरोज के दासों ने उसे सुल्तान की मृत्यु के दिन गद्दी पर बैठाने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार तुगलक द्वितीय 'गयासुद्दीन' के खिताब से गद्दी पर बैठा। तारीखे-ए-मुबारक शाही में लिखा है कि, 'सुल्तान अनुभवहीन नवयुवक था जो शासन करने से अनभिज्ञ था। उसमें संकटों का मूल्यांकन करने की क्षमता न थी.........अतः गद्दी पर बैठने के बाद राजकार्यों को छोड़ वह भोग-विलास में लिप्त हो गया। उसके अनैतिक और उद्दण्ड आचरण से सल्तनत के उच्च पदाधिकारी और अमीर रुष्ट हो गए और वह शीघ्र ही षड्यन्त्र का शिकार बन गया। षड्यन्त्रकारी महलों में घुस गए और उन्होंने भागते हुए सुल्तान का पीछा कर उसका सिर काट डाला। यह घटना 19 फरवरी 1389 को घटित हुई। दिल्ली के सरदारों ने मृत सुल्तान के चचेरे भाई जफरखां के पुत्र अबूबकर को सुल्तान घोषित किया।' याह्या बिन सिरहिन्दी[1] ने आगे लिखा है कि "ईश्वर की शक्ति कितनी आश्चर्यजनक है कि वह जिस द्वार से एक बादशाह को मुकुट और सिंहासन सहित वैभव के साथ बाहर लाता है पलक मारते ही उसका शीश काटकर उसी द्वार से उसको फेंक देता है।"

सुल्तान अबूबकर और सुल्तान नासिरुद्दीन मुहम्मद—सुल्तान अबूबकर ने राजधानी पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया, किन्तु फिरोज के पुत्र मुहम्मद के लोगों ने समाना में 24 अप्रेल, 1389 को उसे सुल्तान घोषित कर दिया। सहायक अमीरों और सरदारों के बल पर मुहम्मद ने दिल्ली के समीप आकर डेरा डाल दिया और गृह-युद्ध अब निश्चित दिखने लगा।

अबूबकर और सुल्तान नासिरुद्दीन मुहम्मद का संघर्ष—सुल्तान मुहम्मद समाना गया और दोबारा सिंहासनारुढ़ हुआ (4 अप्रेल, 1389) "समाना के 'सादा' अमीर तथा पहाड़ी क्षेत्र के सब मुकद्दम उससे आ मिले।" वह दिल्ली गया किन्तु सभी फिरोजी दास उसके विरुद्ध थे और इसलिए वह भाग उठा। जलेसर में पहुंच कर उसने लगभग 50,000 सैनिक इकट्ठे किये। अगस्त 1389 में वह दिल्ली की ओर बढ़ा परन्तु पराजित हुआ। इससे यह स्पष्ट हो गया कि फीरोज के दास मुहम्मद के विरोधी थे। उसके आदेशानुसार उन समस्त फीरोजी दासों को जो दिल्ली के बाहर थे कत्ल कर दिया गया। सुल्तान के दूसरे लड़के हुमायूंखां का जनवरी 1390 ई. का दिल्ली पर आक्रमण पुनः असफल रहा। इससे एक गतिरोध

1. एस. ए. ए. रिजवी, वही पृ. 208

पैदा हो गया। दिल्ली के अमीर अबूबकर को सुल्तान स्वीकार करते थे किन्तु क्षेत्रीय अधिकारी सुल्तान मुहम्मद के पक्ष में थे। अबूबकर ने जलेसर की ओर कूच किया तो मुहम्मद ने उसी समय दिल्ली की ओर बढ़ा और परिणाम निकला कि अबूबकर को दिल्ली की रक्षा के लिए वापिस लौटना पड़ा।

इस समय तक फीरोजशाही दास अत्यधिक संख्या में अबूबकर के विरोधी हो चुके थे तथा वे सुल्तान मुहम्मद को सुल्तान के पद पर देखने के इच्छुक थे। इसीलिये उन्होंने मुहम्मद के प्रति अपनी स्वामिभक्ति अर्पित की। अबूबकर के लिए यह सम्भव न था कि वो फिरोजी दासों को वो सब सुविधाएँ उपलब्ध कराये जिनका फिरोजशाह ने कभी आश्वासन दिया था। फीरोजी दासों के बढ़ते हुए प्रभाव और उनके लगातार दबाव से तंग आकर अबूबकर मेवात में बहादुर नाहर के कोटला दुर्ग में शरण लेने के लिये भाग गया। सितम्बर 1390 ई० को मुहम्मद के पलायन की सूचना मिली और तीन दिन के भीतर दिल्ली पहुंच गया। सुल्तान मुहम्मद ने सबसे पहले फिरोजी दासों से शाही हाथी छीनकर उन्हें पुराने महावतों को सौंपा। दासों ने अनुभव किया किया कि उनकी सत्ता के दिन समाप्त हो चुके हैं। इनमें से अधिकतर अपने परिवारों सहित बहादुर नाहर के कोटला भाग गए। बाकी दासों को, जो अब भी नगर में थे, तीन दिन के अन्दर चले जाने का आदेश दिया गया। राजधानी फिरोजी दासों से मुक्त कर दी गई। दास भाग कर अबूबकर के साथ मिल गए। बहादुर नाहर भी उनके पक्ष में था। सुल्तान मुहम्मद से राजकुमार हुमायूं और इस्लामखां को अबूबकर तथा फीरोजी दासों का दमन करने के लिए भेजा। मुकाबला हुआ और अबूबकर तथा बहादुर नाहिर ने सुल्तान की आधीनता स्वीकार कर ली। "तारीखे-ए-मुबारकशाही" के अनुसार अबूबकर को बन्दी बनाकर अमरोहा भेज दिया गया जहां बन्दीगृह में ही उसकी मृत्यु हो गई। सुल्तान ने बहादुर को क्षमा कर दिया।

सुल्तान दिल्ली लौट आया किन्तु दोआब के जमींदारों के विद्रोह ने उसकी विजयों पर पानी फेर दिया। इटावा के जमींदार नरसिंह के विद्रोह को तो दबा दिया गया परन्तु इस्लाम खां के विश्वासघात ने सुल्तान को बहुत परेशान किया और अन्त में उसे प्राणदण्ड दिया गया। सबसे भयंकर विपत्ति तो मेवात के बहादुर नाहर के विद्रोह से उठानी पड़ी। वह दिल्ली के निकटवर्ती प्रदेशों पर आक्रमण करने लगा। सुल्तान ने अस्वस्थ्य और दुर्बल होने पर भी, सुल्तान ने सेना का नेतृत्व किया और बहादुर नाहर को कोटला के दुर्ग में शरण लेने के लिए बाध्य किया। सुल्तान ने वहां भी उसका पीछा किया और ताहिर भाग कर जहर के पर्वत-प्रदेश में छिप गया। तत्पश्चात् सुल्तान राजधानी लौट आया। उसका रोग बढ़ता ही गया और अन्त में जनवरी, 1394 ई० में उसकी मृत्यु हो गई। सुल्तान के शव को हौज खास पर उसके पिता के मकबरे में दफना दिया गया। तारीखे मुबारकशाही के

अनुसार सुल्तान नासिरुद्दीन मुहम्मद के शासनकाल की अवधि छः वर्ष सात मास थी। नासिरुद्दीन ने क्रियाशीलता का परिचय दिया लेकिन यह सल्तनत का दुर्भाग्य था कि वह रोगी होने के कारण अधिक जीवित न रह सका।

अलाउद्दीन सिकन्दरशाह—सुल्तान मुहम्मद का द्वितीय पुत्र राजकुमार हुमायूं सुल्तान अलाउद्दीन शाह का खिताब धारण कर 22 जनवरी, 1394 ई. को दिल्ली में गद्दी पर बैठा। ख्वाजा-ए-जहां को वजीर बनाया गया और उसने अपने पिता के अन्य अधिकारियों को उन्हीं के पुराने पद पर पुनः नियुक्त किया। सुल्तान सिकन्दरशाह रुग्ण हो गया और 7 या 8 मार्च 1394 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। तारीखे-मुबारकशाही के अनुसार उसका शासनकाल केवल एक माह सोलह दिन रहा। मृतक सुल्तान का जनाजा दिल्ली लाया गया और बद्र के मकबरे में हौजखास निकट दफन किया गया।

नासिरुद्दीन महमूदशाह—अलाउद्दीन सिकन्दरशाह की मृत्यु के बाद सुल्तान का छोटा भाई नासिरुद्दीन महमूदशाह सुल्तान बना। नासिरुद्दीन के गद्दी पर बैठने के समय की परिस्थितियों से यह अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है कि 1387 ई. से 1394 ई. के बीच दिल्ली सल्तनत कितना सिकुड़ गया था। ख्वाजा-ए-जहां दिल्ली छोड़ने के पहले बड़ी मुश्किल से वहां के अमीरों और अधिकारियों को इस बात के लिए राजी कर पाया था कि वे सुल्तान नासिरुद्दीन मसूदशाह को अपना नया सुल्तान स्वीकार करेंगे। **प्रो. निजामी** ने इस समय के तीन अधिकारियों का विवरण दिया है। ये निम्न थे—मुकर्रबुलमुल्क जो सिंहासन का उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया, अब्दुर्रशीद मुल्तानी जो बारबक बनाया गया तथा मलिक दौलतयार दबीर जो 'अर्जे ममालिक' बना। बड़े-बड़े प्रान्तों ने दिल्ली की अधीनता के जुए को उतार फेंका था और समस्त प्रदेश में केवल अव्यवस्था और अवज्ञा के अतिरिक्त कुछ ढूंढ निकालना सम्भव न था। ऐसी स्थिति में ख्वाजा-ए-जहां ने यह अधिक उचित समझा कि अधिकारियों को अलग-अलग प्रान्त आवंटित कर दिये जावें और उन्हें वहां शासन करने का अधिकार दे दिया जावे। इसका स्पष्ट कारण था कि दिल्ली सल्तनत में अब वह शक्ति शेष न थी जिसके आधार पर वह हिन्दुओं को नियन्त्रित कर सके। इन सब का परिणाम निकला कि जौनपुर के शर्की राज्य की स्थापना हुई। केवल यही नहीं अपितु उत्तर में खोखरों ने तेजी से विद्रोह आरम्भ कर दिये और गुजरात, मालवा और खान देश में स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। यदि साम्राज्य के इन प्रदेशों में इस प्रकार की अव्यवस्था व्याप्त थी तो दिल्ली भी किसी प्रकार से अछूता न था। दिल्ली में अमीरों के दल ने स्वयं को गठित कर विभिन्न प्रत्याशियों का पक्ष लिया। एक दल फीरोज तुगलक के पौत्र नुसरतखां को गद्दी पर बैठाना चाहता था तो दूसरा दल महमूदशाह को गद्दी का अधिकारी मानता था। इन विभिन्न दलों में प्रमुख आधार पर बहादुर नाहर, मल्लू इकबाल और

मुकर्रबखा काफी सक्रिय थे। इस संघर्ष में प्रान्तीय इक्तादार और अन्य अधिकारी तटस्थ रह कर गतिविधियों पर पूरी तरह से निगाह जमाये हुये थे और ऐसे अवसर की तलाश में थे जब वे अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकें। पंजाब का सूबेदार यह मनसूबे बाँधने लगा कि दिल्ली की अराजकता का लाभ उठाकर वह उसके जुए को उतार फेंके तथा अपने वंश की स्वतन्त्र सत्ता को पंजाब में स्थापित कर सके। स्थिति इतना हास्यास्पद थी कि दिल्ली सल्तनत के इतिहास में पहली बार दो सुल्तान दिखने लगे—नासिरुद्दीन दिल्ली मे सुल्तान था और नुसरतखा फीरोजाबाद में स्वयं को सुल्तान मानता था। एक साथ इन दो सुल्तानों के होने से अमीरों ने सबसे अधिक लाभ उठाया। कभी वे एक सुल्तान का तो कभी दूसरे सुल्तान का पक्ष ग्रहण कर लेते थे और दोनों ही से अपनी स्वार्थ-पूर्ति करते थे। दोनों नगरों के मुसलमान एक दूसरे का वध करने पर तुले हुये थे परन्तु कोई भी पक्ष विजयी होकर उभर न पाया।

ऐसी अव्यवस्था के समय (1397 ई) यह सूचना मिली कि तैमूर ने सिन्ध नदी पार कर उच्छ को घेर लिया है। इस आकस्मिक बिजली के गिरने का परिणाम निकला कि विभिन्न दल अत्यधिक शीघ्रता से अपनी-अपनी स्थिति बदलने लगे। मल्लूखा ने नुसरतखा से गठजोड कर लिया। सुल्तान महमूद, मुकर्रबखा व बहादुर नाहर दिल्ली मे ही जमे रहे। अलग-अलग दलों में संघर्ष शुरू हुआ और साथ ही वे आपस में एक दूसरे की शक्ति का अन्त करने पर उतारु हो गये। मल्लूखा ने विश्वासघात कर नुसरतखाँ पर आक्रमण कर दिया जिससे मजबूर होकर वह पानीपत मे तातारखा के साथ जा मिला। मल्लूखा ने अब मुकर्रबखा के विरुद्ध कार्यवाही शुरू की जिसका परिणाम एक भीषण युद्ध मे निकला जो लगभग दो महीने तक चलता रहा। दोनों के बीच सरदारों के माध्यम से सन्धि हुई, परन्तु कोई भी अपने वचन को निभाने के लिए तैयार न था। वे केवल उचित अवसर की तलाश में थे। मल्लूखा ने अचानक मुकर्रबखा पर आक्रमण कर उसका वध कर दिया। मुकर्रबखा पर इस आक्रमण मे सुल्तान का एक हाथ भी कट गया।

नासिरुद्दीन महमूदशाह ने शासन को संगठित करने का पुन: प्रयत्न किया, परन्तु तैमूर के आक्रमण ने सल्तनत में एक नया संकट पैदा कर दिया। आक्रमण के समय सुल्तान नासिरुद्दीन महमूदशाह और सुल्तान नुसरतशाह भाग खड़े हुए। तैमूर के लौट जाने पर मार्च 1399 ई मे नुसरतशाह ने पुन. दिल्ली पर अधिकार जमा लिया। परन्तु यह अधिकार अधिक समय तक न रह सका। मल्लू इकबाल ने दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया। 1401 ई मे सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद उससे मिल गया। सुल्तान का दिल्ली मे स्वागत किया गया, लेकिन शासन का अधिकार इकबाल के हाथों से रहा। सुल्तान महमूद, इकबाल के व्यवहार से तंग आ गया और उसने उसके विरुद्ध संघ बनाने की कोशिश की परन्तु असफल रहा।

तत्पश्चात् वह कन्नौज में रहने लगा। इकबाल और सुल्तान महमूद अब एक दूसरे के प्रतिद्वन्दी हो गये। 1405 ई. में मुल्तान के शासक खिज्रखां पर आक्रमण किया परन्तु पराजित हुआ और युद्ध में मारा गया। महमूद ने अब चैन की साँस ली क्योंकि उसका एक प्रबल विरोधी मर चुका था। दौलतखां लोदी के द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर वह पुनः दिल्ली आया परन्तु दिल्ली पर अधिकार करने के बाद भी वह अपनी विवेकहीनता से कोई लाभ न उठा सका। वह पुनः भोग-विलास में डूब गया और शासन के प्रति उदासीन हो गया। इसी बीच 1412 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। अमीरों ने दौलतखां को अपना प्रधान चुना। दौलतखां ताज को स्वीकार करने लिए तत्पर न था। वह केवल एक ऐसे सैनिक वर्ग का मुखिया ही बना रहा जो के विरोधी वातावरण में अपनी रक्षा करने का प्रयत्न कर रहा था। सैनिक शक्ति संगठित कर दौलतखां ने कटेहर के हिन्दू सरदारों को अपने अधीन किया। उसे इसी बीच समाचार मिला कि इब्राहीम शर्की ने कद्र खां को कालपी के किले में घेर लिया है परन्तु वह अब भी इतना शक्तिशाली न था कि कद्रखां की सहायता कर पाता। इस समय तैमूर के कृपा-पात्र मुल्तान के शासक खिज्रखां ने दिल्ली पर आक्रमण किया और लगभग चार माह के घेरे के बाद दौलतखां ने मजबूर होकर आत्मसमर्पण किया। खिज्रखां ने दिल्ली पर अधिकार के बाद सैयद वंश की स्थापना की और इस प्रकार दिल्ली सल्तनत में एक नयी कड़ी जुड़ गई।

तैमूर का आक्रमण और उसका प्रभाव—तैमूर का जन्म 1336 ई. में ट्रांस आक्सियाना प्रदेश समरकन्द से लगभग 50 मील दूर दक्षिण की ओर केश नामक स्थान पर हुआ था। वह अमीर तुरगे का बेटा तथा हाजी बरलास का भतीजा था। वह जब 33 वर्ष का था उस समय चगताई तुर्कों का नायक बन गया था। उसने धीरे-धीरे कुछ ही समय में ख्वारिज्म, तुर्किस्तान और फारस पर अधिकार कर लिया। जब वह हर अभियान में सफल रहा तो अपनी निरन्तर विजयों से उत्साहित होकर तैमूर ने अपनी सेना का रुख भारत की ओर कर दिया। भारत में तैमूर के आक्रमण का उद्देश्य यहां की अतुल धन सम्पदा को लूटना ही था।

जफरनामा के अनुसार—इस आक्रमण का उद्देश्य सिर्फ विधर्मियों का विनाश था न कि लूट थी। इसी प्रकार से जफरनामा के लेखक सरफुद्दीन यजदी के शब्दों में, "तैमूर ने सिर्फ धार्मिक युद्ध करने की इच्छा से प्रेरित होकर ही मुल्तान की ओर प्रयाण किया था।"

भारत में आक्रमण से पहले यहां की सही स्थिति का पता लगाने के लिए पहले उसने अपने पौत्र पीरमुहम्मद के अधीन एक सेना भेजी थी। जिसने कि सिन्ध नदी को पार करके उच्छ तथा मुल्तान पर कब्जा कर लिया। इसके बाद उसने दीपालपुर तथा पाकपत्तन पर भी कब्जा करके सतलज नदी के किनारे जाकर तैमूर की प्रतीक्षा करने लगा। इधर तैमूर ने पंजाब में सभी खोखरों का दमन किया

तथा सतलज नदी के किनारे पर अपने पौत्र से आकर मिला। वहां के रास्ते में लगभग सभी नगरों को उसने लूटा और लूटता हुआ कैथल जा पहुंचा जहाँ से उसने दिल्ली पर आक्रमण करने की एक योजना बनाई।

तैमूर का दिल्ली पर आक्रमण—दिल्ली आक्रमण की योजना बनाकर तैमूर ने दिल्ली के लिए कूच किया। वह अनेक नगरों को बुरी तरह रौंदता हुआ दिल्ली से केवल छः मील की दूरी पर पहुंच कर उसने अपने सभी सैनिकों को आदेश दिया कि अपने भोजन तथा जानवरों के चारे का प्रबन्ध करें ग्राम ग्राम के सभी प्रदेशों को लूट लिया जाय। इस लूट में लगभग एक लाख हिन्दुओं को बन्दी बनाया गया। जब वे दिल्ली के निकट पहुंचे तो जहानशाह, सुलेमानशाह आदि अमीरों ने तैमूर को यह सलाह दी कि जिन एक लाख हिन्दुओं को अब तक बन्दी बना लिया गया है उन्हें तलवार के घाट उतार दिया जाय। इस प्रकार अमीरों की राय मानकर तैमूर ने आदेश दे दिया कि सभी काफिर बन्दियों का वध कर दिया जाय। उसी समय लगभग एक लाख हिन्दू सैनिक बन्दियों को तत्काल मौत के घाट उतार दिया गया। उन्हें इतनी बुरी तरह मौत के घाट उतारा जैसे कि गाजर मूली की तरह उन्हें काट दिया गया। इस प्रकार का नर संहार करके कठोर दिल इन्सान ने सेना को युद्ध के लिए सुसज्जित करना शुरू कर दिया तथा सेना को व्यूह रचना का प्रशिक्षण भली भाँति दिया गया। उस समय सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद शाह की सेना भली प्रकार से सुसज्जित थी लेकिन फिर भी वह तैमूर की सेना के आगे नहीं टिक सकी। सुल्तान की सेना में उस समय लगभग 10 हजार अनुभवी घुड़सवार 40 हजार पैदल सैनिक तथा कवचों से सुसज्जित 125 हाथी थे। तैमूर की सेना ने पहले की परम्परा अनुसार व्यूह की रचना की।

17 सितम्बर को दोनों ही पक्षों में अत्यन्त भयंकर युद्ध हुआ अन्त में सुल्तान युद्ध में पराजित हुआ और वहाँ से भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार से तैमूर ने 18 सितम्बर, 1398 ई० में दिल्ली पर अधिकार कर लिया। दिल्ली पर अधिकार करने के पश्चात् तैमूर की सेवा में राजधानी के सभी लोगों ने उपस्थित होकर दया की भीख मांगी। तैमूर ने उन्हें क्षमा करके जीवन दान देना स्वीकार कर लिया लेकिन उसकी सेना ने जनता पर बहुत से अत्याचार करना शुरू कर दिया। जैसे ही जनता ने उनके अत्याचारों का प्रतिरोध किया तो तैमूर ने लूटने तथा नरसंहार का आदेश दे दिया। इस प्रकार जी भर के दिल्ली को लूटा। हजारों नर नारियों तथा बच्चों को गुलाम बनाया गया। उन्होंने दिल्ली में जो निवासी बच गए थे उन्हें मुसलमान बना लिया उनकी करोड़ों रुपये की सम्पत्ति नष्ट कर दी गई। इस प्रकार लगभग पन्द्रह दिन तक लूट तथा नरसंहार का यह कार्यक्रम चलता रहा। उसने भारत में सभी शिल्पियों तथा कारीगरों को चुन चुन कर समरकन्द भेज दिया। वहाँ पर उसने एक जामा मस्जिद का निर्माण करवाया।

तैमूर भारत में रहने के लिए नहीं आया था बल्कि उसे सिर्फ भारत की सम्पदा में ही रुचि थी। उसे बटोर कर वह वापस चला गया लेकिन भारत को बहुत ही अस्त व्यस्त कर गया। उसने दिल्ली के बाद फिरोजाबाद को उजाड़ा उसके पश्चात् (1 जनवरी, 1399 ई.) में लूटमार करके लगभग 9 जनवरी को वह हरिद्वार की ओर बढ़ा। उसके बाद उसने जम्मू कश्मीर को लूटा तथा भारी संख्या में सभी जगह नरसंहार करते हुए वह वापस लौट गया। उसने वापस जाते समय लाहौर, मुल्तान और दीपालपुर का शासन खिज्रखां को सौंप दिया। इस प्रकार से अपार धन राशि प्राप्त करके तथा भारत को दयनीय हालत में छोड़कर के 19 मार्च, 1399 ई. के आसपास तैमूर सिन्धु के उस पार चला गया, इस समय भारत की इतनी अधिक दयनीय हालत हो गई थी कि पहले कभी भी किसी भी आक्रमणकारी द्वारा इस प्रकार की हालत नहीं हुई थी।

तैमूर के आक्रमण के कारण—जिस समय भारत में तैमूर ने आक्रमण किया था उस समय तुगलक वंश भी पतन की ओर अग्रसर हो रहा था तथा तुर्क साम्राज्य की दशा शोचनीय हो गई थी। तैमूर के आक्रमण के मूल में निम्न कारण निहित थे।

(1) जब तैमूर ने भारत में अपार धनराशि के विषय में सुना तो उसका मन भारत में आने के लिए लालायित हो गया। वह एक लुटेरा था जो स्वयं को भारत विजेता का गौरव प्रदान करना चाहता था।

(2) तैमूर ने उस समय भारत में फैली अराजकता का पूरा लाभ उठाया। क्योंकि उस समय सल्तनत की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय हो गई थी। वह इस स्थिति का पूरा लाभ उठाना चाहता था इसलिए उसने लाभ उठाने के लोभ से भारत पर आक्रमण किया था।

(3) उस समय भारत की विशाल धनराशि को लूट का हाल तैमूर अनेक आक्रमणकारियों द्वारा सुन चुका था। जब वह भारत की सम्पन्नता से पूरी तरह अवगत हो गया तो वह भी भारत को लूटने के लिए बुरी तरह लालायित होने लगा और भारत विजय की योजना को बनाने की तैयारी में लग गया।

(4) तैमूर का भारत विजय का मुख्य कारण धर्म का प्रचार करना भी था। वह धर्मान्ध था तथा मूर्ति पूजक सभी हिन्दुओं को नष्ट कर इस्लाम का प्रचार करना चाहता था तथा गाजी की उपाधि धारण करना चाहता था।

तैमूर के आक्रमण का प्रभाव—तैमूर जिस उद्देश्य को लेकर भारत में आया था उसे तो वह पूरा नहीं कर सका लेकिन लूटमार करके वह अपने प्रधान उद्देश्य में अवश्य सफल हो गया। क्योंकि वह धर्मान्ध होने के कारण भारत में हिन्दुओं को समाप्त करके इस्लाम धर्म का प्रचार करने आया था उसने लाखों हिन्दुओं को कत्ल किया लेकिन फिर भी वह हिन्दू धर्म का पूर्ण रूप से विनाश नहीं कर सका लेकिन भारत से विपुल धन सम्पत्ति को लेकर ही लौटा।

तैमूर के आक्रमण के अस्थायी प्रभाव

(1) तैमूर के आक्रमण से दिल्ली शासन छिन्न-भिन्न हो गया। देश मे चारो ओर अराजकता छा गई। तैमूर के प्रबल आफत से प्रान्तीय शासक अपने-अपने क्षेत्रो मे स्वतन्त्र हो गए। देश मे कई छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्य हो गए तथा पूरा देश कई टुकड़ो मे विभाजित हो गया।

(2) जिस समय तैमूर न आक्रमण किया उस समय तुगलक वश का भवन लड़खड़ा रहा था, लेकिन तैमूर के आक्रमण ने उसे लड़खड़ाते भवन को धाराशाही कर दिया। फिरोज तुगलक तथा इसके उत्तराधिकारियों ने तुगलक वंश को जितना नष्ट होने से बचाया था तैमूर के आक्रमण ने उसकी पूर्ति कर दी तथा लड़खड़ाता हुआ भवन धाराशाही हो गया।

(3) तैमूर के अथाह धन लूट के ले जाने के कारण भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय हो गई। सम्पूर्ण देश भीषण भवर मे फस गया था। तैमूर के लूटमार तथा भीषण हत्या काण्ड से पूरे देश मे आतक छा गया था। चारों ओर नरसहार के पश्चात् लाशो के सड़ने से महामारी तथा दूसरी बीमारीया फैल रही थी। इससे भारतीयो का रहा सहा मनोबल समाप्त होने लगा था। अकाल पड़ने से जनता की कमर और भी टूट गई थी।

(4) पजाब पर अधिकार करके तैमूर ने खिज्रखा को पजाब का शासक बनाया। जब तुगलक वंश का पतन पूर्ण रूप से हो गया तो खिज्रखा ने ही दिल्ली पर अधिकार कर भारत मे सैय्यद वश की नींव डाली।

(5) तैमूर धर्मान्ध था तथा वह हिन्दुओ का विनाश करना चाहता था, इसी कारण से हिन्दू और मुसलमानों में परम्परागत धार्मिक द्वेष और भी ज्यादा बढ गया था। दो शताब्दियों से साथ रहने के कारण जो आपस मे सद्भावना उत्पन्न हुई थी वह एक झटके मे ही समाप्त हो गई। क्योंकि अब हिन्दू मुस्लिम अपने आप को अलग-अलग समझने लगे थे।

(6) तैमूर के आक्रमण ने दूसरे आक्रमणकारियो का मार्ग और ,भी ज्यादा सुगम कर दिया था। इससे बाबर के लिए भारत पर आक्रमण करने का मार्ग एकदम सुगम हो गया था। इसके द्वारा भारत की एकता और शक्तियो को भारी आघात लगा था।

(7) तैमूर के आक्रमण से भारत और एशिया की कला का सम्मिश्रण हुआ क्योंकि जब तैमूर भारत मे आया, जाते समय वह अपने साथ बहुत से कलाकारो तथा कारीगरो को साथ ले गया था जिन्होने कि समरकन्द को एक बहुत ही सुन्दर शहर बना दिया था।

तैमूर के आक्रमण के प्रभाव भारत मे स्थाई नहीं थे बल्कि अस्थाई थे क्योंकि "तैमूर भारत मे आधी की भाति आया था तथा तूफान की भाति लौट गया था।"

तुगलक शासक व अमीर-वर्ग

सुल्तान ग्यासुद्दीन व अमीर-वर्ग—अलाई वर्ग के संयुक्त प्रयत्नों से जो क्रान्ति हुई उससे नव-स्थापित तुगलक वंश के ढांचे में कोई आमूल-चूल परिवर्तन नहीं आया। सुल्तान ग्यासुद्दीन अमीरों की सर्व-सम्मति से गद्दी पर बैठा था। सम्भवतः यह 'सम्पन्न कार्य' (Tait accompli) था जिसके अनेक कारण थे। प्रथमतः ग्यासुद्दीन स्वयं एक सम्मानित व वृद्ध अलाई अमीर था जिसने मंगोलों के विरुद्ध अनेक युद्धों में अपनी कौशलता प्रदर्शित की थी; द्वितीय उसके ही खुसरोखां के शासन का उन्मूलन करने के लिये अलाई अमीरों का प्रभावशाली संगठन गठित किया था और तृतीय उसने अपने सैनिक गुणों और अनुभवों के आधार पर ही खुसरोखां के पतन को साकार किया था। इसलिये डा. एस. बी. पी. निगम ने 'नोबिल्टि अन्डर द सुल्तानस् आफ दहली' में लिखा है कि, "इस प्रकार एक राजवंश से दूसरे राजवंश के हाथों में सत्ता आने से अमीर-वर्ग में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं आया जैसा 1290 ई. में खल्जी क्रान्ति के बाद आया था।" इसका कारण स्पष्ट था कि ग्यासुद्दीन ने खल्जी अमीर-वर्ग के विरुद्ध संघर्ष न करके उन लोगों के विरुद्ध संघर्ष किया था जिन्होंने अनैतिक उपायों से सत्ता पर अधिकार कर लिया था। स्वाभाविक था कि ऐसी भूमिका के अन्तर्गत सुल्तान और अमीरों के सम्बन्ध अच्छे रहें।

ग्यासुद्दीन ने सत्ता-प्राप्ति पर समस्त महत्वपूर्ण पदों पर अलाई-अमीरों को बनाये रखा स्वयं को 'समकक्षों में प्रथम' की स्थिति में ही रखा। यद्यपि यह स्थिति उसके राज्यकाल में उचित रही परन्तु उसके उत्तराधिकारी मुहम्मद बिन तुगलक के समय में यह अनेक कठिनाइयों का कारण बनी।

उसके राज्यारोहण से अलाई-अमीरों ने चैन की सांस ली। क्योंकि खुसरो खां के शासन काल में वे अत्यधिक पीड़ित, प्रताड़ित और अपमानित हो चुके थे। उसने पुराने अलाई अमीरों को पुनर्स्थापना करने उन्हें सम्मान देने की ओर विशेष ध्यान दिया। अलाउद्दीन के समय के बचे हुये समस्त पुराने अमीरों को इक्ता आदि प्रदान किये तथा उनके साथ निष्ठावान सहयोगियों जैसा व्यवहार किया। उसने न केवल अलाई-अमीरों को ही सन्तुष्ट किया अपितु इल्बारी सरदारों को भी सम्मानित किया। ख्वाजा खातिर व ख्वाजा मुहज्जब जैसे वयोवृद्ध इल्बारी सरदार ऐसे ही व्यक्ति थे। उसने उन्हें न केवल वृत्ति और इनाम आदि ही प्रदान किये अपितु प्रशासन के सम्बन्ध में भी उनसे यदाकदा परामर्श लेता रहा।

डा. निगम के अनुसार, "इससे स्पष्ट है कि सुल्तान ने अमीरों के प्रति उदार नीति का अनुसरण किया। सामन्जस्यपूर्ण नीति का परिणाम निकला कि सुल्तान और अमीर-वर्ग के बीच सौहार्दता बनी रही और लगभग चार वर्ष व चार माह के शासन-काल में कवि उबैद के 1321 ई. के विद्रोह को छोड़कर किसी दूसरे विद्रोह की बात सुनाई ही नहीं दी। इसको भी आसानी से दबा दिया गया।

सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक व अमीर-वर्ग—मुहम्मद बिन तुगलक के समय मे अमीरों और सुल्तान के बीच वह सौहार्दता जो ग्यासुद्दीन के समय मे थी नहीं रह सकी। सम्भवत मुहम्मद की रीति-नीति ने अमीर-वर्ग मे असन्तोष उत्पन्न कर दिया। अपने शासन के आरम्भ म उसने अमीरो को विभिन्न सम्मानित पदो पर नियुक्त किया तथा वे जो कि उसके घनिष्ट सहयोगी थे उनको इक्ता प्रदान किये। कुल-मिलाकर उसने अपने पिता के समय की व्यवस्था को उसी प्रकार बनाये रक्खा।

इसके कुछ समय बाद सुल्तान ने उन उग्र सुधारों व योजनाओ की शृखला आरम्भ की जिनके बारे म विद्वानो मे गहन मतभेद है। डा. निगम ने लिखा है कि, 'सभी विद्वान सहमत हैं कि सुल्तान की प्रकृति ही एकमात्र राज्य की कायापलट के लिये उत्तरदायी थी जिसम अमीर-वर्ग ने असफलता स उसके असहनीय नियन्त्रण को भकभोरने का प्रयास किया।"

समकालीन इतिहासकारो की दृष्टि मे, जो साधारणतया रुढिवादी विचारधारा के थे, सुल्तान स्वय अमीरों के इस विरोध के लिये उत्तरदायी था। परन्तु सुल्तान के गतिशील व्यक्ति के आलोचनात्मक अध्ययन से ऐसा अनुभव होता है कि यह कथन केवल अर्ध-सत्य ही था। सुल्तान का लालन-पालन एक अत्यन्त बौद्धिक वातावरण मे हुआ था और सौभाग्य से उसे अमीर खुसरो तथा अमीर हसन जैसे विद्वानो की सगति प्राप्त थी। वह तार्किको से प्रभावित था तथा कवि उबैद और अलीमुद्दीन के विचारो से सामीप्य रखता था कि प्रत्येक विचार जो तर्क की कसौटी पर खरा न उतरे त्याज्य है। डा. निगम का मत है कि यह भारतीय इस्लाम का विभिन्न दर्शन-ग्रहण (eclecticism) करने की शुरुआत थी और सुल्तान इस विचार को अमीर-वर्ग मे भर देना चाहता था। परन्तु अमीर-वर्ग बौद्धिक क्षमता मे बहुत पिछडा हुआ था और इसलिये सुलतान तथा अमीरों मे नहीं पट सकी। अमीर वर्ग सुल्तान की योजनाओं का मूल्याकन करने मे असमर्थ रहे और इसीलिये उनमे उनको सफल बनाने की उत्कठा भी कम रही।

अपनी योजनाओं को लागू करने मे सुल्तान ने अमीर-वर्ग का सहयोग चाहा परन्तु इसमें उन्होंने उसको पूरी तरह निराश किया। इसम सुल्तान का भी दोष था। यदि वह प्रमुख अमीरो को प्रशासन मे समुचित महत्व देता और फिर उनसे सलाह लेता तो सम्भवत उसकी योजनायें ठीक ढग से लागू हो जाती। लेकिन जैसा डा निगम ने लिखा कि ये योजनायें उसी तरह असफल हुई जिस तरह कि "सभी अच्छी योजनाएँ बुरे ढग से लागू किये जाने पर असफल हो जाती हैं।" आधारभूत रूप मे सुल्तान की योजनाओं में कोई कमी न थी। राजधानी-परिवर्तन, साकेतिक मुद्रा चलाना अथवा दोआब मे कर की बढोतरी किसी प्रकार से अव्यावहारिक नहीं थीं परन्तु अमीर-वर्ग की अदूरदर्शिता और बुरे ढग से लागू

करने की विधि के कारण उन योजनाओं से वांछित फल न निकल सके। इन असफलताओं से सुल्तान ने मानसिक संतुलन खो दिया और वह तथ्यों को सही परिप्रेक्ष्य में देखने में असफल रहा। वह यह स्वीकार न कर सका कि संसार में असंभव जैसी भी कोई चीज है। कुपित होकर उसने अमीरों तथा साधारण लोगों को समान रूप से कठोर दंड देने शुरू कर दिये।

सम्पूर्ण शासनकाल में अमीरों का विद्रोह इस वैचारिक संघर्ष का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त अमीरों को यह बात भी खटकती थी कि वह उसके पिता के समय की अमीरों की प्रभावपूर्ण स्थिति में रद्दोबदल करे। अमीर सुल्तान को 'समकक्षों में प्रथम' मानने के आदी हो गये थे परन्तु सुल्तान उनसे यह चाहता था कि वे उसे पृथ्वी पर ईश्वर की छाया समझें और इल्बरी तथा खल्जी अमीरों की तरह पूर्ण-आत्मसमर्पण कर दें। यह विचार कोई नया नहीं था लेकिन अमीर-वर्ग यह मानता था कि तुगलक उनके संयुक्त सहयोग व प्रयत्नों के कारण ही सत्तारूढ़ हुये हैं इसलिये वे ताज से कोई निम्न स्थिति स्वीकार करने के लिये तत्पर नहीं थे। वास्तविक शक्ति और संप्रभुता में भागीदारी के संघर्ष के कारण ही मलिक बहराम, मलिक बहाउद्दीन गुशस्पि तथा एनुलमुल्क मुल्तानी के विद्रोह हुये। इस प्रकार अमीरों में असन्तोष की शुरुआत हुई। अमीर यह आशा करते थे कि गयास के बेटे के प्रशासन में न केवल उन्हें बराबरी का समझा जावेगा अपितु उन्हें सम्मानित पद भी प्रदान किये जावेंगे। सुल्तान न तो उन्हें समानता का दर्जा देने के लिये ही तत्पर था और न ही वह सम्मान जो साधारणतया इन पदों से संलग्न रहता है।

सुल्तान ने झुकना और समझौता करना सीखा ही नहीं था। सुल्तान व मुल्तान के मुक्ति मलिक बहराम के बीच जो पत्र-व्यवहार 1533-34 ई. में हुआ उससे इसकी प्रमाणिकता सिद्ध होती है। मलिक बहराम ने अपने विद्रोह के समय शाही सेना से टक्कर लेने के पहले जो पत्र सुल्तान को लिखा था उसका आशय इस प्रकार था। उसने लिखा था,[1] "मूर्ख लोगों की बातों में आकर सुल्तान ने अपने इस हितैषी पर संदेह किया है। यदि सुल्तान राजधानी को लौट जावे तो मैं समादर समर्पण कर दूँगा व नियमित रूप से प्रत्येक वर्ष निश्चित कर भेजाता रहूँगा। पर यदि सुल्तान उसके प्रदेश पर आक्रमण करने कि जिद करता है जिस प्रकार अफरासियाब (तूरान का शासक) ने ईरान पर आक्रमण किया था तो उसे यह स्पष्ट होना चाहिये कि जब तक इस भूमि पर रूस्तम है तब तक अफरासियाब का क्या भय हो सकता है" सुलतान ने इस पत्र का उत्तर अत्यन्त कठोरता से दिया जो इस प्रकार है, "हे भाग्यवान तथा बुद्धिमान ! ईश्वर ने जिन्हें तरक्की बख्शी है, उनका विरोध न कर। मुझे ईश्वर ने हिन्दुस्तान प्रदान किया है।

1. एस. ए. ए. रिजवी, फुतुहुस्सलातीन अनुवादित) पृ. 96

मैं जब किसी वृक्ष को अपनी सीमा से अधिक सिर उठाये देखता हूँ तो मैं उसका सिर कुल्हाड़ी से काटकर उसके स्थान पर दूसरा वृक्ष लगा देता हूँ। यदि तू अपने प्राण चाहता है तो मेरा विरोध न कर। यदि तेरा भाग्य तुझे उचित भाग दशन करे तो तू वहां पर चला जा। मुझ से युद्ध करने वाला बचकर नहीं जाता। यदि तू मुगलों के राज्य म भागना चाहेगा तो मैं वहा मे भी तुझे निकाल लाऊगा। यदि तू आज्ञाकारिता स्वीकार कर लेगा तो बच जावेगा अथवा तुझे अपने जन धन से हाथ धोना पड़ेगा।

तानाशाही का ये रवैया 14वी शताब्दी मे कोई नया विचार नही था परन्तु यह ग्यासुद्दीन तुगलक द्वारा उदाहरण से पूरी तरह भिन्न था जो अमीरों को सम्मान देता था तथा उनके साथ समानता का व्यवहार करता था। इसके साथ ही सुल्तान ने सन्देह पात्र पर ही कठोर दण्ड देने की जो नीति अपनाई उससे अमीर विद्रोह के लिये तत्पर हुये। सुल्तान यद्यपि इन घटनाओ से परेशान था परन्तु उसने इनको रोकथाम के लिये कोई सक्रिय प्रयास नहीं किया। उसके सामने अलाउद्दीन खल्जी का उदाहरण था जिसने विद्रोहो को रोकने का प्रयास किया परन्तु सुल्तान उससे भी कुछ सीखने को तयार न था।

अमीरो के इस विद्रोही रवैये के लिये उसने अमीर वग मे नये तत्वों के समावेश करने की नीति अपनाई। उसने अमीर वग मे अफगानो हिन्दुओ तथा मगोलो को स्थान देना शुरू किया। उसकी इस नीति का विवरण देते हुये डा के एम अशरफ[1] ने लिखा है कि सुल्तान ने यह अनुभव किया कि तुर्की सरदारो मे अनेक कमियां है। इसलिये उसने भारत के बाहर के मुस्लिम प्रदेशो से अमीरो की भर्ती करना शुरु की। सुल्तान ने उत्तरदायी और महत्वपूर्ण पदो पर विदेशियो की नियुक्ति की। सुल्तान की इस नीति के कारण पुराना अमीर वग सुल्तान के प्रति सदेह करने लगा क्योंकि इस तरह से सुल्तान ने उनके प्रभाव और आकाक्षाओ को सीमित कर दिया था। ऐसा अनुभव होता है कि सुल्तान ने इस वग का निर्माण सम्भवत असन्तुष्ट ग्यासी अमीरों के विरुद्ध प्रति सन्तुलन करने के लिये किया था। इस पुराने अमीर वग की शक्ति इसमे निहित थी कि ये वग अपने स्थानीय प्रभाव के कारण हिन्दू राजाओ स्थानीय अधिकारियों व जमींदारो को को अपने पक्ष म करके सुल्तान के विरुद्ध एक सघषकारी शक्ति को जुटा सकता था। विदेशी अमीरों के साथ इस तथ्य का अभाव था परन्तु सुल्तान उनकी निष्ठा पर विश्वास कर सकता था क्योंकि वे अपनी स्थिति के लिये एकमात्र सुल्तान के सरक्षण पर निभर थे। विदेशियों को ये सरक्षण यद्यपि देशी अमीरों की कीमत पर प्रदान किया गया था परन्तु उनमे इतना साहस न था कि वे सुल्तान का विरोध

---

1 डा के एम अशरफ—लाइफ एण्ड कण्डीशन्स ऑफ द पियुल ऑफ हिन्दुस्तान पृ 91

कर सकें। देशी अमीर इन विदेशियों को अपना प्रमुख शत्रु मानते थे। वास्तविकता यह है कि सल्तनत और कुलीनतन्त्र के परम्परागत वंशानुगत सिद्धान्त में लगातार संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई जिसमें पुराने अमीर अपने परम्परागत अधिकारों की रक्षा के इच्छुक थे जबकि सुल्तान पैतृक उत्तराधिकार तथा शक्ति को समाप्त कर नये अमीरों का निर्माण कर रहा था। पुराने अमीरों का यह विचार था कि यदि राजसत्ता परम्परागत पैतृक आधार पर आधारित है तो अमीर-वर्ग का निर्माण भी उसी सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिये। अमीर सुल्तान की नीति से क्षुब्ध थे और विदेशियों के प्रति उनकी शत्रुता ने हत्याओं का रूप धारण कर लिया। खान-ए-जहां अहमद ऐय्याज द्वारा मलिकुल-तुज्जार का वध इसी प्रक्रिया का प्रमाण है क्योंकि अय्याज इस बात से अधिक द्वेष रखता था कि सुल्तान ने एक विदेशी को वजीर बनाने का वचन दिया है।

सुल्तान ने इन नये अमीरों में से अनेक को अपना सम्बन्धी बना लिया था। उसने मलिक सैफुद्दीन, शराफुल मुल्क व शेखजादा बिस्तामी के साथ अपनी बहनों का विवाह सम्पन्न किया था।[1] वह इन्हें 'अजीज' कह कर पुकारता था। इसके अतिरिक्त उसने महत्वपूर्ण इक्ता भी इन नये अमीरों को दिये। शमसुद्दीन बदख्शी व अलाउलमुल्क को क्रमशः अमरोहा व लहरी के इक्ता दान किये गये क्योंकि इन्होंने पुराने वर्ग के अमीर ऐनुल्मुल्क के विरुद्ध सुल्तान की सहायता की थी।

सुल्तान ने मंगोलों को भी संरक्षण दिया। दिल्ली को मंगोलों के आक्रमण से बचाने के लिए राजधानी परिवर्तन का जो प्रयोग किया गया था उसकी असफलता के बाद सुल्तान ने 'नव-मुसलमानों' के प्रति समन्वय की नीति अपनाई जिससे कि मंगोलों के आक्रमण पुनः न हों। इसीलिए उसके शासन के अन्तिम वर्षों को छोड़कर केवल तरमाशरीन के आक्रमण को छोड़कर मंगोलों का कोई विकट आक्रमण नहीं हुआ। प्रत्येक वर्ष मंगोल दरबार में आते थे और सुल्तान उन्हें उपहार तथा इक्ता प्रदान कर सम्मानित करता था। इसके बाद भी सुल्तान के शासन के अन्तिम वर्षों में मंगोलों ने बहुत उत्पात मचाया। सुल्तान का शासनकाल अफगानों के उत्थान की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। यद्यपि दरबार में उनका प्रभाव नगण्य था परन्तु फिर भी अनेक अफगान अमीरों का उत्थान उसके शासकाल में हुआ।

इन विदेशी तत्वों को संरक्षण प्रदान करने में सुल्तान ने पुराने अमीर-वर्ग के अधिकारों का तिरस्कार किया जिनकी संख्या काफी अधिक थी। स्वाभाविक रूप में वे इक्ताओं में अधिक प्रभावशाली थे। यद्यपि दरबार में विदेशी अमीरों की तुलना में उनकी स्थिति दयनीय हो गई परन्तु फिर भी उन्होंने इक्ताओं आदि में अपनी दृढ़ स्थिति को नहीं त्यागा और इसी कारण उनमें से अनेकों ने लखनौती,

---

1. एस. बी. पी. निगम, नोबिल्टी अण्डर द सुल्तान्स् ऑफ देहली, पृ. 81

माबर व देवगिरि आदि में स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिये। इन विद्रोहों को न कुचल पाने के कारण सेना तथा अमीर-वर्ग का उत्साह भंग हो गया। चारों ओर तथा प्रत्येक प्रान्त में अमीरों ने विद्रोह किया परन्तु इसके बाद भी सुल्तान सत्यता को न समझ सका। जैसे-जैसे इन विद्रोहों से प्रशासन अस्त-व्यस्त होने लगा वैसे ही वैसे सुल्तान का मानसिक सन्तुलन बिगड़ता गया और वह अधिक क्रूरता दिखाने में लगा। जीवन के अन्तिम वर्षों में उसकी समस्त रचनात्मक शक्ति विद्रोहों को कुचलने तथा राज्य की दुर्जेय शक्ति—जनसाधारण—को दबाने की दिशा में मुड़ गई। उसने सुदृढ़ राज्य के इस आधारभूत सिद्धान्त को नहीं सीखा कि यह भय पर आधारित न होकर विश्वास पर आधारित होना है।

इसके पश्चात् भी यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि यद्यपि उसके राज्यकाल में एक के बाद एक विद्रोह होते रहे परन्तु शाही खेमे में इल्बारियों तथा खल्जियों की तरह कभी कोई विद्रोह नहीं हुआ। राजधानी इस प्रकार के विद्रोहों से अक्षुण्ण रही। राजधानी में उसके अमीरों तथा सेना ने उसके प्रति श्रद्धा तथा निःस्वार्थ सेवा के प्रमाण दिये। सुल्तान इन दूरस्थ विद्रोहों के कारण हैरान था और वह गम्भीरता से इस समस्या के सम्बन्ध में मनन भी करता था परन्तु उसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी कि वह सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई समझौता करने को तत्पर न था। सुल्तान यह भी सहन नहीं कर सकता था कि शक्तिशाली अमीर उसकी नीतियों का विरोध करें।

इसके साथ ही सुल्तान के शासनकाल में हरम का प्रभाव नगण्य था जो कि इल्बारी व खल्जियों के कार्यकाल में अधिक प्रबल व प्रभावपूर्ण था। यद्यपि सुल्तान के चार जीवित भाई तथा चार बहिनें थीं जिनका विवाह प्रभावशाली अमीरों से सम्पन्न हुआ था। परन्तु न तो उसके भाइयों अथवा बहनों ने कोई विद्रोह ही किया और न ही सुल्तान ने इनके प्रति किसी कठोर नीति को लागू किया। इसी प्रकार से दास भी अप्रभावपूर्ण रहे।

इन सब के बाद भी सुल्तान मुहम्मद तुग़लक ने हिन्दुओं को भी शासन में सक्रिय रूप से जोड़ लिया। बरनी ने उन हिन्दुओं के नाम की सूची प्रस्तुत की है जो राज्य में उच्च पदों पर नियुक्त थे। धारा नामक एक हिन्दू को सुल्तान ने देवगिरि के नायब वजीर के पद पर नियुक्त किया था। बहरन उसके समय में गुलबर्गा का मुक्ति था। इसी प्रकार से रतन नामक हिन्दू भी सुल्तान का कृपा-पात्र था।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि सुल्तान के राज्यकाल में एक ओर तो सुल्तान तथा अमीर-वर्ग में और दूसरी ओर अमीरों के विभिन्न वर्गों के बीच लगातार संघर्ष बना रहा। उसने अमीरों के पैतृक अधिकारों को मानने से इन्कार कर दिया तथा अपने पिता के समय उन्हें जो सुल्तान से बराबरी का दर्जा

मिल पाया था उसको जड़-मूल से समाप्त करने पर उद्यत हो गया। उसे जब अमीरों में अपने प्रति स्वामिभक्ति की कमी नजर आई तो उसने अमीर-वर्ग के ढांचे में परिवर्तन कर नई श्रेणियों को ला खड़ा किया जो एकमात्र उसकी कृपा पर निर्भर थे। उसने अपने आदेशों तथा योजनाओं को लागू करने के लिए हर उचित साधन को अपनाया और जब किसी कारण से उसके आदेश अथवा योजनायें क्रियात्मक रूप न ले सकीं तो उसने बगैर किसी माप-दण्ड के अमीरों को कठोर दण्ड देने शुरू किये। इस तरह उसने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिससे अमीर विद्रोही हो गये और इनका तांता सा लग गया। सुल्तान का मानसिक सन्तुलन विद्रोहों को न दबा सकने के कारण बिगड़ने लगा। यद्यपि वह गम्भीरता से इनके कारणों पर मनन करता था परन्तु उसकी सबसे बड़ी कमजोरी रही कि वह सिद्धान्तों के साथ किसी प्रकार का समझौता करने को तत्पर न था। इसी बीच थट्टा के निकट उसकी अचानक मृत्यु हो गई।

सुल्तान फीरोजशाह तुगलक व अमीर वर्ग—मुहम्मद तुगलक की मृत्यु से शाही खेमे में आतंक फैल गया। अमीरों ने मलिक फीरोज (फीरोजशाह तुगलक) के नेतृत्व में घेरे को उठाकर शीघ्र राजधानी की ओर वापिस चलने का निर्णय किया। क्योंकि लौटती हुई सेना चारों ओर से संकटों से घिरी हुई थी इसलिये अमीरों ने फीरोज तुगलक को दिवंगत सुल्तान का 'अमीर-ए-हाजिब' का सुल्तान घोषित कर दिया। अमीरों की इस कार्यवाही का मुहम्मद तुगलक की बहन खुदावन्दजादा ने विरोध किया क्योंकि उसके अपने पुत्र, दावर मलिक के होते हुए फीरोज का सुल्तान चुना जाना गैरकानूनी और अनुचित था। अमीरों ने कह दिया कि इन विषम परिस्थितियों में एक अयोग्य बालक को सुल्तान स्वीकार नहीं किया जा सकता। सशक्त सहयोग न मिलने के कारण खुदावन्दजादा का प्रस्ताव खत्म हो गया। खेमे में उपस्थित उलेमाओं ने फीरोज के निर्विरोध निर्वाचन को अपनी स्वीकृति प्रदान की।

यद्यपि फीरोज के सुल्तान चुने जाने का खेमे में सब ही ने स्वागत किया परन्तु राजधानी में एक मिश्रित प्रतिक्रिया दिखाई दी। खान-ए-जहांन अहमद अयाज ने, जिसका अमीरों पर काफी प्रभाव था, एक साल साल के संदिग्ध बालक को दिवंगत सुल्तान का पुत्र बता कर सुल्तान घोषित कर दिया। अमीरो ने उसके इस चुनाव को बड़ी अनिच्छा से स्वीकार किया क्योंकि वे जानते थे कि वह अपने चुनाव की स्वीकृति उन अमीरों से नहीं ले पायेगा जो शिविर में थे। वजीर ख्वाजा-ए-जहांन भी इस चुनाव से परेशान था क्योंकि अहमद अयाज ने इतने महत्वपूर्ण मामले में उससे सलाह न ली थी। ख्वाजा-ए-जहांन की यह कार्यवाही उचित न थी और विशेषकर जबकि फीरोजशाह से उसके घनिष्टता के सम्बन्ध थे। अफीफ ने लिखा है कि वजीर को ये गलत सूचना मिली की तातारखां तथा अमीर-ए-हाजिब फीरोजशाह लापता हैं अथवा मर चुके हैं। इसलिये मातम का समय बीतने पर उसने गद्दी को

खाली रखने की अपेक्षा इस नीति का अपनाया और इस प्रकार एक जघन्य अपराध किया। दूसरी ओर क्योंकि मुहम्मद तुगलक ने अपने जीवनकाल में फीरोज को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था इसलिए फीरोज का गद्दी पर बैठना एक सम्पन्न-कार्य (fait accompli) था। क्योंकि यह तथ्य सर्वविदित था इसलिये अनेक प्रभावशाली अमीरों ने अहमद अयाज का पक्ष छोड़ सुल्तान से जा मिले। डा निगम[2] ने लिखा है कि "इस सम्पूर्ण घटना का महत्व इसी में है कि एक बार फिर अमीर शासक के चुनाव में सक्रिय हो उठे। सौभाग्य से अहमद अयाज को सहायता न मिलने से अराजकता को टालना सम्भव हो सका।"

फीरोज का शांतिमय ढग से गद्दी प्राप्त करना एक आश्चर्यजनक घटना थी क्योंकि इसक पहले बगैर विद्रोह, षड्यन्त्र अथवा खून खराबी के गद्दी प्राप्त करना एक अनहोनी बात थी। परन्तु इसका अत्यधिक महत्व इस बात में था कि इससे एक उदार नीति का श्रीगणेश हुआ जो समायोजना तथा सद्‌भावना पर आधारित थी। सुल्तान ने नस्ल की श्रेष्ठता को त्याग कर मगोलों, अफगानों तथा नये धर्म-परिवर्तित हिन्दुओं में से, जिन्होंने मुहम्मद तुगलक के समय विशिष्ट सेवायें की थी, अमीरों को चुना।

फीरोज की इस उदार नीति के कारण नस्ल के आधार पर अमीर-वर्ग का संयोजन अनुपस्थित रहा और इसने अपने आप में अमीरों पर ऐसे अवरोध पैदा कर दिये जो 13वीं तथा 14वीं शताब्दी में निरंकुश शासन को चलाने के लिए आवश्यक थे। सुल्तान के समस्त शासनकाल में कोई एक अमीर-वर्ग उभर कर ऊपर न आ सका और सम्भवत इसी कारण फीरोज लगभग चालीस वर्ष के लम्बे समय तक शान्तिमय ढग से शासन करता रहा।

फीरोज ने पिछले सुल्तानों के विरोध में अमीरों के साथ अत्यन्त उदार व्यवहार करना आरम्भ किया। उसने उन पर लगे हुये प्रतिबन्ध समाप्त कर दिये, उनकी गतिविधियों पर न तो अब गुप्तचर रहे और न ही उन्हें साधारण अथवा गम्भीर अपराधों पर दण्ड ही दिया जाने लगा। अमीर अपने ढग से धन अर्जित करने, सैनिक कर्तव्यों की उपेक्षा करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिये गये और ऐसी स्थिति में उन्हें सुल्तान के साथ शक्ति स्पर्द्धा करने की आवश्यकता अनुभव ही नहीं हुई क्योंकि उनकी समस्त आकांक्षाएँ बगैर किसी कठिनाई के पूरी हो रही थीं। फीरोज ने केवल यह आग्रह किया था कि वे प्रजा को किसी प्रकार से उत्पीड़ित न करें। फीरोज की ये नीति निर्विघ्न रूप से राज्य के हित में न थी। शनै-शनै राज्य की कीमत पर अमीर वर्ग के स्वार्थ पनपते रहे जिसका स्वाभाविक परिणाम निकला कि राज्य में भ्रष्टाचार पनपा, सैनिक शक्ति निर्वीर्य हो गई और राज्य का अन्त स्पष्ट दिखाई देने लगा।

---

2 एस बी पी निगम, वही, पृ 87

फीरोज ने न केवल जागीर प्रथा को पुनर्जीवित किया अपितु अमीरों के वेतन, भत्तों में भी बढ़ोतरी की । अफीफ ने लिखा है कि वजीर का वेतन 13 लाख टंक निश्चित किया गया और इसी तरह से अन्य पदाधिकारियों को 8, 6 व 4 लाख टंक प्रतिवर्ष दिये जाने लगे । मुहम्मद तुगलक की अमीरों के स्थानान्तरण की नीति को त्याग दिया गया और जब तक अमीर अपने क्षेत्र से नियत आय केन्द्र को भेजते रहे तब तक उन्हें अछूता छोड़ दिया गया । अमीरों द्वारा दी जाने वाली भेंटों का भी धन मुजरा दिया जाने लगा । प्रत्येक अमीर अब एक छोटे-मोटे सुल्तान के समान ऐश्वर्य से जीवन बिताता था जिसके पास दिखावे के रूप में भी कोई काम न था । सुल्तान ने पदों को भी वंशानुगत करके रही-सही व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया । अपने वजीर खान-ए-जहांन मकबूल की मृत्यु के बाद उसने उसके पुत्र को वजीर के पद पर नियुक्त किया और राज्य का सारा काम उसके हाथों में सौंप दिया । यह नीति केवल उच्च वर्ग के अमीरों के लिये ही नहीं अपितु साधारण अमीरों व राज्य कर्मचारियों पर भी लागू थी ।

फीरोज के राज्यारोहण के साथ ही साहसिक सैनिक कार्यवाहियां मृत-प्राय हो गयीं । अमीरों के लिए अब 'अनुभव की कोई ऐसी कठिन पाठशाला' नहीं रही जहां वे सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें । उन्हें स्वयं का भविष्य सुरक्षित दिख रहा था और साथ ही वंशानुगत नियुक्तियों के आधार पर अपने उत्तराधिकारियों अथवा सम्बन्धियों की भी चिन्ता न थी । फलस्वरूप वे न केवल अधिक अकर्मण्य हो गये अपितु अधिक उदासीन भी रहे । राज्य प्रतिभाओं के आधार पर खोखला हो गया क्योंकि फीरोज की व्यवस्था में उनका स्थान ही नहीं था । इसी कारण मंगोलों को पराजित करने वाली सल्तनत की सेना तैमूर के आक्रमण को सहन करने में भी असमर्थ रही ।

इस विवरण के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित न होगा कि अमीरों और सुल्तान के बीच कोई मनमुटाव नहीं रहा अथवा अमीरों ने सुल्तान के विरुद्ध कोई षड्यन्त्र नहीं रचा अथवा अमीरों में आपस में भी कोई अनबन नहीं रही । फीरोज के राज्यारोहण को ख्वाजा-जहांन अहमद अयाज व फिर खुदावन्दजादा की ओर से जो चुनौती मिली तथा उसका वध करने की जो योजना बनाई गई वह इस बात को प्रमाणित करती है कि फीरोज के विरुद्ध भी आरम्भिक वर्षों में अमीरों ने पहले की ही तरह षड्यन्त्र रचे थे । फीरोज के समय में अमीरों में भी प्रतिस्पर्द्धा व मनमुटाव था इसका उदाहरण ऐनुलमुल्क व वजीर खानेजहांन के बीच सम्बन्धों से स्पष्ट है । सुल्तान जो सदैव ही अमीरों के आपसी झगड़े में शक्तिशाली का पक्ष लेता था । यहां पर भी उसने वजीर का पक्ष लेकर ऐनुलमुल्क को जागीर देकर राजधानी से बाहर भेज दिया परन्तु साथ ही उसने ऐनुलमुल्क को शांत बनाये रखने के लिये उसकी जागीर का प्रदेश वजीर के कार्य-क्षेत्र से अलग कर दिया । जब

खानेजहान का पुत्र जूनाशाह वजीर बना तो अमीरो के गुटो की गतिविधियां बढ़ गईं और दरबार मे स्पष्ट रूप से दो गुट दिखाई देने लगे—एक वजीर का तथा दूसरा राजकुमार मुहम्मदखां का। फीरोज ने दासो को भी अधिक संख्या मे इक्ट्ठा करके तथा उन्हें सम्मानित स्थिति प्रदान करके एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जो अमीर न होने हुए भी अमीरो की शक्ति प्राप्त करने के लिए लालायित हो उठे जिसका परिणाम उसके निर्बल उत्तराधिकारियो को भुगतना पड़ा।

इस प्रकार फीरोज के समय मे यद्यपि ऊपरी सतह पर सब कुछ अत्यधिक शान्त और व्यवस्थित दिखाई देता था परन्तु अन्दर ही अन्दर फीरोज की अमीरो के प्रति उदार नीति सल्तनत की जड़ें खोखली कर रही थी।

तुगलक शासक व उलेमा-वर्ग

गयासुद्दीन तुगलक व उलेमा-वर्ग—गयासुद्दीन के शासनकाल में काजी कमालउद्दीन सद्र ए-जहां व काजी शमसुद्दीन राजधानी के काजी के पद पर थे। परन्तु दोनो की ही उसके राज्यकाल मे कोई सक्रिय गतिविधि नहीं रही। सुल्तान के सम्बन्ध शेख निजामुद्दीन औलिया से अच्छे नहीं थे क्योंकि सुल्तान ने खुसरोखां द्वारा दिये गये पांच लाख टंक की मांग की जो कि उसने शेख को भेजे थे। परन्तु क्योंकि शेख ने उसी समय वह धन अपने अनुयायियों मे बांट दिया था इसलिये वह लौटाने में असमर्थ था।

डा. एस बी निगम ने 'नोबिलिटी अण्डर द सुलतान्स' मे लिखा है कि, गयासुद्दीन और शेख निजामुद्दीन औलिया के बीच मतभेद का दूसरा कारण था कि सुल्तान ने काजी जलालुद्दीन के कहने पर महजर से यह निर्णय करवाना चाहा कि शेख के खनकाह मे जो 'शम' का पाठ होता है वह शरा-सम्मत है अथवा नहीं। सुल्तान क्योंकि इसमे पराजित हुआ इसलिए अपने शासन के अन्त तक उसने शेख के व्यक्तिगत जीवन मे हस्तक्षेप करने की नीति को त्याग दिया।

मुहम्मद बिन तुगलक व उलेमा-वर्ग—मुहम्मद तुगलक स्वतन्त्र बौद्धिक विचारो का था इसलिए वह प्रशासन मे उलेमा-वर्ग के अनुदेशों को लागू करने के लिए तत्पर नहीं था। इसी कारण वह उलमा-वर्ग मे अप्रिय रहा। डा एस. बी. निगम ने बरनी को उद्धरित करते हुये लिखा है कि, "इससे अधिक निन्दनीय क्या हो सकता है कि सुल्तान मुसलमानों की हत्या का आदेश देते समय शरा व कुरान की पूर्ण उपेक्षा कर दे। पवित्र मुसलमानो की हत्या का आदेश देते समय सुल्तान इस बात पर तनिक विचार नहीं करता था कि ईश्वरीय पुस्तकों और पैगम्बर की एक लाख 24 हजार कही हुई बातों में मुसलमानों के मारने पर निषेध है।" बरनी ही नहीं अपितु दूसरे समकालीन इतिहासकार भी सुल्तान की इस निष्ठुर नीति का विरोध करते हैं। इब्नबतूता ने सुल्तान की निष्ठुरता पर क्षोभ प्रकट किया है क्योंकि वह शरा की परवाह न करते हुये स्वेच्छाचारी आचरण करता था।

इब्नबतूता ने उलेमा-वर्ग पर सुल्तान के अत्याचारों के कई उदाहरण दिये हैं परन्तु यदि इन घटनाओं का विश्लेषण किया जावे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस वर्ग के लोगों को जो भी दण्ड दिये गये वे निश्चित अपराधों के लिये ही दिये गये थे। दूसरी ओर इब्नबतूता ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत करता है कि जिनसे यह सिद्ध होता है कि सुल्तान न्याय करने के प्रति अत्यधिक सजग था। डा. निगम ने लिखा है कि, "न्याय करने में वह उलेमा-वर्ग तथा साधारण लोगों में कोई भेद नहीं करता था और इसीलिये कहीं पर उसे 'सुल्तान-ए-कातिल' और कहीं उसे 'सुल्तान-ए-आदिल' के उपनामों से सम्बोधित किया गया है।"

यद्यपि सुल्तान उलेमा-वर्ग के आचरण व रहन-सहन का कठोर आलोचक था परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन में वह अत्यन्त पवित्र और धर्मनिष्ठ मुसलमान था जो नियमित रूप से नमाज पढ़ता था तथा इस्लामी त्यौहारों को शान-शौकत से मनाता था। वह न केवल अपने दैनिक जीवन में शरा के नियमों का पालन करता था अपितु यह अपेक्षा करता था कि साधारण लोग भी शरा के अनुसार ही आचरण करेंगे। शरा के नियमों को लागू करने के लिये उसने कठोर आदेश भी निकाला। शरा के नियमों को भंग करने वाले अथवा जुम्मे (शुक्रवार) की नमाज में अनुपस्थित मुसलमानों को कठोर दण्ड दिये जाते थे। एक बार एक मुसलमान को नमाज न पढ़ने पर मृत्यु दण्ड दिया गया। शरा के आधार पर ही उसने यह आदेश दिया कि इसमें वर्जित करों को लागू न किया जावे। वास्तविकता यह है कि वह न्याय के क्षेत्र में उलेमा-वर्ग तथा साधारण वर्ग में कोई अन्तर न करता था। परन्तु इसके साथ ही वह इस वर्ग के लोगों के कल्याण के लिये सदैव सजग था और उनका सम्मान करता था। इब्नबतूता को उसने दिल्ली का काजी नियुक्त किया था और अनेक अवसरों पर उसे उपहार भेजे थे। इब्नबतूता स्वयं लिखता है कि सुल्तान ने रुकनुद्दीन को जो खलीफा से उसके लिये खिलअत लाया था किस प्रकार बहुमूल्य उपहार दिये। इसी प्रकार वजीर तिरमिजी, नासिरुद्दीन, इमाम अज्जुद्दीन को उसने उपहार प्रदान किये। स्वयं ख्वाजा जियाउद्दीन बरनी उसका 'नदीम' था।

इन उपहारों तथा उपकारों के अतिरिक्त सुल्तान ने उन्हें राजनीतिक पदों पर भी नियुक्त किया। इब्नबतूता के शब्दों में, "उसकी यह नीति थी कि वह फकीरों, शेखों, सूफियों तथा अन्य सम्मानित व्यक्तियों को राज-सेवा में नियुक्त करता था इसका कारण था कि इस्लाम के आलिमों (विद्वानों) तथा सम्मानित व्यक्तियों के अतिरिक्त कोई भी राजकीय पद प्राप्त नहीं कर सकता था।" शेख मुईजुद्दीन की गुजरात के वजारत के पद पर इसी नीति के अन्तर्गत नियुक्ति की गई थी।

अपने शासन के अन्त में जब वह थट्टा में था तो उसने शेख नासिरुद्दीन जो शेख निजामुद्दीन औलिया का खलीफा था तथा अन्य सन्तों को आमन्त्रित किया परन्तु उसने उनका यथोचित सम्मान नहीं किया क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि वे सुल्तान को अपदस्थ करने के एक षड़यन्त्र में लिप्त थे। इसी प्रकार शेख कुतुबुद्दीन

मुनव्वर को निजामुद्दीन औलिया का खलीफा था सुल्तान ने उसे 'इनाम' तथा दो गाव प्रदान किये जिन्हें उसने लेने से मना कर दिया। अन्त में बड़ी कठिनाई से उसने 2000 टक स्वीकार किये जिन्हें शेख ने तुरन्त ही गरीबों में बटवा दिये। इसी प्रकार सुल्तान ने शेख फखरुद्दीन की अलौकिक शक्ति के बारे मे अत्यधिक प्रशसा सुन रखी थी इसलिये सुल्तान ने देवगिरि राजधानी परिवर्तन के समय शेख का सहयोग चाहा पर सुल्तान को उनका स्वैच्छिक सहयोग प्राप्त न हो सका। सुल्तान ने शेखों, सन्तों और धर्माचार्यों को देवगिरि चलने के आदेश दिये परन्तु उन्होने इसे अपने 'खानकाह-जीवन' मे हस्तक्षेप मानकर चलने मे असमर्थता दिखाई। सुल्तान इससे नाराज हो गया और यह मानकर कि उनकी इस अवज्ञा से विद्रोह की बू आती है, उसने उन्हें देवगिरि चलने के लिये बाध्य किया। सुल्तान की इस नीति ने उसे उलेमा-वर्ग में अत्यधिक अलोकप्रिय बना दिया।

डा. निगम ने लिखा है कि वस्तुत सुल्तान धर्मनिष्ठ था और यह विश्वास करता था कि सुल्तान होने के नाते उसका कर्तव्य है कि वह लोगों के कल्याण के प्रति सजग रहे तथा लोगों को कुरान और शरा के अनुसार आचरण करने के लिये बाध्य करे। इन नियमो को लागू करने मे उसने सर्वसाधारण के विचारो को कोई मान्यता न दी और उलेमा-वर्ग उसकी नीतियो का विरोध करने का साहस न कर सका। उलेमा-वर्ग ने सुल्तान से दान और उपहार पाने की लालसा में उसके सामने कभी स्पष्ट बात नहीं रखी। बरनी स्वय लिखता है कि, "यद्यपि यह शरा और हदास मे परागत था परन्तु सुल्तान से भौतिक लाभो की आशा मे उसने उसके रक्तरंजित कार्यो के विरुद्ध कभी सत्य को रखने का प्रयास नहीं किया।" स्थिति इतनी गम्भीर थी कि अपनी जान और माल की रक्षा के लिये तथा सुल्तान की कृपा-प्राप्ति के लिये उलेमा-वर्ग ने सुल्तान ने गैर-कानूनी कार्यों के पक्ष मे अप्रमाणित पूर्वोदाहरण को प्रस्तुत किया जो उसके विचारों से मेल खाती है।

फीरोज तुगलक व उलेमा-वर्ग—फीरोज के शासन काल मे उलेमा-वर्ग पुनः अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को प्राप्त करने में सफल हुआ। फीरोज की रूचि और विचार मुहम्मद तुगलक से बिलकुल विपरीत थे। धर्मनिष्ठा उसमे इतनी अधिक थी कि धर्मान्धता और धर्मनिष्ठा में कोई अन्तर ही न था। थट्टा मे उलेमा-वर्ग की सहायता मे ही उसे गद्दी प्राप्त हुई थी इसलिये उन्हें विशेष रूप से सम्मानित करना उसकी नीति रही। अपनी आत्मकथा मे वह स्वय स्वीकार करता है कि उलेमा, सूफियो और फकीरों को सम्मान देना उसकी आदत बन गयी थी। इस नीति के कारण उलेमा-वर्ग भी उसका प्रबल समर्थक बन गया था। इसके अतिरिक्त जैसा डा एस. बी. पी. निगम ने लिखा है कि, "उसने हिन्दुओ को इस्लाम स्वीकार करने के लिये प्रोत्साहित करने हेतु उन्हें जजिया से मुक्त करने की नीति भी अपनायी।" उलेमा-वर्ग की सलाह पर ही उसने ब्राह्मणों पर कर लगाया तथा उसे कठोरता से वसूल किया।

शासन भी शरा के अनुसार चलाया जाने लगा। 1375-76 ई. में अपने दरबारी-उलेमा की सलाह पर ही उसने आदेश निकाला कि शरा में जिन करों को उगाने की अनुमति नहीं दी गई है उन्हें समाप्त कर दिया जावे। ऐसे करों की एक लम्बी सूची बनाई गई जिसे काजी नसरउल्ला ने जनता के सामने पढ़कर सुनाया। डा. निगम ने लिखा है कि, "धार्मिकता के ऐसे प्रदर्शन ने सुल्तान को अपनी मुस्लिम प्रजा में अधिक लोकप्रिय बना दिया परन्तु इसने सुल्तान की हिन्दुओं के प्रति नीति को प्रभावित किया जिनको उलेमाओं की धर्मान्धता के कारण अत्यधिक तकलीफ अनुभव करनी पड़ी।" अफीफ ने उस आंखों देखी घटना का वर्णन किया है जब फीरोज ने एक ब्राह्मण को दरबार में जिन्दा जलवा दिया क्योंकि वह सार्वजनिक रूप में मूर्ति-पूजा करता था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही उसके पास जाते थे। उसने एक मुस्लिम स्त्री को हिन्दू धर्म में परिवर्तित कर लिया था। फीरोज शरा का संरक्षक होने के नाते यह सहन नहीं कर सकता था कि उसके राज्य में इस प्रकार गैर-इस्लामी कार्यवाहियां हों।

उसने दरबार में उलेमा-वर्ग के सदस्यों को ऊंचे-ऊंचे पदों पर नियुक्त कर तथा उन पर अपनी कृपाओं की बौछार कर उनकी शक्ति तथा सम्मान में वृद्धि की। काजी जलालुद्दीन किरमानी को 'दारुलकजा' का अध्यक्ष नियुक्त कर पूरे साम्राज्य के धार्मिक अनुदानों के नियन्त्रण की जुम्मेदारी उसे सौंप दी। इसी प्रकार खुदावन्दजादा किवामउद्दीन तिरमिजी को सुल्तान ने छत्र, 'दूरबाष' तथा बादशाही चिन्ह प्रदान कर सम्मानित किया। उसके भतीजे मलिक सैफुलमुल्क सुल्तान ने 'अमीर-ए-शिकार' के पद पर नियुक्त किया। सैफुलमुल्क पैगम्बर मुहम्मद के वंश से सम्बन्धित था। सुल्तान ने अशरफ-उल-मुल्क जो एक उच्च वंश से सम्बन्धित था 'नायब वकील-ए-दर' नियुक्त किया। इसी प्रकार अलाउद्दीन सैयद रसूल-ए-दाद पर सुल्तान की अति कृपा थी। साम्राज्य के प्रान्तों और अन्य भागों में भी उलेमा-वर्ग सम्मानित किया गया तथा उन पर शाही कृपा बनी रही। इस कारण डा. निगम ने लिखा है कि, "यह कोई आश्चर्य नहीं है कि उलेमा-वर्ग समस्त राज्य-काल में सुल्तान का प्रबल समर्थक बना रहा।

जीवन तथा प्रशासन के सम्बन्ध में सुल्तान का यह दृष्टिकोण कोई नई चीज न थी क्योंकि अपने बाल्यकाल से ही वह ऐसे वातावरण में पला था जो पूर्णतया धार्मिक था। उसका चाचा ग्यासुद्दीन तुगलक जो दीपालपुर का मुक्ति था स्वयं धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था और शेख तथा सन्तों की मजारों पर दर्शन हेतु अक्सर जाया करता था। अफीफ ने फीरोज का मूल्यांकन करते हुये लिखा है कि, "सुल्तान वास्तव में एक 'शेख' था जिसने ताज धारण कर लिया था।" अफीफ की यह धारणा कि सुल्तान फीरोज तुगलक के समय में राज्य की नीति सहिष्णुता पर आधारित थी। घटनाओं के आधार पर किसी प्रकार से खरी नहीं उतरती। डा.

नियम के अनुसार सुल्तान ने हिन्दुओं तथा शियाओं के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया वह वास्तव मे सहिष्णुता का खण्डन अथवा प्रतिवाद है।"

सुल्तान इस प्रकार से न केवल धार्मिक नियुक्तियों को धर्म के मापदण्ड पर अपितु न्यायिक पदों की नियुक्ति में भी धार्मिक मापदण्डों को आधार मान बैठा था। सुल्तान ने बरनी की सैद्धान्तिक कसौटी को कि मुस्लिम राज्य में सुन्नी विद्वानों के अतिरिक्त किसी दूसरे का स्थान नहीं है, क्रियात्मक रूप में लागू करने का प्रयत्न किया।

इस प्रकार यदि हम सल्तनत युग की प्रथम दो शताब्दियों में उलेमा-वर्ग के राजनैतिक प्रभाव का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होगा कि उलेमा-वर्ग का प्रभाव प्रत्येक शासक की रुचि पर निर्भर था। बलबन और फीरोज तुगलक जैसे सनातनी सुल्तानों के समय मे उलेमा-वर्ग राजनीति में अधिक सक्रिय हो गया परन्तु अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक के राज्यकाल मे इन सुल्तानों ने उलेमा-वर्ग के हस्तक्षेप को राजनीति में कदापि स्वीकार नहीं किया। परन्तु इसके बाद भी किसी न किसी रूप में उलेमा-वर्ग ने अपने समय की राजनीति को प्रभावित किया। इसका कारण था कि इस काल में राजनीति और धर्म को एक दूसरे से अलग करना नितान्त असम्भव था। यह उपर्युक्त ही कहा गया है कि इस्लाम एक धर्म होने के साथ ही शासन की एक पद्धति भी है जिसे हम 'धर्म-राज्य' (Church state) की सज्ञा से सम्बोधित कर सकते हैं। इस्लाम में राजनीति केवल राजनीति नहीं और धर्म केवल धर्म नहीं। इसलिये यदि हम तुर्की सुल्तानों की राजनीतिक गतिविधियों अथवा सैनिक विजयों को यथेष्ट रूप में समझने का प्रयास करें तो इस्लामी राज्य के इस आधारभूत सिद्धान्त की ओर भी ध्यान देना होगा। यह ठीक है कि तुर्कों के धार्मिक तथा विजेताओं के उद्देश्यों को अधिक महत्व न दिया जावे परन्तु इसके साथ ही उन्हें पूर्णतया भुलाया भी न जावे। उन्हें इस काल्पनिक आधार पर पूरी तरह छोड़ भी न दिया जावे कि आक्रमणकारी केवल विजयों और राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति से ही प्रेरित हुये थे।

इस समस्त विवरण के बाद यह स्पष्ट है कि यद्यपि सुल्तानों ने उलेमा-वर्ग को हर सम्भव तरह से सरक्षण दिया परन्तु फिर भी ये वर्ग अमीर-वर्ग की तरह शासक बनाने अथवा उसे अपदस्थ करने की भूमिका प्राप्त न कर सका। इसका एकमात्र कारण था कि सल्तनत अब भी एक सैनिक राज्य था। जिसकी रक्षा केवल एक कुशल सैनिक-राजनीतिज्ञ के द्वारा ही सम्भव थी, और क्योंकि उलेमा-वर्ग में ये गुण न थे इसलिये वे सुल्तानों के भाग्य-निर्णय के पीछे रह गये।

अध्याय—6

अफगानकालीन भारत

तुगलक साम्राज्य के पतन के बाद अनेक स्वाधीन राज्यों ने जन्म लिया जिनकी शक्ति क्रमशः बढ़ती गई। सैय्यदों ने दिल्ली सल्तनत पर अधिकार कर लिया लेकिन उनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वे सल्तनत के विघटन को रोक पाते। दिल्ली का जो थोड़ा सा राज्य शेष रहा था उस पर भी पड़ोसी स्वतन्त्र राज्य निगाह गड़ाए हुए थे और वे उसे हड़प जाना चाहते थे। कुछ प्रदेशों को तो उन्होंने हथिया ही लिया था।

15वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध राजनैतिक विश्रृंखलता का युग रहा यद्यपि 15वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में लोदी सुल्तानों के उदय के साथ ही राजनैतिक विघटन को अन्त करने के प्रयास प्रारम्भ हुये जिन्होंने मुगल सम्राट अकबर के समय में मूर्त-रूप धारण किया। 15वीं सदी में भारतीय इतिहास की यह विशिष्टता रही है कि इस काल में कोई केन्द्रीय मुस्लिम सत्ता नहीं रही। इस युग के स्वाधीन राज्यों में अधिकांश मुस्लिम राज्य थे जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में हिन्दू राज्यों को दबाने अथवा समाप्त करने का प्रयास किया। इस युग की दूसरी विशेषता यह रही कि इसमें हिन्दू व मुसलमान निकटतम सम्पर्क में आए जिससे मेल-जोल बढ़ा। प्रायः इस समय लोगों का दृष्टिकोण साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर राजनैतिक रूप धारण कर सका। इस कारण हिन्दू और मुसलमान राजनैतिक सुविधा की दृष्टि से, धार्मिक विशेष अथवा सद्भाव से ऊपर उठकर एक दूसरे के शत्रु अथवा मित्र बने। इस प्रकार राजनैतिक सम्बन्धों का प्रभाव सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र पर भी पड़ा तथा हिन्दुओं और मुसलमानों में एक पड़ोसी से सम्बन्ध स्थापित होने लगे। हिन्दू और मुसलमान सन्तों के पास दोनों धर्मों के लोग जाने लगे। सन्तों की वाणी में दोनों धर्मों के लोगों में एकता स्थापित करने की प्रवृत्ति को अधिक बढ़ावा दिया। इस तरह 15वीं शताब्दी का अपना ही अलग महत्व है।

सल्तनत का विघटन—सैय्यद वंश (1414-1451 ई.)

खिज्रखां (1414-21 ई.)—सल्तनत कालीन समस्त राजवंशों में खल्जियों के बाद सैय्यदों का शासन काल सबसे कम अर्थात् सैंतीस वर्ष ही रहा किन्तु उसका इतिहास न तो खल्जियों की निर्भिक साम्राज्यवादी सफलताओं और न तुगलकों की

भांति नवीन प्रशासनिक प्रयोगों द्वारा विभूषित था[1] फिर भी मध्यकालीन भारतीय इतिहास में यह एक विभाजन है जो भारतवर्ष के पतन की ओर बढ़ते हुये चरणों का सूचक है। तैमूर ने भारत से लौटते समय मलिक सुलेमान सैय्यद के पुत्र खिज्रखां को मुल्तान की जागीर तथा इसके अधीन प्रदेश सौंप दिये थे। दिल्ली में तरल राजनैतिक स्थिति से लाभ उठाकर खिज्रखां ने 1414 ई० में दौलतखां को हराकर दिल्ली पर अधिकार जमा लिया। किन्तु उसने बादशाह की उपाधि अपने लिए ग्रहण नहीं की। उसने अपनी उपाधि 'रायाते आला' रखी। यह सम्भवत एक कूटनीतिक चाल थी क्योंकि खिज्रखां तैमूर से इतना अधिक आतंकित था कि वह शाह की उपाधि धारण कर तैमूर की ओर से किसी आपत्ति को आमन्त्रित करने का इच्छुक न था। खिज्रखां के उत्तराधिकारी मुबारक शाह ने शाह की उपाधि धारण की, अपने नाम के सिक्के चलवाए व तैमूर के उत्तराधिकारियों के प्रभुत्व को नकारा। खिज्रखां के उत्तराधिकारियों ने अपने सिक्कों से तुगलकों का नाम हटा दिया और स्वयं को 'नायबे अमीरुल मोमिनीन' घोषित किया। 1428 ई० में मुबारक शाह ने अपना नया सिक्का ढाला और सैय्यदों ने राजत्व के सभी प्रतीकों का उपभोग आरम्भ कर दिया।

अमीरों को इनाम और नियुक्तियां—4 जून 1444 ई० में सिरी के किले में खिज्रखां ने अनेक नियुक्तियां तथा उपाधियां प्रदान की। उसने मलिकुश्शर्क मलिक तुहफा को ताजुलमुल्क की उपाधि दी तथा उसे अपना वजीर बनाया। सैय्यदुस्सादात सैय्यद सलीम को सहारनपुर की इक्ता दी मलिक अब्दुर्रहीम को अलाउलमुल्क की उपाधि प्रदान की गई। उसे मुल्तान एवं फतहपुर की शिक सौंपी गई। मलिक सरीब को 'शहना-ए-शहर' नियुक्त किया तथा नायबे गैवत[2] बनाया। मलिक खैरुद्दीन खानी आरिजे मुमालिक तथा मलिक कालू को 'शहना-ए-फील' नियुक्त किया। मलिक दाऊद को दबीर का पद प्रदान किया। इख्तियारखां को दोआब के मध्य का शिक दिया गया। सुल्तान महमूद के दासों को उसने पदों पर बने रहने दिया।

खिज्रखां के शासनकाल की घटनाएँ—खिज्रखां के गद्दी पर बैठने के समय तक फीरोज के शक्तिहीन उत्तराधिकारियों के युग में साम्राज्य विघटित हो चुका था। तैमूर के आक्रमण के बाद दिल्ली-साम्राज्य की सीमायें प्रान्तीय अधिकारियों की लिप्सा के कारण बहुत सीमित हो चुकी थीं और उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी थी। राजधानी में विभिन्न दल संघर्ष-रत थे। दोआब प्रदेश बलबन के समय से ही विद्रोहों का प्रमुख केन्द्र रहा था। कटेहर, कन्नौज एवं बदायूं के जमींदारों ने कर देना बन्द कर दिया। राजधानी के निकट मेवाती लोगों ने भी कर देना बन्द

1. इर्वीव व निजामी, दिल्ली सुल्तनत, पृ. 538
2. सुल्तान की अनुपस्थिति में राजधानी का काम सम्भालने वाला अधिकारी।

कर दिया था। उत्तरी सीमा पर खोखर, मुल्तान तथा लाहौर में उपद्रव हो रहे थे, अर्द्ध-सत्य लुटेरी जातियों को भी दबाना सैय्यदों के लिये काफी कठिन था।

खिज्रखां के अभियान—खिज्रखां ने सात वर्ष उद्दण्ड तत्वों को दबाने तथा विद्रोहों को कुचलने में लगाये। बदायूं, इटावा, पटियाला, ग्वालियर, बयाना, कम्पिल, खंदवार, नागौर और मेवात ऐसे अशांत क्षेत्र थे। यहाँ अर्ध-स्वतन्त्र स्थानीय सरदारों के एक नये वर्ग ने भौगोलिक स्थिति का पूर्ण लाभ उठाया और अपनी दुराग्रही क्रियाओं द्वारा केन्द्रीय सत्ता को दूर रखा। पूर्व में ताजुलमुल्क और पश्चिमी क्षेत्र में जीरक खाँ को उत्तरदायी बनाकर खिज्रखां ने इस स्थिति से निपटने का प्रयत्न किया। खिज्रखां ने परिस्थितियां पर विजय पाने की कोशिश की पर वह असफल ही रहा। उसके सात वर्ष के शासनकाल में कोई विलक्षण घटना नहीं घटी। दिल्ली राज्य और अधिक सिकुड़ गया और सल्तनत का प्रभाव दिल्ली के इर्द-गिर्द कुछ जिलों तक ही सीमित हो गया। तारीख-ए-मुबारक शाही के अनुसार खिज्रखां के वजीर ताजुलमुल्क ने 1414-15 ई. में कटेहर की ओर प्रयाण किया तथा सम्पूर्ण प्रदेश को रौंद डाला। स्थानीय विद्रोहियों में सबसे भयंकर खोखर थे जिनसे खिज्रखां के उत्तराधिकारी को विशेषकर कई युद्ध करने पड़े। खिज्रखां को अनेक धावे करने पड़े लेकिन कोई स्थायी लाभ नहीं हुआ। सरहिन्द के हकिम मलिक तुगान रईस ने दो बार विद्रोह किया और दोनों ही बार पराजित हुआ।

इस प्रकार खिज्रखां अपने सात वर्ष के शासनकाल में सैनिक अभियानों में व्यस्त रहा—कटेहर, इटावा, खोर, ग्वालियर, बयाना मेवात, बदायूं आदि स्थानों पर उसने आक्रमण किए परन्तु इनका कोई परिणाम न निकला। 13 जनवरी, 1421 ई. को खिज्रखां के प्रभावशाली वजीर ताजुल मुल्क की मृत्यु के कुछ समय बाद ही उसकी मृत्यु भी हो गई।

खिज्रखां की मृत्यु; उसका मूल्यांकन—खिज्रखां अत्यन्त कर्मठ शासक था जो निम्न स्तर से उठकर केवल अपनी योग्यता से दिल्ली का शासक बन पाया था। दिल्ली सिंहासन-विरोधी तत्वों में जकड़ा हुआ था। कटेहर तथा मेवात के क्षेत्रों ने कठिन प्रशासनिक समस्याएँ प्रस्तुत की, एवं क्षेत्रों की भौगोलिक स्थिति के कारण विद्रोहियों के विरुद्ध कोई निर्णायक कार्यवाही नहीं की जा सकी। वह सौभाग्यशाली था कि उसे स्वामिभक्त वजीर ताजुलमुल्क जैसे निर्भीक योद्धा का सहयोग प्राप्त हुआ। एक सफल तथा प्रभावशाली शासक न होते हुए भी तत्कालीन इतिहासकार उसे एक न्यायी और परोपकारी सुल्तान मानते हैं। उसने एक सच्चे सैय्यद का सा जीवन व्यतीत किया, कभी आवश्यक रूप से रक्तपात नहीं किया और न ही शत्रुओं के दमन के लिए नृशंस कार्य करने के आदेश ही दिए।

फरिश्ता लिखता है कि, उसके शासन में जनता प्रसन्न और संतुष्ट थी इस कारण युवा और वृद्ध, दास और स्वतन्त्र नागरिक सभी ने उसकी मृत्यु पर काले

कपड़े पहन कर दुख प्रकट किया।" डा. ए. एल श्रीवास्तव के अनुसार "खिज्रखाँ ने आए दिन होने वाले विद्रोहों का दमन करने के लिए कठिन संघर्ष किया, किन्तु उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि विश्वासघाती सामन्तों के साथ विद्रोहियों जैसा बर्ताव करता और उन्हें पूर्णतया कुचलता। इसलिए उसने समझौते की नीति अपनाई।

मुबारक शाह (1421–33 ई.) खिज्रखाँ द्वारा मनोनयन—खिज्रखाँ ने पश्चिमी क्षेत्र का नेतृत्व अपने पुत्र मलिक मुबारक को 1415 ई. में प्रदान किया था, किन्तु अपनी मृत्यु के केवल तीन दिन पहले ही उसने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। सभी महत्वपूर्ण अमीरों और मलिकों ने इसे स्वीकार किया। खिज्रखाँ की मृत्यु पर जनता ने फिर से उसके प्रति निष्ठा की शपथ उठाई और 22 मई, 1421 को यह विधिवत् गद्दी पर बैठा।

मुबारक शाह के शासन काल की मुख्य घटनाएँ—मुबारक के शासन काल में सबसे पहले उत्तरी सीमा प्रान्त में जसरथ खोखर और तुगान रईस का विद्रोह हुआ।

जसरथ का विद्रोह—जसरथ खोखर जनजाति के सरदार शेखा का पुत्र था। वह सियालकोट के निकट रहता था। तैमूर के लौटते समय तो तुलम्बा और दीपालपुर के बीच जसरथ ने उसका विरोध किया किन्तु शीघ्र ही अपने दुस्साहसी कार्य के लिये पछताया और झेलम के पास भाग गया। जब तैमूर के तूफानी आक्रमण ने उत्तरी भारत के जर्जर राजनैतिक ढाँचे को झकझोर दिया तो जसरथ ने इसका लाभ उठाया लाहौर पर अधिकार कर लिया। जैसे ही उसने खिज्रखाँ की मृत्यु का समाचार सुना वैसे ही उसने व्यास और सतलज नदियों को पार कर राय कमलुद्दीन मैन पर आक्रमण कर दिया। राय फिरोज पराजित होकर भाग गया। तत्पश्चात् जसरथ ने लुधियाना से सतलज नदी पर स्थित अरूबर की सीमा तक के प्रदेशों को लूटा।

जसरथ से निरन्तर कूच करते हुए सर हिन्द के दुर्ग तक पहुँच गया (जून, 1421 ई.) लेकिन अमीर मलिक सुल्तान शाह ने किले की रक्षा की और जसरथ उस पर अधिकार करने में असफल रहा। जब जसरथ के विद्रोह का समाचार सुल्तान को मिला तो वह सरहिन्द की ओर बढ़ता हुआ समाना के निकट कोहली तक पहुँच गया। जसरथ, सुल्तान के आने का समाचार सुनकर सरहिन्द का घेरा उठा कर लुधियाना लौट आया। शाही सेना के द्वारा पीछा किया जाने पर जसरथ पहाड़ों में भाग गया। विजयी सुल्तान ने जसरथ का अत्यन्त मजबूत पर्वतीय स्थान नष्ट कर दिया। तत्पश्चात् लूट का सामान लेकर मुबारक शाह लाहौर पहुँचा (दिसम्बर-जनवरी, 1421-22 ई.) व मलिक महमूद हसन को किले की रक्षा के लिये नियुक्त कर वह दिल्ली लौट आया। दिल्ली लौटने पर उसे समाचार मिला

कि रावी नदी पार करके जसरथ ने लाहौर पर चढ़ाई कर दी है। जसरथ ने लगभग 35 दिन तक मुकाबला किया, परन्तु बाद में कालानोर होता हुआ वह पहाड़ों में भाग गया। जसरथ फिर भी चुप नहीं बैठा तथा अपनी शक्ति का संचय करता रहा। उसने जालन्धर के दृढ़ किले पर अधिकार करने की चेष्ट की लेकिन विफल रहा। 1432 ई. में पौलाद के विरुद्ध अभियान करते हुए शाही सेना समाना के क्षेत्र में पहुंची तो जसरथ पुन: पर्वतीय प्रदेश में चला गया और जुलाई-अगस्त, 1432 ई. में असरथ ने पुन: लाहौर को घेर लिया। नुसरतखां के हाथों युद्ध में पराजित होकर उसे फिर लौट जाना पड़ा।

दोआब—मुबारक शाह के समय दोआब में पुन: विद्रोह उठ खड़े हुए। सुल्तान ने इनका दमन करने के लिये 1423 ई. में कोहर पर चढ़ाई की। उस समय महाबतखां ने जो कि खिज्रखां से आतंकित था सुल्तान के समक्ष आत्मसम्पर्ण किया तब सुल्तान ने उसे सम्मानित किया। कोहर के बाद सुल्तान ने गंगा पार कर राठोड़ों के इलाके पर आक्रमण किया और अनेकों को तलवार के घाट उतार दिया। सुल्तान ने इटावा पर आक्रमण किया और राय सरवर के पुत्र ने आधीनता स्वीकार करवाई। तत्पश्चात् सुल्तान अप्रेल–मई, 1423 ई. में वापिस दिल्ली आ गया।

ग्वालियर पर अलप खां का आक्रमण—जिस समय पंजाब की स्थिति विद्रोहात्मक थी उसी समय धार के शासक अलप खां ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। सुल्तान उससे युद्ध के लिए तुरन्त आगे बढ़ा, मार्ग में बयाना के सरदार से उसने खराज जसूल किया और तब अलप खां की ओर बढ़ा। अलप खां ने चम्बल के घाटों को सुरक्षित कर लिए, किन्तु मुबारक ने एक आरक्षित स्थान से अचानक नदी पार कर ली। महमूदहसन खां भी सुल्तान से मिल गए। उन्होंने अलप खां का सामान लूटा तथा उसके कुछ सैनिक भी पकड़े गये जिन्हें जंजीरों से बांध कर सुल्तान ने उन्हें मुक्त कर दिया। दूसरे दिन अलप खां ने सन्धि का प्रस्ताव रखा। सुल्तान ने उसे स्वीकार किया। अलप खां ने ग्वालियर को छोड़ देने तथा सुल्तान को खराज देने का वचन दिया। सुल्तान कुछ दिन वहां की स्थिति सुधारने के लिए रुका और फिर मई 1424 ई. में दिल्ली लौट आया।

सुल्तान ने नवम्बर-दिसम्बर, 1424 ई. में कोइल पर पुन: आक्रमण किया। जब वह गंगा के तट पर पहुंचा तो राय हरसिंह ने आत्मसर्पण कर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। चूंकि उसने तीन वर्ष से कर नहीं चुकाया था, अत: कुछ समय के लिए उसे रोक लिया गया। इसके बाद सुल्तान ने गंगा पार की और आसपास के विद्रोहियों को दण्डित कर कुमायूं की पहाड़ियों की ओर बढ़ा। तब उसने कंपिल के पास गंगा पार की और कन्नौज की ओर चला, किन्तु अकाल तथा मेवातियों के विद्रोह के कारण आगे नहीं बढ़ सका।

मेवात मे विद्रोह—मेवातियो के विद्रोह करने पर सुल्तान ने उनके विरुद्ध कूच किया। उसने उनके प्रदेश मे लूटमार की। मेवातियो ने स्वय अपनी भूमि नष्ट कर दी और जहरा के दुर्गम स्थान मे शरण ली। सुल्तान की सेना मे रसद की कमी हो गई तथा बिना किसी उपलब्धि के वह दिल्ली लौट आई। एक वर्ष पश्चात् सुल्तान ने फिर मेवात पर आक्रमण किया, विद्रोही जल्लू और कद्दू ने परेशान होकर आत्म-समर्पण किया और सुल्तान ने उन्हे क्षमा कर दिया।

बयाना और ग्वालियर—मुबारक शाह बयाना की ओर बढा। ओहदोखाँ का पुत्र मुहम्मद खाँ, जो बयाना का अमीर या पहाड़ी पर स्थित दुर्ग मे सुरक्षित होकर बैठ गया। सोलह दिन तक उसने घेरे का सामना किया किन्तु 31 जनवरी 1427 ई को पीछे के एक मार्ग से सुल्तान पहाडी पर चढ गया। जब मुहम्मद खा को इसकी सूचना मिली तो उसने आत्म-समर्पण कर दिया। नक्द, बहुमूल्य सामग्री, शस्त्र, घोडे और साज-सज्जा जो दुर्ग मे एकत्रित किए गए थे। सभी समर्पित कर दिए गए।

तत्पश्चात् मुबारक ग्वालियर होता हुआ 1427 ई मे दिल्ली लौटा। अक्टूबर-नवम्बर, 1427 ई मे सुल्तान को सूचना मिली कि इब्राहीम शर्की एक विशाल सेना लेकर कालपी की ओर बढ रहा है। इब्राहीम शर्की काली नदी के किनारे-किनारे होता हुआ इटावा के अन्तर्वर्ती प्रदेश, बुरहानपुर तक पहु च गया। मुबारकशाह ने चन्दवार मे यमुना पार कर शत्रु से लगभग 8 मील की दूरी पर डेरे डाले। 20 दिन तक छोटी-मोटी झडपो के बाद शर्की शासक ने युद्ध छेडा, किन्तु पराजित हुआ और उसे अपने देश लौट जाना पडा। विजयी सुल्तान दिल्ली लौट आया।

1429-30 ई मे सुल्तान ने ग्वालियर तथा हाथीकान्त पर आक्रमण किया। लूट का माल लेकर जब सुल्तान दिल्ली की ओर लौटा तो मार्ग मे सैय्यद सलीम रोग ग्रस्त होकर मर गया। सैय्यद सलीम खिज्रखा के प्रभावशाली अमीरो मे से था। उसकी मृत्यु के बाद सब परगने और इक्तें उसके दोनों पुत्रों को दे दिए गए। शव्वाल मास मे सैय्यद के पुत्रों द्वारा भडकाने पर सैय्यद सलीम का गुलाम, पौलाद तबरहिन्द के दुर्ग मे आया और विद्रोह की तैयारी करने लगा। विद्रोह का समाचार पाते ही सुल्तान ने सैय्यद के दोनों पुत्रो को बन्दी बना लिया। जसरथ खोखर ने पुन युद्ध छेड दिया और वह एक बडी सेना लेकर लाहौर पर घेरा डालने के लिए बढा। शेख अली मुल्तान की सीमा मे प्रवेश कर गया। लगभग इसी समय पौलाद ने सरहिन्द के किले से निकल कर राय फिरोज पर आक्रमण किया। युद्ध मे राय फिरोज मारा गया और विजयी पौलाद उसका सिर काट कर ले गया। अब सुल्तान ने 1432 ई में सरवर-उल-मुल्क (मलिक-सरूप) को मुल्तान का प्रान्तपति नियुक्त किया और विद्रोहियो से लोहा लेने के लिए आदेश दिये। शेखअली और जसरथ तो

पीछे हट गये लेकिन पोलाद सरहिन्द के किले में डटा रहा। सरवर की सफलता ने मुल्तान की ईर्ष्या को और अधिक बढ़ा दिया। पोलाद का विद्रोह अब और अधिक नहीं चल सका, क्योंकि अमीरों ने सरहिन्द पर अधिकार कर लिया था। पोलाद मारा गया और उसका कटा सिर मीरा-ए-सदर के हाथ राजधानी में सुल्तान के पास भेज दिया गया।

मुबारक की हत्या—19 फरवरी, 1434 ई. को जब सुल्तान शुक्रवार को नमाज की तैयारी कर रहा था तभी मीटा सद्र (मीरा-ए-सदर) ने धोखे से उन अमीरों को जो बादशाह की रक्षा के लिए तैनात थे, हटा दिया। हत्यारे बहाना बनाकर अन्दर घुस गये और कांगू के पौत्र सिद्धपाल (सिधुआ) ने सुल्तान का सिर काट डाला। मुबारक शाह ने, 13 वर्ष 3 मास तथा 16 दिन तक राज्य किया।

मुबारक शाह का मूल्यांकन—मुबारक शाह सैय्यद वंश का सबसे योग्य सुल्तान था किन्तु उसका सारा समय विद्रोहों को दबाने में व्यतीत हुआ। अतः वह शासन सुधारों की ओर ध्यान नहीं दे सका। उसने भी अपने पिता की तरह उदारता एवं धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई। मुबारक शाह का कार्यकाल निरन्तर आन्तरिक विद्रोहों और शत्रुओं के साथ संघर्ष में बीता। वह इस संघर्ष में सफल हुआ। मुबारकशाह की यह बड़ी चारित्रिक दुर्बलता थी कि वह सफल और योग्य सेनानायकों के विरुद्ध ईर्ष्यालु हो जाता था।

मुहम्मदशाह—मुबारकशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका भतीजा मुहम्मद खां, मुहम्मदशाह की उपाधि धारण कर गद्दी पर बैठा। अपने शासन के लगभग 6 माह तक वह अपने प्रभावशाली वजीर सरवर-उल-मुल्क के हाथ की कठपुतली बना रहा। सरवर ने समस्त कोष, हाथियों और शस्त्रागार पर अधिकार कर लिया। नए सुल्तान से उसने खाने-जहां की उपाधि प्राप्त की, और अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया। शीघ्र ही कुछ सरदारों ने इस महत्वाकांक्षी वजीर की हत्या कर दी। सुल्तान मुहम्मदशाह को अपनी स्थिति मजबूत करने का अवसर मिला लेकिन वह अपनी लापरवाही और उदासीनता के कारण इस अवसर से लाभ नहीं उठा सका। अतः शीघ्र ही देश में विभिन्न भागों में उपद्रव होने लगे। सुल्तान विलासी और अयोग्य सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल में दिल्ली का साम्राज्य अत्यधिक सीमित हो गया। मुहम्मद शाह ने बहलोल लोदी के प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट करने के लिए उसे खान-ए-खाना की उपाधि से विभूषित किया। इब्राहीम शर्की के बाद जौनपुर के शासक महमूदशाह शर्की का दबाव निरन्तर बढ़ने लगा और सुल्तान मुहम्मद ने इस विरोध को कम करने के लिये अपनी पुत्री बीबी राजी का विवाह शर्की शासक के साथ कर दिया।

राजपद का प्रभाव इतना क्षीण हो गया था कि अमीर, सुल्तान की सत्ता की उपेक्षा करने लगे थे। जसरथ खोखर ने बहलोल लोदी को सल्तनत की गद्दी

हथियाने के लिये उकसाया। बहलोल ने अफगानों का एक दल सगठित कर दिल्ली की ओर कूच किया। परन्तु वह दिल्ली लूटने म असमर्थ रहा और उसे वापस लौट जाना पड़ा। दिल्ली साम्राज्य की दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ती गई, अनेक छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गये और राजधानी के आसपास के अमीर भी राजभक्ति को तिलाजली दे प्रतिरोध की तैयारी म लग गय। 1445 ई म मुहम्मदशाह जब मरा तो सैय्यद वश अपनी अन्तिम सासे गिन रहा था।

अलाउद्दीन आलमशाह—मुहम्मद शाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अलाउद्दीन आलमशाह दिल्ली के सिंहासन पर बिठाया गया। मलिक बहलोल तथा अन्य सभी अमीरा न उसके प्रति निष्ठा दिखाई। लेकिन शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि वह अपन पिता से भी अधिक अयोग्य था। अलाउद्दीन के समय म दिल्ली साम्राज्य केवल दिल्ली शहर और आसपास के कुछ गावों तक ही सिकुड कर रह गया था। बहलोल लोदी ने केन्द्रीय शासन की दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया। सुल्तान ने बदायू म रहना शुरू कर दिया। सुल्तान ने अपने वजीर हामिद खा का वध करने का प्रयत्न कर भारी भूल की। हामिदखा ने बहलोल को दिल्ली आकर गद्दी पर अधिकार करने के लिए निमन्त्रित किया। मलिक बहलोल ने सुल्तान के पास इस आशय का एक सन्देश भेजा कि वह केवल उसकी भलाई के लिए ही प्रयास कर रहा है। अलाउद्दीन ने उत्तर म लिखा चूकि मेरा पिता तुम्हें पुत्र कहा करते थे और मुझे अपनी थोड़ी जरूरतो के लिए कोई चिन्ता नहीं है, इसलिए मैं बदायू के परगन से ही सन्तुष्ट हू और साम्राज्य तुम्हें दे रहा हू। बहलोल लोदी ने खुतबे स आलमशाह का नाम हटा दिया और 19 अप्रेल, 1451 ई को सार्वजनिक रूप से दिल्ली का सुल्तान बन बैठा। इस प्रकार दिल्ली साम्राज्य की बागडोर सैय्यद वश के हाथो से निकलकर अफगाना के हाथो म चली गई। अलाउद्दीन आलमशाह की मृत्यु बदायू मे ही 1478 ई मे हो गई। भारतीय इतिहास म वह राजनैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से कुछ भी योगदान न दे सका। सैय्यदा का राज्यकाल दिल्ली क इतिहास में एक आवश्यक कड़ी क रूप मे ही रहा।

लोदी वश (1451–1526 ई.)—सल्तनत कालीन शासन म लोदी वश अंतिम था। खल्जियों की तुलना मे इसकी आयु अधिक थी तथा उत्तर कालीन तुगलका तथा सैय्यदो की तुलना म उसकी उपलब्धिया सम्मानजनक थी।

बहलोल लोदी (1451-1489 ई)—राज्यारोहण के बाद सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह अपने वजीर, हामिदखाँ, (हमीदखाँ) से झगड कर दिल्ली छोड़कर बदायू रहने लगा था। पीछे से हमीदखा ने बहलोल को दिल्ली पर अधिकार करन के लिए आमन्त्रित किया। फरिश्ता मे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके दो राज्याभिषेक हुए। एक सुल्तान अलाउद्दीन के पत्र व्यवहार के पूर्व और दूसरा उसके पश्चात्।

कठिनाइयां—वास्तव में बहलोल ने दिल्ली के जिस सिंहासन पर अधिकार किया वह फूलों की सेज नहीं था। वहां अनेक समस्याएं थीं जिनका कुशलता और दृढ़ संकल्प से समाधान करना जरूरी था। सैय्यद परिवार के एक शासक की उपस्थिति बहलोल के लिए बड़ी चुनौती थी। सुल्तान अलाउद्दीन ने राज्य त्याग दिया था। फिर भी लोदी शक्ति उस समय तक स्थिर नहीं हो सकती थी, जब तक वह बदायूं में मौजूद था। कुछ ऐसे सरदार भी थे जो कि अब भी उसे अपना वैध शासक मानते थे और लोदी आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। जौनपुर के शर्की शासक का सैय्यद, सुल्तान का दामाद होने के कारण स्थिति और अधिक जटिल बन गई थी, क्योंकि वह दिल्ली सल्तनत पर अपना वैध अधिकार मानता था। इसके अतिरिक्त हमीद खां का विरोधी दल भी था। इस प्रकार सभी दिशाओं में अपने शत्रुओं से घिरे हुए बहलोल को अत्यन्त सतर्कता से आगे बढ़ना था।

कोष नियंत्रित करना तथा राजधानी में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना उसकी दो अन्य तत्कालीन समस्याएं थी। कोष की रक्षा करने और दुर्गों आदि का प्रबन्ध करने के लिए उसने अफगान सैनिक भेजे और सभी सामरिक महत्व के स्थानों पर अफगान सैनिक तैनात किए। इस प्रकार दिल्ली तथा उसके चारों ओर शान्ति स्थापित करने में वह सफल हुआ। दिल्ली में अपनी स्थिति सुरक्षित कर उसने पंजाब की ओर ध्यान दिया।

शर्की शासक से विद्रोह—सुल्तान अलाउद्दीन के अमीर जो बहलोल के शत्रु थे उन्होंने शर्की शासक को आमन्त्रित किया। इस संघर्ष में दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण सुल्तान महमूद शर्की की पत्नी थी। वह सुल्तान अलाउद्दीन की पुत्री थी और बहलोल के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करने के लिए अपने पति को उकसाया करती थी। 1450 ई. में शर्की शासक एक विशाल सेना सहित दिल्ली की ओर चला और राजधानी को घेर लिया। उस समय बहलोल सरहिन्द में था। इस आक्रमण का समाचार पाकर वह वापस लौटा। शर्की शासक ने फतह खां और दरिया खां लोदी को, बहलोल को पानीपत के पश्चिम में रोकने के लिए भेजा। दिल्ली से सत्रह मील दूर दोनों सेनाएं आमने-सामने आईं। बहलोल की सेना शर्की सेना की आधी से भी कम थी, लेकिन फिर भी उसने शर्की सेना का सामना किया तथा भागती हुई सेना का पीछा करके भारी मात्रा में लूटमार की। इस विजय ने बहलोल की प्रतिष्ठा बढ़ाई तथा उसके शत्रु भयभीत हो गए।

बहलोल के प्रारम्भिक कार्य—बहलोल ने विषम परिस्थितियों का सामना बड़े धैर्य तथा दृढ़ता के साथ करना शुरू किया। उसने विश्वसनीय अफगानों को राज-कोष, अश्वशाला, हस्तिशाला, दुर्ग आदि की रक्षा के लिए तैनात किया। दिल्ली में निकटवर्ती प्रदेशों में भी उसने अपने विश्वासपात्रों को ही नियुक्त किया।

इस प्रकार चारों ओर वफादार अफगानों की नियुक्ति कर बहलोल ने हमीद खा के मित्रों के हौंसले पस्त कर दिए और कुछ हद तक आलमशाह की सम्भावित गतिविधियों से भी मुक्त हो गया। इसके साथ ही बहलोल ने हमीद खा के मित्रों के हौंसले पस्त कर दिए और कुछ हद तक आलमशाह की सम्भावित गतिविधियों से भी मुक्त हो गया। इसके साथ ही बहलोल ने मेवात और दोआब के उपद्रवी क्षेत्रों का दौरा कर वहाँ के अधिकारियों को सुल्तान की आधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। इस तरह दिल्ली से इटावा तक के प्रदेश सुल्तान बहलोल के आधीन सुल्तान ने इन प्रदेशों के हाकिमों को अपने-अपने पदों पर रहने दिया। इस प्रकार पजाब से लेकर शर्की सल्तनत की पश्चिमी सीमा तक के सम्पूर्ण क्षेत्र बहलोल के अधिकार क्षेत्र में आ गया।

जौनपुर के शर्कियों से युद्ध—बहलोल के शासन काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना शर्कियों के साथ रुक-रुक कर लगभग 35 वर्ष तक चलता रहने वाला युद्ध था।

युद्ध के कारण—(1) शर्की सुल्तानों की सैय्यद बेगमें अपने पतियों को बराबर उकसाती रहती थीं कि वे आक्रमण कर दिल्ली पर अपना अधिकार जमावें जिस पर उनका वैधानिक अधिकार था।

(2) शर्की सुल्तान अपनी सैन्य-शक्ति के कारण अपनी बेगमों की सलाह का स्वागत करते थे।

(3) बहलोल महत्वाकांक्षी था और दिल्ली सल्तनत के खोये हुए प्रान्तों पर अधिकार पुनः करना चाहता था।

(4) दिल्ली सल्तनत और जौनपुर राज्य के बीच कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं थी, अतः सीमान्त पर भड़क उठने वाले संघर्ष भी विकराल रूप धारण कर लेते थे।

(5) पूर्वी क्षेत्र के हाकिमों की स्वामिभक्ति स्थिर न थी। वे कभी बहलोल से तो कभी शर्की सुल्तान से मिल जाते थे।

(6) शर्की सुल्तान सैन्य-बल में बढ़े-चढ़े थे लेकिन बहलोल के हाथों पराजित होने के कारण उनके प्रतिशोध की भावना अधिक उग्र हो जाती थी और वे इसकी पूर्ति के लिए पुनः युद्ध करने को तत्पर हो जाते थे।

(7) दोनों ही राज्यों की शक्ति लगभग सन्तुलित थी और श्रेष्ठता की सिद्धता केवल दीर्घकालीन युद्ध से ही सम्भव थी।

युद्ध की घटनाएं—इस दीर्घकालीन युद्ध का सूत्रपात शर्की सुल्तान महमूद शाह ने किया। उसने 1452 ई में दिल्ली को घेरा। सुल्तान बहलोल ने तुरन्त दीपालपुर से लौटकर युद्ध प्रारम्भ कर दिया। लेकिन बहलोल ने प्रारम्भिक विजय के बाद सन्धि करना अधिक उचित समझा। यह निश्चित हुआ कि जो कुछ भी

दिल्ली सुल्तान के पास है वही सुल्तान बहलोल के पास रहे और जो कुछ जौनपुर के शासक इब्राहीम के अधिकार में था, वही महमूद के अधिकार में रहे। इसके बाद दोनों सुल्तान अपनी-अपनी राजधानी लौट गए।

उपर्युक्त सन्धि में यह भी तय हुआ कि शर्की हाकिम जूनाखां शम्साबाद का दुर्ग बहलोल को सौंप देगा और बहलोल पिछले युद्ध में पकड़े गए सात हाथी लौटा देगा। जूनाखां ने शम्साबाद देने से इन्कार कर दिया अतः बहलोल ने आक्रमण करके शम्साबाद छीन लिया और उसे अपने अनुयायी रायकरन को दे दिया। इस पर शर्की सुल्तान महमूद ने शम्साबाद पर चढ़ाई कर दी। इस तरह 1452 ई. में ही दोनों सुल्तानों के बीच तीन बार युद्ध हुआ। इसी बीच सुल्तान महमूद की मृत्यु हो गई। नए शर्की शासक मुहम्मद शाह और बहलोल के बीच सन्धि हो गई जिसमें यह निश्चय किया गया कि महमूद के प्रदेश मुहम्मद शाह के अधिकार में रहेंगे और सुल्तान बहलोल के अधिकार में जो कुछ है वह उसी के अधीन रहेगा। मुहम्मद शाह जौनपुर लौट गया और सुल्तान बहलोल दिल्ली चला आया। शम्साबाद जौनपुर के अधिकार में ही रहा।

इसी समय जौनपुर राजवंश में उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ गया। जब मुहम्मद शाह ने दूसरे शाहजादों के वध की नीति अपनाई तो बीबी राजी ने उसे गद्दी से उतार कर हुसैन शाह को गद्दी पर बिठाया। सुल्तान हुसैन अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने लगा। 1462-66 ई. के बीच शर्की सुल्तान ने काफी शक्ति अर्जित कर ली और मेवात, इटावा, कोयल तथा बयाना में हाकिमों से अपनी अधीनता स्वीकार करली। 1466 ई. के आसपास सुल्तान हुसैन ने एक शक्तिशाली सेना के साथ दिल्ली पर आक्रमण कर दिया। बहलोल ने पुनः राजधानी की रक्षा की। दोनों सुल्तानों के बीच सन्धि हो गई। कुछ ही समय बाद सुल्तान हुसैन ने पुनः आक्रमण किया। लगभग इसी समय सुल्तान हुसैन की माँ बीबी राजी की मृत्यु हो गई। 1478 ई. में सुल्तान अलाउद्दीन आलमशाह की बदायूं में मृत्यु हो गई और शर्की सुल्तान शोक प्रकट करने के लिए बदायूं पहुंचा। फरवरी-मार्च 1479 ई. में फिर दोनों सुल्तानों में युद्ध हुआ। अन्त में कुतुबखां लोदी के प्रयत्नों से सन्धि हो गई और गंगा नदी दोनों राज्यों की विभाजन रेखा स्वीकार की गई। बहलोल के लिए यह सन्धि कड़वे घूंट के समान थी, अतः ज्योंही सुल्तान हुसैन वापस लौटा, बहलोल ने मौका देखकर उसका पीछा किया और शर्कियों की काफी सैन्य सामग्री लूट ली। शर्की शासक के अनेक अमीर जिनमें कुतलुगखां वजीर भी शामिल था बन्दी बना लिए गए। 1486 ई. के लगभग हुसैनशाह ने अवसर पाकर पुनः जौनपुर पर अधिकार कर लिया, लेकिन बहलोल ने मुबारकशाह को उधर भेजा और स्वयं भी जौनपुर की तरफ बढ़ा। सुल्तान हुसैन को फिर बिहार भाग जाना पड़ा। सुल्तान सिकन्दर लोदी के समय में हुसैनशाह ने पुनः जौनपुर पर कब्जा करने का प्रयत्न

किया लेकिन उसे इस बार बिहार से भी हाथ धोना पड़ा। इस तरह शर्की साम्राज्य का अन्त हो गया।

मालवा पर आक्रमण—इस विजय ने बहलोल की सत्ता विस्तार की महत्वाकांक्षा को अधिक तीव्र कर दिया और उसने अपना ध्यान मालवा की ओर लगाया जहाँ गयासुद्दीन खल्जी शासक था (1469 1501 ई)। बहलोल ने मालवा राज्य में अल्हनपुर उजाड़ डाला। खल्जी सुल्तान ने चन्देरी के राज्यपाल को मिलसा और सारंगपुर की सेनाओं सहित बहलोल के विरुद्ध कूच करने का आदेश दिया। बहलोल ने शत्रु की अधिक संख्या देखी और वापिस दिल्ली लौटने में ही अपना हित समझा।

बहलोल का चरित्र शासन नीति मृत्यु और मूल्यांकन—बहलोल लोदी का जन्म अपने पिता की मृत्यु के बाद हुआ था। चाचा के संरक्षण में उसका पालन-पोषण हुआ था। वह अपने वंश का योग्य शासक सिद्ध हुआ। बहलोल ने शासन को इस्लामी नियमों और सिद्धान्तों पर आधारित किया। शान शौकत की जगह उसने सादा जीवन बिताना शुरू किया और अपने शासन को उदार बनाया।

सुल्तान बहलोल बहुत ही धर्मनिष्ठ तथा वीर एवं दानी शासक था। बहलोल का व्यक्तित्व अत्यन्त भद्र न्यायी उदार सरल तथा आडम्बरहीन था। वह प्रातःकाल जल्दी उठकर लगभग दोपहर तक राजकीय कार्यों में लगा रहता था। अब्दुल्ला के अनुसार वह जनता के आवेदन स्वयं सुनता था और यह काम अमीरों और वजीरों के लिये छोड़ता था। तारीखे दाऊदी का लेखक उसके विषय में कहता है कि वह एक सरल और आडम्बरहीन शासक था। भोजन करते समय वह दरबानों को द्वार से हटा देता था। जो भी उसके पास आता उस समय भोजन करता था। वह कभी दरबारे आम (साधारण दरबार) में भी सिंहासन पर नहीं बैठा वह एक छोटा कालीन का उपयोग करता था। वह पाँचों समय की नमाज जमात के साथ पढ़ता था। रणक्षेत्र में शत्रु की सेना को देखकर शीघ्र घोड़े से उतर कर ईश्वर से इस्लाम व उसके समर्थकों की कुशलता के लिए प्रार्थना करता था। इसके उपरान्त वह जब बादशाह हुआ तो कोई भी विरोधी उस पर विजय न पा सका।

अपने नेतृत्व के स्वाभाविक गुणों के कारण बहलोल एक सफल शासक था। उसने रायकरन राजा प्रताप राजा वीरसिंह राजा धाधू राजा त्रिलोकचन्द्र आदि राजपूतों का सहयोग प्राप्त किया। डा ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है कि एक नये शासक वंश के संस्थापक के रूप में तथा दिल्ली-साम्राज्य की क्षीण होती हुई प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के क्षेत्र में बहलोल का इतिहास में उच्च स्थान है। निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहने के कारण वह शासन तन्त्र की ओर ध्यान न दे सका परन्तु युद्धों में उसकी अपूर्व विजयों ने हिन्दुस्तान में पुनः इस्लामी शक्ति को स्थापित कर दिया।

लगभग 38 वर्ष शासन करने के बाद राजधानी लौटते समय वह मार्ग में बीमार पड़ गया और 1489 ई. में उसकी मृत्यु हो गई, किन्तु मरने से पूर्व वह अफगान साम्राज्य को भारत में दृढ़ करने में समर्थ हुआ।

सिकन्दर लोदी (1489-1517 ई.)

सुल्तान बहलोल लोदी की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र निजामखां सभी अमीरों की सहमति से 17 जुलाई, 1489 ई. को गद्दी पर बैठा और उसने सिकन्दर शाह की उपाधि धारण की। निजामखां (सिकन्दर शाह) का राज्यारोहण निर्विरोध नहीं हुआ। अफगान सरदारों ने यह कह कर निजामखां का विरोध किया कि उसकी मां सुनारिन है। कुछ सरदार बारबक शाह के पक्ष में थे और कुछ बहलोल के बड़े लड़के ख्वाजा बायजीद के सम्बन्धी आजम हुमायूं को सुल्तान बनाना चाहते थे। मृतक सुल्तान की स्त्री ने जो कि सुनार की पुत्री थी, अपने पुत्र के दावे की प्रबल वकालत की और सरदारों के प्रति सद्व्यवहार का वायदा किया। शीघ्र ही निजामखां के समर्थकों का एक दल बन गया और वह 17 जुलाई, 1489 ई. को सिकन्दर शाह के नाम से सुल्तान घोषित किया गया।

आलमखां लोदी, ईसाखां लोदी और बारबक शाह के विरुद्ध अभियान

सिकन्दर पहले रापरी की ओर गया जहां उसका भाई आलमखां लोदी, आजम हुमायूं से जा मिला था। उसने रापरी और चंदवार के दुर्ग घेर लिए। आलमखां पटियाली भाग गया और उसने ईसाखां लोदी के यहां शरण ली। रापरी का शीघ्र पतन हो गया। इसे खानेखाना को दिया गया। तत्पश्चात् सुल्तान इटावा की ओर गया जहां उसे उस क्षेत्र पर अधिकार करने में कई महिने लगे। आलमखां ने समर्पण कर दिया और सिकन्दर ने उसे क्षमा ही नहीं किया बल्कि एटा भी उसके अधिकार में रहने दिया। दूसरा महत्वपूर्ण सरदार लोदीखां था जो पटियाली में रहता था। ईसाखां लोदी युद्ध में पराजित हुआ और घावों के कारण तुरन्त मर गया। सिकन्दर ने पटियाली राय गणेश को सौंपा जिसने बारबक का पक्ष छोड़कर उससे मिल गया था। तत्पश्चात् सिकन्दर ने इस्माईलखां नूहानी को अपने भाई बारबक से सम्पर्क स्थापित कर अाधीनता स्वीकार करवाने तथा अपने नाम का खुतबा पढ़वाने के लिए भेजा। बारबक ने इसे अस्वीकार किया और सिकन्दर ने स्वयं उसके विरुद्ध कूच किया। दोनों सेनाएं कन्नौज में एक दूसरे के सामने आई। शेख मुहम्मद कुर्बान बारबक का सेनापति बन्दी बना लिया गया। सिकन्दर उस समय कठोर नीति के पक्ष में नहीं था। उसने उसे क्षमा कर दिया फिर उसने उसे अपनी ओर कर लिया और फिर बारबक से युद्ध कर उसे पराजित किया। बारबक बदायूं भाग गया, किन्तु उसका पीछा किया गया और अन्त में उसने आत्म समर्पण किया। अब शाही परिवार के सदस्यों में केवल आजम हुमायूं उसकी सत्ता का विरोधी रह गया था। सिकन्दर ने उसके विरुद्ध प्रस्थान किया और

उसे पराजित किया तथा कालपी महमूदर्खा लोदी को सौंपा। सम्भवत यह पहला अवसर था जब सिकन्दर ने किसी विरोधी को उसके प्रदेश में पुष्टि नहीं की। सम्भवत उसने आजम हुमायू को कालपी पर शासन करने के अयोग्य समझा था।

सिकन्दर की समस्याएं—यद्यपि सुल्तान सिकन्दर को काफी प्रशासनिक और सैनिक अनुभव प्राप्त था, क्योंकि वह बहलोल की अनुपस्थिति में राजधानी में रहकर केन्द्रीय शासन का संचालन भी कर चुका था, परन्तु फिर भी उसके सामने अनेक समस्याएं थीं—

(1) उसके राज्यारोहण का इस कारण विरोध किया गया था कि उसकी माँ सुनारिन थी।

(2) अपने समर्थकों के बल पर वह सुल्तान तो बन गया, लेकिन विद्रोहियों और विरोधियों के होते हुए वह स्वयं सुरक्षित नहीं था। उनका दमन करके अपनी शक्ति संगठित करना आवश्यक था।

(3) शर्की लोदी वैमनस्य भी खतरनाक था। हुसैन शाह शर्की अपने खोए हुए राज्य को वापस लेने पर तुला हुआ था, अत जौनपुर क्षेत्र पर कठोर प्रशासनिक और सैनिक दृष्टि रखना भी जरूरी था।

(4) दक्षिण की ओर बयाना तथा ग्वालियर के शासक लगभग अर्द्ध-स्वतन्त्र हो गये थे और वे सल्तनत के लिए खतरनाक थे।

(5) राजकोष लगभग रिक्त था क्योंकि बहलोल ने युद्धों पर काफी धन खर्च किया था। इसके साथ ही कई शासकों ने दिल्ली को कर देना बन्द कर दिया था।

सिकन्दर की विजय—सिकन्दर लोदी कई स्थानों पर, वर्षों तक युद्ध करने के बाद भी वह दिल्ली साम्राज्य की सीमाओं का अधिक विस्तार नहीं कर सका। सिकन्दर के महत्वपूर्ण संघर्ष बिहार और मध्य भारत में हुए।

बिहार (हुसैनशाह शर्की) से युद्ध—शर्की-लोदी युद्ध की परम्परा सिकन्दर लोदी के समय में भी बनी रही। सिकन्दर का प्रथम प्रबल संघर्ष हुसैन शाह शर्की से हुआ। हुसैन शाह एक अनुभवी व्यक्ति था। बारबक शाह और हुसैन शाह के बीच में यह अपवित्र समझौता हुआ था कि दोनों मिलकर सिकन्दर से युद्ध करेंगे और उसे पराजित कर हुसैन शाह पुनः जौनपुर का शासक बनेगा और बारबक शाह दिल्ली की गद्दी पर बैठेगा।

सिकन्दर के लिए यह चुनौती संकटपूर्ण थी। उसने सर्वप्रथम, बारबक शाह को हराकर अपने आधीन बनाया। अब सुल्तान सिकन्दर ने हुसैन शाह से निर्णायक टक्कर लेने का निश्चय किया। उसने चुनार पहुंचकर शर्की सुल्तान के समर्थकों और स्थानीय जमींदारों का दमन किया। लेकिन उबड़-खाबड़ मार्गों, रसद के अभाव

और रोग की प्रबलता से उसकी सेना को अस्त-व्यस्त कर दिया। सिकन्दर को इस तरह संकट-ग्रस्त देखकर जौनपुर के उपद्रवी जमींदारों ने हुसैनशाह शर्की को अपने पूर्वजों के राज्य पर पुनः अधिकार स्थापित करने के लिये आमन्त्रित किया। हुसैन शाह एक विशाल सेना के साथ आगे बढ़ा, किन्तु बनारस के निकट खान-ए-खाना के हाथों पराजित हुआ। सुल्तान सिकन्दर ने पीछा करते हुए अन्त में हुसैन शाह को विहार से बाहर खदेड़ दिया। हुसैन शाह लखनौती की ओर भाग गया और बंगाल के शासक के यहां शरण ली। शासक ने सुल्तान सिकन्दर के साथ यह सन्धि की कि दोनों शासक न तो एक दूसरे की सीमा पर आक्रमण करेंगे और न ही एक दूसरे के शत्रुओं की सहायता ही करेंगे। हुसैन शाह ने सम्पूर्ण जीवन लखनौती में ही बिताया। इस तरह 1495 ई. तक बिहार प्रान्त पूरी तरह सिकन्दर के अधीन हो गया।

मध्य भारत—साम्राज्य-विस्तार की दृष्टि से सिकन्दर लोदी का दूसरा संघर्ष ग्वालियर के मानसिंह से हुआ। ग्वालियर नरेश दिल्ली सुल्तान से संघर्ष मोल लेना नहीं चाहता था, पर साथ ही उसको पूर्ण आधीनता स्वीकार करने को भी तैयार न था। उसकी यह अर्द्ध-स्वतन्त्र स्थिति और ग्वालियर के गढ़ की सुदृढ़ता सिकन्दर के लिए एक चुनौती थी।

सिकन्दर ने सबसे पहले ग्वालियर के करद राज्य धौलपुर पर आक्रमण किया। धौलपुर के शासक के उग्र विरोध के कारण यह युद्ध लगभग तीन वर्ष तक चलता रहा और तब 1504 ई. में धौलपुर पर सिकन्दर का अधिकार स्थापित हो सका। कुछ समय शान्त रहने के बाद सिकन्दर ने फरवरी-मार्च, 1505 में मुन्दराअल (मण्डरेल) के किले को घेरा। किले वालों ने सन्धि करके किला उसे समर्पित कर दिया। सुल्तान ने वहां मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया। इसके बाद वह लौटकर धौलपुर पहुंचा। वहाँ उसने किले की मरम्मत करवाई और विनायक देव के स्थान पर अफगान सरदार मलिक कमरुद्दीन को वहां का अधिकारी नियुक्त किया। 1506-7 ई. में चम्बल के किनारे छुटपुट युद्ध होते रहे लेकिन ग्वालियर नरेश की शक्ति को कोई विशेष क्षति नहीं हुई। आखिर सुल्तान वापस लौट पड़ा और उसने 1507 में अवन्तगढ़ तथा 1508 ई. में नटवर को जीतकर ही सन्तोष किया। मालवा के आन्तरिक झगड़ों का लाभ उठाकर उसने 1512-13 ई. में चन्देरी पर भी अपना अधिकार जमा लिया। उस समय चन्देरी का हाकिम बहजतखां था। सुल्तान ने एमादुलमुल्क को, चन्देरी की ओर इस आशय से नियुक्त किया कि वह बहजतखां की सहायता से चन्देरी तथा उस क्षेत्र में सुल्तान के नाम का खुतबा पढ़वाये। सिकन्दर लोदी की इन विजयों से उसकी ख्याति बढ़ गई, लेकिन ग्वालियर विजय की उसकी इच्छा पूरी न हो सकी।

नागौर (1509 ई.)—नागौर में इस समय गृह-युद्ध की स्थिति थी और सिकन्दर के हस्तक्षेप से आशंकित होकर वहां के शासक मुहम्मदखां ने सुल्तान की

अधीनता स्वीकार करते हुए उसका नाम खुतबे और सिक्के पर अंकित करा दिया। सिकन्दर ने रणथम्भौर के किले पर भी अधिकार का प्रयत्न किया, पर इसमें असफल रहा।

सिकन्दर का शासन प्रबन्ध—सिकन्दर लोदी ने शासन को सुव्यवस्थित करने के लिए अनेक कदम उठाये—

(1) सुल्तान ने शासन प्रबन्ध का केन्द्रीकरण किया। अफगान सरदारों को सुल्तान की सत्ता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया और इक्तादारों एवं जागीरदारों पर नियन्त्रण रखने के लिए ऐसी व्यवस्था की कि केन्द्रीय सरकार से उसका सीधा सम्पर्क और पत्र व्यवहार कायम रहे।

(2) सुल्तान ने शाही फरमान जारी करने की नीति अपनायी। जिस अमीर के नाम फरमान जारी होना वह अपनी राजधानी से 6 मील आगे जाकर उसको स्वीकार करता था। यदि सुल्तान का आदेश होता तो वह वहीं उसे पढ़ता था अन्यथा ले आता था। यदि फरमान के गुप्त रूप से पढ़ने का आदेश होता तो वह ऐसा ही करता था। शाही फरमानों को सम्पूर्ण राज्य में पढ़कर सुनाया जाता था जिससे जनता पर सुल्तान की शक्ति का प्रभाव बना रहे।

(3) सुल्तान ने अमीरों और सरदारों के हिसाब-किताब की जांच करने के लिए निरीक्षक नियुक्त किए और राजस्व के अपहरण या दुरुपयोग करने वाले अधिकारियों के लिए कठोर दण्ड निश्चित् किये।

(4) सुल्तान ने गुप्तचर विभाग का कुशलता से पुनर्गठन किया जिससे कि साम्राज्य के सभी भागों की प्रत्येक सूचना सुल्तान को प्रतिदिन मिलती रहे। तारीखे दाऊदी के अनुसार उसके राज्यकाल में अनाज, कपड़ा तथा समस्त वस्तुएं इतनी सस्ती थीं कि जिस किसी को थोड़ी बहुत रोजी हो जाती वह निश्चिन्त होकर आराम से जीवन व्यतीत कर सकता था।

(5) सुल्तान ने गबन के मामलों में कठोर दण्ड की व्यवस्था की, जिससे कि सामान्य जनता और किसानों को राज्य कर्मचारियों के अत्याचारों से बचाया जा सके। तारीखे दाऊदी के अनुसार सुल्तान की सवारी के समय यदि कोई उत्पीड़ित व्यक्ति फरियाद करता था तो वह पीड़ित करने वाले का पता लगाकर फरियादी का कष्ट दूर करने में ढिलाई नहीं करता था।

(6) सिकन्दर ने अमीरों को आदेश किया कि वे दरबार में और दरबार के बाहर सुल्तान के प्रति सम्मानित व्यवहार करें। षड्यन्त्रकारी अमीरों को कठोर दण्ड देने के लिये समुचित व्यवस्था की गई। सुल्तान ने निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना के लिये एक प्रकार की द्वैध शासन प्रणाली अपनाई। अपने भाइयों पर नियन्त्रण रखने के लिए उनके साथ विश्वसनीय पदाधिकारियों की नियुक्ति की और सैनिक-छावनियों की स्थापना कर उसने जमींदारों पर अपना नियन्त्रण बनाये रखा।

न्याय तथा राजस्व विभाग—सिकन्दर ने न्याय-व्यवस्था में विशेष रुचि दिखाई। सुल्तान स्वयं सर्वोच्च न्यायाधीश था तथा न्याय करने में उलेमा-वर्ग से सलाह लेता था। उसने शरा के आधार पर न्याय की व्यवस्था की और यह व्यवस्था की कि अपराधियों का पता लगाने में किसी प्रकार का विलम्ब न हो। यद्यपि दण्ड कठोर थे तथापि सुल्तान उदार था और वर्ष में मुसलमानों की कुछ पुण्य तिथियों पर अपराधियों की सजा या तो कम कर देता था अथवा उन्हें मुक्त कर देता था।

सिकन्दर ने अनेक आवश्यक कर समाप्त कर दिये और हर प्रकार से कृषि तथा व्यापार को उन्नत किया। उसने भूमि को नपवाया और उसी के आधार पर भूमि कर निश्चित किया। लेकिन व्यवहार में प्रायः भूमि की माप किए बिना ही काम चला लिया जाता था। सिकन्दर ने भूमि नापने के लिये 30 इंच का एक गज चलाया जो सिकन्दरी गज के नाम से प्रचलित रहा। सिकन्दर के प्रयासों से किसानों की दशा सन्तोष-जनक हो गई थी। 1495 ई. में भीषण अकाल के समय भी जनता को अधिक कष्ट नहीं हुआ, क्योंकि सुल्तान ने अनाज पर से चुंगी समाप्त कर दी जिससे विभिन्न क्षेत्रों में अनाज का लाना लेजाना सरल हो गया। 1505 ई. में आगरा आदि में भूकम्प आया और कई बार महामारियां फैलीं लेकिन सुल्तान ने जनता के कष्ट दूर करने में कोई ढिलाई नहीं दिखाई। उसने आगरा को भी राजधानी बनाया और वहाँ एक नगर की स्थापना की। सड़कों की मरम्मत कराकर उन्हें यात्रियों के लिये सुरक्षित किया।

धार्मिक नीति—सिकन्दर एक कट्टर मुसलमान शासक था जो शरा को लागू करना अपना पवित्र कर्तव्य मानता था। शरा में उसकी आस्था इतनी अधिक थी कि वह इस क्षेत्र में फीरोज तुगलक का दूसरा रूप था। अपने शहजादा-काल में ही उसने थानेश्वर के कुण्ड नष्ट करके इसका परिचय दिया था। सुल्तान बनने पर उसने विधि-वत्‌ मन्दिरों को नष्ट करने, मूर्तियों को खण्डित करने और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण करने की नीति अपनायी। नगरकोट के ज्वालामुखी मंदिर की मूर्ति के टुकड़ों को उसने कसाइयों को मांस तोलने के लिये दिये। मथुरा में उसने हिन्दुओं को यमुना नदी में स्नान करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसने बोधन नामक हिन्दू को केवल इसलिए मृत्युदण्ड दिया कि वह हिन्दू धर्म को भी इस्लाम की तरह सच्चा धर्म बताता था। सिकन्दर लोदी के पक्ष में यह कहा जाता है कि यदि उसने हिन्दुओं पर ये प्रतिबन्ध लगाये तो मुसलमानों में भी प्रचलित कुप्रथाओं को रोकने का प्रयत्न किया। मुसलमान स्त्रियों के पीरों और सन्तों की मजारों पर जाने से रोक तथा मुहर्रम के ताजियों को इस्लाम विरोधी बताया। यदि यह नीति उसने 13वीं अथवा 14वीं शताब्दी में अपनाई होती तो सम्भवतः इतनी अधिक नहीं चुभती क्योंकि उस युग में यह नीति अत्यधिक साधारण मानी जाती थी परन्तु 15वीं शताब्दी के अन्त और 16वीं शताब्दी के आरम्भ में जब भारत में धार्मिक

वातावरण बदल चुका था और धार्मिक सहिष्णुता के विचार ने जन्म ले लिया था तब इस प्रकार की नीति अपनाना उचित नहीं था। सहिष्णुता के उस वातावरण में धार्मिक कट्टरता को अपनाना न केवल एक भूल थी अपितु दुराग्रह थी जिससे सिकन्दर लोदी को मुक्त नहीं किया जा सकता।

उसने अपने व्यक्तिगत जीवन में कहीं भी इस्लाम की बातों को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह मद्यपान भी करता था, कभी-कभी रोजे और नमाज की नागा भी कर देता था और संगीत आदि का भी प्रेमी था। इस द्वैध-नीति के आधार पर सिकन्दर लोदी की धार्मिक कट्टरता का औचित्य निकालना सम्भव नहीं है।

सिकन्दर की मृत्यु और उसका मूल्यांकन—नवम्बर 1517 ई. में आगरा में सुल्तान बीमार पड़ गया, उसका रोग बढ़ता गया और 21 नवम्बर, 1517 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। उसने ~~लगभग 18 वर्ष राज्य किया~~। वह हमेशा राज्य कार्य में व्यस्त रहता था। भोग विलास में उसकी रुचि नहीं थी। सिकन्दर शाह ने सफलतापूर्वक निरंकुश शासन की स्थापना की और अपने पिता से प्राप्त राज्य को बढ़ाया और अनेक शासन सुधार कर अमीरों तथा जन-साधारण को सन्तुष्ट रखने का सफल प्रयास किया। लेकिन उसकी कट्टर धार्मिक नीति ने हिन्दुओं को राज्य का विरोधी बना दिया जो लोदी साम्राज्य के लिए अहितकर सिद्ध हुआ। जागीरों के प्रचलन से भी राज्य को हानि हुई। उसकी सफलता इसी में निहित है कि उसने विषम परिस्थितियों में न केवल अफगान शासन को दृढ़ किया अपितु अफगान राज्य का प्रसार भी किया। वह स्वयं कविता करता था तथा कवियों और विद्वानों की संगति में उसे आनन्द आता था। डा. पाण्डेय के अनुसार वह फीरोज की अपेक्षा अधिक योग्य सेनापति और एक सफल शासक सिद्ध हुआ।

इब्राहीम लोदी (1517-26 ई.)

राज्यारोहण—सिकन्दर लोदी की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र इब्राहीम 22 नवम्बर, 1517 को सिंहासन पर बैठा। किन्तु अमीर अब यह नहीं चाहते थे कि राजनैतिक सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में केन्द्रित रहे। इसलिए उन्होंने साम्राज्य को इब्राहीम लोदी तथा उसके छोटे भाई जलालखां में बांटने की नीति अपनाई। जलालखां को शक्तियों का प्रदेश देने का निश्चय किया गया। इस तरह साम्राज्य का विभाजन कर दिया गया। अमीरों का विचार था कि राज्य के इस विभाजन से दो मुख्य लाभ होंगे—

(1) दोनों ही शहजादे सन्तुष्ट रहेंगे और गृह-युद्ध टल जावेगा तथा

(2) दोनों शहजादे अपने-अपने क्षेत्र में सम्प्रभु सुल्तान रहेंगे। दोनों एक दूसरे की शक्ति को सन्तुलित करते रहेंगे और फलस्वरूप दोनों अपने-अपने क्षेत्र के अमीरों और सरदारों का समुचित आदर करेंगे तथा उन पर ही निर्भर रहेंगे। फरिश्ता के अनुसार अमीरों ने राज्य-विभाजन का निर्णय इसलिए लिया था कि वे इब्राहीम के व्यवहार और स्वभाव से अत्यधिक खिन्न थे। शाहजादा जलाल अमीरों

के निर्णय से खुश था और उसने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया परन्तु इब्राहीम यह निर्णय पचा नहीं सका। वह समझता था कि विरोध करने पर अमीर उसे बन्दी बना लेंगे अतः उसने भी इसे स्वीकार करना ही अपने हित में समझा। जलालखां अपने क्षेत्र के अमीरों सहित राज्याभिषेक के लिये रवाना हो गया। इब्राहीम के राज्याभिषेक के समय रापरी के राज्यपाल, खाने जहां लोदी, ने इस व्यवस्था का विरोध किया क्योंकि यह अफगान राज्य के हितों में नहीं थी। इब्राहीम को खाने जहां की नीति रुचिकर लगी, क्योंकि यह उसकी महत्वाकांक्षा के अनुरूप थी। इस पर अमीरों ने अपनी भूल सुधारने का प्रयत्न किया और यह निश्चय किया कि शहजादा जलाल को दिल्ली बुलाया जाए। हैबतखां को उसके पास भेजा गया परन्तु जलालखां को अमीरों के विचारों की जानकारी मिल चुकी थी इसलिये उसने आने से इन्कार कर दिया।

जलाल खां से संघर्ष छेड़ने के पहले सुल्तान इब्राहीम ने अब दूसरा कदम उठाया। जलाल अमीरों को अपनी ओर मिला लेने का प्रयत्न किया। उसने उन्हें उपहारों तथा भविष्य में भी पुरस्कारों का वचन देते हुए विश्वसनीय लोगों के साथ फरमान भेजे। जलाल के अमीरों ने जैसे बिहार के राज्यपाल दरिया खां नूहानी, गाजीपुर के जागीरदार नसीर खां तथा अवध और लखनऊ के राज्यपाल आदि ने उसका साथ छोड़ कर इब्राहीम का पक्ष ले लिया। इनके आधीन तीस से 40 हजार सैनिक थे। जलाल का अधिकार केवल कालपी में रह गया। इस अनुकूल परिस्थिति में इब्राहीम ने 29 दिसम्बर, 1517 ई. को अपना दूसरा राज्याभिषेक कराया।

जलाल से संघर्ष—जलाल यह स्वीकार नहीं कर सकता था। उसने कालपी में अपनी स्थिति सुदृढ़ करनी आरम्भ की। उसने सुल्तान जलालुद्दीन का खिताब धारण किया और अपना नाम खुत्वे में पढ़वाया। अपनी स्थिति सुदृढ़ कर वह ग्वालियर की ओर बढ़ा जहां आजम हुमायूं सरवानी दुर्ग को घेरे था। आजम हुमायूं के पुत्र फतह खां को जलाल ने अपना वजीर नियुक्त किया। उसने आजम हुमायूं को अपनी ओर मिलाने के लिए सन्देश भेजा। उसने लिखा था कि 'मैं आपको अपने पिता और चाचा की तरह समझता हूँ। तुम जानते हो इसमें मेरा दोष नहीं है। सन्धि विच्छेद सुल्तान इब्राहीम ने किया है। एक ईमानदार मुसलमान होने के नाते, तुम्हारा यह कर्त्तव्य है कि तुम न्याय का पक्ष लो।' इस संदेश से आजम हुमायूं विचलित हो गया और वह जलाल खां की ओर मिल गया। यह निश्चय किया गया कि पहले जौनपुर की विलायत पर आक्रमण कर वहां से सभी विरोधी अमीरों को निकाल देंगे, इसलिए उन्होंने अवध पर आक्रमण किया। राज्यपाल लखनऊ की ओर भाग गया और उसने इस युद्ध के विषय में इब्राहीम को जानकारी भेज दी।

अब इब्राहीम सक्रिय हुआ। किसी भी सम्भावित सकट से सुरक्षा के लिए उसने सबसे पहले कैद में पड़े हुए अपने भाइयों—इस्माइल खा, हुसैन खा और शेख दौलत खा को हासी के किले में भेज दिया। तत्पश्चात् 6 जनवरी 1518 ई. को वह भोगाव की ओर चला तथा कन्नौज पर हमले की योजना बनाई। इब्राहीम की गतिविधियो को सुनकर आजम हुमायू और उसका पुत्र फतह खा, जलाल का साथ छोड़ कर इब्राहीम ने भी उन्हें क्षमा कर सम्मान दिया। इन दोनों के विश्वासघात से बाध्य होकर जलाल कालपी को लौट गया। आजम हुमायू और फतह खा की देखादेखी पूर्वी क्षेत्र के अन्य अमीर जैसे सईद खा, शेखजादा फर्मूली आदि जलाल का साथ छोड़कर इब्राहीम से आ मिले। सुल्तान इब्राहीम की शक्ति बहुत बढ़ गई और उसने आजम हुमायू सरवानी, आजम हुमायू लोदी तथा नसीरखा नूहानी जैसे प्रमुख अफगान सरदारों को एक शक्तिशाली सेना सहित जलाल के विरुद्ध भेजा। सेना के पहुचने से पहले ही जलाल 30 हजार घुडसवारो को लेकर आगरे पर आक्रमण के लिए निकल चुका था। नियामत खातून, इमादुल्मुल्क, मलिक बहरुद्दीन जिलवानी तथा जलाल के हरम से सम्बन्धित अन्य बहुत से व्यक्ति कालपी के दुर्ग मे ही छोड़ दिए गए थे। दिल्ली की सेना ने कुछ दिनों मे कालपी को जीत लिया और युद्ध मे लूट का भारी माल इब्राहीम के सैनिको के हाथ लगा।

सुल्तान इब्राहीम ने मलिक आदम के नेतृत्व मे एक शक्तिशाली सेना आगरा की रक्षा के लिए भेजी। जलाल ने इस शर्त पर सुल्तान की आधीनता स्वीकार करनी चाही कि उसे कालपी का हाकिम बना दिया जाए, लेकिन इब्राहीम को यह शर्त मजूर न थी। वह स्वय इटावा से जलाल के विरुद्ध चल पड़ा। इस पर जलाल ग्वालियर नरेश की शरण मे चला गया और इब्राहीम द्वारा पीछा करने पर वहा से गढकटगा की ओर भागा। मार्ग मे वह भीलों और गोंडो के हाथों मे पड गया, जिन्होने उसे सुल्तान इब्राहीम के हवाले कर दिया। इब्राहीम ने जलाल को हासी के दुर्ग मे भेज दिया गया, परन्तु अपने समर्थको के कहने पर उसने मार्ग मे ही उसका वध करवा दिया।

ग्वालियर विजय—1517-18 ई मे सुल्तान इब्राहीम ने ग्वालियर को विजय कर अपने पिता के अधूरे कार्य को पूरा किया। आजम हुमायू के नेतृत्व मे एक सगठित सेना ग्वालियर को जीतने के लिए भेजी। इसी समय ग्वालियर के राजा मानसिंह की मृत्यु हो गई थी। आजम हुमायू ने दुर्ग को घेर लिया और विजय प्राप्त की। राजा मानसिंह के उत्तराधिकारी राजा विक्रमादित्य ने विवश होकर सन्धि की जिसके अनुसार ग्वालियर का दुर्ग और राज्य सुल्तान इब्राहीम के हवाले कर दिया गया और बदले मे इब्राहीम ने उसे शम्साबाद का हाकिम बना दिया।

इब्राहीम और राणासांगा—1517-18, मई मे इब्राहीम और महाराणासागा के बीच कई बार युद्ध हुए। दोनों के बीच सघर्ष के अग्रलिखित कारण थे।

(1) लोदी के प्रभुत्व क्षेत्र के विस्तार के लिए यह आवश्यक था कि वह मेवाड़ को अपने अधीन करता।

(2) हिन्दू राज्य का विस्तार दिल्ली और आगरा के किसी भी सुल्तान को रुचिकर न लगता था। राणा सांगा की विस्तार-वादी प्रवृत्ति लोदी सुल्तान के लिए एक चुनौती थी। सांगा ने उत्तर में अपना राज्य बयाना के निकट तक बढ़ा लिया था।

(3) मालवा पर अधिकार करने के लिये राणा सांगा और इब्राहीम लोदी दोनों ही प्रतिद्वन्द्वी थे।

इन विभिन्न कारणों से राणा सांगा और इब्राहीम लोदी में संघर्ष अनिवार्य हो गया। राजस्थान के इतिहासकारों के अनुसार 1517 ई. में खातौली के मैदान में राणा सांगा तथा इब्राहीम लोदी के बीच घनघोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में राणा सांगा बुरी तरह से घायल हुआ। किन्तु विजय उसी के हाथ लगी। युद्ध मे सांगा का एक हाथ कट गया और घुटने में तीर लगने से वह लंगड़ा हो गया। इब्राहीम अपनी भागती सेना को रोकने में असफल होने के कारण स्वयं भी भाग खड़ा हुआ।

इब्राहीम लोदी ने जलाल की ओर से निश्चिन्त होकर अपनी पराजय का बदला लेने के लिए, मियां माखन की अध्यक्षता में एक शक्तिशाली सेना भेजी। कुछ और भी अमीरों को उसके साथ भेजा गया जिसके फलस्वरूप लोदी सेना संगठित रूप में युद्ध नहीं कर सकी और आपसी द्वेष के कारण मियां हुसैन फर्मूली तथा कुछ अन्य अमीर राजपूतों से मिल गए। धौलपुर के निकट दोनों पक्षों में घमासान युद्ध हुआ और लोदी सेना को पुनः खदेड़ दिया गया। इस पर सुल्तान इब्राहीम सेना लेकर पहुंचा और उधर विद्रोही अफगान अमीर भी फिर से उसके साथ आ मिले। एक बार फिर घमासान युद्ध हुआ जो अनिर्णायक रहा। किन्तु कुछ समय बाद राणा सांगा ने चंदेरी पर आक्रमण कर उसे जीत लिया, और इब्राहीम खोए हुए प्रदेश को वापस लेने के लिए कुछ न कर सका।

अमीरों से संघर्ष—सबसे पहले सुल्तान के कोप का शिकार आजम हुमायूं सरवानी बना। उसने एक बार जलालखां का पक्ष लिया था लेकिन बाद में इब्राहीम के पक्ष में मिल जाने का गम्भीर अपराध कर चुका था। उस समय इब्राहीम ने उसे दण्डित नहीं किया। लेकिन वह हुमायूं के विश्वास-घात को भूल नहीं सका था। जब जलाल खां कालपी तथा ग्वालियर दोनों ही स्थानों से बच निकला तो इब्राहीम को यह संदेह हुआ कि आजम हुमायूं ने उसे पकड़ने में जान बूझ कर ढिलाई की है। उसे ग्वालियर के घेरे से वापस बुलाकर जेल में डाल दिया गया। कुछ समय बाद आजम हुमायूं कैदखाने में ही मर गया या उसका वध करवा दिया गया। जब इब्राहीम ने आजम हुमायूं को दण्डित किया, उस समय इब्राहीम ने

आजम पर न तो कोई निश्चित् अभियोग लगाया और न ही उसे सफाई देने का अवसर ही दिया। इस काण्ड से अफगान अमीरो तथा मलिको मे सुल्तान के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया।

मियाँ हुसैन फर्मूली—मिया हुसैन फर्मूली का वध इब्राहीम ने इसलिए कराया था कि हुसैन फर्मूली ने राणा सागा के पक्ष म हो जाने का अपराध किया था, लेकिन उस समय इब्राहीम ने तत्कालीन परिस्थिति के कारण दण्ड न दिया था क्योंकि इससे अमीरो मे असन्तोष अधिक बढ सकता था। लेकिन बाद मे शेखजादो के असन्तोष से लाभ उठाकर उसने हुसैन फर्मूली का वध करवा दिया।

इस्लाम खाँ का विद्रोह—जब आजम हुमायू को बन्दी बनाया गया तो उसके पुत्र इस्लाम खा ने कडा मलिकपुर मे विद्रोह कर दिया। सुल्तान ने जब दूसरे आक्रमण की तैयारी शुरू कर दी तो उसे सूचना मिली कि आजम हुमायू, सईद खा लोदी आदि अमीर भी इस्लाम खा से मिल गए हैं। सुल्तान ने कुछ नवयुवक सेनापतियों के नेतृत्व में एक सेना भेजी किन्तु इसको कोई उल्लेखनीय सफलता नही मिल सकी। उसने शेखजादा फर्मूली आदि अमीरों को भी आक्रमण का आदेश दिया। विद्रोही इस दोहरे आक्रमण का मुकाबला नहीं कर सके। शाही फौजें विजयी हुई, इस्लाम खाँ रणक्षेत्र मे ही मारा गया, सईद खाँ लोदी गिरफ्तार कर लिया गया और लूट का भारी माल सेना के हाथ लगा। अनेक अमीर बन्दी बना लिए गए। सुल्तान इब्राहीम इस विजय मे बहा प्रसन्न हुआ।

पूरब मे विद्रोह—इस्लाम खा के विद्रोह के दमन मे अमीरो का विशेष हाथ था। इस विद्रोह के समय ही आजम हुमायू सरवानी और मियाभुआ की मृत्यु बन्दीगृह मे हुई थी। अब उसके पुराने और शक्तिशाली अमीरो मे सुल्तान के प्रति अविश्वास व्याप्त हो गया तथा उसके निरकुश रवैये की आलोचना की जाने लगी। सुल्तान ने संदिग्ध लोगों को पकड़कर बन्दीगृह में डाल दिया और कुछ को कष्टकारी मौत की सजा दी। परिणामस्वरूप दरिया खा नूहानी ने सुल्तान का अगला लक्ष्य अपने को ही समझ कर विद्रोह कर दिया। किन्तु इसी समय उसकी मृत्यु हो गई। उसका बेटा बहादुर खाँ सभी विद्रोहियो का विश्वसनीय केन्द्र बिन्दु बन गया। बिहार के स्वतन्त्र शासक के रूप मे उसने मुहम्मद शाह की उपाधि धारण की और अपने नाम के सिक्के ढलवाये तथा खुतबा भी पढ़वाया। समूचे बिहार में उसने विद्रोह की लहर फैला दी। सुल्तान ने हाकिम नासिर खाँ नूहानी को विद्रोह के दमन के लिए भेजा किन्तु उसने भी बहादुर खां का पक्ष ले लिया। बहादुर खा ने सम्भल तक प्रदेश पर अधिकार कर लिया और पूर्वी क्षेत्र के अफगान अमीर उसके साथ मिल गये।

दौलत खाँ का विद्रोह—अमीरों के पास अब आत्म-रक्षा के लिए विद्रोह के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं रह गया था। बिहार के विद्रोह से इब्राहीम बौखला गया था। उसने पजाब से दौलत खां लोदी को बुलवाया और जब उसने शकित हो

अपने पुत्र दिलावर खां को भेजा तो सुल्तान ने उसके साथ अभद्र व्यवहार किया और बन्दी गृह की ओर संकेत करते हुए उसे दर्शाया कि अवज्ञा का प्रतिफल इस रूप में दिया जाता है। बन्दी-गृह में डाल दिए जाने के भय से भयभीत होकर वह अपने पिता के पास भाग गया और उसे स्थिति से अवगत किया। दौलत खां ने इब्राहीम का विरोध करने के लिये पंजाब के सभी अमीरों और जागीरदारों का विश्वास प्राप्त किया। अपनी स्थिति को देखकर उसने काबुल के शासक बाबर को पत्र लिखकर भारत पर आक्रमण करने के लिये आमन्त्रित किया। यही नहीं, उसने अपने सहयोगी अमीरों से परामर्श करके बहलोल के पुत्र आलम खां को अलाउद्दीन के नाम से सुल्तान घोषित किया और उसे भी 1522-23 ई. में बाबर के पास सहायता मांगने के लिए भेजा।

बाबर का आक्रमण व पानीपत का युद्ध—बाबर ने स्थिति की जांच करने के लिए अपने कुछ अमीर, आलम खां के साथ भेजे। इन अमीरों ने सियालकोट, लाहौर तथा अन्य क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया और बाबर को इसकी सूचना दी। उसने भारत विजय के लिए 1524 में प्रस्थान किया। लाहौर पहुंचने पर आलमखां ने आग्रह किया कि, चूंकि मुगल उसके निमन्त्रण पर आए थे इसलिए दिल्ली पर अधिकार के पश्चात् उसे वह प्रदेश सौंप दिया जावे। आलम खां और मुगलों में मतभेद पैदा हो गया और उसने चालीस हजार सवारों सहित दिल्ली की ओर कूच कर उसे घेर लिया। जब इब्राहीम को इसकी सूचना मिली तो वह अस्सी हजार सैनिकों सहित चला। आलम खां ने घेरा उठा कर इब्राहीम से युद्ध करना उचित समझा। उसने रात में एक आकस्मिक आक्रमण किया और इब्राहीम की सेना को अस्त-व्यस्त कर दिया। किन्तु इब्राहीम ने, जो पांच या छः हजार सैनिकों सहित शिविर के बाहर ठहरा था, प्रातःकाल आलम खां की सेना पर आक्रमण किया। आलम खां पराजित हुआ तथा भाग गया और उसके अनेक सैनिक मार डाले गए।

इसी बीच बाबर लाहौर पहुंच गया था। दौलत खां और गाजी खां अपने वचन पर स्थिर नहीं रहे और उन्होंने भीतर ही भीतर बाबर को धोखा देकर मार डालने अथवा उसका साथ छोड़ देने की योजना बनाई। दिलावर खां ने ये भेद खोल दिया और दौलत खां को जेल में डाल दिया गया तथा उसके सूबे छीन कर दिलावर खां को दे दिए गए। इसी समय बल्ख की राजनीति ने पलटा खाया और बाबर को काबुल लौट जाना पड़ा। उसके पीठ फेरते ही स्थिति बदल गई। इब्राहीम पंजाब विजय के लिए बढ़ा और उधर दौलत खां भी पंजाब अधिकार के मनसूबों को बनाने लगा। आलम खां और गाजी खां के बेटे ने संयुक्त रूप से दिल्ली पर आक्रमण कर दिया, परन्तु वे पराजित हुए। अफगानों के विश्वासघात ने बाबर को बुरी तरह क्षुब्ध कर दिया था। वह शीघ्र ही एक बड़ी सेना लेकर 1525 ई. में पंजाब में घुस पड़ा। उसने दौलत खां, गाजी खां आदि को पराजित

कर पजाब पर अपना अधिकार दृढ किया, फिर दिल्ली की ओर बढना शुरू किया। सुल्तान इब्राहीम भी उसकी सेना का सामना करने के लिए आगे बढा। बाबर की सेनाओं की छोटी-मोटी झडपों में बाबर जीता और अनेक अफगान सरदार इब्राहीम का साथ छोडकर बाबर के साथ जा मिले। अन्त मे पानीपत के मैदान म निर्णायक युद्ध हुआ।

पानीपत का युद्ध—पानीपत का पहला युद्ध बाबर तथा इब्राहीम लोदी के मध्य हुआ। यह भारत के इतिहास म एक युग प्रवर्तक घटना है, जिसके फलस्वरूप दिल्ली सल्तनत का अन्त हुआ और मुगल वश की स्थापना हुई। मुगलो ने लगभग 300 वर्ष तक राज्य किया। बाबर ने सावधानी से अपनी व्यूह-रचना की। उसने लगभग सात सौ गाडियो को कच्ची खाल की रस्सियो से जोडकर शत्रु की अधिक सख्या के विरुद्ध अपने अग्रिम दस्ते को सुरक्षित कर सका। प्रत्येक छ या सात गाडियो के पश्चात् एक छोटी गली थी जहा तोपखाने के दो विख्यात अधिकारियो को उस्ताद अली व मुस्तफा की देख-रेख मे तोपची और गोलदाज सैनिक तैनात थे। यह सब तैयारी कर बाबर ने 21 अप्रैल, 1526 ई को प्रात काल युद्ध आरम्भ किया। इस युद्ध मे दोनों पक्षो के सैनिक जी तोड कर लडे पर बाबर का पलडा लगातार भारी होता गया। मुगल रिजर्व दस्तो और तोपचियो ने युद्ध को अपने पक्ष म मोड लिया। अफगान सैनिको मे फैली गडबड आतक मे परिवर्तित हो गई और सुल्तान इब्राहीम लोदी लगभग पाच छ हजार अनुयायियो के साथ युद्ध भूमि में काम आया। शेष सेना भाग निकली, तीसरा पहर होते-होते तक अफगान पूरी तरह पराजित हो चुके थे। हजारो अफगान सैनिकों की लाशो के बीच इब्राहीम के शव ने पानीपत का मैदान ढक लिया था। न्यामत उल्लाह ठीक कहता है कि, सुल्तान इब्राहीम के अतिरिक्त भारत का कोई सुल्तान रण-भूमि म नहीं मारा गया। दिल्ली सल्तनत ने जिसने 1192 ई मे तराइन के युद्ध मे जन्म लिया था, 1526 म पानीपत की रण-भूमि म मृत्यु को प्राप्त हुई।

लोदी वश का पतन—बाबर की छोटी-सी सेना के आगे इब्राहीम की विशाल सेना न टिक सकी, क्योकि—

(1) बाबर के सभी घुडसवार सैनिक चुने हुए थे। बाबर की सेना पूरी तरह सगठित एव रणकुशल थी, जबकि दूसरी ओर इब्राहीम की सेना, सैनिको का एक जमघट मात्र थी जिसम न तो कोई सगठन ही था और न ही अनुशासन।

(2) बाबर की युद्ध की तुलुगमा-पद्धति से अफगान अपरिचित थे।

(3) लोदियो के पास बाबर के शक्तिशाली तोपखाने का मुकाबला करने का कोई साधन नहीं था।

(4) बाबर जन्मजात एक सैनिक नेता था। जबकि लोदी सेना मे स्वय इब्राहीम में भी सम्पूर्ण युद्ध पर नियन्त्रण करने की क्षमता नहीं थी।

(5) बाबर ने हमेशा व्यक्तिगत उदाहरण देकर सेना का मनोबल बनाए रखा।

(6) लोदियों की सेना हमेशा बिना किसी निश्चित योजना के लड़ती थी। बाबर यह जानता था कि लोदी सेना विशाल होते हुए भी युद्ध योजना-बद्ध नहीं करती है।

(7) बाबर ने गुप्तचर व्यवस्था का व्यापक उपयोग कर शत्रु-शिविर के बारे में समस्त जानकारी प्राप्त करली थी, जबकि इब्राहीम ने सेना के गुप्तचर विभाग की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया।

(8) भारतीय पक्ष को पुनः पराजय का मुंह हाथियों के इस्तमाल के कारण देखना पड़ा। हाथी, तोपों और तोड़ेदार बन्दूकों की मार से बेकार हो गए और उन्होंने अपने ही पक्ष को रौंद डाला।

(9) इन्हीं सब कारणों से बाबर की विजय हुई। कम संख्या पर सन्तुलित दस्तों के कुशल नेतृत्व ने बाबर को विजयी बनाया जिसने एक नये राजवंश की नींव रक्खी।

इब्राहीम लोदी का मूल्यांकन—वास्तव में सुल्तान इब्राहीम लोदी के विवेक-हीन कार्य ही लोदी साम्राज्य के पतन को इतना सन्निकट ले आये। इब्राहीम लोदी यद्यपि प्रतिभा-सम्पन्न सुल्तान था, परन्तु अपने चरित्र के कारण वह अपनी प्रतिभा का पूरा लाभ नहीं उठा सका। वह अफगान जाति के चरित्र को नहीं समझ सका और यह भूल गया कि अफगान जाति सुल्तान को केवल समानों में प्रथम स्वीकार करती थी न कि निरंकुश शासक। अफगान सरदार अपनी जागीरों को अपनी शक्ति से अर्जित मानते थे, लेकिन इब्राहीम यह स्वीकार करने को तत्पर न था। सिकन्दर लोदी भी एक निरंकुश शासक था, फिर भी उसने अपनी निरंकुशता का इस ढंग से प्रयोग किया कि अमीर असन्तुष्ट होते हुए भी पूर्ण विरोधी नहीं हुए। अमीर असन्तुष्ट अवश्य रहे, क्योंकि वे तो सुल्तान और अमीरों के बीच बहलोल जैसा सम्बन्ध ही चाहते थे। इब्राहीम लोदी यह समझने में असमर्थ रहा था। उसने अनुशासन और नियन्त्रण की नीति का अविवेकपूर्ण ढंग से अनुसरण किया जिसके फलस्वरूप चारों ओर विद्रोह होने लगे और अफगान राज्य की नींव हिल गई। बाबर ने अन्तिम झटका देकर अफगानों का महल धराशाही कर दिया। यदि अफगान कुछ कम स्वार्थी और अहंकारी होते अथवा इब्राहीम कुछ नीति-कुशल एवं उदार होता तो बाबर इतनी सरलता से भारत पर अधिकार न जमा सकता था।

इब्राहीम में एक बड़ा दोष यह था कि वह किसी भी शक्तिशाली अमीर की उन्नति से अत्यधिक ईर्ष्यालु था। मेवाड़ के राणा सांगा का विरोध भी लोदी साम्राज्य के लिए महंगा पड़ा क्योंकि इनसे शाही सेना की शक्ति क्षीण होने के साथ ही हिन्दू, सल्तनत के विरोधी हो गए। सुल्तान ने दमनकारी नीति का अनुसरण

कर अपने चारो ओर शत्रु ही शत्रु पैदा कर लिये। उसका हठी और अकालु स्वभाव उस ले डूबा। फरिश्ता के शब्दो म वह मृत्यु पर्यन्त लड़ा और एक सैनिक की भाति युद्ध म काम आया। इब्राहीम को पराजित कर बाबर ने अपने नाम का खुतबा पढ़वाया। उसने हुमायू को यह आदेश देकर आगरा की ओर रवाना किया कि वो उस पर कब्जा कर इब्राहीम के खजाने पर अधिकार कर उसे सैनिका म बाट दे।

अफगानों का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त

सैय्यद वंश का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त—तुगलक वंश ने पुन एक नई विचारधारा को जन्म दिया था। सिकन्दरशाह तुगलक की मृत्यु के बाद अमीर 15 दिन तक सुल्तान का निर्वाचन करने म असफल रहे।[1] अन्त म मुहम्मदशाह के पुत्र सुल्तान महमूद को (आयु 10 वर्ष) अमीरों ने सुल्तान चुना। एक अल्प आयु बालक को गद्दी पर बैठाने के कार्य को पहली बार सफलता मिली। सुल्तान महमूद की मृत्यु के बाद प्रभुसत्ता तुगलक वंश के हाथो से निकल गई थी परन्तु इसके बाद भी अनेक वर्षों तक नये शासक दौलतखाँ व खिज्रखा ने सुल्तान की उपाधि धारण नहीं की। वे तुगलकों के नाम म मुद्रा अकित करवाते रहे जिससे कि वे तुगलका क प्रति जनसाधारण की सम्मानित भावनाओ और स्वय द्वारा राज्य हड़पन की दरार का पाट सकें।

खिज्रखा की स्थिति बड़ी ही डावाडोल थी। वह स्वय मगोलो की कृपा स सुल्तान बना था इसलिए वह उनकी उपेक्षा नही कर सकता था, दूसरी ओर वह भारतीय मुसलमाना के विरोध से भी भयभीत था जिनम मगोलो के प्रति कोई सद्भावना शेष न थी। इस दुविधा म उसन एक अजीब नीति अपनाई जिसका समरूप तुर्कों क भारतीय इतिहास म देखने को नहीं मिलता है। सिक्के तुगलका के नाम म मुद्रित किये जाते रहे और खुतबा मगोलो के नाम म पढ़ा जाता रहा, जिसक अन्त मे उसका नाम भी था। खिज्रखां द्वारा मगोलो के अधिराज्य की स्वीकृति का यह परिणाम निकला कि अब खुतबे तथा सिक्कों से खलीफा का नाम समाप्त हो गया।

यह दुविधा अधिक समय तक न चल सकी। खिज्रखां के पुत्र ने मगोलों और तुगलको के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना समाप्त कर दिया। शाह सुल्तान की उपाधि धारण कर उसने स्वय के नाम के सिक्के चलाए। मगोलो के प्रति इस नीति का परिणाम हुआ कि उन्होंने सैय्यदो के विरोधी खोखरो का पक्ष ग्रहण किया और पुन भारत पर आक्रमण करने की नीति अपनाई। अनेक स्थानों पर सैय्यदों के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। इस प्रकार भारत और भारत क बाहर सैय्यदो की प्रभुसत्ता को सब ही ने अस्वीकार कर दिया। वास्तविकता में सैय्यदो का प्रभुसत्ता क क्षेत्र म

---

1 आर के सक्सेना सल्तनतकालीन शासन प्रणाली पृ 22

कोई सकारात्मक योगदान था ही नहीं। डा. त्रिपाठी[1] के अनुसार, "सैय्यद शासकों को गम्भीरतापूर्वक कभी प्रभुसत्ता-सम्पन्न-शासक स्वीकार ही नहीं किया गया।" अन्तिम शासक आलमशाह प्रशासकीय बुद्धि से हीन था इसलिए शीघ्र ही राजसत्ता बहलोल लोदी के हाथों में चली गई।

लोदी वंश का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त—अफगानों के उदय के साथ दिल्ली की प्रभुसत्ता सम्बन्धी मान्यताओं में एक नया मोड़ आ गया। अफगान जातीय (कबीले) स्वतन्त्रता में विश्वास रखते थे और इस आधार पर वो यह स्वीकार करने को तत्पर नहीं थे कि प्रभुसत्ता अविभाज्य है जिसमें समस्त सम्बन्ध केवल राजा और प्रजा जैसे दो शब्दों में सीमित किये जा सकते हैं। अफगानों को तुर्कों, मंगोलों अथवा भारतीय मुसलमानों से किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं थी और ऐसी स्थिति में उन्हें केवल हमवतन लोगों की सहानुभूति पर ही निर्भर रहना था। इस आधार पर लोदी सुल्तानों के लिए पूर्वाग्रह को तिलांजली दे तुर्क अथवा ताजिकों की संस्थाओं को स्वीकार करना नीति संगत नहीं था। अफगानों का परिपाटियों में भी अटूट विश्वास था, इसलिए बहलोल लोदी द्वारा शक्ति का अपहरण करने पर उन परिपाटियों को तोड़ना भी सम्भव नहीं था। उसने एक ऐसे राज्य-सिंहासन का निर्माण करवाने का विचार किया जिस पर वह अपने समस्त बन्धु-बान्धवों के साथ बैठ सके। क्योंकि इस आकार का सिंहासन बनवाना सम्भव नहीं हो सका इसलिए वह 30 अथवा 40 अफगानों के बैठने लायक सिंहासन बनवाकर ही सन्तुष्ट हो गया।

बहलोल के गद्दी पर बैठने के बाद उसे शर्की शासकों की चुनौती का सामना करना पड़ा। ये न केवल धनी व शक्तिशाली थे अपितु इन्हें लोदी-विरोधी तत्वों का समर्थन भी प्राप्त था। बहलोल ने इस चुनौती के समाधान के लिए रोह के अफगानों को आमन्त्रित किया जिससे कि वे राज्यवंश में भागीदार होने के साथ ही भारत में अफगान-सम्मान की रक्षा कर सकें। अनेक अफगान विभिन्न आशाओं को संजोये हुये बहलोल के निमन्त्रण पर उसका साथ देने को तत्पर हो गये।

बहलोल ने अफगान परिपाटियों को ध्यान में रखते हुए स्वयं को अफगानों में से एक अमीर के समरूप ही माना। वह मात्र सुल्तान की उपाधि तथा अफगानों के नेतृत्व से सन्तुष्ट था। उसके समय में अफगान राज्य केवल कबीलों का एक संघ मात्र था जिसका नेता शासक था। राजत्व का यह विचार तुर्कों से बहुत कम मेल खाता था। यह बलबन और अलाउद्दीन के सिद्धान्तों से मेल नहीं खाता था और यहां तक कि यह इल्तुतमिश की विचारधारा से भी भिन्न था।

तुर्क निरंकुश थे और वे अपने सरदारों को अधीन कर्मचारी अथवा सलाहकारों से अधिक नहीं मानते थे। प्रभुसत्ता में बराबरी की दावेदारी अथवा साझेदारी

1. आर. पी. त्रिपाठी, सम आस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 80-84

मे उनका विश्वास न था। वे प्रभुसत्ता मे देवत्व और सुल्तान मे ईश्वरीय छाया को स्वीकार करते थे। परन्तु लोदी सरदार सुल्तान को अपने मे से ही एक सरदार स्वीकार करते थे और सुल्तान मे देवत्व के अंश को मानने के लिए तत्पर न थे। उनका यह अनुभव था कि यदि उन्होने अपने मे से किसी एक को सुल्तान स्वीकार कर लिया तो उनकी स्थिति साधारण सेवको जैसी हो जावेगी और उन्हें अपने ही परिवार के सदस्य के सम्मुख सिजदा और जमीपोश करने के लिए बाध्य किया जावेगा। इस जातीय परम्परा के अतिरिक्त इसमे उनके व्यक्तिगत स्वार्थ भी थे। यदि सुल्तान उनकी शक्ति पर निर्भर न रहा तो उनके लिए बडी-बडी जागीरो का उपयोग करना अथवा अधिकारो को हथियाना भी सम्भव न हो सकेगा।

बहलोल ने अफगानो की इस जातीय विशेषता को ध्यान मे रखते हुए उनके साथ समानता का व्यवहार किया और राजशक्ति मे उन्हें साझेदार बनाया। वह दरबार मे सिंहासन पर आसीन न होता था अपितु कालीन पर ही अफगान अमीरो के साथ बैठता था। अपने अमीरो को वह 'मसनद-ए-आली' (Exalted Loardship) कह कर सम्बोधित करता था। मुश्ताकी ने लिखा है कि, "यदि कोई अमीर बीमार हो जाता अथवा उससे रुष्ट हो जाता तो वह स्वय उसके घर जाता, अपनी तलवार को अनुघत कर देता, और कभी-कभी अपनी साफे की पेटी को भी खोल देता था।" अमीरो की सद्भावना को जीतने के लिए वह हर प्रकार से प्रयत्नशील रहता था। वह अमीरो पर पूर्णतया आश्रित था, यहा तक कि प्रतिदिन किसी न किसी अमीर के घर से उसका भोजन आता था और घोड़े पर सवार होते समय कोई अमीर उसे अपना घोड़ा प्रस्तुत कर देता था। ऐसी स्थिति मे अफगान साम्राज्य शासक के नेतृत्व मे विभिन्न कबीलों का एक सघ मात्र था।

बहलोल के सम्बन्ध में ये विचार प्रो इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी को मान्य नही है। उनके अनुसार यह ठीक है कि बहलोल अपने अमीरो के साथ उदार व शिष्ट व्यवहार करता था परन्तु इसका कारण अफगानो का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त न होकर उस समय की परिस्थितियाँ थीं। बहलोल के लिए अपनी शक्ति की स्थापना मे अफगानो का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक था और उसने इस तथ्य को समझकर अफगानो को अपनी ओर मिलाने के लिये ही इस प्रकार की नीति अपनाई अन्यथा वह स्वय एक निरकुश शासक था। उन्होने लिखा है, "ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह मत सिद्ध नहीं होता कि उसके समय मे दिल्ली सल्तनत अफगान जातियो का एक सघ राज्य था और इस कारण इस मत को इतिहास को गलत पढन का प्रयत्न समझ कर त्याग देना चाहिये।" बहलोल ने समस्त अफगानो को अपनी ओर मिलाने के लिए ही इस प्रकार का व्यवहार किया क्योंकि इन अफगानो को मिलाने के अतिरिक्त उसके पास कोई दूसरा चारा भी नहीं था। बहलोल के समय की घटनाओ से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब कभी उसे अवसर मिला उसने समस्त विरोधियो को कुचलने का प्रयत्न किया, चाहे वे अफगान हो अथवा दूसरी जाति के जैसा कि सियालकोट, लाहौर और दीपालपुर के अमीरो के उदाहरण से स्पष्ट होता है।

इसलिए यदि उसने यह नीति अपनाई तो वह केवल उसकी कूटनीतिज्ञता और दूरदर्शिता थी जिसका उसने लोदी वंश की स्थापना के लिए उपयोग किया।

प्रो. सिद्दीकी का मत तर्कसंगत है। बहलोल ने यदि अफगान सरदारों के साथ उदारता का व्यवहार किया तो इसका मूल कारण उस समय की राजनीति थी। बहलोल ने इस आधार पर अफगान संघ राज्य की स्थापना की अथवा नहीं यह विवाद-ग्रस्त हो सकता है, परन्तु इतना निश्चित है कि उसने अफगान सरदारों की स्वतन्त्रता और जातीय प्रकृति पर इतना अंकुश लगाये रक्खा कि उसकी मृत्यु पर अमीरों ने उसी के एक पुत्र को सुल्तान चुना और अपने में से किसी एक को सुल्तान बनाने की बात सोची भी नहीं। यही बहलोल की सफलता थी।

प्रो. त्रिपाठी के अनुसार बहलोल द्वारा इस प्रकार से एक संघ की स्थापना में लाभों की अपेक्षा हानियां अधिक थीं। यद्यपि इसने अमीरों द्वारा षड्यन्त्र की सम्भावना को न्यूनतम कर दिया परन्तु इसके साथ ही उन्हें अपने प्रभाव तथा शक्ति के सम्बन्ध मे भी सतर्क कर दिया। बहलोल ने सुल्तान की कीमत पर अमीरों की शक्ति और सम्मान को बढ़ाया, ताज की प्रतिष्ठा को कम किया तथा राजत्व को केवल एक उन्नत अमीर की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया। उसकी इस कार्यवाही ने भले ही अफगानों को कुछ सन्तोष दिया हो, परन्तु दूसरे वर्गों की शासन में सुनवाई न होने की वजह से वे असन्तुष्ट हो गये। इस प्रकार से राज-पद की उसकी नींव इल्वारी तुर्कों की तुलना में गहरी अवश्य थी परन्तु उसकी धारणा अथवा संकल्पना उनकी तुलना में अधिक संकर्ण थी।

इस कमी के बाद भी उसका प्रयोग रुचिकर था। इसने अफगानों में स्वामि-भक्ति की जो भावना उत्पन्न की उससे वे यह अनुभव करने लगे कि यद्यपि वे प्रत्यक्ष रूप से सुल्तान के लिए परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से वे स्वयं अपने हितों को सुरक्षित रखने के लिए ही कार्य कर रहे हैं। बहलोल ने निरंकुश राजत्व की भावना को मन्द करके वास्तविक रूप में इसे अमीरों की इच्छा के अनुकूल बनाने की दिशा में एक महत्व-पूर्ण पग उठाया था। अमीरों और सामन्तों के प्रति उत्तरदायित्व की भावना निरंकुश व संवैधानिक राजत्व के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी थी। उसने एक ऐसा अवसर प्रदान किया जबकि मुस्लिम राजतन्त्रवाद एक संवैधानिक रूप धारण कर सकता था। डा. त्रिपाठी के अनुसार अफगान अमीर आपसी द्वेषता, स्वार्थपरता, दलबन्दी, उदासीनता व अनभिज्ञता के कारण इसका लाभ न उठा सके।

बहलोल ने सिकन्दर को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। सम्भवतः अनुभव ने उसे अफगानों के प्रति अपनाये जाने वाले व्यवहार के लिए सतर्क कर दिया था। इसलिए उसने सिकन्दर को चेतावनी दी थी कि 'सूर' और 'नियाजी' अफगानों को उच्च पद न दे क्योंकि सूर अधिक महत्वाकांक्षी तथा नियाजी विश्वास-घाती थे। यह इस बात का संकेत था कि अफगानों की एकरूपता अधिक समय तक बनाये रखना सम्भव न था।

सिकन्दर लोदी के लिए सतर्कता से कार्य करना आवश्यक हो गया क्योंकि छ जीवित भाईयो के होते हुए उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ना अवश्यम्भावी था। बहलोल लोदी ने स्वय ही राज्य का बटवारा कर बारबकशाह को जौनपुर का शासक दिया था। अफगान लोग यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि राज्य केवल एक ही व्यक्ति के द्वारा सचालित हो। उनके अनुसार एक से अधिक व्यक्ति इसके साझेदार हो सकते थे। इसके अतिरिक्त सिकन्दर लोदी की मा सुनार जाति की थी इसलिए इस आधार पर उसे शुद्ध अफगान स्वीकार करना भी असम्भव था। अफगान जो कुतुबवा का वशपरम्परा के आधार पर विरोध कर सकते थे वे सिकन्दर के भी किसी समय विरोधी हो सकते थे।

सिकन्दर विभाजित प्रभुत्व और सदिग्ध निष्ठा के परिणामो से सचेत था और इस आधार पर राजसत्ता मे किसी के साथ साझेदारी करने को तत्पर नहीं था। यही नहीं अपितु वह मुस्लिम परम्परा व ईरानी विवेक से भी परे था। राज्य का विभाजन साम्राज्य के लिए ही नहीं अपितु अफगान शक्ति के लिए भी घातक था। इसके बाद भी उसने बारबकशाह को दो बार जौनपुर का शासक बनाया। परन्तु जब वह इससे भी सन्तुष्ट न हो सका तो उसने जौनपुर को अपने अधीन कर लिया। बारबकशाह पर विजय के पश्चात् उसके प्रमुख सहायक मुबारक को बन्दी बना लिया गया। दुविधा मे रखने हेतु उसने उसे दण्डित करने की अपेक्षा अत्यधिक सम्मान दिखाया, यहा तक कि उसको अपनी तलवार समर्पित कर प्रार्थना की कि वह स्वय शासन क अयोग्य है और वह किसी को भी शासक बना सकता है। सिकन्दर के लिये यह सब नाटकीयता से अधिक नहीं था। अन्त मे सिकन्दर ने उसे पराजित कर तथा अफगानो द्वारा फतहखाँ को शासक बनाने के षडयन्त्र को विफल कर साम्राज्य की एकता को बनाये रखा।

यद्यपि उसने अफगानों की भावुकता को यथोचित सम्मान दिया और अपन पिता की नीति मे कोई परिवर्तन नहीं किया परन्तु वह इस बात को समझता था कि भारतीय वातावरण में अफगानो की सस्थाएं अनुपयुक्त हैं। इसलिए उसने धीरे-धीरे प्रभुसत्ता की धारणा म परिवर्तन लाना आरम्भ किया। वह सरदारो को अधिक नियन्त्रण में लाने के लिये तत्पर हुआ। उसकी नीति कठोरता, अनुशासन और सुल्तान के विशेषाधिकारों पर बल देने की थी, परन्तु इसका यह अर्थ लगाना कि वह अकारण ही सरदारो को अपमानित करने पर तुला बैठा था, नितान्त भूल होगी। उसने सरदारो को सुल्तान के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए बाध्य किया, दरबार को नई साज-सज्जा प्रदान की तथा न्याय मे छोटे-बड़े के भेद-भाव को समाप्त किया। प्रान्तीय अमीरों को अपनी राजधानियो से छ मील दूर आकर सुल्तान की आज्ञायें प्राप्त करने की परिपाटी चलाई और अवहेलना करने वाले अमीर को कठोर दण्ड दिया गया। मुश्ताकी ने लिखा है कि, "जिस किसी ने भी उसकी आज्ञाओं का विरोध किया, उसने उसका सिर कटवा दिया अथवा उसे राज्य

से निष्कासित कर दिया ।" जिन 22 अमीरों ने उसे सिंहासन से हटाकर उसके छोटे भाई फतहखां को सुल्तान बनाने का षडयन्त्र रचा था, उसने उन सबका वध करवा दिया अथवा उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया ।

परन्तु इस प्रकार व्यवहार करते समय न तो वह अन्यायी था और न ही अन्धा-धुन्ध काम करता था । उसने अफगान अमीरों को केवल उसी समय दण्डित किया जबकि उनका अपराध सिद्ध हो जाता था अथवा अमीरों को उसने उसी समय अपदस्थ किया जब उनका विश्वासघाती दृष्टिकोण पूर्णतया निखर उठता था । अपनी इस नीति के आधार पर उसने सुल्तान की प्रतिष्ठा को बढ़ाया । प्रो. सिद्दीकी ने लिखा है कि, "सिकन्दर लोदी पहला अफगान सुल्तान था जिसने एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न शासक की भांति व्यवहार किया और अपने सरदारों से पूर्ण आज्ञा पालन और अविभाजित स्वामीभक्ति की मांग की । उसकी चतुरता, उदारता, निरन्तर सफलताओं ने उसके सरदारों को पूर्ण वफादार और सुल्तान के प्रति आज्ञाकारी बना दिया । सुल्तान से बराबरी करने की उनकी भावना भी दब गयी ।

सिकन्दर की इस व्यवस्था का भार उसके पुत्र इब्राहीम लोदी पर पड़ा । वह सर्व-सम्मति से शासक चुना गया था और उसके पराक्रम, योग्यता आदि में कोई शंका नहीं थी । उनके शासक बनने पर साम्राज्य के विभाजन की नीति की इतिश्री हो गई थी । फतहखां और खान-ए-जहां आदि प्रभावपूर्ण नेताओं ने साम्राज्य के विभाजन की नीति को अनुचित ठहराया था । उसके भाई जलालखां ने इसका विरोध किया परन्तु इब्राहीम ने उसको बन्दी बना कर उसका वध करवा दिया ।

अपने प्रतिद्वन्द्वी को समाप्त कर इब्राहीम ने अफगान सरदारों की ओर ध्यान दिया जो कि उसकी नीति के विरोधी हो सकते थे । उसने यह स्पष्ट कर दिया कि राजा का कोई सम्बन्धी नहीं होता तथा समस्त लोग केवल उसके सेवक मात्र हैं । सम्भवतः उसका अभिप्राय था कि कोई भी व्यक्ति जाति, कबीले अथवा शासक का सम्बन्धी होने के नाते किन्हीं विशेष अधिकारों की मांग नहीं कर सकता है । अप्रत्यक्ष रूप में यह उसकी प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा थी । ये धारणा न केवल बलबन, अलाउद्दीन अथवा मुहम्मद तुगलक की विचारधारा से सामीप्य रखती थीं अपितु उससे भी अधिक विकसित थीं क्योंकि इसने कबीले के आधार पर मान्य समस्त मांगों को समाप्त कर दिया था । यह बहलोल लोदी के विचारों के पूर्ण विरोध में थी और अफगान सरदारों के लिए अप्रिय होने पर भी ठोस सिद्धान्त पर आधारित थी ।

इस आधार पर उसने एक अत्यन्त सुशोभित सिंहासन पर बैठना आरम्भ किया तथा आदेश दिया कि सुल्तान के दरबार में उपस्थित रहने के समय कोई अमीर आसन ग्रहण नहीं करेगा । दम्भी अफगान सरदार जो बहलोल के साथ बराबरी का दावा करते थे वे इस आदेश से स्तम्भित थे । सम्पूर्ण वातावरण

बदल गया था और अमीरों को यह अनुभव होने लगा कि सुल्तान उन्हीं में से एक अमीर न होकर कहीं अधिक श्रेष्ठ है। दम्भी अमीरों को इससे शिकायत थी, परन्तु सुल्तान ने उनकी कोई परवाह न की और पुराने अमीरों के प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए उसने 'नियाजियों' को 'फरमूलियों' की तुलना में प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई। पुराने अफगान सरदारों ने इस नीति का सशस्त्र विरोध प्रारम्भ किया। सैय्यदखा लोदी, इस्लामखाँ व फतहखा के विद्रोहों को निर्दयता से कुचल दिया गया। यद्यपि इस सघर्ष मे सुल्तान सफल अवश्य हुआ, परन्तु अकेले इस्लामखा के विद्रोह को दबाने म ही उसे 10,000 श्रेष्ठ अफगान सैनिकों की बलि देनी पड़ी। इब्राहीम इसके बाद और अधिक उद्दण्ड हो गया और सन्देहास्पद परिस्थितियों मे की गई आजम हुमायू और मियां भाऊ की हत्या ने अफगान अमीरों को और अधिक विरोधी बना दिया। अफगान अब उसका खुले रूप मे विरोध करने लगे। उनको यह विश्वास होने लगा कि वे किसी प्रकार सुल्तान के विरुद्ध सफल नहीं हो पायेंगे। बिहार मे नूहानी अत्यधिक दुविधा म थे और पजाब के लोदियों ने अफगानों के प्रतिद्वन्द्वी मुगलों को आमन्त्रित करने मे कोई झिझक अनुभव नहीं की। स्वार्थपरता तथा बदले की भावना के नशे में वे अपने हितों को आकने मे असमर्थ रहे, जिसका अन्तिम परिणाम अफगान सत्ता की समाप्ति तथा एक नये राजवंश की स्थापना मे हुआ।

सुल्तान इब्राहीम के समय मे राजसत्ता के लिए जो सघर्ष चला उसमे सिद्धान्त कम और व्यक्तिगत आकांक्षायें, भय एवं हठ अधिक था। सुल्तान ने अकुशलता और अव्यवहारिकता से उन अमीरों को भी अपना विरोधी बना लिया जो सिकन्दर लोदी के समय मे स्वामीभक्त थे। सुल्तान इब्राहीम भी तुर्कों के समान एक निरकुश राजतन्त्र की स्थापना करना चाहता था, परन्तु अफगान सरदार समय की इस माग को नहीं पहचान सके। डा त्रिपाठी का मत है कि जिस सिद्धान्त के लिए इब्राहीम ने सघर्ष किया वह ठोस था, परन्तु अवसर और साधन नितान्त त्रुटिपूर्ण थे। इब्राहीम का यह सिद्धान्त उसी के साथ नहीं दफनाया गया अपितु मुगलों के आगमन ने इसे और अधिक शक्ति प्रदान की।

सल्तनत काल में इस प्रकार से प्रभुसत्ता के क्षेत्र में कई प्रयोग हुए। बलबन ने वश के गौरव तथा दरबारी शान को स्थापित किया तो अलाउद्दीन खल्जी ने धर्म और राज्य को अलग-अलग कर दिया। तुगलकों के समय म भिन्न-भिन्न प्रयोग किये गये जिसमे मुहम्मद तुगलक व फीरोज तुगलक ने अपनी-अपनी मान्यताओं के आधार पर प्रभुसत्ता का स्वरूप निश्चित किया। लोदी वश के समय में भी बहलोल ने जिन परिस्थितियों मे प्रभुसत्ता की स्थापना की उसमे इब्राहीम ने आमूल-चूल परिवर्तन कर एक नये ही स्वरूप को सामने रखा, जो ठोस होते हुए भी अफगानों द्वारा बाबर को आक्रमण का निमन्त्रण देने से न रोक सका। इस प्रकार प्रभुसत्ता के क्षेत्र मे सल्तनत काल अनेक प्रयोगों को करता रहा।

अमीर-वर्ग व ताज के बीच संघर्ष (सैय्यद व लोदी वंश)

सुल्तान खिज्रखां व अमीर-वर्ग—खिज्रखां सैय्यद (1414-21 ई.) ने गद्दी प्राप्ति के बाद अमीरों को महत्वपूर्ण पद दिये। ताजुलमुल्क को वजीर तथा सैय्यदों के प्रधान, सैय्यद सलीम को सहारनपुर की जागीर, मलिक सुलेमान के दत्तक पुत्र अब्दुर रहीम को मुल्तान की जागीर, इख्तियारखां को दोआब की जागीर तथा खैरुद्दिन को 'आरिज-ए-मुमालिक' का पद दिया।[1]

खिज्रखां के राज्यकाल में शान्ति स्थापित न हो सकी। एक स्थान में एक अमीर के विद्रोह को दबाया जाता तो दूसरे स्थान में विद्रोह खड़ा हो उठता था। उसका सारा समय तुगलकी अमीरों को दबाने में ही लग गया। राजधानी में अमीरों ने सुल्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र किया। वजीर ताजुलमुल्क की सहायता से विद्रोही अमीरों को मृत्यु दण्ड दिया गया, परन्तु इसके बाद भी वह अमीरों को पूर्णतया कुचलने में असमर्थ रहा। उसने यह नीति अपनाई कि अमीरों से बलपूर्वक राजस्व का कुछ भाग वसूल कर लिया जावे और शेष राशि के लिये उनसे आश्वासन ले लिया जावे। अमीर ऐसा आश्वासन तो देते थे परन्तु वे उसे कभी पूरा करने की कोशिश ही नहीं करते थे। खिज्रखां इन सब कठिनाइयों का सामना नहीं कर सका और इसी बीच उसकी मृत्यु हो गई। खिज्रखां की विशेषता रही कि उसने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के लिये अमीरों के प्रति रक्तपात की नीति नहीं अपनाई।

सुल्तान मुबारक शाह व अमीर-वर्ग—मुबारक शाह अपने शासन के तेरह वर्षों (1421-34 ई.) में अमीरों के साथ उदारता का व्यवहार किया। उसने अमीरों के समर्थन के बदले उन्हें उनकी जागीरों और पदों पर पूर्ववत रहने दिया।[2] इसके साथ ही सैय्यद वंश में पहली बार हिन्दू अमीरों को भी राज्य में उच्च पद दिये जाने लगे। बहादुर नाहर मेवाती के पौत्र जल्लू और कद्दू, बयाना के मुक्ति मुहम्मदखां ने उसके विरुद्ध विद्रोह किये। इसी प्रकार शर्की शासक और सुल्तान के बीच संघर्ष में भी अमीरों की भूमिका विनाशकारी रही। इसके बाद सभी वर्गों के अमीरों ने मिलकर सुल्तान के विरुद्ध विद्रोह किया जिनमें जसरथ खोखर, मलिक युसूफ, हेमू भट्टी और शेखजादा अली प्रमुख थे। इमादुलमुल्क ने अमीरों के विद्रोह को दबाने में काफी सहायता प्राप्त की, परन्तु बीच ही में सुल्तान ने उसे वापस बुला लिया और उसकी जगह पर खैरुद्दीन खानी को नियुक्त किया। उसके बाद उसने सखरुलमुल्क को अमीरों के विरुद्ध भेजा। उसने जिस तत्परता से अमीरों का दमन किया उससे सुल्तान स्वयं शंकित हो गया और उसे भी वापस बुला लिया। उसे वजारत का काम सौंपा गया तथा उसकी शक्ति पर अंकुश रखने के लिये अमीर कमालउलमुल्क को भी उसी विभाग में नियुक्त कर दिया। आपसी प्रतिस्पर्धा के

1. इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द 4, पृ. 46–47
2. फरिश्ता, (ब्रिग्स) जिल्द 1, पृ. 512

कारण सवरुलमुल्क ने सुल्तान के विरुद्ध षडयन्त्र कर 19 फरवरी, 1414 ई को उसकी हत्या कर दी ।

सुल्तान मुहम्मद शाह व अमीर-वर्ग—मुबारक शाह की हत्या के बाद अमीरो ने मुहम्मद शाह (1434-45 ई) को सुल्तान बनाया । सवरुलमुल्क ने क्योंकि पिछले सुल्तान की हत्या म सक्रिय भाग लिया था इसलिये उसने सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथो मे ले ली और खानेजहा की उपाधि धारण की । उसने अपने समर्थक अमीरो को उच्च पद दिये । कमालउलमुल्क के लिये यह असहनीय था, इसलिये उसने खिजखा के परिवार के प्रति अपनी स्वामि-भक्ति दिखाकर सुल्तान की सहायता से एक विरोधी दल तैयार किया और मुबारक शाह के हत्यारो से बदला लेने की एक योजना बनाई ।[1] कमालउलमुल्क के साथ वे अमीर भी हो गये जो वजीर सवरुलमुल्क की हिन्दुओ के प्रति उदार नीति के विरोधी थे । इस आपा-धापी मे दोनो दल ही एक दूसरे के प्रति षडयन्त्र करने लगे, जिसमे अन्त मे कमालउलमुल्क ने वजीर सवरुलमुल्क की हत्या कर सारी सत्ता अपने हाथो मे ले ली । परन्तु वह असफल रहा क्योंकि न तो वह कुशल प्रशासक ही था और न ही उसे सेना का समर्थन ही प्राप्त था । ऐसी स्थिति मे अमीरो ने पुन विद्रोह करने आरम्भ कर दिये । इब्राहीम शर्की ने दिल्ली सल्तनत के कुछ क्षेत्रो पर अधिकार कर लिया और मालवा का शासक महमूद खल्जी दिल्ली तक सेना लेकर आ गया । लाहौर के गवर्नर बहलोल लोदी ने ऐसी कठिन परिस्थिति मे सुल्तान मुहम्मद शाह की सहायता कर उस सकट से बचा लिया । सुल्तान ने बहलोल लोदी को 'फर्जन्द' पुत्र कहने लगा और उसे 'खानेखाना' की उपाधि दी । लोदियो ने इस स्थिति का लाभ उठाया और बहलोल ने दूसरे लोदी अमीरों की सहायता से दिल्ली सल्तनत के कुछ प्रदेशो को हथिया लिया । सुल्तान शक्तिहीन था इसलिये उसने विधिवत इन प्रदेशों को लोदियो को ही दे दिये । बहलोल अब अपने आप को पजाब का स्वतन्त्र शासक कहने लगा, यद्यपि खुतबा और सिक्के पर उसने अपने नाम का प्रयोग नहीं किया ।[2] इस अराजकता की स्थिति मे मुहम्मद शाह की मृत्यु हो गई ।

सुल्तान अलाउद्दीन आलम शाह व अमीर-वर्ग—मुहम्मद शाह की मृत्यु के बाद अमीरों ने उसके पुत्र अलाउद्दीन आलम शाह को सुल्तान बनाया । अपने पाच वर्ष (1445-50 ई) के शासन काल म उसका अमीरो से लगातार सघर्ष चलता रहा । सुल्तान और वजीर हमीदखा दोनो एक दूसरे के विरुद्ध षडयन्त्र रचने लगे । इस सघर्ष का बहलोल लोदी ने लाभ उठाया । हमीदखा ने बहलोल को आमन्त्रित किया कि वह सुल्तान का पद ग्रहण करे ।[3] सुल्तान अमीरों के षडयन्त्रों से घबरा

---

1 इलियट एण्ड डाउसन, जिल्द 4, पृ 81

2. ए बी पाड—फर्स्ट अफगान एम्पायर इन इण्डिया, पृ. 51

3. वही, पृ. 87

गया और अन्त में उसने 1447 ई. में बदायूं जाकर शेष जीवन वहीं बिताने का निश्चय किया। कुछ अमीर सुल्तान की इस कार्यवाही से सन्तुष्ट नहीं थे। वास्तविकता यह है कि सुल्तान राजधानी में स्वयं को असुरक्षित अनुभव करता था इसलिये बदायूं जाना अधिक उचित था, क्योंकि यह स्थान सुरक्षा की दृष्टि से उत्तम था।

सुल्तान की इस नीति के कारण प्रान्तीय अधिकारी अपने-अपने क्षेत्रों में बढ़ोतरी करने लगे। बहलोल लोदी ने पंजाब, दीपालपुर व सरहिन्द पर अपना अधिकार जमा लिया। अहमदखां मेवाती ने महरौली से लोदा सराय तक, दरियाखां ने सम्भल, ईसाखां ने कोल, कुतुबखां ने रापरी से भोगांव, इटावा व चांदवार आदि पर अधिकार कर दिल्ली की अधीनता से स्वयं को मुक्त कर लिया। दिल्ली सल्तनत में केवल दिल्ली से पालम तक का प्रदेश ही शेष बचा।

सुल्तान के बदायूं चले जाने पर अब अमीर आपस में ही लड़ने लगे। वजीर हमीदखां के विरुद्ध ईसाखां, राजा प्रताप व कुतुबखां ने षडयन्त्र रचा और इसकी हत्या की योजना बनाई परन्तु वजीर बच गया।[1] हमीदखां ने यह सोचा कि मालवा अथवा जौनपुर के शासकों में से एक को सुल्तान बनाकर वह समस्त शक्ति का उपभोग करता रहे, परन्तु दोनों ने ही नाम-मात्र का सुल्तान बनने से मना कर दिया। वजीर हमीदखां ने ऐसी स्थिति में बहलोल लोदी को दिल्ली में आमंत्रित किया। उसने इसे स्वीकार कर दिल्ली आते ही समस्त पदों पर अफगान अमीरों को नियुक्त किया। अफगान अमीर अभद्र, अशिष्ट समझे जाते थे और बहलोल इन्हीं को हमीदखां के विरुद्ध खड़ा कर सारी शक्ति स्वयं हड़पना चाहता था। अफगान अमीरों ने एक दिन हमीदखां को बन्दी बना लिया और उसके बाद बहलोल लोदी को (1451-89 ई.) विधिवत सुल्तान बनाया।

अमीर-व वर्ग लोदी वंश

सुल्तान बहलोल लोदी व अमीर-वर्ग—इल्बरी तुर्कों के समय से ही अफगान शासन में भाग लेते चले आ रहे थे। वे मुख्य रूप से सैनिक चौकियों पर नियुक्त थे। मुहम्मद तुगलक के समय में अफगान प्रान्तीय गवर्नर भी थे। फीरोज तुगलक ने मलिक बीर अफगान को बिहार का गवर्नर नियुक्त किया था। सैय्यद खिज्रखां के समय में सुल्तान शाह लोदी एक प्रतिष्ठित अमीर था। उसी के समय में अफगानों के अनेक वर्ग भारत आये। दौलत खां दोआब का, मलिक अल्लाह दाद सम्भल के गवर्नर थे। इस प्रकार बहलोल लोदी के सुल्तान बनने के पहले अफगानों का दिल्ली राजनीति में अच्छा प्रभाव था।

बहलोल लोदी को आरम्भ में विभिन्न अमीर वर्गों के विरोध का सामना करना पड़ा। सैय्यद अमीर-वर्ग भूतपूर्व सैय्यद सुल्तान अलाउद्दीन आलम शाह का पक्ष

1. वही, पृ. 53

बहलोल को अपहर्ता मानते थे। हमीदखाँ के समर्थक उसे पुन. वजीर बनाकर लाभ उठाना चाहते थे। तुर्की अमीर अफगानों से घृणा करते थे और उन्हें केवल सैनिक बनने के योग्य ही मानते थे। तुर्की और अफगानों में इतना अधिक वैमनस्य था कि खुतबा पढ़ने के समय मुल्ला कादान अफगानों को बुरा-भला कहते थे और फिर खुतबा पढ़ते थे।[1] बहलोल को अफगानों को नियन्त्रण में लाने में भी कठिनाई अनुभव हो रही थी, क्योंकि वे स्वतन्त्र प्रवृत्ति के थे और एक अफगान के द्वारा दूसरे अफगान के साथ स्वामी और सेवक के व्यवहार को पसन्द नहीं करते थे। उनके अनुसार समस्त अफगान सम्प्रभुता में बराबरी के अधिकारी थे।

सुल्तान और जौनपुर के शर्की शासकों के बीच संघर्ष का लाभ उठाकर अमीर-वर्ग अपने अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगा हुआ था। तुर्की और सैय्यद अमीरों ने सुल्तान का साथ दिया, जब कि अफगान अमीर, सम्भल का गवर्नर दरयाखाँ लोदी और रापरी का गवर्नर कुतुबखाँ कभी सुल्तान के साथ तथा कभी शर्की शासकों के साथ हो जाते थे। शर्की शासकों से प्रथम युद्ध के समय (1452 ई.) शर्की शासक के सेनापति दरयाखाँ लोदी ने गुप्त रूप से बहलोल लोदी से मिलकर उसकी विजय को सम्भव बनाया। मुबारिज खाँ, कुतुब खा और राजा प्रताप ने अनेक बार लोदियों और शर्कियों के बीच संघर्ष को बढ़ाया और फिर मध्यस्थता में भी *सक्रिय भाग लिया। बहलोल ने अमीरों को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया* परन्तु पूर्णतया वह इसमें सफल न हो सका। अफगानों के आत्माभिमान को बनाये रखने के लिये वह गद्दी पर नहीं बैठता था, बल्कि एक बहुत बड़े कालीन पर बैठता था। अफगान अमीरों को उसने 'मसनद-ए-आली' कहकर सम्बोधित करना प्रारम्भ किया। इसी कारण अमीर उससे सन्तुष्ट रहे। यदि कोई अमीर उससे अप्रसन्न हो जाता तो वह स्वयं उसके घर जाता था, अपनी तलवार को अनुपत कर देता था और कभी-कभी अपने साफे की पेटी को भी खोल देता देता था। वह अमीरों पर पूर्णतया आश्रित था, यहाँ तक कि प्रतिदिन किसी न किसी अमीर के घर से उसका भोजन आता था और घोड़े पर सवार होते समय कोई अमीर उसे अपना घोड़ा देता था।[2]

सुल्तान सिकन्दर लोदी व अमीर-वर्ग—बहलोल लोदी की मृत्यु पर अमीरों के तीन दल बन गये। एक दल उसके पुत्र निजामखा, दूसरा दल उसके दूसरे पुत्र बारबक शाह और तीसरा दल उसके पौत्र आजम हुमायूं को गद्दी पर बैठाने के पक्ष में थे। ईसाखा ने निजामखा का विरोध किया क्योंकि उसकी मा हिन्दू स्त्री थी परन्तु खानेजहाँ और खानेखाना फर्मूली के समर्थन से निजामखाँ को सिकन्दर शाह लोदी के नाम से सुल्तान (1489-1517 ई) बनाया गया।

1 आरखण्डे चौबे व श्रीवास्तव—मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति, पृ 168
2. आर. के. सक्सेना—सल्तनतकालीन शासन-प्रणाली, पृ 24

सिकन्दर लोदी को जौनपुर के गवर्नर बारबक शाह और कालपी के गवर्नर आजम हुमायूं से डर था। इसलिये उसने दूसरे अमीरों को सम्मानित कर उन्हें अपनी ओर मिला लिया। तत्पश्चात् उसने विरोधी अमीर आलम खां व ईसा खाँ के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की और उनको आत्मसमर्पण करने के लिये बाध्य किया। बदायूंनी[1] ने लिखा है कि सुल्तान विद्रोही अमीरों को दण्ड देने की अपेक्षा उनका केवल स्थानान्तरण कर देता था। अवध के गवर्नर अहमद खां, शिवपुर के गवर्नर अलीखां ने सिकन्दर के आदेशों का पालन नहीं किया, परन्तु फिर भी उन्हें दण्डित न किया गया और उनको केवल दूसरे स्थानों पर भेज दिया गया। इसके साथ ही वह अमीरों की गतिविधियों पर भी निगरानी रखता था, जिसका परिणाम निकला कि अमीरों के अधिकार काफी सीमित हो गये। उसने अमीरों के आचरण के लिये एक संहिता बनाई और आदेश दिया कि प्रत्येक अमीर शाही फरमान को प्राप्त करने के लिये अपने स्थान से 6 मील पैदल चलकर शाही फरमान को स्वीकार करे। उसने तख्त पर बैठना आरम्भ किया और अमीरों को ये आभास करवाया कि सुल्तान का पद उनसे ऊँचा है। निजामुद्दीन अहमद[2] ने लिखा है कि, "सिकन्दर लोदी की शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि यदि वह अपने किसी गुलाम को पालकी में बैठाकर अमीरों से उसे सम्मान प्रदर्शित करने को कहे तो अमीर बिना किसी हिचकिचाहट के उसके आदेश का पालन करेंगे।"

इन सब के बाद भी सिकन्दर, बहलोल द्वारा अमीरों की समस्त सुविधाओं को समाप्त नहीं कर सका। अफगानों का कबीले का ढांचा पहले जैसा ही बना रहा और वंशानुगत नियुक्तियाँ भी पूर्ववत होती रहीं। खवास खां के बाद उसका पुत्र मियांभुवा वजीर बना और कालपी में महमूद खां के बाद उसका बेटा जलाल खाँ वहां का उत्तराधिकारी बना। उसने अफगानों के सभी वर्गों के विशिष्ट अमीरों को बड़ी-बड़ी उपाधियां दीं।

सुल्तान इब्राहीम लोदी व अमीर-वर्ग—अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले सिकन्दर ने अमीरों को आमंत्रित किया। सम्भवतः वह ग्वालियर पर आक्रमण की योजना बनाना चाहता था, परन्तु उसको पूरा करने के पहले ही 1517 ई. में उसकी मृत्यु हो गई। उसके दोनों लड़के—इब्राहीम और जलाल वहाँ उपस्थित थे। अमीर वर्ग इब्राहीम से नाराज था क्योंकि वह उनके साथ अपने नौकरों जैसा व्यवहार करता था, परन्तु बड़ा होने के नाते गद्दी पर उसका अधिकार अधिक था। अमीर वर्ग यह नहीं चाहता था। उन्हें यह भी विश्वास था कि यदि वह सुल्तान बना तो उनके रहे-सहे अधिकार भी समाप्त हो जावेंगे, परन्तु उसको सुल्तान न बनाने की स्थिति में भयंकर गृह-युद्ध छिड़ जावेगा। इसलिये उन्होंने केन्द्रीय

1. बदायूंनी, वही, जिल्द 1, पृ. 317
2. निजामुद्दीन अहमद, तबकात-ए-अकबरी, जिल्द 1, पृ. 338

शक्ति को कमजोर करने के लिये तथा उसी अनुपात मे अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिये यह योजना रक्खी कि साम्राज्य का विभाजन कर दिया जावे। जलाल खा को पुराना शर्की राज्य दे दिया जावे और शेष इब्राहीम के अधिकार में रहे।

इस निर्णय के लेते समय अनेक अमीर उपस्थित नहीं थे। साम्राज्य के विभाजन को वो अफगानों के विरुद्ध मानते थे। इनमे रापरी का गवर्नर खानेजहा नूहानी सबसे सक्रिय था। पुन अमीरो की सभा बुलाई गई जिसमे जलाल खा को भी बुलाया गया। यह निर्णय लिया गया कि जलालखा दिल्ली के सुल्तान के अन्तर्गत जौनपुर का प्रशासन चलाये। जलालखा के समर्थक इस प्रस्ताव को रखने के पहले ही जौनपुर चले गये थे। इसलिये उसने इसको नही माना। स्वाभाविक रूप मे अब दोनो के बीच गृह-युद्ध अवश्यम्भावी हो गया।

इब्राहीम लोदी ने अमीरो के समर्थन से जलालखा को पराजित कर बन्दी बना लिया और बाद म उसकी हत्या कर दी गई। स्वय को सुरक्षित करने के बाद इब्राहीम लोदी ने अमीरों की शक्ति को कुचलने की योजना बनाई। उसने अमीरों और साधारण वर्ग के लोगों मे कोई भेद नहीं रक्खा और अमीरो को भी जनता की तरह दण्डित करने लगा। अमीर इस व्यवहार को सहन करने मे असमर्थ थे क्योकि बहलोल लोदी के बाद भी सिकन्दर लोदी ने यद्यपि अमीरो के अधिकारो को सीमित अवश्य किया था परन्तु अमीरो की प्रतिष्ठा पर कोई आच न आने दी थी। इब्राहीम लोदी ने अमीरो के अधिकारो को अत्यधिक सीमित करने के साथ ही उनके साथ दुर्व्यवहार आरम्भ कर दिया था। [illegible] था कि 'राजा का [illegible] सम्बन्धी नही होता।' बडे से बडे अमीर को भी दरबार मे खडा रहना पडता था। सुल्तान और अमीरो के बीच अविश्वास की खाई अधिक गहरी होती चली गई और यद्यपि अमीर बाह्य रूप मे उसके स्वामि-भक्त बने रहे, परन्तु अन्दर ही अन्दर वे उसके विनाश के लिए कार्य करने लगे।

इब्राहीम लोदी ने मियाँ मुआ, आजम हुमायु सरवानी तथा मिया हुसेन फर्मूली के साथ जिस प्रकार का दुर्व्यवहार किया उससे अमीर वर्ग इस निर्णय पर पहुचा कि सुल्तान उनके साथ कोई समझौता करने को तत्पर नहीं है। अत उसका विरोध करना ठीक था। आजम हुमायु को जलाल खा का साथ देने के कारण बन्दी बना लिया गया। उसने जलालखां का साथ छोड़कर उसका साथ देना आरम्भ कर दिया और यद्यपि वह सुल्तान के अत्यन्त स्वामि-भक्त सेवकों में गिना जाने लगा परन्तु फिर भी इब्राहीम ने उसको अपमानित किया। मिया हुसेन फर्मूली व मिया मुआ को भी बन्दी बना लिया गया। मियां मुआ के स्थान पर उसके लडके को वजीर बनाया गया।

इब्राहीम की इस नीति के कारण आजम हुमायु के पुत्र इस्लाम खा ने विद्रोह किया। इस विद्रोह को दबाने के लिए जो युद्ध हुआ उसमें इब्राहीम का

सफलता अवश्य मिली परन्तु इसकी कीमत उसे 10,000 श्रेष्ठ अफगानों के रक्त से चुकानी पड़ी।

सुल्तान अमीरों से सशंकित था, अतः उसने नवयुवक अमीरों को संरक्षण देना आरम्भ किया। उसने 'नूहानी', 'फर्मूली' आदि अफगानों को उपद्रवी मानकर 'नियाजी' और 'सूर' वर्ग के लोगों को उच्च पदों पर नियुक्त करने की नीति अपनाई। ये अत्यधिक महत्वाकांक्षी थे और इस प्रकार से समस्या का कोई समाधान न निकल सका। अमीरों और सुल्तान के सम्बन्ध मधुर नहीं बन सके। दूसरी ओर पूर्वी क्षेत्र के अमीर जिन्होंने इस्लामखां के विद्रोह को दबाया था, ये समझने लगे कि सुल्तान उनकी सहायता के बिना विद्रोहों को दबाने में असमर्थ रहेगा। कुछ समय समय बाद जब जेल में मियां भुआ और आजम हुमायूं की मृत्यु हो गई तो अमीरों ने इसमें सुल्तान का हाथ अनुभव किया। दरियाखां नूहानी को शक था कि सुल्तान उसके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करेगा, इसलिए उसने विद्रोह कर दिया। उसका यह विचार था कि सुल्तान उसे खतरनाक समझता है इसलिए उसके साथ भी वह अपमानजनक व्यवहार ही करेगा। जब सुल्तान ने कुछ पुराने अमीरों को बन्दी बना लिया तब अमीर उससे और अधिक सतर्क हो गये और ये सोचने लगे कि उनके सामने विद्रोह करने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं है।

बिहार के दरयाखां ने विद्रोह किया और उसको दबाने के लिए सुल्तान ने पंजाब के गवर्नर दौलतखां लोदी को बुलाया। सुल्तान यह समझता था कि लोदी होने के नाते वह नूहानियों के विद्रोह को दबाने में उसकी सक्रिय सहायता करेगा।[1] सुल्तान ने अपने फरमान में बुलाने का स्पष्ट कारण नहीं लिखा था, इसलिए दौलतखां को यह शंका हुई कि सुल्तान उसके साथ भी अन्य अमीरों की तरह दुर्व्यवहार करेगा। उसने दिल्ली की परिस्थिति को समझने के लिए पहले अपने पुत्र दिलावर खां को वहां भेजा। सुल्तान इससे अत्यधिक कोधित हो उठा और उसने आज्ञा दी कि दिलावरखां को दूसरे अमीरों की हालत, जो जेल में बन्द थे, दिखाई जावे। जब दिलावरखां वापस जा रहा था तो सुल्तान ने चेतावनी दी कि यदि उसका पिता भी उसकी आज्ञाओं की अवज्ञा करेगा तो उसके साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार किया जावेगा। दिलावरखां के विवरण को सुनकर दौलतखां स्वयं स्तम्भित था, परन्तु निर्बल होने के कारण कोई कार्यवाही करने में असमर्थ था। अतएव उसने काबुल से बाबर को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिये आमंत्रित किया।

अमीरों के दूसरे वर्ग ने आलम खां को अलाउद्दीन के नाम से सुल्तान घोषित किया और उसे इब्राहीम लोदी के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिए बाबर के

1. ए. बी. पाण्डेय, द फर्स्ट अफगान एम्पायर इन इण्डिया, पृ. 195

पास भेजा, क्योंकि बिना सहायता के इब्राहीम से लोहा लेना सम्भव न था।[1] बाबर स्वय ऐसे अवसर की तलाश मे था। इसलिए पूरी तरह से आक्रमण की तैयारी कर वह नवम्बर, 1525 ई. मे काबुल से रवाना हुआ और पजाब पर अधिकार करने के बाद अप्रैल, 1526 ई मे पानीपत के मैदान मे पहुच गया। सुल्तान को जब बाबर की गतिविधियो की जानकारी मिली, तो वह भी अपनी सेना सहित पानीपत पहुच गया।

इब्राहीम लोदी ने अमीरों से मत्रणा की तथा उन्हे बहुमूल्य उपहार दिये। उसने आश्वासन दिया कि बाबर के विरुद्ध विजयी होने पर वह अमीरो को पुन जागीरें प्रदान करेगा। अमीरो को सुल्तान के आश्वासनो पर कोई विश्वास नही रह गया था और इसीलिये वे युद्ध मे पूरी तन्मयता से नहीं लड़े। इब्राहीम लोदी न केवल पराजित हुआ अपितु युद्ध-क्षेत्र मे ही मारा गया। लोदी वश मे अब कोई ऐसा व्यक्ति न था जो अमीरो को पुन सगठित कर राज्य-स्थापना का पुन प्रयास करता। लोदी-वश की समाप्ति के साथ ही भारत मे मुगल-वश की स्थापना हुई।

---

1. ए बी पाण्डे, वही, पृ 202

अध्याय—7

सल्तनतकालीन उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति

पृष्ठ-भूमि—भारत के प्राकृतिक आकार ने यहां की सुरक्षा की समस्या को काफी न्यूनतम कर दिया था और विशेषकर उस समय में जब विध्वंसकारक साधन सीमित थे। भारत की सीमाओं में विशेषकर उत्तर-पश्चिम सीमा की इसके इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका रही, क्योंकि उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश के पहाड़ों में खैबर, बोलन, कुर्रम, तोची और गोमल के दर्रे भारत को अफगानिस्तान, मध्य-एशिया तथा ईरान जैसे दूरस्थ प्रदेशों से जोड़ते थे। मोटे रूप से भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा कीर्थर की श्रेणियों, सुलेमान पर्वत तथा हिन्दूकुश और हिमालय की चोटियों से मिलकर बनी है। इस आधार पर बिलोचिस्तान से कश्मीर तक की विस्तृत सीमा पर तुर्की-ईरानी नस्ल की बर्बर जातियां रहती थीं जिनकी बढ़ती हुई शक्ति भारत की सीमाओं से टकरायी और जिन्होंने भारत पर आक्रमण कर यहां की राजनीति को प्रभावित किया। विदेशी आक्रमणकारियों ने इसी ओर से भारत में प्रवेश किया। इस तरह उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति के दो पहलू हैं—दर्रों की सुरक्षा की व्यवस्था करना तथा दर्रों के पूर्व में पड़ने वाले कबाइली क्षेत्र में शान्ति बनाये रखना अथवा कबाइलियों का दमन करना।[1]

उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति के ये दो पहलू कोई नये नहीं थे, अपितु समय-समय पर इन्होंने विभिन्न रूप ले लिये थे। जब तक इस क्षेत्र के दोनों ओर के प्रदेश एक ही शासक के अधीन रहे तब समस्या सिकुड़ कर केवल इतनी ही रह गई कि आवागमन के मार्गों को सुरक्षित रखा जावे तथा कबाइलियों को सन्तुष्ट और नियन्त्रित रक्खा जावे। परन्तु जब इस सीमा अथवा क्षेत्र के दोनों ओर दो विभिन्न राजनीतिक शक्तियां उभर कर आईं, तब दोनों ओर के शासकों की विदेश-नीति को सीमा-नीति ने काफी प्रभावित किया। सीमा के बिल्कुल निकट एक आक्रामक और शक्तिशाली राज्य की स्थापना खतरे की घन्टी थी और उसका समाधान निकालना अत्यन्त आवश्यक था। समस्या के इसी पहलू ने महमूद गजनवी को पंजाब पर

1. यू. एन. डे, सम आस्पेक्ट्स ऑफ मेडिवल इण्डियन हिस्ट्री, पृ. 29

अधिकार करने के लिए प्रेरित किया । तत्पश्चात् इसी आधार पर मुहम्मद गोरी ने गजनवियों को पंजाब से निकाल बाहर करने की नीति को अपना कर उस प्रदेश को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने के लिए बाध्य किया ।

दिल्ली सल्तनत के लिए उत्तर-पश्चिम सीमा की समस्या मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद उठ खड़ी हुई, जब गोर का राज्य तितर-बितर हो गया और भारत में एक स्वतन्त्र तुर्की राज्य की स्थापना हुई । ख्वारिज्म-शासक ने गजनी को हस्तगत करके अपनी सीमायें सिन्धु नदी तक बढ़ा लीं । ख्वारिज्म-शासकों की ये कार्यवाही (जो मंगोलों के चंगेजखां के नेतृत्व में बढ़ने के कारण पैदा हुई) नव-स्थापित दिल्ली साम्राज्य के लिये एक महान् संकट थी । इससे न केवल मंगोल भारत की सीमाओं तक आ गये अपितु उनकी गतिविधियों ने तुर्कों को अपनी मातृभूमि से बिल्कुल अलग-थलग कर दिया । उनके लिए यह समस्या खड़ी हो गई कि यदि वे भारतीयों के द्वारा खदेड़ दिये गये तो उनके लिए अपनी मातृभूमि तक पहुंचना भी नितान्त असम्भव हो जायेगा । इसलिये वे अधिक सतर्क हो गये और मंगोलों के सम्भावित आक्रमण से सल्तनत की रक्षा के लिए तत्पर हुये । इल्तुतमिश से लेकर मुहम्मद बिन तुगलक तक सभी सुल्तानों ने उत्तर-पश्चिमी सीमान्त समस्या के समाधान हेतु सैनिकवादी नीति को अपनाया क्योंकि इसके अतिरिक्त उनके पास कोई दूसरा चारा न था । मंगोलों की खूंखार प्रवृत्ति ने समस्या को और अधिक गम्भीर बना दिया ।

मंगोल—मंगोल आततायी भयंकर रूप से बर्बर थे । हावर्थ[1] ने उनका वर्णन करते हुये लिखा है कि, "कुतुलखा के कण्ठ-स्वर की समानता पर्वतों में होने वाले वज्रनिर्घोष से की जाती है, उसके हाथ भालू के पंजों के समान थे और उनमें वह बाण की भांति किसी भी आदमी के दो टुकड़े सरलता से कर सकता था । जाड़े के दिनों में वह विशाल भट्टी के पास नग्न सोता रहता था और आग से निकले स्फुलिंगों की तनिक भी चिन्ता नहीं करता था । जागने पर आग से पड़े हुये दागों को कीड़ों का काटा हुआ समझता था । वह प्रतिदिन एक भेड़ खाता था और प्रचुर मात्रा में 'कुमी' (घोड़ी का पकाया हुआ दूध) पीता था । मंगोलों की दृष्टि में मनुष्य के प्राणों का कुछ भी महत्व न था, अपने वचनों की उन्हें कुछ भी चिन्ता नहीं रहती थी और अपनी पवित्रतम प्रतिज्ञाओं को भी वे निस्संकोच भंग कर देते थे तथा क्रुद्ध किये जाने पर अथवा प्रकृतिस्थ होने पर भी वे नृशंस अत्याचार करने में नहीं चूकते थे ।" अमीर खुसरो ने भी मंगोलों का वर्णन करते हुए लिखा है कि, "ये निरन्तर 40 घण्टे तक घोड़े की पीठ पर बैठकर यात्रा कर सकते थे । इनका शरीर काला और बदन पर सिर इस प्रकार से रखा था जैसे गर्दन ही न हो । इनकी आंखें अत्यधिक पैनी थीं और ऐसा लगता था कि वे तांबे के घड़े को बींध देंगी ।" ऐसी बर्बर जाति से लोहा लेना आसान नहीं था । चंगेजखां इन्हीं बर्बर मंगोलों में से एक

1. डा. ईश्वरी प्रसाद से उद्धरित, पृ. 149

था जिसने गोबी के रेगिस्तान तथा एशिया के घास के मैदान की बर्बर जातियों को अपने नेतृत्व में संगठित कर विद्युत वेग से मध्य तथा पश्चिम एशिया के देशों को रौंद डाला।

इल्बरी सुल्तान व उत्तर-पश्चिमी सीमा नीति—मंगोल आक्रमणों की समस्या सल्तनत के लिये चंगेजखां के उत्थान से शुरू होती है। ख्वारिजम के युवराज जलालुद्दीन मंगबर्नी का पीछा करते हुये मंगोल चंगेजखां के नेतृत्व में सिन्धु नदी के तट तक आ गये। जलालुद्दीन सिन्धु नदी को पार कर सिन्ध-सागर दोआब में आ गया परन्तु चंगेज ने दूसरे तट पर रहते हुये खुल्जियों के ईगराकी कबीले के विरुद्ध कार्यवाही शुरू की क्योंकि उन्होंने जलालुद्दीन को उसके विरुद्ध सहायता दी थी। जलालुद्दीन ने यहां से अपना एक दूत भेजकर सुल्तान इल्तुतमिश से सहायता की याचना की। इल्तुतमिश की स्थिति बड़ी ही दुविधापूर्ण थी। यदि वह मुस्लिम युवराज की प्रार्थना को ठुकरा देता है तो मुसलमान होने के नाते उसके लिये यह अशोभनीय होगा, और यदि वह उसे शरण देता है तो चंगेजखाँ नव-स्थापित तुर्की राज्य को तहस-नहस कर देगा। इल्तुतमिश ने चंगेजखां से शत्रुता मोल लेना उचित नहीं समझा। उसने दूत का वध करवा दिया और मंगबर्नी के पास दिल्ली की जलवायु की अनुपयुक्तता का उत्तर भेज उसे भारत से जाने के लिये विनम्र संदेश भेजा।

इल्तुतमिश से सहायता प्राप्त करने में असफल होने पर जलालुद्दीन मकीह-लाह की पहाड़ियों की ओर मुड़ा और वहाँ से अपने विश्वासपात्र सेनापति के साथ सेना की छोटी सी टुकड़ी खोखरों पर आक्रमण करने के लिये भेजी। खोखरों के नेता राय संजीन ने उसके सामने आत्मसमर्पण किया तथा अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया। अपने पुत्र के साथ उसने एक छोटी सी टुकड़ी जलालुद्दीन की सहायता के लिये भेजी। तत्पश्चात् जलालुद्दीन ने नासिरुद्दीन कुबाचा पर आक्रमण किया और उसे मुल्तान के दुर्ग में खदेड़ दिया। उसने पंजाब और सिन्ध पर अपना प्रभाव बढ़ाने की चेष्टा की और इस प्रकार कुबाचा की शक्ति को काफी क्षति पहुंचाई। उसी समय उसे यह सूचना मिली कि खुरासान में उसके समर्थकों की संख्या बढ़ रही है, वह 1224 ई. में सिन्धु पार कर स्वदेश लौट गया और कुछ ही समय बाद उसकी हत्या कर दी गई। जलालुद्दीन के पश्चिमी पंजाब में रहने के डा. यू. एन. डे के अनुसार दो स्पष्ट प्रभाव पड़े—इसने कुबाचा की शक्ति को कुचल दिया जिससे इल्तुतमिश को उसे पराजित करना सरल हो गया तथा इसने दिल्ली सल्तनत की सीमाओं को विदेशी आक्रमणों के प्रति उजागर कर दिया। डा. डे ने लिखा[1] है कि, "इल्तुतमिश की मृत्यु के समय उत्तर-पश्चिमी सीमा की स्थिति उसके गद्दी प्राप्त करने के समय से किसी प्रकार भिन्न नहीं थी। कुबाचा के प्रदेशों पर

1. यू. एन. डे, वही, पृ. 35

अधिकार करने के कारण दिल्ली सल्तनत की सीमाए मगोलो के प्रदेश से जा टकराई जिन्होने सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर अधिकार कर लिया था। इल्तुतमिश के निर्बल उत्तराधिकारियों तथा दरबार के षडयन्त्रो के कारण स्थिति और अधिक खराब हो गई।"

रुक्नुद्दीन फीरोज शाह के शासन काल मे सैफुद्दीन हसन कुर्लुग ने उच्छ पर आक्रमण किया, परन्तु असफल रहा। सुल्ताना रजिया ने मगोलो के प्रति अपने पिता की नीति अपनाई। उसने गजनी और बयाना के सूबेदार मलिक हसन कुर्लुग को मगोलो के विरुद्ध सहायता देने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार मगोलो से दिल्ली सल्तनत को बचाये रखा। रजिया की मृत्यु के पश्चात् सम्भवतया मगोलो और दिल्ली सल्तनत का व्यावहारिक समझौता समाप्त हो गया तथा मगोलो ने सिन्ध नदी को पार कर पजाब मे प्रवेश किया। 1241 ई. मे हिरात, गोर, गजनी व तुर्किस्तान का मगोलो का नेता बहादुर ताइर लाहौर तक पहुच गया। लाहौर का गवर्नर मलिक इख्तियारुद्दीन उसका सामना करने में स्वय को असमर्थ पाकर दिल्ली की ओर भाग आया। मगोलो ने लाहौर को लूटा और ध्वस्त किया। परन्तु मगोलो ने शीघ्र ही लाहौर को खाली कर दिया और उसके बाद खोखरो ने उसे जी भरकर लूटा। यद्यपि कुराकशखा ने खोखरो को खदेड दिया परन्तु वह लाहौर के वैभव को पुन स्थापित करने मे असफल रहा।

अलाउद्दीन मसूदशाह के शासन काल में लाहौर के इक्ता की पुन व्यवस्था की गई और इख्तियारुद्दीन उजबक-ए-तुगरिलखा के नेतृत्व मे इसे रखा गया। इस प्रकार लाहौर दिल्ली सल्तनत की सीमा-चौकी बन गया। दिल्ली सल्तनत की सीमायें सिकुड कर रावी नदी के तट तक ही रह गई और सिन्ध मे भी उसे ऐसे ही अपमान को सहना पड़ा।

1245 ई मे मगोलो ने मगूनह के नेतृत्व मे उच्छ पर आक्रमण किया। उच्छ के नागरिको ने दिल्ली सुल्तान से सहायता की याचना की जिसके फलस्वरूप उलुगखा को मगोलो के विरुद्ध भेजा गया। उसने उच्छ से मगोलो को खदेड कर सिन्ध मे पुन सुल्तान की सत्ता की स्थापना की। उलुगखा ने उच्छ और मुल्तान मे शासन को व्यवस्थित कर जूद के कबाइलियो के विरुद्ध कूच किया, परन्तु इसी समय दिल्ली मे सुल्तान मसूदशाह को अपदस्थ कर दिया गया था इसलिये वह शीघ्रता से दिल्ली लौट गया।

1246 ई मे पुन मगोलो ने आक्रमण किया और इस बार उन्हे 30,000 दिरहाम देकर वापिस लौटा दिया गया। 1247 ई मे सली बहादुर के नेतृत्व मे मगोलों ने पुन आक्रमण किया और मुल्तान को लूटकर उन्होने लाहौर पर भी धावा बोला। लाहौर को लूटने के बाद वे वापस चले गये।

इस समय बलबन सुल्तान नासिरुद्दीन के नाइब के रूप मे कार्य कर रहा था। उसने मगोलो के साथ मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। उसने

हसन कुर्लुग की पौत्री के साथ अपने पुत्र का विवाह करने का प्रयत्न किया और जमालुद्दीन खल्जी को इस हेतु भेजा। जमालुद्दीन का हलागू ने यथोचित सम्मान किया और 1260 ई. में अपना एक प्रतिनिधि दिल्ली भेजा। इन प्रतिनिधियों के आदान-प्रदान ने सौहार्द्र पूर्ण वातावरण पैदा किया और यदि मिनहाज[1] की बात बात को स्वीकार किया जावे तो हलागू ने अपने अधिकारियों को दिल्ली सल्तनत की सीमाओं का आदर करने के लिये आदेश दिये।

जब बलबन स्वयं सुल्तान (1265 ई.) बना तो उसने उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के लिये कुछ ठोस कदम उठाये। इसका कारण था कि मिस्र में हलाकू की पराजय ने मंगोलों की शक्ति यद्यपि क्षीण कर दी थी, परन्तु वे अलग-अलग गुटों में बंट गये थे और किसी भी समय पुनः तथाकथित आज्ञा के विरुद्ध दिल्ली की सीमाओं पर आक्रमण कर सकते थे।

सुल्तान ने आरम्भ मे अपने चचेरे भाई शेरखां को सीमा की सुरक्षा के लिये नियुक्त किया। प्रो. हबीबुल्ला ने शेरखां को एक महान योद्धा बताया है, परन्तु प्रो. निजामी का कहना है कि मिनहाज ने किसी भी ऐसे युद्ध का वर्णन नहीं किया है जिसके आधार पर यह स्वीकार किया जा सके कि शेरखां ने मंगोलों के विरुद्ध कोई सफलता प्राप्त की थी। इसके साथ ही साथ उसकी वफादारी सन्देहजनक थी जिसके कारण बलबन ने उसका वध करवा दिया।

शेरखां की मृत्यु के बाद लगभग 1271-72 ई. में बलबन ने समस्त सीमा को दो भागों में बांटा—पंजाब सीमा तथा सिन्ध-मुलतान सीमा। मुल्तान सीमा जिसमें लाहौर, मुल्तान व दीपालपुर के क्षेत्र थे शहजादा मुहम्मद के नेतृत्व में रखे गये तथा सुर्नम, समाना और उच्छ का क्षेत्र शहजादा बुगराखां को सौंपा गया। प्रत्येक शहजादे के साथ 18 हजार घुड़सवारों की एक शक्तिशाली सेना रखी गयी। व्यास नदी दिल्ली सल्तनत की सीमा रह गई। यद्यपि मंगोलों ने अनेक आक्रमण किये परन्तु शाही सेना ने उन्हें प्रत्येक बार पराजित कर वापिस लौटने के लिये बाध्य किया। बलबन ने इस सीमा की रक्षा के लिये अनेक नये दुर्गों का निर्माण कराया तथा पुराने दुर्गों की मरम्मत के लिये आदेश दिये। 1286 ई. तक शहजादा मुहम्मद ने मंगोलों का सफलता से सामना किया, परन्तु इसी वर्ष मंगोलों द्वारा अचानक घिर जाने के कारण उसकी मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् कैकुबाद को सीमारक्षक नियुक्त किया गया। कैकुबाद योग्य न था परन्तु फिर भी उसने दो बार मंगोलों का सामना किया और मंगोल लूट-मार करके वापिस लौट गये। बलबन के अन्तिम समय में जलालुद्दीन खल्जी को सीमारक्षक का पद दिया गया था, जो मंगोलों के साधारण आक्रमणों को रोकने में समर्थ रहा।

---

1. रेवर्टी, पृ. 862-63

इस प्रकार इल्बरी तुर्कों के समय मे (केवल इल्तुतमिश के राज्य-काल को छोड़कर) उत्तर-पश्चिमी सीमा रावी और ब्यास नदी के बीच ही बनी रही। ब्यास नदी सुल्तानो के प्रभाव-क्षेत्र में थी परन्तु रावी नदी उनके प्रभाव क्षेत्र से अलग ही रही। जब कभी मगोलो ने ब्यास नदी को पार करने का प्रयास किया तभी शाही सेनाओ ने उन्हें खदेड़ दिया। परन्तु इसके साथ ही सुल्तान की सेनाओ ने भी कभी मगोलो का पीछा करते हुये रावी नदी को पार करने की कोशिश नहीं की।

इल्बरी तुर्क उत्तर पश्चिम म कोई प्राकृतिक सीमा को निश्चित नहीं कर पाये जहा से वे आक्रमणकारी को खदेड सकें। पश्चिमी पजाब या तो मगोलों के प्रभाव क्षेत्र मे था अथवा वह तटस्थ प्रदेश माना जाता था। प्राकृतिक सीमा न होने के कारण ही इल्बरी तुर्क मगोलों की घुसपेठ को न रोक सके और इसीलिये मगोल कभी-कभी दिल्ली की सीमाओ तक पहुच जाते थे।

खल्जी सुल्तान व उत्तर-पश्चिमी सीमा नीति—सुल्तान बनने के पहले जलालुद्दीन खल्जी ने मंगोलो के विरुद्ध अपने सैनिक गुणों का परिचय दिया था। परन्तु सुल्तान बनने के बाद उसने उत्तरी पश्चिमी नीति के बारे में अपने पूर्वजो की ही नीति को अपनाया। सुल्तान और अहमद के बीच हुये वार्तालाप से यह स्पष्ट है कि उसके समय मे दिल्ली सल्तनत की सीमा मुल्तान थी जो इल्बारियों की भी सीमा रही थी।

सुल्तान बनने पर इसने आक्रमणकारियो के प्रति शान्ति और मित्रता की नीति अपनाई तथा सीमा सुरक्षा के महत्व को भुला दिया।

1292 ई. म हलाकूखा के एक पौत्र अब्दुल्ला के नेतृत्व म मगोलों न एक बडी सेना के साथ पजाब पर आक्रमण किया। स्वय जलालुद्दीन उसका मुकाबला करने के लिये सिन्धु नदी के तट तक गया। बरनी लिखता है कि दोनो सेनाओ के बीच झडपें हुई। उसके अनुसार सुल्तान इन झडपो मे विजयी रहा, परन्तु मगोलो और सुल्तान के बीच जो सन्धि हुई उससे बरनी के विवरण में शका होती है। जलालुद्दीन ने अब्दुल्ला को अपना पुत्र सम्बोधित किया और मगोलो को भारत म बसने की आज्ञा दे दी। चगेजखा के एक वशज उलगू ने अपने 4,000 समर्थको के साथ भारत म रहने का निश्चय किया और उन्होंने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया। बरनी के अनुसार सुल्तान ने अपनी एक लडकी का विवाह उलगूखा के साथ कर दिया।[1]

सुल्तान अलाउद्दीन खल्जी के समय म भारत पर मगोलो के भीषणतम आक्रमण हुये। भारत की सीमाओं की अस्थिर राजनीतिक स्थिति इनके लिये उत्तर दायी थी। चगेजखां की मृत्यु के पश्चात् उसके साम्राज्य का बटवारा हो गया था

---

1 बरनी, पृ 219 (इ॰ डे द्वारा उद्धरित)

और आपसी युद्धों के कारण मंगोलों की शक्ति पहले की तुलना में क्षीण हो गयी थी परन्तु फिर भी मंगोल एशिया में एक बड़ी शक्ति थे। गजनी और काबुल उनके अधिकार में था जहाँ से वे आसानी से भारत पर आक्रमण कर सकते थे। इस समय में मंगोलों ने भारत पर विजय करने अथवा बदला लेने की भावना से आक्रमण किये थे।

मंगोलों का पहला आक्रमण 1296 ई. में कादरखां के नेतृत्व में हुआ। इस समय उसके नेतृत्व में लगभग एक लाख मंगोल थे। सिन्धु नदी को पार कर वह तेजी के साथ दिल्ली की ओर बढ़ा। उलूगखां व जफरखां के नेतृत्व में भेजी गई सेना ने मंगोलों को जलन्धर के पास पराजित किया। लगभग 20,000 मंगोल युद्ध में मारे गये तथा अनेक पदाधिकारी, सैनिक आदि पकड़कर दिल्ली भेज दिये गये।

अलाउद्दीन के समय में मंगोलों का दूसरा आक्रमण 1299 ई. में हुआ जब कि उलूगखां व नसरतखां गुजरात की ओर गये हुये थे। सालदी सिन्ध के उत्तरी-पश्चिमी भाग तक पहुंच गया तथा सिविस्तान के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। जफरखां ने उन्हें पराजित कर उनके नेता को बन्दी बना लिया।

इसी वर्ष (1299 ई.) ट्रान्स-आक्सियाना के मंगोल शासक दवा ने अपने पुत्र कुतलुग ख्वाजा के नेतृत्व में दो लाख मंगोलों की सेना को सलदी की पराजय का बदला लेने के लिये भारत पर आक्रमण करने के लिये भेजा। अलाउद्दीन इस समय विश्व-विजय की योजना तथा नये धर्म को चलाने के विचारों में इतना डूबा हुआ था कि मंगोलों के आने की उसे कोई जानकारी ही न हो सकी। मंगोल कीली तक पहुंच गये। स्थिति कितनी दयनीय थी इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि कोतवाल ने अलाउद्दीन को सलाह दी कि मंगोलों को घूस देकर वापिस लौटा दिया जावे। परन्तु अलाउद्दीन ने इसे अस्वीकार कर युद्ध करने की नीति अपनाई। कीली के मैदान में युद्ध हुआ। मंगोल जफरखां के शौर्य से बहुत प्रभावित हुये। जफरखां युद्ध में मारा गया परन्तु मंगोल पहले दिन के युद्ध से ही इतने भय-भीत हो गये कि रात्रि को वे 30 कोस लौट गये और तत्पश्चात् भारत से चले गये। मंगोलों का चौथा आक्रमण उस समय हुआ, जब सुल्तान चित्तौड़ के युद्ध से वापिस लौटा ही था और उसकी एक बड़ी सेना वारंगल पर आक्रमण करने के लिये गई हुई थी। मंगोल नेता तार्गी ने 1,20,000 घुड़सवारों के साथ दिल्ली को घेर लिया। घेरा इतना कठोर था कि वारंगल से लौटती हुई सेना इस घेरे को तोड़ने में असमर्थ रही। समाना, सुनम, दीपालपुर और मुल्तान की सेनायें भी अलाउद्दीन को कोई सहायता न पहुँचा सकीं। यदि तार्गी थोड़े दिन घेरे को और चलाता तो सम्भवतः दिल्ली में हाहाकार मच जाता।[1] परन्तु मंगोल खुले मैदान में

1. यू. एन. डे, वही, पृ. 53

लड़ने के आदी थे और घेरे को अधिक समय तक चलाना उनके लिये सम्भव न था। फलस्वरूप दो महीने के घेरे के पश्चात् मगोलों ने दिल्ली और उसके निकटवर्ती प्रदेशों को लूटा और वापिस चले गये। इस आक्रमण ने सुल्तान को सचेत कर दिया। उसने सीरी के किले को दृढ़ किया, उसी को अपनी राजधानी बनाया तथा दिल्ली के किले की मरम्मत करवाई। उत्तर-पश्चिमी सीमा पर पुराने किलों की मरम्मत करायी तथा उनमें मन्जनिक आदि रखी। दीपालपुर और समाना में पृथक सेना रखी और उनके लिये पृथक सूबेदार नियुक्त किये। मगोलों के रास्ते में पड़ने वाले इक्ताओं में अनुभवी व विश्वासपात्र अमीरों को नियुक्त किया जिनके अधीन स्थायी सेना रखी गयी।

ये कार्यवाही पूरी भी न हो पाई थी कि मगोलों ने 1304 ई में अली बेग और तार्ताक के नेतृत्व में आक्रमण कर दिया। तार्गी भी इसमें सम्मिलित था। सीमा के किलों को छोड़कर मगोल अमरोहा तक आ गये। मलिक काफूर और गाजी मलिक ने उन्हें आसानी से रोक कर वापिस भागने पर मजबूर किया। भागती हुई सेना पर जबरदस्त आक्रमण किया गया और उनके नेता अली बेग व तार्ताक को बन्दी बना लिया गया। उन दोनों के सिरों को काटकर सीरी के किले की दीवार में चुनवा दिया गया।

1306 ई में अली बेग और तार्ताक की मृत्यु का बदला लेने के लिये मगोलों ने कबक के नेतृत्व में आक्रमण किया। मलिक काफूर और गाजी ने मगोलों का सामना किया और उनको पराजित किया। कबक को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया। 1307 ई में मगोलों ने पुनः आक्रमण किया परन्तु वे पराजित हुये और काफी बड़ी संख्या में मगोलों को बन्दी बना लिया गया। इसी समय गाजी मलिक को सीमारक्षक बनाया गया।

1307-08 ई. में मगोलों ने इकबालमन्द के नेतृत्व में आक्रमण किया। मगोल पराजित हुये और अनेक मगोल, स्त्रियां तथा बच्चे बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिये गये। दिल्ली में पुरुषों की हत्या कर दी गई तथा स्त्रियों तथा बच्चों को गुलाम बनाकर बेच दिया गया। अलाउद्दीन के समय में यह मगोलों का अन्तिम आक्रमण था। गाजी मलिक दीपालपुर और लाहौर की दिशा में मगोलों को रोकने में सफल रहा।

इस प्रकार सतलज, व्यास व रावी नदियां खल्जी अधिकार में रहीं। रावी के दूसरे तट का प्रदेश खल्जियों के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर था। मगोलों को रोकने के लिये दीपालपुर, समाना, सुनम व लाहौर महत्वपूर्ण सीमा चौकियां थी। बरनी के अनुसार सीमारक्षक मलिक गाजी प्रत्येक सर्दी के मौसम में काबुल, गजनी और कन्धार तक छापे मारता था और मगोलों के क्षेत्र में लूटमार करता था तथा कर भी वसूल करता था। मगोलों की आक्रमणकारी शक्ति काफी नष्ट हो चुकी थी।

तुगलक सुल्तान व उत्तर-पश्चिम सीमा-नीति—अलाउद्दीन खल्जी के बाद मगोलों के आक्रमण कम हो गये। गयासुद्दीन तुगलक के समय में मगोलों ने एक

आक्रमण किया। समाना के हाकिम गुर्शास्प ने सहायता की प्रार्थना की और दिल्ली से भेजी गई सेना ने मंगोलों को न केवल सीमाओं से खदेड़ दिया अपितु भारी संख्या में उन्हें बन्दी भी बनाया। मुहम्मद तुगलक के समय में 1327 ई. में मंगोलों ने तार्माशीरीन के नेतृत्व में आक्रमण किया और मुल्तान तथा लाहौर से लेकर दिल्ली तक के प्रदेश में लूटमार की। इसामी के अनुसार मंगोलों को मेरठ के निकट पराजित कर वापिस भेज दिया गया, परन्तु फरिश्ता के अनुसार मंगोलों को बहुमूल्य भेंट देकर वापिस किया गया था।

प्रो. निजामी के अनुसार मंगोलों का यह अन्तिम आक्रमण था। फीरोज तुगलक का शासन-काल मंगोलों के आक्रमणों से मुक्त रहा। इस समय तक मध्य-एशिया में मंगोलों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था और उनके नेता तिमूर ने वहां एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर मंगोल-प्रभाव को नष्ट कर दिया था। 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिल्ली सल्तनत की अत्यन्त दुर्बल स्थिति होने के बाद भी मंगोल उसके लिये कोई खतरा उत्पन्न न कर सके।

मंगोल आक्रमणों के प्रभाव

मंगोल आक्रमणों ने अप्रत्यक्ष रूप से दिल्ली की राजनीति को प्रभावित किया। मंगोल एक बर्बर जाति थी और क्योंकि वे शक्ति के आधार पर दिल्ली सल्तनत में लूटमार करने और बाद के समय में अपना राज्य स्थापित करने के स्वप्न देखने लगे थे, इसलिये आवश्यक था कि उनकी शक्ति का मुकाबला शक्ति से किया जावे। फलस्वरूप इल्तुतमिश से लेकर मुहम्मद तुगलक तक सुल्तानों ने सैनिक शक्ति को बढ़ाने का हर सम्भव प्रयत्न किया।

इस सैनिक शक्ति में बढ़ोतरी के कारण राज्य का स्वरूप ही सैनिक हो गया और सुल्तानों ने केवल आक्रमणकारी से रक्षा के उत्तरदायित्व के अतिरिक्त अपने दूसरे उत्तरदायित्वों को भुला दिया। राज्य से यह अपेक्षित था कि वो 'लोक कल्याणकारी कार्यों' की ओर ध्यान देगा परन्तु ऐसा न हो सका। सल्तनतकालीन प्रशासन का स्वरूप सैनिक ही बना रहा।

सैनिक व्यय की पूर्ति के लिये राजस्व के साधनों को ढूंढ निकालना जरूरी था और इसीलिये जैसे-जैसे मंगोलों के आक्रमणों की गति और शक्ति बढ़ती गई वैसे-वैसे राजस्व के नये साधनों को ढूंढ निकालने की गति में भी तेजी आई। अलाउद्दीन के समय राजस्व की बढ़ोतरी, बढ़ते हुये सैनिक-व्यय को पूरा करने की दिशा में एक कदम था। यह ठीक है कि अलाउद्दीन ने केवल मंगोलों के आक्रमणों को सफलता से रोकने के लिये ही राजस्व में बढ़ोतरी नहीं की थी, परन्तु यह भी ठीक है कि बढ़ोतरी में मंगोलों के आक्रमण भी महत्वपूर्ण कारण थे।

उत्तर-पश्चिमी समस्या के कारण अधिकतर सुल्तान विस्तारवादी नीति का अनुसरण नहीं कर सके। बलबन इन मंगोल आक्रमणों के भय से ही दिल्ली के

बाहर नहीं जा सका अन्यथा सल्तनत के विस्तार मे वह अलाउद्दीन से किसी प्रकार पीछे न था । अलाउद्दीन खल्जी ने बलबन की वैज्ञानिक सीमा-नीति का लाभ उठाकर न केवल मगोलो से टक्कर ली अपितु साम्राज्यवादी नीति को भी जमकर कार्यान्वित किया । मुहम्मद तुगलक ने भी अलाउद्दीन की नीति को अपनाना चाहा, परन्तु वह सफल न हो सका । इस असफलता मे निश्चित ही मगोलों का भय कम और उसकी चारित्रिक कमियों का योगदान अधिक था ।

इस प्रकार सल्तनत युग के अधिकतर भाग मे मगोल-आक्रमणो ने सुल्तानो को बडी ही दुविधा मे रखा । सल्तनत का यह सौभाग्य रहा कि मगोलों की गतिविधिया मात्र लूट-मार तक ही सीमित रही और वे सल्तनत के किसी प्रदेश पर स्थायी रूप से अधिकार करने में असफल रहे ।

अध्याय—8

केन्द्रीय प्रशासन का विकास

1192 ई. में मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज चौहान के बीच तराइन का द्वितीय युद्ध निर्णायात्मक कहा जा सकता है, क्योंकि इससे भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना सुनिश्चित हो गयी। परन्तु विजय को स्थायी बनाने के लिये एक व्यवस्थित शासन की भी आवश्यकता थी और भारत की तात्कालीन परिस्थिति में इसकी मांग और अधिक अनुभव की जाने लगी थी। तुर्कों द्वारा दिल्ली-सल्तनत की स्थापना एक ऐसे देश में की गयी थी जिसकी संस्कृति, शासन-तन्त्र और शासन की अनेकों समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण यहां की मान्यताओं से बिलकुल भिन्न था और इसलिए एक उचित प्रशासन की स्थापना और भी अधिक आवश्यक हो गई थी। समस्या का समाधान यहीं पर नहीं था अपितु उन्हें एक ऐसे देश में शासन की व्यवस्था करनी थी जो उनके लिये सर्वथा नया था। यदि ऐसे समय में एक ऐसे देश में प्रशासन स्थापित करने का प्रश्न होता जो पूर्ण-रूप से इस्लामी मान्यताओं पर आधारित हो तो सम्भवतः उनको प्रशासन में कोई कठिनाई नहीं होती, परन्तु यहाँ तो ऐसा नहीं था। अतः अब इस क्षेत्र में उनके पास केवल दो ही विकल्प थे—राजपूतों के आदर्शों अथवा स्वयं की परम्परागत मान्यताओं के आधार पर प्रशासन की व्यवस्था करना।

यदि वे जल्दी में न होते तो सम्भवतः पूर्व-व्यवस्था में समयानुकूल रद्दोबदल कर लागू कर सकते थे। परन्तु क्योंकि वे नये थे, यहां की शासन-व्यवस्था से अपरिचित थे और साथ ही उन्हें इस प्रशासन के आदर्शों पर आधारित प्रशासन-तन्त्र को स्थापित करने में समय लगता, इसलिए उन्होंने इस्लाम पर आधारित प्रशासन-व्यवस्था को लागू करना ही अधिक उचित और उपयुक्त समझा।

इस्लामी मान्यताओं के आधार पर प्रशासन करने के विकल्प को चुनने के बाद समस्या का पूर्ण समाधान न हो सका। यह अनुभव किया जा रहा था कि पैगम्बर अथवा उसके तात्कालीन उत्तराधिकारियों के आदर्श पर चलकर शान्ति व व्यवस्था बनाये रखना सम्भव नहीं था। इसके विरोध में ईरान के सम्राटों के आधार पर शासन को व्यवस्थित कर जन-साधारण को सुलतान की आज्ञाओं के अनुसार चलाना अधिक सरल दीखता था। इस आधार पर स्थिति अत्यधिक दुविधापूर्ण थी,

क्योंकि यदि उन्होंने पैगम्बर की परम्पराओं का पालन किया तो राजतन्त्र और शासन-व्यवस्था को एक साथ मिलाना सम्भव न होता। इसके विपरीत ईरानी सम्राटों के आदर्शों पर शासन को व्यवस्थित किया तो यह पैगम्बर विरोधी होता। इस्लामी देशों के शासकों ने इन दो विकल्पों में से ईरानी आदर्शों को ही चुना। इस तरह वे स्वयं की शक्ति की स्थापना के प्रति भी निश्चिन्त हो गये। इस्लाम में इस तरह राजतन्त्र अथवा राजपद के विचार का समावेश हो गया जो कि पैगम्बर के आदर्शों के विरोध में था। सुल्तान इसी का अंग बन गया।

सुल्तान

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के पश्चात् शासक ने सुल्तान की उपाधि धारण की जो प्रथम मुगल सम्राट बाबर द्वारा 'बादशाह' की उपाधि धारण करने तक चलती रही। सुल्तान की उपाधि बड़ी ही अस्पष्ट थी और समय-समय पर इसका अनेकों अर्थों में प्रयोग किया जाता रहा था। कुरान में इसका प्रयोग केवल भाववाचक रूप में किया गया है जो शक्ति अथवा सत्ता की परिचायक है।[1] परन्तु प्रथम हिजरी शताब्दी के अन्त तक इसका प्रयोग प्रान्त के गवर्नर के रूप में किया जाने लगा था। धीरे-धीरे यह शब्द उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा जिनको खलीफा की ओर से शासन का अधिकार सौंपा गया हो। खिलाफत के विघटन के साथ जिन विभिन्न प्रान्तों के शासकों ने स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर दिया, उन्होंने सुल्तान की उपाधि धारण कर ली। भारत में महमूद गजनवी के समय से ही इस उपाधि का उपयोग स्वतन्त्र शासक के लिए किया जाने लगा था। परन्तु केवल उपाधि धारण करने से समस्या का हल सम्भव नहीं था। सुल्तान की स्थिति सुरक्षित न थी। उसे अमीरों की वैमनस्यता के कारण अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड रहा था।

यदि अमीरों ने कुतुबुद्दीन और इल्तुतमिश के समय कोई नई कठिनाई खड़ी न करी तो इसका एकमात्र कारण था कि सुल्तान स्वयं को योग्य नेता प्रमाणित करने में सफल रहे और अमीरों ने उनके साथ सहयोग करने में ही अपने स्वार्थों को सुरक्षित पाया।

सुल्तान की कठिनाइयां

इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् अमीरों ने कठपुतली-शासक बनाने का प्रयास किया, क्योंकि वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि उनमें से एक सुल्तान के पद को सुशोभित करे। इजुद्दीन ने जब प्रभुसत्ता के चिन्ह धारण करना आरम्भ किये तो अमीरों ने इसका दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद किया और उसे अपने दावे का परित्याग करना पड़ा। डा त्रिपाठी का यह मत कि इल्तुतमिश के राजघराने में ताज और अमीरों

1. टी डब्ल्यू अरनाल्ड, द कलिफेट, पृ 202

के बीच सत्ता हथियाने का संघर्ष ही प्रमुख वैधानिक आकर्षण है अधिक युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि वास्तविक रूप में इस समय तक ताज ने अमीरों की अधीनता स्वीकार कर ली थी और वे आपस में ही अपने स्वार्थों को सुरक्षित रखने हेतु संघर्षरत थे। बलबन के मन्त्रिपद के काल में इसका बोध हो चुका था और इसलिए उसने अपने व्यक्तिगत सम्मान को बनाने के लिए सुल्तान को पृष्ठभूमि में रखा। इस काल में उसने अमीरों की शक्ति कम कर अपने अनुयायियों का एक नया दल बनाया और जब वह स्वयं शक्तिशाली हो गया तो उसने प्रभुसत्ता को स्वयं धारण कर लिया। बलबन के द्वारा गद्दी हथियाने की इस नीति ने सल्तनत-काल में एक परम्परा स्थापित कर दी और एक नहीं अनेकों शासक इसी आधार पर प्रभुसत्ता के स्वामी बन बैठे।

विदेशी और देशी मुसलमानों के बीच बढ़ती हुई कटुता सुल्तानों की कठिनाइयों का दूसरा कारण थी।[1] इस्लाम अंगीकार करने के पश्चात् ये नये धर्मावलम्बी स्वयं को तुर्कों के समान ही समझते थे। परन्तु तुर्क इन्हें निम्न मानकर प्रशासन में इनके साथ कोई साझेदारी करने को तत्पर न थे। इसलिए इन्होंने स्वयं को एक दल में संगठित किया। पहली बार यह दल इमामुद्दीन रायहान के नेतृत्व में उभरा जब उसके प्रभाव में आकर नासिरुद्दीन महमूद ने बलबन को कुछ समय के लिये सत्ता से अलग कर दिया। परन्तु यह प्रभाव क्षणिक सिद्ध हुआ और शीघ्र ही इस आपातकाल में तुर्कों ने संगठित हो रायहान की शक्ति का अन्त कर दिया। अलाउद्दीन के समय में मलिक काफूर का असफल प्रयास भी इसी दिशा में एक प्रयास था। नासिरुद्दीन खुसरोशाह द्वारा तुर्की अमीरों का दमन कर स्वयं प्रभुसत्ता धारण करने का प्रयास इसकी पराकाष्ठा थी।

सुल्तानों की तीसरी कठिनाई थी कि वे मध्य एशिया के किसी सम्मानित शासकीय-वंश से सम्बन्धित नहीं थे और इसलिये उनमें कोई वंशीय प्रतिष्ठा नहीं थी। तथा-कथित गुलाम-वंश मुहम्मद गोरी की नौकरशाही की उपज था, क्योंकि उसके अनेक गुलाम थे, इसलिये इल्तुतमिश को स्वाभाविक रूप से अपने सह-दासों के साथ किसी प्रकार का समझौता करना पड़ा। इसका अर्थ था कि ताज की पृष्ठ-भूमि में अमीरों की शक्ति को स्वीकार किया गया था। बलबन ने उनकी शक्ति का मटियामेट कर दिया, क्योंकि वह उनके अक्खड़पन को सहन करने के लिए तत्पर नहीं था। वह अनुभव करता था कि सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित करने के लिए गुलामों की शक्ति का दमन करना आवश्यक था। अपने वंशानुगत अधिकार की निम्नता को समझकर ही उसने स्वयं को अफ्रीसीयाब का वंशज बताया और ईरानी दरबार की साज-सज्जा व परिपाटियों को अपनाकर सुल्तान की प्रतिष्ठा को स्थापित

---

1. यू. एन. डे, गवर्नमेण्ट आफ द सल्तनत, पृ. 48

किया। जलालुद्दीन खल्जी के नेतृत्व मे खल्जी राज्य की स्थापना ने उस समस्त प्रतिष्ठा को खो दिया। जलालुद्दीन स्वय को आरिज से अधिक नही मानता था और यदि वह सुल्तान बनाया गया तो केवल इसलिये कि वह परिपक्व था तथा दलगत सेवाओं मे उसका योगदान अधिक था। परन्तु जलालुद्दीन की उदार नीति ने खल्जी अमीरो को सचेत कर दिया और उन्होंने अनुभव किया कि सुल्तान की उदार नीति उनके अस्तित्व के लिए घातक होगी, इसलिये अमीरों ने अलाउद्दीन का पक्ष लिया। यदि वह तानाशाही राजतन्त्र की स्थापना करने मे सफल हुआ तो इसका एकमात्र कारण था कि वह जनसमूह के सहयोग को, जो अमीरो के बोझ से पिस रहा था, जीतने में समर्थ हुआ। अलाउद्दीन को स्वय प्रतिशोधात्मक दण्ड का भागी होना पडा जब उसके परिवार के साथ भी मलिक काफूर तथा नासिरुद्दीन खुसरोखा ने ठीक वैसा ही व्यवहार किया जैसा उसने अपने चाचा व हितैषी जलालुद्दीन के साथ किया था। खल्जियों के पश्चात् तुगलक सत्तारूढ हुए। गियासुद्दीन तुगलक अपनी ओजस्विता तथा योग्यता के लिए अधिक मान्य था। सैयद और लोदी सुल्तान पूर्णतया अपने अमीरो के सहयोग पर निर्भर थे। लोदियों के काल मे सुल्तान की स्थिति इतनी गिर चुकी थी कि अमीर स्वय को राज्य व ताज का भागीदार मानने लगे।

सुल्तान के अधिकार तथा कर्तव्य

सुल्तान की स्थिति की इस विवेचना के पश्चात् उसके अधिकार और उत्तरदायित्वो की विवेचना करना आवश्यक है। शासन के क्षेत्र मे सुल्तान कार्यपालिका का अध्यक्ष, सर्वोच्च सेनाध्यक्ष, विधि-निर्माता व मुख्य न्यायाधीश था। राज्य की समस्त शक्तियाँ उसके हाथो मे केन्द्रित थीं और वह सम्पूर्ण प्रजा का शासक ही नहीं अपितु मुस्लिम वर्ग का धार्मिक नेता भी था।

मुस्लिम विधिशास्त्रियो के अनुसार सुल्तान के निम्न कार्य थे—

(1) इस्लाम की सुरक्षा करना;

(2) प्रजाजनो के विवादो और मतभेदो को निपटाना,

(3) इस्लाम के भू-प्रदेशो की रक्षा करना तथा यात्रियो के लिये यातायात के साधनो को सुरक्षित रखना;

(4) फौजदारी कानूनो को लागू करना तथा उन्हें बनाये रखना,

(5) मुस्लिम राज्य की सीमाओं को आक्रमणकारियों के विरुद्ध दृढ बनाना,

(6) काफिरों के विरुद्ध जिहाद छेडना,

(7) राज्यकरों को एकत्रित करना;

(8) सार्वजनिक कोष से सुपात्रो को भत्ता आदि देना;

(9) ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति करना जो उसे न्यायिक व सार्वजनिक कार्यों को पूरा करने में सहयोग दें;

(10) सार्वजनिक मामलों पर कडी निगरानी रखना और व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा लोगों की दशा की जानकारी रखना।

सुल्तान की इस अधिकार-सूची को देखकर सहज ही में ये अनुमान लगाया जा सकता है कि सुल्तान पूर्णतया स्वेच्छाचारी शासक था जिस पर कोई प्रतिबन्ध न था और जिसके आदेश ही कानून थे। प्रो. कुरैशी[1] ने ठीक ही लिखा है, "सुल्तान सार्वजनिक मामलों का नियन्त्रण करता है, अधिकारों की रक्षा करता है तथा दण्ड-विधान को लागू करता है। वह एक ऐसा ध्रुव-तारा है जिसके चारों ओर शासन चक्कर काटता है। अपने राज्य में वह ईश्वरीय संरक्षक है, उसकी छाया उसके सेवकों पर व्याप्त है, क्योंकि वह निषिद्ध बातों पर रोक लगाता है। वह अत्याचारियों का उन्मूलन करता है और कायरों अथवा भयग्रस्त लोगों को सुरक्षा प्रदान करता है।" पर व्यावहारिक रूप में सुल्तान द्वारा इन समस्त अधिकारों का स्वेच्छापूर्वक उपयोग करना संदिग्ध है। उसके अधिकारों पर एक नहीं अनेक प्रकार के अंकुश थे, जिनके अन्तर्गत ही उसे कार्य करना पड़ता था। पूर्ण निरंकुशता या तो तानाशाह के स्वप्न अथवा बुद्धिहीन की कल्पना में ही सम्भव है। प्रत्येक राजनीतिक शक्ति प्रत्येक काल में स्वयं अपने अस्तित्व के लिए राज्य मे विद्यमान शक्तिशाली तत्वों के सहयोग पर निर्भर करती है और दिल्ली-सल्तनत इस आधारभूत तत्व से किसी प्रकार भी अक्षुण्य नहीं रह सकती थी।

सुल्तान के विधि-निर्माण सम्बन्धी अधिकार अत्यधिक सीमित थे। वह अपनी प्रजा के व्यक्तिगत व धार्मिक कानूनों में हस्तक्षेप नहीं करता था। दोनों की ही अपनी विधि-व्यवस्थाएँ थीं जिनमे वे, अपने प्राणों के मूल्य पर भी, हस्तक्षेप स्वीकार करने को तत्पर न थे। सुल्तान इस क्षेत्र में अपनी असहाय स्थिति से अवगत थे और यद्यपि वे हिन्दुओं के कुछ रीति-रिवाजों के प्रति खिन्न थे, परन्तु फिर भी उनमें हस्तक्षेप करना अविवेकपूर्ण समझते थे। दण्डभाव के कारण वे शरा का भी निरादर नहीं कर सकते थे। वे अपने धर्मावलम्बियों की निष्ठा पर वहाँ तक ही विश्वास कर सकते थे जहाँ तक कि वे शरा का पालन कर रहे हों। इन निर्णयों का उल्लंघन करने पर मुसलमान विद्रोही हो सकते थे और सुल्तान स्वयं एक सफल विद्रोह के परिणामों से भिज्ञ था। नासिरुद्दीन खुसरवशाह को केवल इसी आधार पर सिंहासन से हाथ धोना पड़ा था, क्योंकि उसने अपने स्वेच्छाचारी व्यवहार से मुस्लिम जनमत को क्रुद्ध कर दिया था।

सैद्धान्तिक आधार पर यह विचार तर्क-संगत दिखते हैं परन्तु व्यवहारिक रूप में सुल्तानों ने हिन्दुओं के प्रति इस प्रकार की नीति नहीं अपनाई। उन पर अनेक प्रकार के अत्याचार कर जीवन को दूभर बना दिया। हिन्दु पवित्र स्थानों को अपवित्र करना अथवा धर्म के नाम पर उन पर अधिकार करना, कर लगाना आदि सिद्धान्त के आधार पर किसी प्रकार न्यायोचित नहीं ठहराये जा सकते। इस सम्पूर्ण

---

1. कुरैशी, आई. एच., द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द सल्तनत आफ देहली, पृ. 50

युग में इस्लाम राजधर्म बना रहा और सुल्तान इसी धर्म की रक्षा और व्यवस्था के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानता रहा। कुछ आधुनिक प्रगतिशीलवादी इतिहासकार इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं, क्योंकि उनके अनुसार धर्मतन्त्र राज्य की व्यवस्था का मूलाधार एक अभिषित पुरोहित वर्ग का होना आवश्यक है जो निश्चित ही सल्तनत-काल में विद्यमान नहीं था। ईसाई अथवा यहूदी राज्य में अभिषित पुरोहित वर्ग की उत्पत्ति धर्मतन्त्र के अन्तर्गत थी न कि राज्य इस धर्मतन्त्र द्वारा जन्मित था। इसी प्रकार यह कहना कि क्योंकि हिन्दू कानून, हिन्दू धर्म पर आधारित है इसलिए हिन्दू राज्य भी धर्म-तन्त्र था किसी प्रकार न्याय-संगत नहीं है, क्योंकि हिन्दू धर्म आदर्श और सम्भव के बीच एक साध्य है। यह ईश्वरीय प्रवचन की अपेक्षा मानवीय अनुभव पर आधारित था जो कि इस्लाम की मान्यताओं में ढूढन पर भी नहीं मिलता। इसके साथ ही यह तर्क करना कि शरा की श्रेष्ठता किसी भी राज्य को धर्म तन्त्र नहीं बनाती, भ्रमात्मक है।[1] सल्तनत के साम्प्रदायिक चरित्र पर डा. ए. एल. श्रीवास्तव के विचार अधिक सुलझे लगते हैं जब वे लिखते हैं कि, "सल्तनत हिन्दू धर्म जैसे अन्य किसी धर्म को मान्यता नहीं देती थी, जिसके अनुयायी राज्य की आबादी के बहुसंख्यक अंग थे। राजवंश तथा शासक-वर्ग इस्लाम के अनुयायी थे और सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य के सभी साधन इस धर्म की रक्षा और प्रचार के लिए थे। प्रत्येक मुस्लिम राज्य में इस्लाम के शास्त्रीय कानून ही सर्वोच्च होते हैं, व्यवहार-विधि उनके अधीन होती है और वास्तव में उसी में लीन हो जाती है। यद्यपि मुस्लिम उलेमा निर्दिष्ट तथा वंशानुगत नहीं थे किन्तु उतने ही धर्मान्ध व पक्षपातपूर्ण थे जितने कि पुरोहित हो सकते हैं और वे सदैव कुरान के कानूनों को कार्यान्वित तथा मूर्ति-पूजा और इस्लामद्रोह का मूलोच्छेदन करने पर जोर दिया करते थे। दिल्ली सल्तनत में शासकों का आचरण भी कुरान के नियमों द्वारा नियन्त्रित होता था। देश की समस्त जनता को मुसलमान बनाना, देशी धर्मों का मूलोच्छेदन करना तथा जनता को मुहम्मद का धर्म अंगीकार करने पर बाध्य कर दार-उल-हर्ब (गैर-मुसलमानों का देश) को दार-उल-इस्लाम (मुसलमानों का देश) में परिवर्तित करना था।"[2]

यद्यपि डॉ. श्रीवास्तव के विचारों में अधिक सत्यता है परन्तु फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिन्दुओं पर कुठाराघात करने पर भी सुल्तानों के लिए यह पूर्णतया सम्भव नहीं था कि उनकी भावनाओं की पूर्ण उपेक्षा कर दें। ऐसी स्थिति में शासन चलाना नितान्त असम्भव हो जाता और क्योंकि वे हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त करने में असमर्थ थे इसलिए कम से कम मुसलमानों का पूर्ण समर्थन

---

1 यू. एन. डे, वही, पृ. 34

2 ए. एल. श्रीवास्तव, भारत का इतिहास, पृ. 231-32

प्राप्त करने के लिए उलेमाओं को अपना विश्वासपात्र बनाये रखने की नीति उन्होंने अपनाई।

शासन को निर्बाध रूप से चलाने के लिए शासितों का सहयोग भी अवांछनीय था। शासन की शक्ति एक व्यक्ति में केन्द्रिभूत होना केवल एक कानूनी मिथ्या है। यथेष्ट सहयोग की अनुपस्थिति में किसी भी शासक के द्वारा अपनी आज्ञाओं को जनता पर थोपना सम्भव नहीं हो सकता और दिल्ली के सुल्तान इस तथ्य से पूर्णतया परिचित थे। इसीलिए राज्य के लाभ के लिए उन्होंने विभिन्न वर्गों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। वे ये जानते थे कि उनका अनुभव और तकनीकी ज्ञान राज्य की सेवाओं के लिए उपादेय था और इसलिए उनकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं था। सुल्तानों को अमीरों के सक्रिय सहयोग पर भी निर्भर रहना पड़ता था और अमीर-वर्ग भी अपने हितों की रक्षा हेतु सुल्तानों के साथ सहयोग करने को तत्पर था। उलेमा-वर्ग का मुस्लिमों पर प्रभाव होने के कारण सुल्तान उनके सहयोग को प्राप्त करने के भी इच्छुक रहते थे। सुल्तान की शक्ति अथवा शक्ति-हीनता के अनुपात में ही यह निश्चय करना सम्भव था कि उलेमा-वर्ग शासन पर किस रूप में हावी होती है। बलबन, अलाउद्दीन खल्जी, नासिरुद्दीन खुशरव शाह व मुहम्मद तुगलक जैसे शासक भी हुए जिन्होंने उलेमाओं को शासन की नीतियों को प्रभावित न करने दिया।

इसके अतिरिक्त राज्य के अनेकों विभागों में ऐसे कर्मचारी भी थे जिनके तकनीकी ज्ञान के आधार पर उनका सहयोग लेना आवश्यक था। सुल्तान पूरी तरह से कृषकों के प्रति उदासीनता की नीति भी नहीं अपना सकते थे। इनके अतिरिक्त राज्य की निर्णायक शक्ति मुस्लिम योद्धाओं में निहित थी जो सुल्तान को भारत में इस्लाम का संरक्षक मानकर उसकी महिमा को गौरवपूर्ण स्थान दिलाने के लिए अपना रक्त बहाने को तत्पर थे। सुल्तानों के लिए इन सबकी उपेक्षा कर सफलतापूर्वक शासन चलाना सम्भव नहीं था। यही कारण था कि जहां अलाउद्दीन खल्जी की आतंकित योजनाएँ इनके सहयोग से सफल हुईं वहां मुहम्मद तुगलक की तर्क-संगत योजनाएँ इनके असहयोग के कारण क्रियान्वित न की जा सकीं। वस्तुतः जनसाधारण का विद्वेष कभी भी अकारगर सिद्ध नहीं हुआ।

सुल्तानों को अनेक कारणों से अमीरों और सरदारों के सक्रिय समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता था। डा. कुरैशी का कहना है कि यूरोप में किसी भी सामन्त ने शाही शक्ति को इतना अंकुशित नहीं किया जितना कि भारत के अमीरों ने किया था।[1] मुस्लिम राज्य को एक अन्य देशीय राज्य के मध्य अपने अस्तित्व को बनाये रखना था जो कि धीरे-धीरे उनके नियन्त्रण के प्रति समादेय (सामंजस्य) होता जा रहा था। इस परिस्थिति में सुल्तान अपने शक्तिशाली अमीरों को नाराज कर स्वयं

1. आई. एच. कुरैशी, द एडमिनिस्ट्रेशन आफ द सल्तनत आफ देहली, पृ. 52

के लिए आपत्तियों को आमन्त्रित करने को तैयार नहीं था, और विशेषकर जब इन अमीरों के कबीले के अनुयायियों की संख्या अधिक थी और वे स्वयं एक नये राजवंश को स्थापित कर सकते थे। इसीलिए जब भी सुल्तान शक्तिशाली होता अमीर उसी अनुपात में शक्तिहीन हो जाते और सुल्तान के शक्तिहीन होने पर अमीरों का शक्तिशाली होना स्वाभाविक ही था। यदि बहलोल लोदी अपनी पगड़ी अमीरों को समर्पित कर सत्ता को बनाये रख सका तो अनुभवहीन इब्राहीम लोदी को इनके विरोध के मूल्य के रूप में अपनी गद्दी से हाथ धोना पड़ा। डा कुरैशी का यह कथन कि अमीर सुल्तान के माध्यम से इस्लाम की सेवा करना चाहते थे नितान्त भ्रामात्मक है क्योंकि यदि इस्लाम की सेवा और इनके स्वार्थों के बीच कोई टकराव पैदा होता तो वे सदैव ही अपने स्वार्थों की पूर्ति के प्रति लालायित रहते थे।

निर्वाचन के क्षेत्र में सुल्तानों द्वारा साधारण रूप ही अपनाया जाता रहा। राजधानी में अमीर, विद्वान व प्रभावशाली उलेमा किसी एक व्यक्ति को समर्थन दे उसे ही शासक घोषित कर देते थे और फिर वही जनता द्वारा निर्वाचित मान लिया जाता था। वस्तुत चुनाव केवल नाममात्र का ही था क्योंकि प्रत्याशी पहले ही अपनी विजय अथवा शक्ति के आधार पर चुनाव का सुनिश्चित कर देता था। इसमें केवल लाभ यही था कि सुल्तान को विधि वेत्ताओं का समर्थन प्राप्त हो जाता था और उसकी स्थिति वैधानिक हो जाती थी।

निर्वाचित राजतन्त्र के उपसिद्धान्त के अन्तर्गत किसी सुल्तान को अपदस्थ करना एक तर्क-संगत परिणाम था। अधिकतर विधिवेत्ता यह स्वीकार करते हैं कि यदि सुल्तान अपने दायित्वों को नहीं निभा पाता है तो उसे अपदस्थ किया जा सकता है। सब ही विधिवेत्ताओं ने मानसिक और शारीरिक अस्वस्थता की स्थिति में सुल्तान को हटाना स्वीकार किया है। नि सन्देह कभी कभी योग्य सुल्तान के विरुद्ध भी विद्रोह हुए परन्तु इनको कोई सक्रिय समर्थन नहीं मिला। साधारणत पिछला सुल्तान ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर जाता था परन्तु कई बार उसकी इच्छा को ठुकराकर भी किसी अन्य व्यक्ति को शासन सौंप दिया जाता था।

अफगानों ने उत्तराधिकार के सम्बन्ध में एक नई नीति आरम्भ की। तुर्कों में उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था। समय-समय पर निर्वाचन, मनोनयन, सफल क्रान्ति या वंशानुगत अधिकार का प्रयोग किया जाता रहा था। चुनाव का अर्थ यही स्वीकार किया जाता था कि जनता नये सुल्तान के नाम को चुनने में शामिल किये जाने का विरोध न करे। लेकिन लोदियों ने उत्तराधिकार के सम्बन्ध में अपनी परम्पराओं का पालन किया, जिसके अनुसार कबीले का प्रत्येक व्यक्ति नेता चुनने में भाग लेता था, परन्तु वह एक अथवा एकाधिक वंश विशेष से ही अपना नेता चुन सकता था। दिल्ली में अपनी शक्ति की स्थापना के बाद उन्होंने इसी परम्परा को निभाया। जब इस्लाम खाँ ने बहलोल लोदी को अपना

उत्तराधिकारी घोषित किया, तब अफगानों ने उसके निर्णय को अस्वीकार कर सम्भाव्य व्यक्तियों में से उनके गुण-दोषों को ध्यान में रख कर निर्णय करना चाहा। क्योंकि यह शान्तिपूर्ण ढंग से सम्भव नहीं हुआ इसलिए युद्ध हुआ और बहलोल को उसी समय सुल्तान स्वीकार किया गया जब वह पूर्णरूप से स्वयं को योग्य सिद्ध कर सका। बहलोल लोदी की मृत्यु पर निजाम खां को भी इसी प्रकार का सामना करना पड़ा। सिकन्दर लोदी उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मौन था इसलिए अमीरों को चुनाव में पूरी छूट रही और इन्हीं के निर्णय को अन्त में स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि अफगान-सामन्त उत्तराधिकारी का चयन राजवंश से ही करते थे, किन्तु वे अपनी बुद्धिनुसार सर्वाधिक उपयुक्त को ही चुनते थे। रक्त की शुद्धता, ज्येष्ठ पुत्र की वरिष्ठता, मनोनयन आदि का उन पर प्रभाव पड़ता था, किन्तु इससे उनके निर्वाचन-स्वातन्त्र्य पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। सुल्तान को चुनने की ये विधि समय पर उचित व्यक्ति का चयन करने में समर्थ हो सकी।

सुल्तान की शक्ति पर इन अंकुशों के होते हुए भी उसके कुछ उत्तरदायित्व थे जो समयानुसार परिवर्तित होते रहते थे। वह न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था जिसको वह काजियों की सहायता से पूरा करता था। बलबन पहला शासक था जिसने गम्भीरता से इसकी ओर ध्यान दिया। दोषी को दण्डित करने में उसके लिए कुलीन-वंश से सम्बन्ध अर्थहीन था। अलाउद्दीन और काजी मुगीसुद्दीन के बीच हुए वार्तालाप से स्पष्ट है कि सुल्तान से न्याय के पर्यवेक्षण की आशा की जाती थी। इब्न बतूता से यह जानकारी मिलती है कि मुहम्मद तुगलक सप्ताह में दो दिन दीवान-ए-खास में न्याय के लिए दरबार लगाता था।

न्याय के अतिरिक्त मध्यकाल के आरम्भिक वर्षों में सुल्तान का मुख्य कार्य सैनिक अभियानों का नेतृत्व करना था। यह युग विद्रोहों और षड़यन्त्रों का युग था और आवागमन के अपर्याप्त साधनों ने सुरक्षा और विजय को अधिक जटिल बना दिया था। सुल्तान साधारणतया स्वयं महान् सैनिक नेता होते थे जो अधिकतर व्यक्तिगत रूप में अभियानों का नेतृत्व करते थे अथवा राजधानी से ही उसे दिशा प्रदान करते थे। अलाउद्दीन के समय में मलिक काफूर और गियासुद्दीन तुगलक के समय में जूना खां ने शासक के निर्देश के अनुसार सफल अभियान किये थे। सफल अभियानों तथा राज्य की सुरक्षा-हेतु एक शक्तिशाली सेना की आवश्यकता थी और इसलिए सुल्तान सदैव ही ऐसी सेना को बनाये रखने के लिए इच्छुक रहते थे।

सुल्तान इन कार्यों को ध्यान में रखते हुए तथा राज्य की गतिविधियों की जानकारी हेतु गुप्तचरों की नियुक्ति करते थे। ये उनके प्रति ही उत्तरदायी थे। बलबन ने अपने पुत्र बुगराखां को समाना और सुनम का इक्तादार नियुक्त करते समय गुप्त रूप से उसकी गतिविधियों पर ध्यान रखने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति

की थी। अलाउद्दीन खल्जी ने न केवल इनकी सख्या की अपितु कार्यक्षमता को इतना अधिक बढ़ाया कि वे राज्य की प्रत्येक गली और सड़क पर मिलते थे और यदि बरनी के कथन को स्वीकार किया जावे तो इनका इतना अधिक आतंक था कि अमीर संकेतो में ही बातचीत करते थे। गुप्तचर अपने वरिष्ठ अधिकारियों के माध्यम से समस्त जानकारी सुल्तान को पहुँचाते थे।

साराश मे सुल्तान सम्पूर्ण शासन की धुरी था, और उसके अधिकार असीमित थे। परन्तु व्यवहारिक रूप मे वह राज्य के समस्त प्रश्न मजलिस-ए-आम अथवा मजलिस-ए-खलवत के सम्मुख रखता था। इसमे उसके विश्वासपात्र अथवा उच्चाधिकारी ही हुआ करते थे। राज्य के चार मन्त्री भी इसमे भाग लेते थे। परन्तु इस समिति को न कोई वैधानिक मान्यता ही थी और न ही सुल्तान के लिए यह आवश्यक था कि वह इसको आमन्त्रित ही करे। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नही था कि सुल्तान इसके निर्णयो को स्वीकार करे। यह केवल परामर्शक (सलाहकार) समिति ही थी लेकिन इसके बाद भी सुल्तान यह उचित समझते थे कि इसका परामर्श लें अथवा इनमें से किसी की व्यक्तिगत राय लें। बलबन ने अपने पुत्र मुहम्मद को ये सलाह दी थी कि वह सलाह किये बगैर कोई अभियान न करे। इसी प्रकार अलाउद्दीन खल्जी ने भी दिल्ली के कोतवाल की सलाह मानकर विश्व-विजय के विचार को त्याग दिया था। सुल्तान के दुर्बल होने पर इन सलाहकारो का शासन मे प्रभाव बढ जाना स्वाभाविक था।

मन्त्री—मुस्लिम विधि-शास्त्रियो ने मन्त्री अथवा सलाहकारो की आवश्यकता का अनुभव आरम्भ से ही कर लिया था और इस बात पर बल दिया था कि स्वय ईश्वर ने भी पैगम्बर को अपने अनुयायियो से सलाह लेने का आदेश दिया था। परन्तु धर्म-निरपेक्ष उमय्या खलीफाओ के अन्तर्गत इस लोकतन्त्रीय व्यवस्था मे अनेक परिवर्तन आ गये और अब्बासी खलीफाओ के नेतृत्व मे ईरानी राजतन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया। मुस्लिम विधिवेत्ता भी इस वातावरण से स्वय को अछूता रखने मे असमर्थ रहे। डा कुरेशी यह स्वीकार करते हैं कि मुस्लिम विधि-शास्त्रियो की असफलता इस्लाम के प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर लोकतन्त्रीय व्यवस्था को स्थापित करने मे अत्यधिक स्पष्ट है। इससे हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि यद्यपि मन्त्रियो की आवश्यकता तथा प्रयोजन पर बल दिया गया था, परन्तु कहीं पर भी उनको जनता के प्रतिनिधियो के रूप मे अथवा जनता के प्रति उत्तरदायी होने के रूप मे कानूनी स्वीकृति नही प्रदान की गई थी। खलीफाओ अथवा परवर्ती सुल्तानो ने मन्त्रियों की नियुक्ति राज्य के सेवको के रूप मे नही अपितु निजी सेवकों के रूप में ही की तथा उन्हें प्रशासन का कार्य सौंपा था।

मन्त्री केवल सुल्तान की इच्छा तक ही अपने पद पर बने रहते थे। मन्त्रियो का हित इसी में था कि वे सुल्तान को यह अनुभव करा दें कि वे योग्य हैं और इस

आधार पर राज्य के लिए अपरिहार्य हैं। सुल्तान उनके परामर्श को इसलिए नहीं सुनते थे कि वे इसके लिए बाध्य थे, अपितु इसलिए कि वे इसे बुद्धिमत्तापूर्ण नीति मानते थे और क्योंकि मन्त्रियों को अपने विभाग से सम्बन्धित दीर्घकालीन अनुभव हुआ करता था इसलिए वे बारीकियों से भिज्ञ थे। सुल्तान उनके अनुभव से लाभ उठा सकने में कोई हानि नहीं मानते थे पर आवश्यक नहीं था कि सुल्तान मन्त्रियों की सलाह के अनुसार ही कार्य करें अथवा वो स्वयं के निर्णय को कार्यान्वित न करें। अलाउद्दीन मन्त्रियों की सलाह को उस सीमा तक ही महत्व देता था जिस सीमा तक उनके विचार उसकी नीति से मेल खाते हों। उसकी विशेषता थी कि वह जिस क्षेत्र में स्वयं दखल नहीं रखता था, उसमें वह मन्त्रियों की सलाह को स्वीकार कर लिया करता था। मन्त्रियों की स्थिति न्यूनाधि सुल्तान के सेवकों जैसी थी परन्तु उससे यह निष्कर्ष निकाल लेना कि वे प्रभाव-शून्य थे न्याय-संगत नहीं होगा, क्योंकि उनकी स्थिति तथा अधिकार मुस्लिम कानून के द्वारा परिभाषित थे जिनको परम्पराओं ने पुनीतता प्रदान की थी। मन्त्रियों की महत्ता का आभास हमें नासिरुद्दीन बुगराखां द्वारा अपने पुत्र मुईजुद्दीन कैकुबाद को दी गई सलाह से स्पष्ट होता है।

मन्त्रियों की संख्या निश्चित नहीं थी और आवश्यकतानुसार इसमें अदल-बदल किया जाता था। मुस्लिम विधि-शास्त्रियों ने एक निरंकुश शासक के लिए शक्तिशाली वजीर के होने के विचार को स्वीकार किया है और इस बात पर बल दिया है कि विभिन्न राजकीय विभाग के अध्यक्षों को उसके निरीक्षण और निर्देशन में कार्य करना चाहिए। कानूननामा के अनुसार सरकार के चार स्तम्भ हैं—वजीर, काजी-ए-अस्कर, दफ्तरदार (वित्तमन्त्री) और निशानची (सेक्रेटरी)। मन्त्री इसके अतिरिक्त थे। महमूद गजनवी ने समानिद शासकों से ये प्रशासकीय संस्थाएं अपनाई। उसके समय में पांच महत्वपूर्ण मन्त्री थे, जो कि समस्त प्रशासनिक व्यवस्था की देखभाल करते थे। सुल्तानों ने गजनवी संस्थाओं की अनेकों बातें अपनाई और उन्होंने भी मन्त्रियों की नियुक्ति की जिनमें चार मन्त्री अधिक प्रतिष्ठित थे। गुलाम वंश के समय में क्योंकि तुर्कों की संख्या अत्यधिक कम थी इसलिए मन्त्रियों को एक से अधिक कर्त्तव्यों का निर्वाह करना पड़ता था, और इसी कारण इनके कर्त्तव्यों की सूची में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं थी। परन्तु जहां तक वजीर का प्रश्न है वह दिल्ली सल्तनत की स्थापना-काल से ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। जब बलबन ने प्रशासन-तन्त्र का गठन किया तो उसने मन्त्रियों के बीच कार्य-विभाजन की नीति अपनाई जो सल्तनत काल में किसी न किसी रूप में विद्यमान रही। इसीलिए बलबन के तुरन्त बाद उसके पुत्र बुगराखां को चार मन्त्रियों का स्पष्ट ज्ञान था। उसने अपने पुत्र कैकुबाद को भी चार मन्त्रियों की सहायता से शासन चलाने की सलाह दी थी। इन मन्त्रियों में वजीर का पद सबसे महत्व-पूर्ण था।

वजीर

सल्तनत युग म वजीर का पद यद्यपि स्थायी रूप मे विद्यमान रहा परन्तु उसके कर्त्तव्यो और अधिकारो म समय समय पर परिवर्तन होते रहे। गुलाम वश के आरम्भ मे वजीर का पद था, परन्तु इल्तुतमिश के समय मे उसकी छवि अधिक निखरी। उसके प्रथम वजीर को निजामुलमुल्क की सज्ञा से सम्बोधित किया जाता था और वह सैनिक अभियानो मे विशेष रूप से सक्रिय था। इसका अर्थ था कि इल्तुतमिश ने गजनवी परम्पराओं को अपनाकर वजीर के चयन मे सैनिक प्रतिभा को उचित स्थान दिया था। परन्तु उसका दूसरा वजीर फखरूलमुल्क इसामी एक वयोवृद्ध व्यक्ति था जिसका अर्थ था कि इल्तुतमिश ने सैनिक गुणों की अपेक्षा अनुभव और योग्यता पर अधिक बल दिया था। इस आधार पर डा त्रिपाठी का मत है कि इल्तुतमिश के समय मे वजीर का स्वरूप स्पष्टत प्रमाणित नहीं हो पाया था।[1]

इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियो के समय मे अनिवार्य रूप से वजीर की शक्तिया म वृद्धि हुई क्योकि दोना की शक्ति व्युत्क्रमानुपाती (Inversely Proportional) है। वजीर ख्वाजा मुहज्जब गजनवी शक्ति के इस केन्द्रीयकरण का प्रमाण है। बहरामशाह (1240-42 ई.) व अलाउद्दीन मसूदशाह (1242-46 ई) के राज्यकाल म उसने अत्यधिक शक्ति प्राप्त की और सम्भवत उसकी इस असीमित शक्ति ने ही राज्य के अमीरो, उलेमाओ आदि को उसके विरुद्ध कर दिया। सुल्तान की इच्छा के विरुद्ध भी अपने पद पर बने रहना उसकी कूटनीति की पराकाष्ठा थी। सुल्तान और वजीर की शक्ति की छीन-झपटी में जनमत सुल्तान द्वारा शक्ति ग्रहण करने के पक्ष मे था क्योकि वजीर के चुनाव मे अथवा उसके अपदस्थ करने मे उसका कोई हाथ न था, जबकि सुल्तान का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से उन्ही के द्वारा किया जाता था। परिणामस्वरूप उसकी गतिविधियों से तग आकर अमीरो ने उसका वध कर दिया।

बलबन के नाइब के कार्यकाल म वजीर नजमुद्दीन की शक्ति नगण्य हो गई क्याकि उसने सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के समय म समस्त शक्ति अपने हाथो मे केन्द्रित कर ली थी। सुल्तान केवल नाम मात्र का शासक रह गया था। जब आठ वर्ष पश्चात् नासिरुद्दीन ने बलबन की शक्ति पर अकुश लगाना चाहा तो दुर्भाग्य से नया प्रत्याशी मुहम्मद निजामुलमुल्क जुनैदी असफल व अयोग्य सिद्ध हुआ। बलबन ने परिस्थितियो का लाभ उठाकर स्वय गद्दी प्राप्त कर ली।

नाइब के रूप मे बलबन ने अनुभव किया कि वजीर का पद अत्यन्त प्रभावशाली व प्रलोभक है, इसलिए किसी ऐसे व्यक्ति को देना उचित न होगा जो अत्यधिक कुशाग्र व अभिलाषी हो अथवा शक्तिशाली सैनिक नेता हो। इसलिए उसने ख्वाजा

---

1 आर. पी. त्रिपाठी, सम आस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पृ 176

हसन जैसे औसत श्रेणी के व्यक्ति को वजीर नियुक्त करना अधिक उपयोगी समझा। इसके बाद भी उसकी पैनी निगाहों में शासन के प्रत्येक पक्ष को देखकर वजीर की शक्ति पर अनेक अंकुश लगा दिये और वह नाममात्र का अधिकारी ही रह गया।

खल्जियों के समय में भी वजीर की शक्तियों में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई। जलालुद्दीन खल्जी ने एक नया प्रयोग किया। उसने तीन भूतपूर्व वजीरों—ख्वाजा खातिर, ख्वाजा मुहज्जब व जुनैदी को अपनी उपस्थिति में बैठने की आज्ञा देकर सम्मानित किया और उनसे न केवल महत्त्वपूर्ण मामलों में सलाह ली, अपितु उनके विचारों को पूर्ण सम्मान भी दिया। नित्य-क्रम के लिए उसने वजीर का पद मलिक शादी को दिया। समकालीन इतिहासकार इस सम्बन्ध में मौन हैं कि ये प्रयोग कितने समय तक चला अथवा इसके क्या परिणाम निकले।

अलाउद्दीन ने जब मलिक काफूर को अपना नायब वजीर नियुक्त किया तब ही उसकी नीति में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। वही सुल्तान का वजीर स्वीकार किया जाने लगा। सम्भवतः उसकी सैनिक योग्यता इसमें निर्णायक तत्व थी और उसके पश्चात् यह अनुभव किया जाने लगा कि वजीर के पद के लिए सैनिक योग्यता एक निर्णायक शर्त है। शिहाबुद्दीन उमर और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के समय में अलाउद्दीन की परम्परा के अनुसार वजीर का पद सैनिक-नेता के हाथ में ही रहा और खुसरो खां (जो बाद में नासिरुद्दीन खुसरोशाह के नाम से सुल्तान बना) इस पद को सुशोभित करता रहा। डा. त्रिपाठी के अनुसार सम्भवतः उससे अधिक कोई दूसरा अयोग्य व्यक्ति इस पद पर सुशोभित नहीं हुआ था। नासिरुद्दीन मुबारकशाह ने अल्पकाल में अत्यधिक विवेक का परिचय दे मलिक वहीउद्दीन कुरैशी को अपना वजीर नियुक्त किया, जो कि बुद्धिमान था और इसने खल्जियों की नीति में एक स्वस्थ परिवर्तन किया।

गियासुद्दीन की नीति का जो कुछ भी अनुभव रहा हो परन्तु इतना स्पष्ट है कि उसके पुत्र मुहम्मद बिन तुगलक ने पुनः व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को लागू किया। उसने ख्वाजाजहाँ को वजीर बनाया जो उसके सम्पूर्ण शासन-काल में अपने पद पर बना रहा। उसकी नियुक्ति ने इस पद में पुनः जान फूंक दी। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि वजीर के पद के लिए कोई प्रभावशाली सैनिक नेता होना आवश्यक नहीं है क्योंकि आजीवन उसने हाथ में न तो धनुष ही पकड़ा, न ही युद्ध किया, यहां तक कि वह कभी तेज घोड़े पर भी सवार नहीं हुआ था।

फीरोज तुगलक ने खान-ए-जहां मकबूल को वजीर बनाया जो ख्वाजा जहां का नाइब रह चुका था। फीरोज को उसमें इतना विश्वास था कि वह समस्त राज-कार्य उसके हाथों में सौंपकर लम्बे समय तक राजधानी से अनुपस्थित रह सकता था। अपने शासनकाल के आरम्भिक छः वर्षों में वह केवल तेरह दिन ही राजधानी

वजीर

सल्तनत युग में वजीर का पद यद्यपि स्थायी रूप में विद्यमान रहा परन्तु उसके कर्त्तव्यों और अधिकारों में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे। गुलाम वंश के आरम्भ में वजीर का पद था, परन्तु इल्तुतमिश के समय में उसकी छवि अधिक निखरी। उसके प्रथम वजीर को निजामुलमुल्क की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था और वह सैनिक अभियानों में विशेष रूप से सक्रिय था। इसका अर्थ था कि इल्तुतमिश ने गजनवी परम्पराओं को अपनाकर वजीर के चयन में सैनिक प्रतिभा को उचित स्थान दिया था। परन्तु उसका दूसरा वजीर फखरूलमुल्क इसामी एक वयोवृद्ध व्यक्ति था जिसका अर्थ था कि इल्तुतमिश ने सैनिक गुणों की अपेक्षा अनुभव और योग्यता पर अधिक बल दिया था। इस आधार पर डा० त्रिपाठी का मत है कि इल्तुतमिश के समय में वजीर का स्वरूप स्पष्टतः प्रमाणित नहीं हो पाया था।[1]

इल्तुतमिश के दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में अनिवार्य रूप से वजीर की शक्तियों में वृद्धि हुई क्योंकि दोनों की शक्ति व्युत्क्रमानुपाती (Inversely Proportional) हैं। वजीर ख्वाजा मुहज्जब गजनवी शक्ति के इस केन्द्रीकरण का प्रमाण है। बहरामशाह (1240-42 ई.) व अलाउद्दीन मसूदशाह (1242-46 ई.) के राज्यकाल में उसने अत्यधिक शक्ति प्राप्त की और सम्भवतः उसकी इस असीमित शक्ति ने ही राज्य के अमीरों, उलेमाओं आदि को उसके विरुद्ध कर दिया। सुल्तान की इच्छा के विरुद्ध भी अपने पद पर बने रहना उसकी कूटनीति की पराकाष्ठा थी। सुल्तान और वजीर की शक्ति की छीन-झपटी में जनमत सुल्तान द्वारा शक्ति ग्रहण करने के पक्ष में था क्योंकि वजीर के चुनाव में अथवा उसके अपदस्थ करने में उसका कोई हाथ न था, जबकि सुल्तान का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से उन्हीं के द्वारा किया जाता था। परिणामस्वरूप उसकी गतिविधियों से तंग आकर अमीरों ने उसका वध कर दिया।

बलबन के नाइब के कार्यकाल में वजीर नजमुद्दीन की शक्ति नगण्य हो गई क्योंकि उसने सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के समय में समस्त शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित कर ली थी। सुल्तान केवल नाम-मात्र का शासक रह गया था। जब आठ वर्ष पश्चात् नासिरुद्दीन ने बलबन की शक्ति पर अंकुश लगाना चाहा तो दुर्भाग्य से नया प्रत्याशी मुहम्मद निजामुल्मुल्क जुनैदी असफल व अयोग्य सिद्ध हुआ। बलबन ने परिस्थितियों का लाभ उठाकर स्वयं गद्दी प्राप्त कर ली।

नाइब के रूप में बलबन ने अनुभव किया कि वजीर का पद अत्यन्त प्रभावशाली व प्रलोभक है, इसलिए किसी ऐसे व्यक्ति को देना उचित न होगा जो अत्यधिक कुशाग्र व अभिलाषी हो अथवा शक्तिशाली सैनिक नेता हो। इसलिए उसने ख्वाजा

---

1 आर. पी. त्रिपाठी, सम आस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 176

हसन जैसे औसत श्रेणी के व्यक्ति को वजीर नियुक्त करना अधिक उपयोगी समझा। इसके बाद भी उसकी पैनी निगाहों ने शासन के प्रत्येक पक्ष को देखकर वजीर की शक्ति पर अनेक अंकुश लगा दिये और वह नाममात्र का अधिकारी ही रह गया।

खल्जियों के समय में भी वजीर की शक्तियों में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई। जलालुद्दीन खल्जी ने एक नया प्रयोग किया। उसने तीन भूतपूर्व वजीरों—ख्वाजा खातिर, ख्वाजा मुहज्जब व जुनैदी को अपनी उपस्थिति में बैठने की आज्ञा देकर सम्मानित किया और उनसे न केवल महत्वपूर्ण मामलों में सलाह ली, अपितु उनके विचारों को पूर्ण सम्मान भी दिया। नित्य-क्रम के लिए उसने वजीर का पद मलिक शादी को दिया। समकालीन इतिहासकार इस सम्बन्ध में मौन हैं कि ये प्रयोग कितने समय तक चला अथवा इसके क्या परिणाम निकले।

अलाउद्दीन ने जब मलिक काफूर को अपना नायब वजीर नियुक्त किया तब ही उसकी नीति में परिवर्तन दिखाई पड़ता है। वही सुल्तान का वजीर स्वीकार किया जाने लगा। सम्भवतः उसकी सैनिक योग्यता इसमें निर्णायक तत्व थी और उसके पश्चात् यह अनुभव किया जाने लगा कि वजीर के पद के लिए सैनिक योग्यता एक निर्णायक शर्त है। शिहाबुद्दीन उमर और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के समय में अलाउद्दीन की परम्परा के अनुसार वजीर का पद सैनिक-नेता के हाथ में ही रहा और खुसरो खां (जो बाद में नासिरुद्दीन खुसरोशाह के नाम से सुल्तान बना) इस पद को सुशोभित करता रहा। डा. त्रिपाठी के अनुसार सम्भवतः उससे अधिक कोई दूसरा अयोग्य व्यक्ति इस पद पर सुशोभित नहीं हुआ था। नासिरुद्दीन मुबारकशाह ने अल्पकाल में अत्यधिक विवेक का परिचय दे मलिक वहीउद्दीन कुरेशी को अपना वजीर नियुक्त किया, जो कि बुद्धिमान था और इसने खल्जियों की नीति में एक स्वस्थ परिवर्तन किया।

गियासुद्दीन की नीति का जो कुछ भी अनुभव रहा हो परन्तु इतना स्पष्ट है कि उसके पुत्र मुहम्मद बिन तुगलक ने पुनः व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को लागू किया। उसने ख्वाजाजहां को वजीर बनाया जो उसके सम्पूर्ण शासन-काल में अपने पद पर बना रहा। उसकी नियुक्ति ने इस पद में पुनः जान फूँक दी। इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि वजीर के पद के लिए कोई प्रभावशाली सैनिक नेता होना आवश्यक नहीं है क्योंकि आजीवन उसने हाथ में न तो धनुष ही पकड़ा, न ही युद्ध किया, यहां तक कि वह कभी तेज घोड़े पर भी सवार नहीं हुआ था।

फीरोज तुगलक ने खान-ए-जहां मकबूल को वजीर बनाया जो ख्वाजा जहां का नाइब रह चुका था। फीरोज को उसमें इतना विश्वास था कि वह समस्त राज-कार्य उसके हाथों में सौंपकर लम्बे समय तक राजधानी से अनुपस्थित रह सकता था। अपने शासनकाल के आरम्भिक छः वर्षों में वह केवल तेरह दिन ही राजधानी

म रहा था। उसकी इस अपूर्व शक्ति का स्रोत जहा एक ओर सुल्तान का अडिग विश्वास था वहा दूसरी ओर उसकी गरिमा व व्यवहार कुशलता भी उत्तरदायी थी। बरनी का कथन है कि सुल्तान उसके काय से इतना प्रसन्न था कि वह अवसर कहा करता था कि खान ए-जहा ही वास्तविक रूप म शासक है। डा. यू एन ड की मान्यता है कि खान ए जहा मकबूल की वजारत सम्पूर्ण सल्तनत काल म वजीर की शक्ति की पराकाष्ठा बिन्दु है।

मकबूल की मृत्यु क पश्चात् वजारत का उत्तरदायित्व उसक पुत्र को सौंपा गया। उसन अपने पिता की गरिमा और परम्पराओं को अक्षुण्ण रखा। एक क्षेत्र में वह अपन पिता स भी श्रेष्ठ था। उसका पिता स्त्रियो म रुचि रखता था तथा धन सम्बन्धी मामलो मे भी उसकी ईमानदारी सदिग्ध थी परन्तु वह नितान्त ईमानदार था।

इस प्रकार से तुगलकों का राज्यकाल वजारत के लिए स्वर्णकाल था। फीरोज तुगलक के समय म तो सैद्धान्तिक आधार पर वजीर अशराफ मुमालिक (आडिटर जनरल) जैस अपने विभाग के अधिकारी को नियुक्त अथवा पदच्युत कर सकता था। फीरोज के समय में वजीर की शक्ति और प्रभाव का अनुमान इसी से आका जा सकता है कि जब षडयन्त्रकारियों के सम्मुख वजीर खान ए जहा मकबूल को समर्पण करना पडा और उसका वध कर दिया गया तब हा उसी के साथ फीरोज ने परोक्ष रूप स शासक-पद का अधित्याग भी कर दिया। अन्तिम तुगलक सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के शासनकाल म वकील ए सल्तनत नामक एक नय पद का उदय हुआ जो एक नागरिक अधिकारी क साथ ही सनिक अधिकारी भी था। आरम्भ म वकील ए सल्तनत स यह आशा की जाती थी कि वह वजीर की सहायता करेगा लेकिन धीरे धीरे उसने वजीर की समस्त शक्तियाँ अपने हाथो म कन्द्रित कर ली। वकील का पद थोडे ही समय रहा। परन्तु यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि एसे पद का सल्तनत काल म अस्तित्व रहा था।

सैय्यदों के समय म वजीर मुख्य रूप से एक सैनिक अधिकारी के रूप म उभरा। परन्तु इसके बाद भी वह वित्तीय उत्तरदायित्व से मुक्त नही हुआ। इसी सन्दर्भ में सैय्यद सुल्तानों न अपने वजीर ताजुलमुल्क सिकन्दर व मलिक दाऊद को सैनिक कार्यों के लिए नियुक्त किया। वजीर वास्तव म सेनाध्यक्ष क साथ ही वित्त मन्त्री और आडिटर जनरल भी था। स्वाभाविक रूप से शक्ति का एक ही हाथ म केन्द्रीयकरण होने क कारण वित्त-व्यवस्था को आघात पहुँचा होगा और इसीलिए मुबारक शाह ने अलग से ही आडिटर जनरल की नियुक्ति कर वजीर को एकमात्र वित्त की व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौंपा। वजीर शक्ति को इतनी आसानी से अपने हाथो से निकलते देखन को उद्यत नहीं था अत उसन सुल्तान क विरुद्ध षडयन्त्र रच उसका वध कर दिया अपने प्रत्याशी मुहम्मद शाह को गद्दी पर बैठाकर उसन राज्य की समस्त शक्तियों का अबाध रूप म उपयोग करना आरम्भ कर दिया।

सैय्यदों के उत्तराधिकारी लोदी सुल्तान कबीले तथा प्रजातन्त्रीय परम्पराओं में पाले गये थे और इस कारण वे तुर्की-राजतन्त्र के साज-सामान के प्रति अधिक रुचि नहीं रखते थे । उनकी शासन-व्यवस्था उमय्या खलीफाओं से मिलती-जुलती थी । वे वजीर की अपेक्षा विभिन्न कबीलों के प्रमुखों से मिलकर शासन चलाने में विश्वास करते थे । प्रथम लोदी शासक बहलोल ने सम्भवतः किसी वजीर की नियुक्ति नहीं की तथा समस्त साम्राज्य कबीलों में विभाजित कर दिया । व्यावहारिक रूप में कबीलों के प्रमुख अपने क्षेत्र में पूर्णतया श्रेष्ठ व स्वतन्त्र थे । बहलोल का यह कार्य सत्ता-प्राप्ति के पश्चात् अफगानों के सहयोग को आमंत्रित करते हुए दिये गये वचनों के अनुसार था । डा. त्रिपाठी के अनुसार बहलोल का ये विचार समकालीन भारतीय परिस्थितियों के लिए उतना ही प्रतिकूल था जितना कि साम्राज्य की शासित करने के लिए अपर्याप्त शासन-मशीनरी थी । इसलिए उसके पुत्र सिकन्दर लोदी ने अपने पिता से कुछ भिन्न नीति अपनाई । शहजादा काल में ही शेख सैय्यद फरमूली उसका वजीर था और सम्भवतः मियां भुवा भी वजीर की शक्तियों का उपयोग करता था । इब्राहीम लोदी के आरम्भिक काल में मियां भुवा ही उसका वजीर रहा । एक ओर इब्राहीम लोदी का स्वभाव तथा दूसरी ओर मियाँ भुवा के द्वारा स्वयं को राज्य के कोष का एकमात्र अभिरक्षक मानने के कारण, सुल्तान ने उसे बन्दी बना लिया तथा वजीर का पद उसके पुत्र को सौंपा । अफगानों के समय में वजीर का पद अल्पदृश्य ही बना रहा ।

दीवान-ए-वजारत—मुस्लिम राजनीतिक विचारकों ने वजीर के पद को अत्यधिक महत्व दिया है । उनकी ये मान्यता है कि वजीर के बिना कोई भी राज्य स्थायी और समृद्ध नहीं हो सकता । मुख्यतया वजीर चार प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष में से एक था परन्तु वजीर होने के नाते दूसरों की अपेक्षा उसका पद अधिक सम्मानित था । उसका विभाग दीवान-ए-वजारत की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था । सुल्तान का प्रमुख सलाहकार होने के नाते सुल्तान उसके लिए सुलभ था । सम्भवतः उसे एक निश्चित वेतन दिया जाता था क्योंकि आय अथवा राजस्व के रूप में आबंटन का कोई प्रमाण हमें नहीं मिल पाया है । मुहाजुबुद्दीन के द्वारा कोल के इक्ता पर अधिकार करना अनुचित स्वीकार किया गया है । मुहम्मद तुगलक के समय वजीर के लिए राजदेय भूमि का विवरण मिलता है जो ईराक के समान विस्तृत थी । उसके अधीनस्थ कर्मचारियों को भी वेतन के अतिरिक्त कुछ कस्बे अथवा गाँव प्राप्त थे जिनमें से निम्नतम को लगभग 10,000 टंक प्रतिवर्ष प्राप्त होते थे । प्रो. हबीबुल्ला का मत है कि इसमें असम्भाव्यता के अतिरिक्त अतिरंजिता भी विद्यमान है, क्योंकि 13वीं शताब्दी में इसकी कल्पना करना भी भ्रमात्मक होगा ।[1]

1. ए. बी. एम. हबीबुल्ला, फाउन्डेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृ. 236

वजीर क सामान्य कार्यों का वर्णन ग्रादबुल मुल्क न इस प्रकार किया है—राजा यह भली प्रकार जानता है कि ग्रभियानों का किस प्रकार नेतृत्व किया जावे ग्रन्य प्रदेशों को किस प्रकार विजित किया जावे लेकिन देश को समृद्ध बनाना कोष एकत्रित करना ग्रधिकारियों ग्रौर कर्मचारियों की नियुक्ति करना कारखाना म वस्तुग्रों का लेखा रखना घोड़ों ऊटों खच्चरों ग्रौर ग्रन्य पशुग्रों की गणना करना सेनाग्रों ग्रौर कलाकारों को एकत्र करना ग्रौर वेतन बाँटना लोगों को सन्तुष्ट रखना धर्मपरायण ग्रौर विद्वानों की देखभाल करना तथा उन्हें वृत्ति देना विधवाग्रों ग्रौर ग्रनाथों की रक्षा करना सावजनिक मामलों का प्रशासन करना कार्यालयों को सगठित करना ग्रौर उनकी प्रभावशीलता को बनाये रखना सक्षेप म राज्य क समस्त काय व्यापार को व्यवस्थित करना उसकी शक्ति से परे है।

इस लम्बी सूची से यह स्पष्ट है कि वह शासन का कर्णधार था परन्तु इन सामान्य उत्तरदायित्वों के अतिरिक्त उसका निकट का सम्बन्ध वित्त मन्त्रालय से ही था। इस ग्राधार पर लगान लगाने कर व्यवस्था का उचित रूप मे बनाये रखने के लिए ही वह ग्रधिक सक्रिय था। क्योंकि उसका काय क्षेत्र ग्रधिक व्यापक था इसलिए उसकी सहायता हेतु एक नाइब वजीर होता था। लेखा परीक्षा क लिए मुशरिफ ए मुमालिक (महालेखाकार) मुस्तफी ए ममालिक (महालेखा परीक्षक) नामक ग्रधिकारी होते थे। मजूमदार लोगों को दिए गये तकावी ऋण का लेखा जोखा रखता था ग्रौर खजीन नकद रुपया रखता था। जलालुद्दीन खल्जी के समय म दीवान ए वक्फ नामक विभाग खोला गया था जो खच सम्बन्धी पत्रों को देखता था। इस नय विभाग के कारण ग्राय सम्बन्धी विभाग खच सम्बन्धी विभाग से पूर्णतया ग्रलग हो गया तथा खर्च पर ग्रब ग्रपेक्षाकृत ग्रधिक निरीक्षण सम्भव हो सका था। तत्पश्चात् यह एक ग्रलग ही विभाग बना दिया गया। इसके अतिरिक्त ग्रलाउद्दीन खल्जी ने दीवान ए मुस्तखराज नामक विभाग की वित्त विभाग के ग्रन्तगत स्थापना की जिससे कि ग्रधिक भू राजस्व प्राप्त किया जा सके। मुस्तखराज का काम था कि वह कर उगाहने वालों के नाम निकलने वाले बकाया की जानकारी करे तथा उन्ह वसूल करे। उसे दाण्डिक ग्रधिकार प्राप्त थ ग्रौर ऐसा ग्रनुभव होता है कि वह उनका प्रयोग करता था। तत्पश्चात् मुहम्मद तुगलक ने दीवान ए ग्रमीर कोही नामक विभाग की स्थापना की। यह विभाग बगर जोती हुई भूमि को प्रत्यक्ष ग्रार्थिक सहायता व राजकीय व्यवस्था देकर उपज के योग्य बनाता था।

राजस्व विभाग सम्बन्धी कार्यों क ग्रतिरिक्त वजीर साधारण रूप म समस्त शासन व्यवस्था पर नजर रखता था। सावजनिक प्रशासन का कोई विभाग उसके कायक्षेत्र स बाहर नहीं था ग्रौर सर्वाधिक शक्तिशाली मुक्तादार से लेकर निम्न स्तरीय कृषक तक उसस ग्रौर उसक सहायकों म सम्पर्क रहता थ। स्वाभाविक रूप मे यह माना जाता था कि उसने ग्रपनी प्रत्येक नीति क लिए सुल्तान की पूव स्वी

कृति प्राप्त कर ली है। उसके कोई न्यायिक अधिकार न थे परन्तु वजीर होने के नाते सेना का संगठन और व्यवस्था उसके प्रभाव क्षेत्र में थी। वित्त मन्त्री होने के कारण वह वेतन वितरित करता था और कार्यों का आवंटन करता था। कभी-कभी वह युद्ध में सेना का नेतृत्व भी करता था।

वह प्रशासनिक सेवकों की नियुक्ति व निरीक्षण करता था तथा व्यय के सम्पूर्ण मदों पर पूरा नियन्त्रण रखता था। वह अपने सहायकों के द्वारा हिसाब आदि की जांच करता था तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा अवैधानिक रूप में खर्च किये गये धन को वसूल करने का प्रबन्ध करता था।

इस प्रकार से वह सुल्तान के बाद राज्य की शासन व्यवस्था के लिए उत्तरदायी था और यदि अफीफ के विचार को स्वीकार किया जावे तो, यदि कोई दीवान-ए-वजारत के कार्यों का विवरण प्रस्तुत करे तो उसे एक पुस्तक लिखनी पड़ेगी। परन्तु इसके बाद भी मावर्दी ने जिस 'वजीरुल तफवीज' की श्रेणियों को जन्म दिया था उसकी तुलना में सल्तनत काल के शक्तिशाली वजीर की भी शक्ति अत्यधिक न्यूनतम थी।

दीवान-ए-आरिज—राज्य के सेना-विभाग का अधीक्षक दीवान-ए-आरिज या दीवान-ए-अर्ज कहलाता था। दिल्ली-सल्तनत मुख्यतः एक सैनिक राज्य था जो केवल शक्ति के आधार पर ही सुरक्षित रखा जा सकता था। इससे हम इस विभाग की महत्ता का अनुमान लगा सकते हैं। आरिज ही अधिकांशतः सेना के अनुशासन और उसकी कार्यक्षमता के प्रति उत्तरदायी था। उसका मुख्य कार्य सैनिकों की भर्ती करना, उनकी साज-सज्जा तथा युद्ध-कुशलता को देखना था। वह घोड़ों का स्वयं निरीक्षण करता था तथा सैनिक को भर्ती करने के पहले उसका परीक्षण करता था। घोड़ों को दागने का उत्तरदायित्व भी उसी का था। युद्ध के समय वह अथवा उसका नाइब सैनिकों की रसद अथवा उनके आवागमन का प्रबन्ध करता था। युद्ध में प्राप्त हाथी अथवा लूट के माल की व्यवस्था करना भी उसी का कार्य था। सैनिकों की कार्य-कुशलता को देखने के लिए वह कभी-कभी मौन युद्ध की भी व्यवस्था करता था, जिससे कि वह प्रान्तीय इक्तादारों द्वारा भेजी गई सैनिक टुकड़ियों की कार्य-क्षमता को आंक सके।

आरिज को अधिकार था कि वह किसी सैनिक के वेतन में बढोतरी कर दे, और इसीलिए उसे वजीर के आर्थिक अंकुश से मुक्त कर रखा था। बलबन का आरिज इमादुलमुल्क स्वयं अपने साधनों से सैनिकों को पुरस्कृत करता था और अपनी इस कर्तव्यनिष्ठा के लिए वह सुल्तान की सराहना का पात्र था। बरनी के विवरण के अनुसार आरिज यदाकदा अपने सहायक अधिकारियों को आमन्त्रित कर उनसे सैनिकों के वेतन का दुरुपयोग न करने अथवा मुक्तियों के प्रतिनिधियों से घूस न लेने की प्रार्थना करता था। इससे यह अनुमान लगता है कि उस समय घूस लेने-

देने की प्रथा अधिक प्रचलित थी और यदि बरनी के विवरण को स्वीकार किया जावे तो स्वय फीरोज तुगलक ने एक सैनिक को घोडा पास करवाने हेतु अधिकारी को एक टक रिश्वत देने के लिए अपने पास से यह धन दिया था। सम्भवत भूमि के आवटन के रूप म वेतन प्राप्त होता था क्योंकि बरनी के अनुसार बलबन के आरिज इमादुलमुल्क ने स्वय के इक्ता म से सार्वजनिक कामों के लिए गाव दिये थे।

आरिज पदेन अप प्रधान सेनापति नहीं था। अलाउद्दीन के समय काफूर द्वारा वारगल के अभियान म आरिज उसका सहायक बनाकर भेजा गया था। इसी प्रकार गियासुद्दीन तुगलक के समय में मुहम्मद तुगलक के साथ आरिज सहायक के रूप म ही भेजा गया था। इसके अतिरिक्त सेना का महासेनापति स्वय सुल्तान होता था, इसलिए सामान्यतया आरिज को शाही सेना का सेनापतित्व नहीं सौंपा जाता था। उसे सेना के किसी भाग का नेतृत्व दे दिया जाता था। दीवान-ए-आरिज का मन्त्रालय इतना महत्वपूर्ण था कि कई बार सुल्तान स्वय इस विभाग से सम्बन्धित अनेक कार्य किया करता था। अलाउद्दीन खल्जी इस मन्त्रालय पर निजी तौर से ध्यान देता था।

दीवान-ए-इशा—प्रो. हबीबुल्ला के अनुसार तीसरा मन्त्रालय शाही पत्र-व्यवहार का था। मिनहाज ने इसको दीवान-ए-अशरफ की सज्ञा दी है जो साधारण रूप म 'दीवान-ए-इंशा' पुकारा जाने लगा। इसके अध्यक्ष को दबीर-ए-मुमालिक कहा जाता था। शाही घोषणाओं और पत्रों के मसविदे तैयार करना इसी विभाग का काम था। उसी के द्वारा सुल्तान के फरमान जारी होते थे। वह केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन के बीच कड़ी था इसलिए उसे बड़ी ही सतर्कता से काम करना पड़ता था और विशेषकर उस समय जबकि सल्तनत के विभिन्न भागों में षडयन्त्र करना एक साधारण सी घटना थी। इन कार्यों को करने के लिए उसके पास अनेक सचिव होते थे जिनको दबीर कहते थे। इनके अध्यक्ष को सदरून-मुहक कहते थे। सुल्तान के व्यक्तिगत दबीर को दबीर-ए-खास कहा जाता था। उसका काम सुल्तान के साथ रहने के अतिरिक्त उसके पत्र-व्यवहार को व्यवस्थित करना था। फतहनामा लिखने का कार्य भी उसी का था। साहिब-ए-दीवान ए-इशा सुल्तान के घनिष्ठ सम्पर्क में था तथा वही समस्त राजकीय रेकार्ड रखता था। क्योंकि दीवान ए-इशा का कार्य अत्यधिक गुप्त प्रकृति का था इसलिए इसका अध्यक्ष बहुत ही विश्वसनीय पदाधिकारी होता था।

दीवान ए-रसालत—चौथा मन्त्रालय दीवान-ए-रसालत कहलाता था। इतिहासकार इस मन्त्रालय के कार्यों के सम्बन्ध म एकमत नहीं हैं। प्रो. हबीबुल्ला की मान्यता है कि वह विदेशी मामलों से सम्बन्धित था। अत इसका कार्य-क्षेत्र कूटनीतिक पत्र-व्यवहार और विदेशों स आने वाले अथवा विदेशों म भेजे जाने वाले

राजदूतों से सम्बन्धित था । डा. कुरैशी का मत है कि इस मन्त्रालय का सम्बन्ध धार्मिक विषयों से था और धार्मिक व्यक्तियों तथा विद्वानों को जो वृत्ति प्रदान की जाती थी वह इसी विभाग द्वारा दी जाती थी । डा. आशीर्वादीलाल, प्रो. हबीबुल्ला के मत को मानते हैं क्योंकि सल्तनत काल में एक ही काम के लिए दो विभिन्न पदाधिकारियों को रखना उचित नहीं दिखता है । धार्मिक आदि कार्यों के लिए सदर-उस-सुदूर हुआ करता था इसलिए इस मन्त्रालय का यह काम करना कठिन प्रतीत होता है । अलाउद्दीन खल्जी के समय में दीवान-ए-रियासत नामक विभाग को ही दीवान-ए-रसालत का रूप दे दिया गया था, जिसके अन्तर्गत ही बाजार-नियन्त्रण के नियमों को लागू किया जाता था । व्यापारियों को इसी विभाग में स्वयं को पंजीकृत करना पड़ता था । नाप-तौल की देखभाल करना और बेईमान व्यापारियों को दण्डित करना इसी का काम था । चुंगी-कर लगाने व वसूल करने का काम यही मन्त्रालय करता था । अलाउद्दीन ने मलिक याकूब को दीवान-ए-रियासत का अधिकारी नियुक्त किया था जो कि अत्यन्त क्रूर था । डा. डे के अनुसार फीरोज तुगलक के शासन काल में इस विभाग की महत्ता बढ़ गयी थी ।

राज्य के छोटे विभाग—इन चार मन्त्रालयों के अतिरिक्त सल्तनत काल में अनेकों छोटे-छोटे विभाग थे जो मन्त्रालयों से मुक्त थे । प्रत्यक्ष रूप से सुल्तान के निरीक्षण में थे । इन विभागों में से घरेलू-प्रबन्ध व गुप्तचर विभाग अधिक महत्वपूर्ण थे और इस कारण सुल्तान इनके पदों पर नियुक्ति करते समय अधिक सतर्क रहता था । घरेलू प्रबन्ध अधिकतर अमीरों द्वारा व्यवस्थित किया जाता था । अमीर सुल्तान की सेवा करना स्वयं के लिए सौभाग्यशाली मानते थे ।

वकील-ए-दर—इनमें सबसे प्रमुख वकील-ए-दर था, जो शाही महल और सुल्तान के व्यक्तिगत सेवकों का प्रबन्ध करता था । सुल्तान के निजी सेवकों का वेतन चुकाना, शाही रसोईघर की व्यवस्था करना तथा शाही परिवार की समस्त सुख-सुविधा की देखरेख करना उसी का काम था । वकील-ए-दर ही घरेलू आवश्यकताओं की समस्त बातों को शाही स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता था और उसी के माध्यम से शाही आदेश दिये जाते थे । इसके लिए उसका एक पृथक सचिवालय होता था । यहाँ ही प्रत्येक आदेश पहले पंजीकृत किया जाता था तथा उस पर उसकी मोहर लगाई जाती थी । शाही परिवार का प्रत्येक अथवा घरेलू प्रबन्ध से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति उसके सम्पर्क में आता था । उसका प्रभाव अत्यधिक था इसलिए वह सुल्तान का नाइब समझा जाता था । उसका क्योंकि सदैव ही महत्वपूर्ण व्यक्तियों से सम्बन्ध रहता था इसलिए एक असाधारण चतुर और व्यावहारिक व्यक्ति ही इस पद का निर्वाह कर सकता था । उसे सुल्तान को अपने अन्तर्गत समस्त बातों से पूरी तरह सूचित रखना होता था । उसे अत्यन्त सतर्क रहना पड़ता था, क्योंकि अनेक महत्वपूर्ण व्यक्ति जिनसे उसका काम पड़ता था उनका

स्वय सुल्तान से सम्पर्क था। सुल्तान की तनिक सी नाराजगी अथवा सन्देह के कारण उसे न केवल अपने पद से अपितु प्राणो तक से भी हाथ धोना पड सकता था। उसकी सहायता के लिए एक अन्य उच्चाधिकारी होता था जिसे नाइब वकील ए-दर कहा जाता था। नाइब वकील ए दर, हमीदुद्दीन की सूचना पर ही अलाउद्दीन खल्जी अकतखा के षडयन्त्र से बच सकने मे सफल हो पाया था।

विभिन्न कारखाने—घरेलू प्रबन्ध जैसी एक व्यापक संस्थान के लिए एक विशिष्ट आयोजन की आवश्यकता थी। इसके प्रबन्ध के लिए विभिन्न विभाग बनाये गये थे जिनको कारखाना की संज्ञा दी गई थी। भिन्न भिन्न सुल्तानो के समय मे कारखानों की संख्या आवश्यकता के अनुसार भिन्न भिन्न थी। अफीफ के अनुसार फीरोज तुगलक के समय मे इनकी संख्या 36 थी जिनको रातिबी (निश्चित वेतन वाले) व गैर रातिबी (अनिश्चित वेतन वाले) भागो के वर्गीकृत किया गया था। ऐसे कारखाने जो बिगडने वाली अथवा विकारी (Perishable) वस्तुओं से सम्बन्धित थे रातिबी कहलाते थे तथा व कारखाने जो कपडा, हैस, खेम, फर्नीचर आदि से सम्बन्धित थे गैर रातिबी कहलाते थे।

अफीफ ने फीरोज तुगलक के कारखाना का वर्णन करते हुये लिखा है कि प्रत्येक वर्ष प्रत्येक कारखाने मे अपार धन व्यय किया जाता था। 36 कारखानो मे कुछ रातिबी थे और कुछ गैर रातिबी। पीलखाना (गजशाला), पायगाह (अश्वशाला) मतबख (रसोई), शराबखाना, शमाखाना (दीपक का प्रबन्ध करने वाला कारखाना), शुतरखाना (ऊटखाना), सगखाना (कुत्ताखाना) आबदारखाना (जल के प्रबन्ध करने वाला) तथा इस प्रकार के अन्य कारखाने रातिबी थे। सुल्तान फीरोजशाह के राज्यकाल मे प्रतिदिन इन रातिबी कारखाना पर अपार धन व्यय होता था। रातिबी कारखानो का व्यय (माल असबाब), हाशिए (निम्न वर्ग के कर्मचारी) तथा अन्य लोगो के अतिरिक्त 1,6,000 चादी के टक मासिक था। गैर रातिबी कारखाना मे जैसे जामदारखाना (वस्त्रों से सम्बन्धित विभाग), अलमखाना (पताकाओं का विभाग), फर्राशखाना (फर्श आदि का विभाग), रकाबखाना (घोडा की जीन आदि से सम्बन्धित विभाग) तथा इसी प्रकार के अन्य कारखानो मे प्रत्येक वर्ष नये सामान की तैयारी का आदेश रहता था। अफीफ ने लिखा है कि, 'ठण्ड के दिनो मे पोशाकखाने मे 6 लाख टक खर्च होते थे। गर्मी और बसन्त ऋतु का खर्च अलग था। अलमखाने पर 80 हजार टक खर्च किये जाते थे। इसके अतिरिक्त इस विभाग मे काम करने वाले तथा कारकूनो का वेतन अलग से था। फर्राशखाने पर दो लाख टक खर्च किये जाते थे।' "पोशाक के अफसर मलिक अली और मलिक ईशाक थे।" "जिन विविध कारखानो को मासिक वेतन मिलता था, उनमे बहुत से कारकून थे जिन्हें प्रति मास नियमानुसार वेतन मिलता था। शाही तबले 5 अलग अलग स्थानों पर थे। इसके अतिरिक्त हजारो घोडे दिल्ली के समीप चरा करते थे और व सीह पजं' कहलाते थे। ऊटखाना इससे पृथक था और दबलाहन जिले में स्थित

था। वहां ऊंटों के रेवाड़ियों के लिए गांव दिये हुए थे। इनकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती थी, क्योंकि जब बड़े-बड़े सरदार दरबार मे जाते थे तो अपने साथ विविध प्रकार के ऊंट, भेंट-स्वरूप लाया करते थे।"

प्रत्येक कारखाने को एक विशिष्ट अमीर के अधीन रखा गया था जो मलिक अथवा खान की श्रेणी का हुआ करता था। प्रत्येक कारखाने का एक मुतसरिफ (अकाउन्टेन्ट) हुआ करता था, जो वरिष्ठ अधिकारियों को हिसाब आदि भेजता था। अन्तिम रूप में समस्त कारखानों का हिसाब, दीवान-ए-वजारत मे लिपिबद्ध किया जाता था। फीरोज के समय में ख्वाजा अबुल हसनखां कारखानों का अधीक्षक था। उसके द्वारा ही विभिन्न कारखानो को आदेश दिये जाते थे।

फीरोज के शासन में जागीर के हिसाब की जाच की जाती थी। जब कोई जागीरदार अपनी जागीर से दरबार मे आता था तो उसका हिसाब लेखा-विभाग में उपस्थित किया जाता था। वहां उसकी जांच की जाती थी और जांच के परिणाम से सुल्तान को सूचित किया जाता था। जो भी बाकी निकलता उससे उसके विषय में पूछताछ की जाती थी। इसके पश्चात उसे तुरन्त अपनी जागीर में लौटने का आदेश दे दिया जाता था। कारखानों के प्रबन्ध (मोहरिर) प्रतिवर्ष के अन्त मे लेखा विभाग में उपस्थित होते थे और अपने-अपने विभाग का गोशेवार विवरण देते थे जिनमें बकाया राशन और माल बताया जाता था।

अमीर-ए-हाजिब

वकील-ए-दर के बाद परन्तु उसी श्रेणी का दूसरा अधिकारी अमीर-ए-हाजिब होता था जिसे 'अमीर-ए-हाजिब-ए-बारबक' भी कहा जाता था। बारबक विधिनायक अथवा दरबारी औपचारिकता को लागू करता था। वह अमीरों और अधिकारियों को उनकी श्रेणी के अनुसार क्रमबद्ध अथवा व्यवस्थित रखता तथा दरबारी उत्सवों की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखता था। वह सुल्तान और निम्न श्रेणी के पदाधिकारियों तथा जनता के मध्य, मध्यस्थ का काम भी करता था। उसके सहायक, हाजिब, सुल्तान तथा जनसाधारण के बीच खड़े रहते थे तथा प्रत्येक व्यक्ति हाजिब के माध्यम से ही सुल्तान से भेंट कर सकता था। जब तक वे सुल्तान से उसका परिचय न करा दें तब तक कोई भी सुल्तान से मिलने में असमर्थ था। सुल्तान की आज्ञाओं को प्रार्थियों अथवा अधिकारियों तक पहुंचाने का काम भी इसी विभाग के अन्तर्गत था। सुल्तान के सम्मुख समस्त प्रार्थना-पत्र इसी विभाग के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते थे, क्योंकि अमीर-ए-हाजिब का पद अत्यधिक सम्मानित था, इसलिये यह केवल किसी शहजादे अथवा सुल्तान के अनन्य विश्वासपात्र अमीर के लिये सुरक्षित रखा जाता था, यहां तक कि नाइब बारबक के पद पर भी सुल्तान के किसी सम्बन्धी अथवा मित्र को ही नियुक्त किया जाता था। उसका ये प्रमुख उत्तरदायित्व था कि प्रमुख दरबारी समारोहों अथवा उत्सवों की व्यवस्था

करें। कभी-कभी सुल्तान की अनुपस्थिति में नाइब बारबक किसी अमीर के साथ राजधानी में सुल्तान के नायब के रूप में कार्य करता था। सदैव ही एक अथवा दो हाजिब सुल्तान की उपस्थिति में रहते थे। यहां तक कि जब वह अकेला हो अथवा अमीरों से विचार-विनिमय कर रहा होता तब भी एक या दो हाजिब उसकी सेवा में प्रस्तुत रहते थे। डा. कुरैशी के अनुसार सम्भवत. इनको खास हाजिब की सज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। कुछ प्रमुख हाजिबों को 'सैयद-उल-हुज्जाब' आदि की उपाधि से विभूषित किया जाता था। हाजिब मुख्य रूप से प्रशिक्षित सैनिक होते थे और अवसर उनको सैनिक अभियानों के नेतृत्व के लिये नियुक्त किया जाता था। जब सुल्तान स्वयं किसी अभियान का नेतृत्व करता था तो हाजिब उसके सेक्रेटरी के रूप में कार्य करता था। प्रमुख हाजिबों को सुल्तान युद्ध-समितियों में निमन्त्रित करता तथा उनकी सलाह को महत्त्व देता था। किसी एक हाजिब को सुल्तान को प्राप्त भेंटों की सूची का कार्य सौंपा गया था।

नकीब

दरबारी समरोहों में नकीब नामक एक निम्न अधिकारी भी हुआ करता था। वे राजकीय शोभायात्रा (जुलूस) के आगे-आगे चलते थे और जोर-जोर से सुल्तान की उपस्थिति की घोषणा किया करते थे। इनका प्रमुख 'नकीब-उल-नक्बा' कहलाता था। यह दरबार के मुख्य-द्वार पर एक ऊँचे चबूतरे पर बैठता था, और प्रत्येक नव-आगन्तुक की छान-बीन करता था।

सरजादार

सरजादार भी एक महत्त्वपूर्ण अधिकारी था जो सुल्तान के अगरक्षकों का प्रमुख था। उसके सहायक के रूप में अनेकों जादार हुआ करते थे। ये अपने पौरुष, पराक्रम, बल तथा प्रभावपूर्ण डील-डौल के आधार पर चुने जाते थे। वे निश्चित ही कुशल सैनिक हुआ करते थे और जब कभी भी सुल्तान जनसाधारण के सम्मुख आता था तो वे उसके साथ उपस्थित रहते थे। सुल्तान साधारणतया दो सरजादार रखते थे, एक दायें तथा दूसरा बायें पक्ष के लिये और इन्हें क्रमश 'सरजादार-ए-मेमन' व 'सरजादार-ए-मेसर' कहा करते थे। बलबन ने सिस्तानी सैनिकों को सरजादार के पद पर नियुक्त किया था और वह उन्हें 61 से 70 हजार जीतल प्रतिवर्ष वेतन के रूप में देता था। वे सुल्तान के साथ नंगी, चमचमाती तलवारों को लिये उपस्थित रहते थे जो न केवल सुल्तान के वैभव को बढ़ाते थे, अपितु उसके व्यक्ति पर अचानक आक्रमणों से उसकी रक्षा भी करते थे। जादार साधारणतया परिक्षित स्वामी-भक्त दास हुआ करते थे।

बरीद-ए-मुमालिक

बरीद-ए-मुमालिक नामक अधिकारी सुल्तान के गुप्तचर विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। उसके अधीन वाकीया-नवीस, खबर-नवीस व हाकिया निगार नामक सहायक अधिकारी हुआ करते थे। ये बरीद के माध्यम से सुल्तान को सभी

सूचनाओं और घटनाओं की जानकारी देते थे। राज्य के प्रत्येक केन्द्र में एक स्थानीय बरीद की नियुक्ति की जाती थी जो केन्द्र को हर घटना की जानकारी पहुंचाता था। क्योंकि उन दिनों में केन्द्रीय सत्ता के विरुद्ध दूरस्थ इलाकों के अधिकारियों द्वारा षडयंत्र करने की सम्भावना अधिक बनी रहती थी और आवागमन के साधन अत्यन्त सीमित और धीमी-गति के थे, ऐसी स्थिति में बरीदों की भूमिका को सहज ही में आंका जा सकता है। यदि बरीद किसी अधिकारी की अप्रिय घटना की सूचना देने में असफल रहता तो दण्ड के रूप में उसे अपने जीवन से इसका मूल्य चुकाना पड़ता था। सुल्तान बलबन इन बरीदों द्वारा भेजी गई सूचनाओं का आदर करता था और दोषी अधिकारियों के विरुद्ध सतर्क रहता था। बलबन ने अपने पुत्रों तक के लिये बरीदों की नियुक्ति की थी। यदि बरनी के कथन को स्वीकार किया जावे तो अमीर लोग इस विभाग से इतने अधिक आतंकित थे कि वे केवल इशारों में ही बात करते थे। यह यद्यपि अतिरंजित भी हो, परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यह विभाग अत्यधिक सक्रिय था और सल्तनत युग में इसका महत्व अधिक था। ईमानदार तथा चरित्रवान व्यक्तियों को ही इस विभाग में नियुक्त किया जाता था। कभी-कभी विद्वानों को भी राजहित में उनकी इच्छा के विरुद्ध इस पद को स्वीकार करना पड़ता था।

ये समस्त पद यद्यपि मन्त्रियों की तुलना में गौण थे, परन्तु इनमें से प्रत्येक सुल्तान की व्यक्तिगत सुरक्षा, सम्मान अथवा उसके शासन से सम्बन्धित था। इसलिये ये सुल्तान के निकट सम्पर्क में आते थे। उसके विश्वासपात्र होने के कारण ये कभी-कभी मन्त्रियों से भी अधिक महत्व प्राप्त कर लिया करते थे।

दीवान-ए-बन्दगान

फीरोज तुगलक के समय में क्योंकि दासों की संख्या अत्यधिक थी इसलिये उनकी व्यवस्था करने हेतु एक पृथक विभाग खोला गया था। इसका अध्यक्ष 'अशहब-ए-दीवान-ए-बन्दगान' कहलाता था। दास आरम्भ से ही घरेलू प्रबन्ध के एक अभिन्न अंग थे और शासन चलाने में इनका महत्वपूर्ण योगदान था। प्रत्येक दास को निम्नतम श्रेणी से उठकर अपनी बुद्धि और योग्यता के आधार पर संघर्ष कर अपने लिये उचित स्थान बनाना पड़ता था। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत उन्हें अनेक अनुभव प्राप्त होते थे। दासों के साथ क्योंकि उचित व सम्मानपूर्ण व्यवहार किया जाता था, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति किसी सम्मानित अमीर का दास होने में गर्व अनुभव करता था। इसके अतिरिक्त दास तथा स्वामी के मध्य एक व्यक्तिगत बाण्ड था जिसको परिपाटियों ने पवित्रता प्रदान की थी, इसलिये दासों को रखना मुस्लिम इतिहास में अब्बासिद खलीफाओं के समय से ही न्यायोचित माना जाता रहा है।

अलाउद्दीन खल्जी की सफलता का एक कारण उसके पास लगभग 50 हज़ार दासों का होना था जिनको उसने शासन के प्रत्येक भाग में नियुक्त कर तथा सैनिक प्रशिक्षण देकर एक संगठन का रूप दे दिया था। फीरोज के समय में

दासो की संख्या 1,80,000 तक पहुँच गई थी। फीरोज ने अपने सेनाधिकारियो को आदेश दे रक्खा था कि वे युद्ध-बन्दियो के रूप मे अधिक से अधिक बन्दी बनाकर तथा उनको प्रशिक्षित कर उसे प्रस्तुत करें।

फीरोज ने इनको विभिन्न कार्यों मे लगा रखा था। व्यक्तिगत संरक्षक के रूप मे इनकी काफी संख्या मे खपत हो जाती थी। घरेलू प्रबन्ध अथवा प्रशासन का कोई ऐसा विभाग नहीं था, जिसमे दास न हो। इक्ताग्रो तथा राजधानी मे भी इनकी संख्या कम न थी। अफीफ लिखता है, "जब सुल्तान फीरोजशाह किसी ओर जाता था तो धनुर्धारी दास पृथक समूह बनाकर आगे-आगे चलते थे। हजार-हजार तलवार चलाने वाले, दास, 'बन्देगान आवर्द' (युद्ध करने वाले दास), वाहूली (शिकार खेलने वाले दास) भैंसो पर सवार होकर कुछ बन्दगाने हजारा तुर्की तथा अरबी घोड़ो पर सवार परिजनो सहित हजारो की संख्या मे पृथक-पृथक बादशाह के पीछे चलते थे। परन्तु इसके बाद भी शासन इनको खपाने मे असमर्थ रहा और इसलिये फीरोज ने इनको विभिन्न संस्थाओ मे साधारण व धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेज दिया। अफीफ ने फिर लिखा है, 'कुछ दास कुरान आदि धार्मिक पुस्तको को कण्ठस्थ करने, अथवा धार्मिक अध्ययन करने अथवा पुस्तको की प्रतिलिपि बनाने मे लगे रहते थे। लगभग 12,000 दासो को विभिन्न शिल्पो की शिक्षा दी जाती थी। कुछ दासो को मक्का भेज दिया गया था जिससे वे वहा मनन, प्रार्थना आदि मे अपना जीवन व्यतीत करें।[1]

दासो को खाना और कपड़े के अतिरिक्त वेतन रूप मे 20 से 125 टंक नकद दिया जाता था। प्रो० कुरेशी का मत है कि मुहम्मद तुगलक के निष्ठुर और अप्रिय व्यवहार के कारण सल्तनत मे जो चारों ओर विद्रोह ने अपना सर उठा रखा था, फीरोज इन्हीं दासो की सहायता से उनको शान्त करने मे सफल हुआ। परन्तु डॉ० कुरेशी का यह मत अधिक तर्कसंगत नहीं है। उनके विचारो मे विरोधाभास है, क्योंकि एक ओर तो उनका कथन है कि फीरोज के अन्तिम दिन इनके षडयन्त्रो से आच्छादित थे और इनमे से कुछ के कुकर्मों ने राज्य मे अराजकता फैला दी थी और दूसरी ओर वे फीरोज तुगलक के समय की अराजकता को शान्त करने मे दासो का योगदान स्वीकार करते हैं। मनुष्य चरित्र मे आधारभूत विषमता का इतनी शीघ्रता से परिवर्तन होना स्वाभाविक नहीं है। फीरोज की दास-प्रथा ने उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के विनाश को सन्निकट ला दिया, अधिक उचित है। डॉ० बनारसी प्रसाद ने लिखा है कि, "अन्ततोगत्वा, ये दास इतने साहसी बन गये कि उन्होंने फीरोज के परिवार के शाहजादो के सिर बेहिचक काट डाले और उन्हे दरबार के दरवाजे पर लटका दिया।"

इस समस्त विवरण के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि समस्त सल्तनत काल मे कोई ऐसा समय नहीं आया जब प्रशासन के कार्य मे

---

1. अफीफ—तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ 268-70

स्थिरता आई हो। सुल्तानों ने नई व्यवस्था स्थापित करने की अपेक्षा पुरानी इस्लामी मान्यताओं के आधार पर ही शासन चलाना अधिक हितकर और उपयोगी समझा और केवल अवश्यंभावी परिवर्तन ही किये परन्तु इनका मूलाधार शरा अथवा हदीस होना आवश्यक था।

यह ठीक है कि सुल्तान एक निश्चित तथा व्यवस्थित शासन प्रणाली को जन्म नहीं दे सके, परन्तु उनकी इस न्यूनता का मूल्यांकन करते समय हमें आज के प्रशासकीय आदर्शों के आधार पर उनके प्रशासकीय आदर्शों की तुलना करना न्याय-संगत नहीं होगा। उचित मूल्यांकन तभी संभव है, जब हम सल्तनतकालीन व्यवस्था की समकालीन इस्लामी व्यवस्था से तुलना करें और फिर यह निष्कर्ष निकालें कि सल्तनत उस दिशा में किस प्रकार और क्योंकर गतिमान नहीं रही।

सैनिक संगठन

भूमिका—शक्तिशाली सैनिक संगठन को बनाये रखने की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जाती रही है। शक्ति का ह्रास सदैव ही राज्य के विघटन के लिये उत्तरदायी रहा है। यह आवश्यकता 13 वीं शताब्दी में अधिक अनुभव की जाती थी, क्योंकि उस युग में शक्ति ही राज-सत्ता की अविभाज्य सहचरी थी। यदि तुर्कों ने इसको प्राथमिकता प्रदान करी और राज्य स्थापना तथा उसको अक्षुण्ण बनाये रखने हेतु सेना का समयानुकूल संगठन खड़ा किया, तो उन्हें इस आधार पर किसी प्रकार दोषी ठहराना उचित न होगा। साधारणतया प्रत्येक राज्य की स्थापना का आधार ही शक्ति रहा है और सल्तनत जैसे नव-जन्मित राज्य को भौगोलिक स्थिति ने इसे और भी अधिक आवश्यक बना दिया था।

सल्तनत की स्थापना एक ऐसे प्रदेश में हुई थी जहाँ के लोगों का धर्म व आचार-विचार तुर्की-विजेताओं से भिन्न था और स्वाभाविक रूप से दोनों में विरोधी प्रवृत्तियाँ आपेक्षित थीं। विजेता और विजित सदैव से ही विरोधी रहते आये हैं और यदि विजितों ने और विशेषकर राजपूतों ने विजेताओं के परतन्त्रता के जूड़े को उतार फेंकने का सतत् प्रयास किया तो यह भी आपेक्षित था। इस सतत् विरोध की पृष्ठभूमि में सेना संगठित करना और अधिक न्यायोचित हो गया। क्योंकि राजपूत तुर्कों को निकाल फेंकने के लिये कटिबद्ध थे, इसलिये उनकी शक्ति का विरोध केवल सेना के आधार पर करने के अतिरिक्त तुर्कों के पास कोई दूसरा चारा न था। राजपूतों के निरन्तर विरोध के अतिरिक्त अमीरों तथा इस्लाम में दीक्षित अनुयायियों की विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों ने सुल्तानों को सेना के संगठन को व्यवस्थित बनाने के लिये प्रोत्साहित किया। इसके अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम से खूंखार मंगोलों के आक्रमणों की संभावना ने नव-स्थापित तुर्की राज्य की सुरक्षा के लिये इसको और अधिक आवश्यक बना दिया। क्योंकि मंगोल स्वयं में एक शक्ति थे, इसलिये शक्ति का प्रतिरोध केवल शक्ति के द्वारा ही संभव था।

तुर्कों ने इस आधार पर भारत के प्रत्येक तुर्क के मिथ्याभिमान को कुरेद कर उनको सम्मानित पदों पर आसीन कर प्रत्येक से बगर किसी भेद भाव के सैनिक-सेवा प्राप्त करने का प्रयास किया। तुर्कों के लिये यह आवश्यक भी था क्योंकि हिन्दुओं की संख्या अत्यधिक थी और उनको अंकुशित करने के लिये प्रत्येक तुर्क का सहयोग आवश्यक था। योग्य अथवा अयोग्य का प्रश्न तो उस समय उठता जब माँग की मात्रा खपत से कम होती। इसलिये तुर्कों ने सैनिक और असैनिक पदों में किसी प्रकार का भेद भाव किये बगैर प्रत्येक तुर्क से एक ही साथ दोनों प्रकार की सेवाओं को प्राप्त किया। अपने आरम्भिक काल में इसी व्यवस्था के अंतर्गत सैनिक संगठन खड़ा किया गया परन्तु जैसे-जैसे तुर्कों की स्थिति दृढ़ होने लगी वैसे ही कार्य विभाजन का विचार अधिक प्रभावशाली होता गया। विजेताओं ने जैसे-जैसे प्रशासन का उत्तरदायित्व सम्भाला वैसे ही वैसे सेना एक वृत्ति अथवा व्यवसाय के रूप में उभर आयी।

तुर्की आदर्श—सल्तनतकालीन सैनिक व्यवस्था का आधार तुर्की आदर्श था जो कि दशमलव प्रणाली पर आधारित था। गजनवी शासकों के समय में यही व्यवस्था बनी रही जिसको तुर्कों ने भी स्वीकार किया। बुगरा खाँ ने अपने पुत्र कैकुबाद को दृष्टान्त देते समय अलग अलग श्रेणियों का विवेचन किया है। इसके अन्तर्गत एक सरखेल के अधीन 10 घुड़सवार एक सिपहसालार के अधीन 10 सरखेल एक अमीर के अधीन 10 सिपहसालार एक मलिक के अधीन 10 अमीर और एक खान के अधीन 10 मलिक हुआ करते थे। इस प्रकार एक खान के अधीन 10 000 घुड़सवार एक मलिक के अधीन 1 000 घुड़सवार व एक अमीर के अधीन 100 घुड़सवार हुआ करते थे।[1] डा० ड के अनुसार यह संख्या अधिकारियों द्वारा सैनिकों की संख्या की अपेक्षा केवल अमीरवर्ग के श्रेणी विभाजन को बताती है। अमीर खुसरो के कथन से भी मालूम पड़ता है कि कैकुबाद के शासन में पाँच सशस्त्र प्रसिद्ध सैनिकों ने एक लाख सेना का संचालन किया था।

राज्य की समस्त सेना अमीरों वलियों व इक्तादारों की टुकड़ियों व सुल्तान के नेतृत्व में उसके व्यक्तिगत सैनिकों को मिलाकर बनी थी। राजधानी में स्थित सैनिकों को हश्म ए-कल्ब' की सेना से सम्बोधित किया जाता था जिसमें सुल्तान के अंगरक्षक (जानदार) हुआ करते थे। ये सेना के केन्द्र बिन्दु थे। जानदारों का चुनाव सुल्तान के व्यक्तिगत दासों में से सर ए जानदारान' के माध्यम से किया जाता था जो कि अधिकतर एक स्वतन्त्र जन्मित अमीर होता था। इनकी संख्या सुल्तान की इच्छा पर निर्भर थी परन्तु ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ये अधिक संख्या में रहे होंगे क्योंकि मुस्ता व कुतबी जानदारों ने इल्तुतमिश के गद्दी प्राप्ति के समय काफी कठिनाइयाँ उपस्थित की थीं। इनके अतिरिक्त स्थायी सेना थी जिसे बर्जहिस

---

1 इलियट वही भाग 3 पृ 577

तथा अस्थायी सेना को 'गैर वजहिस' कह कर पुकारा जाता था। अमीरों और इक्तादारों की सैनिक टुकड़ियां भी राज्य में विद्यमान थीं।

विभाग—इस समस्त सेना को हम अश्वारोही, हस्ति सेना व पैदल सेना में बांट सकते हैं। इन सबमें अश्वारोही सेना सबसे महत्वपूर्ण थी और उसकी समुचित व्यवस्था पर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। दूसरा स्थान हस्ति-सेना का था जिसे सुल्तान एक मूल्यवान निधि मानते थे। पैदल सेना को निम्नतर माना जाता था और उनकी भूमिका आधुनिक काल के मजदूरों अथवा सफरमैना (Sappers) या खनिकों (Miners) से अधिक नहीं थी। संकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिये स्थानीय भर्त्ती कर ली जाती थी। सुल्तान सदैव ही अपने व्यक्तिगत निदेशन में अधिक सैनिकों को रखकर सेना को शक्तिशाली बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे।

भर्त्ती—अमीर स्वयं अपनी टुकड़ियों की भर्त्ती करते थे। बुगरा खां को समाना और सुनम का इक्तादार नियुक्त करते समय बलबन ने आदेश दिया कि वह पुराने सैनिकों के भत्ते में बढ़ोत्तरी कर दे तथा नये सैनिकों की भर्त्ती को दुगुना कर दे। उसे यह भी आदेश था कि वह सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति में सतर्क रहे। इस प्रकार की भर्त्ती की व्यवस्था लगभग समस्त सल्तन-युग में रही। सम्भवत: बलबन इसके दुष्परिणामों से भिज्ञ था, इसीलिये उसने स्वयं को सुरक्षित रखने हेतु राज्य के समस्त महत्वपूर्ण स्थानों पर अपने अत्यधिक विश्वासपात्रों की ही नियुक्ति किया था। अमीरों के द्वारा भर्त्ती तथा सैनिक टुकड़ियां उनके अन्तर्गत रखने की व्यवस्था बलबन के समय में सुचारु रूप में रही तथा समयानुकूल सिद्ध हुई। इस सेना ने एक ओर तो मंगोलों का सफलतापूर्वक विरोध किया तथा साथ ही केन्द्रीय सरकार को अनावश्यक व्यय के बोझ से मुक्त रखा। क्योंकि यह सेना राज्य के विभिन्न क्षेत्रों में बिखरी हुई थी, इसलिये समय-असमय इसको सरलता से एकत्रित कर किसी भी दिशा में आवश्यकतानुसार भेज सकना सम्भव था। बलबन ने एक समय समाना से बुगरा खां, मुल्तान से शाहजादा मुहम्मद व दिल्ली से मलिक बारबक को मंगोलों के विरुद्ध संयुक्त अभियान करने के आदेश प्रदान किये थे। अलाउद्दीन खल्जी के समय में भी हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं। मलिक काफूर द्वारा दक्षिण के दूसरे अभियान के समय मलिक और अमीर अपने-अपने घुड़सवार तथा पैदलों को लेकर चन्देरी के निकट उससे मिल गये जहां उनका पुनरावलोकन किया गया। निश्चित् ही यह अमीरों द्वारा भर्त्ती किये गये सैनिकों की ओर इंगित करता है जिनका आरिज ने पुन: निरीक्षण किया था।

सैनिक संगठन—मुहम्मद तुगलक की घुड़सवारों की संख्या लगभग 1 लाख थी। यह संख्या स्वयं सुल्तान तथा अमीरों के द्वारा भर्त्ती किये गये घुड़सवारों की है। क्योंकि यह सेना राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में बिखरी हुई थी और इसलिये यह

समस्त सेना केन्द्रीय सरकार के द्वारा भर्ती की गई हो, ऐसा निश्चित् ही सम्भव नहीं है। फीरोज तुगलक के समय म सैनिकों की संख्या 90,000 थी, परन्तु यह संख्या केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत आरिज के विभाग म नामांकित (enrolled) सैनिकों की है और यह आवश्यक नहीं है कि स्वयं आरिज न इनको भर्ती किया हो। सम्भवत इसका कारण था कि राज्य की सीमायें काफी संकुचित हो चुकी थीं, इसलिए सैनिक संख्या म अचानक गिरावट हो गई।

सैनिक संगठन की ओर प्रथम बार बलबन ने ध्यान दिया। उसने आरिज की शक्ति व सम्मान म वृद्धि कर उसको मंत्री-पद प्रदान किया। प्रारम्भिक काल म केन्द्रीय सरकार केवल सैनिक अनुदानग्राही (grantee) का लेखा रखती थी। सैनिक विभाग इनकी कार्यक्षमता की जाँच-पड़ताल नहीं करता था। बलबन ने आरिज का आदेश दिये कि वह अस्सी सैनिक अनुदानग्राही का विवरण प्रस्तुत किया करे। इसके अतिरिक्त वह और कुछ न कर सका।

अलाउद्दीन क सैनिक सुधारों के साथ ही हमें सेना के केन्द्रीयकरण के क्षेत्र म प्रभावकारी प्रमाण मिलते हैं। उसके सुधारों के फलस्वरूप एक ओर तो सैनिकों को नकद वेतन दिया जान लगा तथा दूसरी ओर उनको स्थायी आधार पर सेवारत किया गया। भर्ती क पहले आरिज के द्वारा उनका परीक्षण किया जाता था और उसके बाद उनके नाम आरिज द्वारा पंजीकृत कर लिये जाते थे। अलाउद्दीन न घोड़ा को दागने की प्रथा को लागू किया जो कि आरिज के विभाग के द्वारा की जाती थी। तत्पश्चात आरिज के विभाग के द्वारा ही सैनिकों की भर्ती की जाती थी तथा उनका लेखा-जोखा रक्खा जाता था। वह न केवल सुल्तान के अधीन रहने वाली सेना का ही हिसाब रखता था, अपितु राज्य के महत्वपूर्ण और सामरिक स्थानों पर रखे जान वाले सैनिकों का भी लेखा जोखा रखता था। बरनी के विवरण स इस तथ्य की पुष्टि होती है।

सैनिकों के नामांकन की पद्धति समस्त सल्तनत-काल म सैनिक संगठन की एक विशिष्टता बनी रही। मुहम्मद तुगलक के राज्य-काल में आरिज के विभाग म लगभग 3,70,000 सैनिकों की भर्ती हुई। निश्चित ही यह संख्या केन्द्र मे भर्ती की गई सेना की थी क्योंकि जैसा हम ज्ञात है कि मुहम्मद तुगलक की सम्पूर्ण सेना की संख्या 9,00,000 थी।[1] फीरोज तुगलक के शासन-काल में इस पद्धति का ह्रास हुआ। परिणामस्वरूप या तो अमीर अपने दास आदि को हाजरी के समय प्रस्तुत कर उनके वेतन, भत्ते आदि को प्राप्त कर लेते थे और फिर स्वयं इसका उपभोग करते थे अथवा घटिया श्रेणी के घोड़ों को प्रस्तुत कर राज्य को धोखा देते थे। अवस्था इतनी दयनीय थी कि सैनिक, अतिरिक्त समय देने के बाद भी निरीक्षण से

1 इलियट, वही, भाग 3, पृ 576

अनुपस्थित रहते थे। इसके अतिरिक्त सेना में भ्रष्टाचार घर कर चुका था। इसका अनुमान इसी से आंका जा सकता है कि सुल्तान ने स्वयं एक टंक देकर सम्बन्धित अधिकारी से सैनिक के घोड़े की स्वीकृति करवाने की व्यवस्था की। स्वयं सुल्तान के द्वारा इस प्रकार से घूस देने के प्रोत्साहन को बढ़ावा देने के आधार पर हम सहज ही में उसके राज्य-काल की सैनिक योग्यता का अनुमान लगा सकते हैं।

फीरोज के समय में सैनिक सेवा को भी वंशानुगत कर दिया गया। अयोग्य और वृद्धों को भी दया और सहानुभूति के कारण सैनिक-सेवा करने में असमर्थ होने पर भी सेवा में बने रहने दिया। फिरोज ने रही-सही सैनिक योग्यता को यह नियम बनाकर कि सैनिक के वृद्ध होने पर उसका पुत्र, पुत्र न होने पर उसका दामाद, दामाद न होने पर दास उसका स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है, चौपट कर दिया। इस नियम से उसकी सैनिक पटुता और सैनिक शक्ति का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। सैनिक-संगठन की अन्त्येष्टि सैनिकों को जागीर के रूप में वेतन देकर पूरी कर दी गई। इसी अव्यवस्था ने सल्तनत की नींव हिला दी।

अधिकारी—सल्तनत की स्थापना का आधार क्योंकि शक्ति थी इसलिए राज्य का प्रत्येक अधिकारी सैनिक कोटि का ही था परन्तु यह आवश्यक नहीं था कि वह प्रत्यक्ष रूप से सेना से सम्बन्धित हो।

सेना का कोई स्थायी सेनापति नहीं था। सुल्तान ही स्वयं इसका अध्यक्ष व सेनापति था। प्रत्येक अभियान के समय एक सेनानायक की नियुक्ति की जाती थी और उसका कार्यकाल केवल अभियान की समाप्ति तक ही रहता था। बंगाल के विद्रोही तुगरिल खां के विरुद्ध अमीन खां को तथा देवगिरि और वारंगल के अभियान-हेतु मलिक काफूर को सेनापति नियुक्त किया गया था। जब कभी सेनापति को युद्ध-संचालन का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सौंपा जाता था, तो साधारणतया सुल्तान उसे एक लाल छतरी प्रदान करता था।

सुल्ताना रजिया के शासन-काल को छोड़कर सेनापति की नियुक्ति के सम्बन्ध में यही व्यवस्था बनी रही। सम्भवतः स्त्री होने के नाते उसे यह अरुचिकर लगा कि वह स्वयं सेनापति के पद का भार वहन करे और इसलिए उसने सर्वप्रथम मलिक सैफुद्दीन को और उसकी मृत्यु पर मलिक कुतुबुद्दीन को सेनापति के पद पर नियुक्त किया।

सेना के संगठन के लिए आरिज-ए-मुमालिक व नायब आरिज-ए-मुमालिक अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकारी थे। उन्हीं के द्वारा हाजिरी ली जाती थी, घोड़ों को दागा जाता था और अन्य प्रकार की व्यवस्थायें की जाती थीं। अलाउद्दीन नायब आरिज को सदैव ही अभियानों के साथ भेजता था। उसका काम रसद आदि की

व्यवस्था करना सेना के प्रशासन को देखना तथा हाथियों और लूट के माल को प्राप्ति करना था। सुल्तान को लूट का हिसाब देने के लिए सम्पत्ति-सूची (Inventory) बनाना भी उसी का काम था। यह निश्चित ही एक महत्वपूर्ण कार्य रहा होगा क्योंकि इसी में से राज्य के लिए खम्स वसूल किया जाता था तथा शेष सैनिकों में बांट दिया जाता था।

आरिज के पश्चात् अमीर आखूर भी एक महत्वपूर्ण अधिकारी था। अमीर आखूर के पद पर किसी अत्यधिक विश्वासपात्र अथवा सम्बन्धी को ही नियुक्त किया जाता था। कुतुबुद्दीन, मुहम्मद गौरी का, अलमास बेग, अलाउद्दीन का (अलाउद्दीन का भ्राता) व जूना खां सब ही अमीर आखूर के पद पर रहे थे। अमीर आखूर अधिकतर राजधानी में सुल्तान के साथ रहता था और निश्चित रूप से वह एक योग्य व्यक्ति ही रहा होगा, क्योंकि समस्त सल्तनतकाल में उसकी भूमिका महत्वपूर्ण रही है। डा डे का मत है कि उसकी महत्वपूर्ण भूमिका के आधार पर यह स्वीकार करना कि वह केवल सुल्तानों की घुड़साल का निरीक्षक मात्र था भ्रमात्मक होगा।

वेतन—जहां तक सैनिक अधिकारियों तथा सैनिकों के वेतन का प्रश्न है यह स्वीकार करना कि समस्त युग में वेतन स्थिर रहे होंगे नितान्त असम्भव है। राज्य की आर्थिक व राजनीतिक स्थिति ने स्वाभाविक रूप से वेतन निश्चित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। इसके अतिरिक्त सैनिकों की स्वीकृति भी इसमें निहित थी। सल्तनत का स्वरूप सैनिक होने के कारण सैनिकों को सन्तुष्ट रखना भी राज्य के लिए उपादेय था।

आरम्भिक काल में स्थिति अधिक डांवाडोल रही होगी, क्योंकि वह समय सल्तनत की स्थापना का काल था और क्योंकि राज्य की स्थापना केवल सैनिक शक्ति पर ही सम्भव थी इसलिए सैनिकों को अधिक वेतन देकर तथा लूट के माल में पूरी तरह भागीदार बनाकर उनको राज्य के प्रति स्वामिभक्त बनाये रखना आवश्यक था। समकालीन इतिहासकार इस सम्बन्ध में पूर्णतया मौन हैं। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि मुस्लिम राज्य में प्रत्येक मुसलमान आंशिक रूप में राज्य की सेना का सदस्य समझा जाता था और ऐसी स्थिति में राज्य की सैनिक रूप में सहायता करना उसका स्वाभाविक धर्म था। फिर भारत में तुर्कों की संख्या ही नगण्य थी और प्रत्येक तुर्क राज्य स्थापना के युग में स्वयं को लूट के माल में भागीदार समझता था और क्योंकि खम्स लेने के पश्चात भी उसे लूट के माल में से ठोस धन-राशि प्राप्त हो जाती रही होगी, इसलिए समकालीन लेखकों ने वेतन के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं दी है। हमें इल्तुतमिश के समय के बारे में केवल यह लेख प्राप्त होता है कि उसने उदारता से सैनिकों को उनके देय वेतन से अधिक ही दिया। इल्तुतमिश की परिस्थितियों में यह आवश्यक भी था क्योंकि उसे एक

ओर तो सजातीय तुर्कों और दूसरी ओर भारतीय शत्रुओं का सफलता से विरोध कर सल्तनत की आधारशिला रखनी थी। इल्तुतमिश ने इसी आधार पर सैनिकों के वेतन का भुगतान नकद में न कर राजस्व-प्रावंटन (Assignment) के रूप में किया था।

बलबन के सम्मुख जब राज्य-संगठन का प्रश्न आया तो उसने यह अनुभव किया कि दोआब में लगभग दो हजार ऐसे अश्वारोही हैं जिनको कि इल्तुतमिश के द्वारा गाँव प्रदान किये गये थे, परन्तु सुल्तान की मृत्यु के पश्चात् वे राज्य-सेवा से विमुख हो गये हैं। बलबन इस अव्यवस्था को समाप्त करने का इच्छुक था परन्तु कोतवाल फखरुद्दीन के सुझाव पर वह कोई परिवर्तन करने में असमर्थ रहा। राजस्व-आवंटन की यह नीति अलाउद्दीन खल्जी के समय तक चलती रही।

उसने राजस्व-प्रावंटन की अपेक्षा सैनिकों का वेतन नकद में भुगतान करने की नीति अपनाई। समकालीन इतिहासकार इस सम्बन्ध में मौन हैं कि अलाउद्दीन के पहले राजस्व-आवंटन के साथ ही नकद वेतन भी दिया जाता था अथवा नहीं? यह कहना भी कठिन है कि यह पद्धति पूर्ण रूप से नवीन थी अथवा नहीं? बरनी ने अलाउद्दीन खल्जी के सैनिक सुधारों की विवेचना करते हुए पहली बार सैनिकों को नकद वेतन देने का वर्णन किया है।

यह नकद वेतन भी केवल केन्द्रीय सरकार द्वारा भर्ती किये गये सैनिकों को ही दिया जाता था जो सुल्तान के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में थे। इक्ताओं मे रहने वाले सैनिकों को अलाउद्दीन के समय में भी राजस्व-प्रावंटन के रूप में वेतन का भुगतान किया जाता रहा।

घुड़सवार सैनिकों के वेतनमान के सम्बन्ध में मतभेद है। डॉ० कुरेशी ने फरिश्ता के विवरण के आधार पर सैनिकों के तीन विभिन्न वेतनमान स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार मुरातिब, सवार व दो-अस्पा सैनिकों को 234, 156 व 78 टंक प्रतिवर्ष दिये जाते थे। बरनी को उद्धरित करते हुए उन्होंने लिखा है कि सवार दो-अस्पा से श्रेष्ठ था क्योंकि सवार अपने पराक्रम से एक सौ मंगोलों को खदेड़ सकता था, जबकि दो-अस्पा केवल दस मंगोलों को बन्दी बनाने में समर्थ था।

डॉ० कुरेशी की इस मान्यता को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम ऐसा प्रमाणित करना सम्भव नहीं हो पाया है जिसके आधार पर यह स्वीकार किया जा सके कि मुरातिब सैनिक सेना में एक वरिष्ठ व श्रेष्ठ अधिकारी था। यदि ऐसा होता तो बरनी निश्चित ही इस ओर संकेत करता अथवा सेना में उसके पद की विवेचना करता। इसके विपरीत यह तथ्य सत्यता से अधिक मेल खाता है कि मुरातिब सैनिक एक साधारण सैनिक (अहल-ए-जिहाद) से अधिक न था, क्योंकि दोनों को ही प्रति वर्ष 234 टंक वेतन के रूप में प्राप्त होते थे। साथ ही बरनी ने कहीं पर भी विवरण नहीं दिया है कि दो-अस्पा निम्नतम वेतनमान का सैनिक था अथवा सवार द्वितीय वेतनमान में था। बरनी ने 'सवार' शब्द का प्रयोग

केवल घुड़सवार के सन्दर्भ में ही किया है। उसने विशेष रूप से कहीं भी यह लेख नहीं किया कि 'सवार' दो-अस्पा से श्रेष्ठ था। वह यह प्रकट करना चाहता था कि भारतीय सैनिक इतना प्रबल हो गया था कि एक दो-अस्पा सैनिक दस युद्ध-बन्दी बना सकता था और एक घुड़सवार 100 मंगोलों को खदेड़ सकता था। साधारणतया 10 को युद्ध-बन्दी बनाना, 100 को खदेड़ने की अपेक्षा अधिक कठिन है। बरनी का वर्णन भारतीय सैनिक की श्रेष्ठता को निश्चयपूर्वक स्थापित करने का एक अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग है और ऐसी स्थिति में उसके शाब्दिक अर्थ को स्वीकार कर लेना उचित नहीं होगा।

डॉ० लाल के अनुसार अलाउद्दीन एक मुरातिब सैनिक को प्रतिवर्ष 234 टंक वेतन देता था। सरकारी आधार पर मुरातिब सैनिक वह था जो नियमित रूप से सैनिक हो, जिसको दीवान-ए आरिज ने निरीक्षण कर भर्ती किया हो और जिसके वेतन का भुगतान सीधा केन्द्रीय खजाने से किया जावे। ऐसे सैनिक का वेतन सुल्तान ने 234 टंक प्रतिवर्ष निश्चित किया था। स्वाभाविक रूप में ऐसे सैनिक से एक घोड़ा रखने की अपेक्षा की जाती थी, परन्तु यदि उसके पास एक अतिरिक्त घोड़ा होता था तो ऐसी स्थिति में उसकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाना निश्चित था और इस अतिरिक्त घोड़े के लिये उसे 78 टंक प्रतिवर्ष और दिये जाते थे। सरकारी तौर पर इसे 'दो-अस्पा' कहते थे। इस प्रकार से जिस घुड़सवार के पास दो घोड़े होते थे उसे 312 टंक प्रतिवर्ष मिलते थे। 234 टंक उसका व्यक्तिगत वेतन तथा 78 टंक एक अतिरिक्त घोड़ा रखने के लिए थे। क्योंकि उसे अतिरिक्त घोड़े के लिए भत्ता मिलता था, इसलिए सुल्तान का यह आग्रह था कि सैनिक एक अतिरिक्त घोड़ा रखे। साधारण सैनिक जिसको 234 टंक प्रतिवर्ष मिलते थे उससे केवल एक घोड़ा रखने की ही आशा की जाती थी और तकनीकी आधार पर उसे 'यक-अस्पा' पुकारते थे। यह स्पष्ट है कि 'यक-अस्पा' को कोई भत्ता नहीं दिया जाता था।

इस तथ्य की पुष्टि बरनी के विविध लेखों से होती है। बरनी ने लिखा है कि सैनिक का वेतन तथा दो अस्पा को दिया जाने वाला भत्ता उसके निर्वाह के लिये पर्याप्त होगा। इसी प्रकार काजी मुगीसुद्दीन और अलाउद्दीन के बीच हुए वार्तालाप से भी यही भान होता है, क्योंकि काजी मुगीसुद्दीन के अनुसार सुल्तान को एक साधारण सैनिक की तरह जीवन यापन करना चाहिए तथा स्वयं और अपने परिवार पर केवल 234 टंक प्रतिवर्ष ही व्यय करना चाहिए।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि एक घुड़सवार सैनिक को प्रतिवर्ष 234 टंक अथवा प्रतिमाह साढ़े उन्नीस टंक मिलते थे और एक अतिरिक्त घोड़ा रखने पर साढ़े छः टंक प्रति माह और दिया जाता था।

सैनिक का वेतन निश्चित ही अपर्याप्त था परन्तु अलाउद्दीन सेना को सतुष्ट रखने के लिए विशेष रूप से जागरूक था। वारंगल के अभियान पर जाते समय उसने मलिक ताजुद्दीन काफूर को जो अनुदेश दिये थे वे उसकी इस मनोभावना को

प्रमाणित करते हैं। अलाउद्दीन इससे अधिक वेतन देने में असमर्थ था अपितु वह राजस्व-आवंटन के रूप में भी वेतन चुकाने के प्रति तत्पर नहीं था। अतएव उसने जीवन की आवश्यकताओं को सस्ती बना दिया, बाजार-नियंत्रण किया तथा अनेकों आर्थिक सुधारों को लागू किया जिससे कि सैनिक नाम-मात्र के वेतन में जीवन निर्वाह कर सकें। अलाउद्दीन के पास इसके अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प भी नहीं था, परन्तु इसके बाद भी उसकी सफलता इसमें निहित है कि वह अपने सैनिकों को सन्तुष्ट रख उनसे अपनी विजय-पिपासा को तृप्त करवा पाया।

अलाउद्दीन की मृत्यु के साथ ही उसकी समस्त व्यवस्था का अंत हो गया। गयासुद्दीन तुगलक के समय में दिये जाने वाले वेतन की समुचित जानकारी प्राप्त नहीं है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि सैनिकों को अलाउद्दीन के समय से अधिक वेतन दिया जाता था। उसने अधिकारियों को यह आदेश दे रक्खा था कि वे सैनिकों के वेतन से किसी प्रकार की कटौती न करें, अपितु अपनी आय में से भी कुछ दें। इससे यह आभास होता है कि इक्तादार ही स्वयं अपने अधीन सैनिकों का वेतन-भुगतान करते थे, यद्यपि सैनिकों का वेतन केन्द्रीय सरकार की ओर से निश्चित किया जाता था। इसके अतिरिक्त यह इस बात को भी प्रमाणित करता है कि इक्तादार सैनिकों को निश्चित वेतन से कम देते थे और केन्द्र ने उसको पूरा वेतन चुकाने के आदेश दिये थे। मुहम्मद तुगलक के समय में सैनिकों को भोजन, परिधान (ड्रेस) व चारे के अतिरिक्त 500 टंक दिये जाते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि भोजन आदि युद्ध-काल ही में दिये जाते थे अथवा सैनिक शान्ति-काल में भी इनके पाने के अधिकारी थे। यह वेतन राजस्व आवंटन में न दिया जाकर खजाने से दिया जाता था। फीरोज तुगलक ने समस्त पुराने, कठोर नियमों को तिलांजली दे दी और इस तरह से सल्तनत को द्रुतगति से पतन की ओर अग्रसर किया।

अमीरों आदि के वेतन के सम्बन्ध में मसालिक-उल-अबसार से जानकारी मिलती है। इसके अनुसार एक खान को एक लाख टंक, एक मलिक को 50 से 60 हजार टंक, एक अमीर को 30 से 40 हजार टंक, एक सिपहसालार को 20 हजार टंक व साधारण अधिकारियों को 1 से 10 हजार टंक प्रतिवर्ष मिलते थे।[1] इनको इतनी आय की भूमि प्रदान कर दी जाती थी। यह उनका व्यक्तिगत वेतन था जिसमें सैनिकों का वेतन सम्मिलित नहीं किया गया था। इस नीति के अन्तर्गत अमीर को साधारणतया ऐसी भूमि प्राप्त होती थी जिसकी आय उसके निर्धारित वेतन से अधिक होती थी और वह लाभ का भागीदार होता था। परन्तु यह लाभांश उस स्थिति में नगण्य रह जाता था जबकि अमीर की नियुक्ति के स्थान पर ही उसको प्राप्त भूमि न हो। ऐसी स्थिति में स्वयं अमीर अपने कारिन्दों के द्वारा ऐसी भूमि से आय एकत्रित करवाता था।

1. मसालिक-उल-अबसार, पृ. 28-29

साज-सज्जा—घुड़सवार सैनिकों की वेश भूषा काठी और शस्त्र तुर्की आदर्शों पर आधारित थे। आरम्भिक सुल्तानों के द्वारा मुद्रित अनेक सिक्कों से इसकी पुष्टि होती है। घोड़े पर एक इस्पात की झूल लटकी होती थी। बारबोसा के अनुसार यह इतनी हल्की थी कि घोड़े चौगान के खेल मे भाग लेने म समथ थे। प्रत्येक सैनिक अपनी सुरक्षा-हेतु कवच व सिर रक्षक से सुसज्जित रहता था। कई घुड़सवार रूई की वण्डी भी पहने रहते थे। प्रत्येक सैनिक के पास दो तलवारें एक खंजर एक तुर्की कमान और अनेक अच्छी किस्म के तीर हुआ करते थे। काठी से लगी हुई तलवार रकाब की ओर दूसरी तरकश' की तलवार कहलाती थी। यद्यपि बारबोसा ने दिल्ली के घुड़सवारों का वणन नहीं दिया है परन्तु वह उनकी चतुरता युद्ध म तत्परता तथा अश्वो की प्रशंसा करता है।

घुड़सवारों के पश्चात सल्तनत काल म हस्ति सेना महत्वपूर्ण थी। सुल्तान हस्ति सेना के प्रति जागरूक थे इसका अनुमान इसी से आका जा सकता है कि बलबन एक हाथी को 500 घुड़सवार सैनिकों के समान प्रभावक मानता था। अपने पुत्र बुगरा खा को लखनौती म नियुक्त करते समय उसने उसे वहा से हाथी प्राप्त करने की सलाह दी थी। सुल्तान की अनुमति के बगर किसी भी अमीर को हाथी रखने की आज्ञा नहीं थी क्योंकि ऐसे शक्तिशाली स्रोत का सरलता से दुरुपयोग किया जा सकता था। सुल्तान स्वय हाथियो को अधिक मात्रा म रखते थ इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि मुहम्मद तुगलक के पास लगभग 3 000 हाथी थ। उसके विशाल साम्राज्य को देखते हुए यह संख्या अधिक नहीं थी।[1] जब फीरोज तुगलक ने दूसरी बार बगाल पर आक्रमण किया तो उसकी सेना म 470 हाथी थ।

हाथी युद्ध के लिए प्रशिक्षित किये जाते थे और युद्ध क्षेत्र म सैनिको और योद्धाओं पर प्रहार करते थे। एक हाथी अनेक सशस्त्र सैनिकों को ले जाता था। हाथियों पर लकड़िया के बने छोटे दुर्ग-समान ढाचे होते थ जिनम तीन से चार सशस्त्र सैनिक स्थान ले सकते थे और वे यहा से शत्रु पर प्रहार करते थे। इसके अतिरिक्त हाथियों को दुर्ग तोड़ने और नदी के प्रवाह को मन्द करने के लिए काम म लिया जाता था जिससे कि सैनिकों के लिए नदी पार करना सरल हो सके।

युद्ध के समय हाथियों पर धातु की झूल डाली जाती थी तथा इनकी सूड को धातु से ढक दिया जाता था जिससे शस्त्रों के प्रहार का कोई प्रभाव न पड़ सके। इनकी देखभाल के लिए राज्य में एक शहना ए फील नामक अधिकारी होता था। साधारणतया युद्ध के समय म दक्षिण व वाम भाग के लिए अलग अलग शहना हुआ करते थे परन्तु कभी-कभी एक ही शहना दोनों भागों के लिए नियुक्त कर दिया जाता था।

---

1 इलियट वही भाग 3 पृ 576-77

सुल्तान पैदल-सेना भी रखते थे जिन्हें 'पायक' कहा जाता था। वे अधिकतर हिन्दू, दास अथवा निम्न-उत्पत्ति के व्यक्ति थे जो रोजगार के इच्छुक थे परन्तु घोड़े लाने में असमर्थ थे। इसलिए इन्हें साधारण कार्यों के लिए नियुक्त किया जाता था—जैसे व्यक्तिगत संरक्षक अथवा द्वारपाल आदि। अपनी इस दीन-हीन अथवा साधारण स्थिति के बाद भी इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं में भाग लिया। अतकखां के आकस्मिक आक्रमण से अलाउद्दीन की रक्षा इन्हीं सैनिकों ने की थी।

इनका अनेक युद्धों में भाग लेने का वर्णन मिलता है परन्तु जिन अभियानों में सैन्य-संचालन की गति द्रुत होती थी उनमें इनका उपयोग सम्भव नहीं था। कभी-कभी सैनिकों की न्यूनता होने पर पायकों को राज्य की ओर से घोड़ा देकर युद्ध-स्थल में भेज दिया जाता था।

शस्त्र—नैफ्था और यूनान के अग्नि-शस्त्रों की जानकारी प्राचीन समय से ही थी। आग-लगाऊ-बाण, भाले व दाह्य-पदार्थ शत्रु पर फेंके जाते थे। तैमूर के विरुद्ध दिल्ली सेना ने हथगोलों तथा अग्नि-बाणों का प्रयोग किया था। 'कुशकनजीर' शब्द के 13वीं शताब्दी में प्रयोग किये जाने से ऐसा आभास होता है कि यह तोप का अपरिष्कृत रूप था। 'संग-ए-मगरिबि' शब्द के प्रयोग से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अलाउद्दीन के समय में तोपखाने का प्रयोग किया जाने लगा था, यद्यपि इस दिशा में कोई अधिक उन्नति नहीं हो पाई थी। प्रान्तीय राज्यों—गुजरात व दक्षिण—में इसका समुचित विकास हो पाया था।

दुर्ग की प्राचीर को तोड़ने अथवा दाहक-पदार्थों को फेंकने के लिए विभिन्न यान्त्रिक उपायों को प्राचीन समय से ही प्रयुक्त किया जाता रहा है। समकालीन इतिहासकारों ने सल्तनतकाल में प्रयुक्त अनेकों मशीनों का वर्णन किया है, परन्तु उन्होंने उनका विवरण नहीं दिया है, जिससे एक प्रकार की मशीनों का दूसरों से प्रभेद करना अत्यधिक कठिन है। मगरिबी का प्रयोग सम्भवत: तोप के रूप में किया जाता था। मन्जनिक का प्रयोग पत्थर अथवा नैफ्था के रूप में किया जाता था। इससे ठीक-ठीक निशाना लगाना सम्भव था इसलिये इसे दुर्ग की मनिहारों और मुंडेरों को तोडने में काम लिया जाता था। प्रक्षेपक (Peojectiles) साधारणतया भारी होते थे और गति से फेंके जा सकते थे। ये दुर्ग की प्राचीर को भेदने में काम आते थे।

ये यान्त्रिक सुवाह्य तथा स्थिर हुआ करते थे। 'गरगच' एक सुवाह्य मचान था जिसे ऊंचा करके दुर्ग की प्राचीर के बराबर ले जाया जाता था जिससे दुर्ग पर आक्रमण करने में सुविधा हो जाती थी। 'साबत' एक ऐसा ढंका हुआ स्थान होता था जिससे कि शत्रु के प्रक्षेपणास्त्रों से सैनिकों की रक्षा की जा सके। 'पाशेब' एक प्रकार से मिट्टी के मचान के समरूप था जिसे दुर्ग की प्राचीर की ऊँचाई के बराबर बनाया जाता था और इस पर आग तथा पत्थर फेंकने की मशीन रखी जाती थी।

कभी-कभी ये इतने बडे होते थे कि इस पर 100 सैनिक साधारणता एक साथ चल सकते थे।

सुरग बनाकर दुर्ग की प्राचीर को तोडने की व्यवस्था भी प्रचलित थी, जिसमे किसी दीवार के नीचे एक लम्बा खड्डा खोदकर उसमे दाह्य-पदार्थ भर दिये जाते थे और फिर इसमे आग लगाकर दुर्ग मे दराड़ें करने अथवा प्राचीर को तोडने का काम लिया जाता था। दुर्ग के खन्दक को भरने के लिए बालू से भरे हुए बोरो का उपयोग किया था।

दुर्ग—दुर्ग इस काल मे सैनिक शक्ति के महत्वपूर्ण साधन थे और राज्य की सुरक्षा के लिए उपयोगी स्वीकार किये जाते थे। सल्तनत-काल मे इनकी महत्ता और अधिक थी क्योकि मगोलो के निरन्तर आक्रमणो से राज्य की रक्षा के उत्तरदायित्व ने अधिक भयानक रूप ले लिया था। बलबन ने इसी समस्या के समाधान-हेतु उत्तरी पश्चिमी सीमाओ पर कम्पिल, पटियाली और भोजपुर के स्थानो पर दुर्गों का निर्माण कर इनम शक्तिशाली रक्षक-सेना (Garrison) रखी थी। सम्भवत बलबन की इसी सफल नीति से प्रभावित हो अलाउद्दीन खल्जी ने 1303 ई के मगोल आक्रमण के पश्चात्, इन दुर्गों के पुन जीर्णोद्धार की आज्ञा दी तथा नये दुर्गों के निर्माण कराने की व्यवस्था की। दुर्गों की महत्ता अत्यधिक थी इसलिए इनकी मोन्माह् देखभाल की जाती थी।

प्रत्येक दुर्ग का एक आदेशक (Commandant) हुआ करता था जिसको साधारणतया कोतवाल की सज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। वह दुर्ग की कुजियो को स्वय रखता था। परन्तु हमे ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जबकि 'आदेशक' व कोतवाल दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हुआ करते थे—जैसे जब मगुधा मगोल ने उच्छ के दुर्ग (643 हिजरी) पर घेरा डाला था तब आदेशक और कोतवाल दो भिन्न व्यक्ति थे। परन्तु इस अपवाद के अतिरिक्त एक ही व्यक्ति आदेशक व कोतवाल का कार्य करता था।

दुर्गों में अनेका 'मुफरिद' हुआ करते थे। इनके स्वरूप को निश्चित करना कठिन है और सम्भवत ये अभियन्ता (इन्जीनियर) हुआ करते थे जो दुर्ग की मरम्मत कराने अथवा घेरे के शस्त्रो को सम्भालन मे प्रवीण थे। इसके अतिरिक्त प्रत्येक दुर्ग मे एक काजी तथा मीरदाद हुआ करता था। क्योकि दोनो का कार्य-क्षेत्र एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न था इसलिए दोनो के बीच कोई टकराव की समस्या नहीं थी।

दुर्गों को अत्यधिक विश्वासपात्र व योग्य मलिको क अधीन रखा जाता था। रक्षक-सेना (*Garrison*) के भरण-पोषण के लिए कृषि-योग्य भूमि सलग्न की जाती थी। अलाउद्दीन ने योग्य अभियन्ताओ की नियुक्ति, शस्त्र, अनाज व चारे से कोठारो को परिपूर्ण रखने व मन्जनिक आदि के निर्माण की आज्ञा प्रदान कर रखी थी।

अधिकतर दुर्गों में एक गुप्त मार्ग का निर्माण किया जाता था जिससे कि संकट-कालीन स्थिति में उससे निकलना सम्भव हो सके।

युद्ध-संगठन—युद्ध के समय में रसद आदि की व्यवस्था बंजारों के द्वारा की जाती थी। सल्तनत-काल में इनकी संख्या अच्छी थी और इनका पेशा ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर अनाज पहुंचाना था। आकर्षक भावों के कारण ये बंजारे इसके प्रति अधिक लालायित थे। राज्य की सीमाओं में आक्रमणकारी सेना राजकीय सहायता पर निर्भर रह सकती थी अथवा करद राज्यों के सरदार अपने-अपने प्रदेशों से अनाज की व्यवस्था करते थे परन्तु शत्रु-राज्य में बंजारों पर ही निर्भर रहना पड़ता था।

सुल्तानों ने परम्परागत युद्ध-नीति को अपनाया। युद्ध-क्षेत्र को चुनते समय भू-भाग, वायु तथा सूर्य का पूरा ध्यान रखा जाता था। सेना को मध्य, उत्तर, दक्षिण भागों व हरावल तथा चन्दावल के रूप मे आयोजित किया जाता था। इनके अतिरिक्त दो पार्श्व या बाजू के दल होते थे। यदि सुल्तान स्वयं युद्ध का संचालन करता तो वह मध्य में उलेमा-वर्ग से घिरा हुआ रहता था। उसके आगे तथा पीछे धनुर्धारी हुआ करते थे। सबसे आगे की पंक्ति में लोहे की झूमर से सुरक्षित हाथियों की टुकड़ी होती थी, जिन पर होदों में बैठे हुये योद्धा हुआ करते थे। हाथियों के पश्चात् घुड़सवार हुआ करते थे तथा उनके पीछे पैदल सैनिक रहते थे। इनके बीच खाली जगह छोड़ दी जाती थी जिससे कि घुड़सवार सेना इसमें से निकलकर शत्रु पर आक्रमण कर सके।

वजीक (स्काउट) सेना के एक महत्वपूर्ण अंग हुआ करते थे। इनको शत्रु की गतिविधियों की टोह लगाने तथा सूचनाएं लाने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाता था। इनको यह आदेश थे कि वे एक समूह में न घूमें, परन्तु फिर भी एक-दूसरे की पहुंच में हों, युद्ध न करें परन्तु फिर भी स्वयं की रक्षा करने में समर्थ हों तथा आक्रमण के शिकार होने पर भाग सकें। वास्तव में वे एक प्रकार से सेना की आंखों के समान कार्य करते थे। इनको किसी प्रकार से सेना के गुप्तचर समझना भ्रान्ति होगी क्योंकि इनका कार्य शत्रु से घुल-मिलकर उनकी गुप्त बातों की जानकारी करना था। गुप्तचर वजीक की तरह सैनिक नहीं थे अपितु वे अनेक छद्मवेश धारण कर शत्रु की गुप्त बातों की जानकारी करते थे।

मुस्लिम सेनाओं के साथ प्राचीन काल से ही अस्पताल गाड़ी तथा जख्मी सैनिकों के लिए अस्पताल (चिकित्सालय) की व्यवस्था रही थी और सुल्तानों ने उसी परम्परा को बनाये रखा।

सेना के साथ सदैव ही बाधकर भी रहते थे। फीरोज तुगलक ने इतने बड़े ढोलों का निर्माण कराया था जिनको हाथियों पर ले जाया जाता था। सेना के साथ बड़े-बड़े ध्वज भी रहते थे। सुल्तानों के पास मुख्यत: दो प्रकार के ध्वज थे।

(i) दायें पक्ष की ओर काले रंग का ध्वज जो अब्बासिद खलीफाओं का प्रतीक था तथा (ii) बायें पक्ष की ओर लाल रंग का ध्वज जो गोर का प्रतीक था। कुतुबुद्दीन ऐबक के ध्वज पर नव-उदित चन्द्रमा, परदार सर्प अथवा सिंह की आकृति अंकित रहती थी। ये ध्वज इतने विशाल तथा भारी होते थे कि इन्हें हाथियों पर ही ले जाना सम्भव था। फीरोज तुगलक के ध्वज पर भी परदार सर्प अंकित रहता था। अमीरों के भी अपने ध्वज होते थे। गियासुद्दीन तुगलक ने जब नासिरुद्दीन खुसरव शाह से युद्ध किया उस समय उसके ध्वज पर एक मछली की आकृति थी। सम्भवत सल्तनत काल म माही-मरातब की ये प्रथम अभिव्यक्ति है। मुहम्मद तुगलक के समय म एक खान को 7 व एक अमीर को 3 ध्वज ले जाने की अनुमति थी। जब फीरोज तुगलक ने बगाल क शमसुद्दीन के विरुद्ध युद्ध किया उस समय उसकी सेना मे समस्त ध्वजों की सख्या लगभग 500 थी।

सैनिक सुस्पष्ट ड्रेस पहनते थे जिससे कि मित्र तथा शत्रु के बीच विभेद किया जा सके। सैनिकों को अस्त्र-शस्त्र देने अथवा टूटे-फूटे शस्त्रों को बदलने के लिए एक अलग से विभाग था। राजकीय हथियारों को रखने के लिए भी अलग विभाग था, जिसे "कुरखानह" कहा जाता था। प्रत्येक सेना के साथ एक साहिब-ए-बरीद ए लश्कर भेजा जाता था जो केन्द्र को सूचना भेजने के लिए उत्तरदायी था।

इस प्रकार सैनिक व्यवस्था मुख्य रूप से परम्परागत मुस्लिम पद्धति पर आधारित थी परन्तु इस व्यवस्था ने लगभग 300 वर्ष तक अपने समुचित उत्तरदायित्व को निभाया जिससे यह स्पष्ट है कि यह व्यवस्था अत्यन्त अनुकूल थी अथवा जिन प्रतिद्वन्द्वियों के विरुद्ध इसका उपयोग किया गया उनकी व्यवस्था इससे भी निम्न-स्तर की थी। ऐसी ही स्थिति में सेना का सफल होना सम्भव था। सेना की युद्ध-नीति मे वे तत्व दृष्टिगोचर होते हैं जो भविष्य मे बाबर ने इब्राहीम लोदी क विरुद्ध पानीपत के प्रथम युद्ध मे अपनाये थे। सेना का विभाजन तथा युद्ध नीति भी मुस्लिम पद्धति पर ही आधारित थी। इस पद्धति ने सल्तनत-काल की आवश्यकताओं के सन्दर्भ मे उचित भूमिका निभाई।

भू-राजस्व

इस्लामी मान्यता—समस्त मुस्लिम विधिवेत्ताओं ने यद्यपि राजस्व सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए एक ही प्रकार के मूल स्रोतों को अपना आधार बनाया परन्तु फिर भी जिन सिद्धान्तों को उन्होंने प्रस्तुत किया है वे महत्वपूर्ण विषयों पर एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं। भारतीय इतिहास के मुस्लिम युग मे हनीफी विचार-धारा का प्राबल्य रहा और इसी के सिद्धान्त राज्य की नीति-निर्धारित करने की आधारशिला बन रहे।

मुस्लिम विधिवेत्ताओं ने मुस्लिम राज्य के समस्त राजस्व को दो भागों मे विभाजित किया है—(1) धार्मिक तथा (2) धर्म निरपेक्ष। धार्मिक राजस्व के

अन्तर्गत जकात का अध्ययन हमने पिछले अध्याय में किया है। धर्म-निरपेक्ष करों में भू-राजस्व अथवा खिराज से राज्य को समुचित आय थी। दुर्भाग्य से 1205 ई. तक के काल के राजस्व सम्बन्धी ज्ञान के लिए हमारे पास अत्यन्त ही अपर्याप्त सामग्री है क्योंकि समकालीन इतिहासकारों ने केवल राजनीतिक घटनाओं का ही उल्लेख किया है। उन्होंने आकस्मिक ही दूसरे विषयों के सम्बन्ध में अनियमित टिप्पणियाँ लिखी हैं। ऐसी स्थिति में मुगलों के पूर्व की राजस्व-व्यवस्था का अध्ययन केवल स्थूल अथवा अपूर्ण ही हो सकता है।

खिराज जिसका अर्थ शुल्क अथवा कर है, धीरे-धीरे भू-राजस्व के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। इस्लामी साम्राज्य के विकास के आरम्भिक काल में यह केवल पराजितों से ही उगाहा जाता था और कभी-कभी ये प्रतिव्यक्ति कर (Capitation-tax) को सम्बोधित करता था। मूलतः मुसलमान 'उस्र' (Ushr) का भुगतान करते थे तथा खिराज से उन्हें विमुक्त कर दिया जाता था। परन्तु ईरान की विजय के पश्चात् इस्लाम धर्म को अंगीकार करने के पश्चात् भी इन नये धर्म-परिवर्तित लोगों से खिराज वसूल किया जाने लगा, जो प्रारम्भिक मान्यता से बिल्कुल विपरीत था। इसी के पश्चात् यह नियम लागू किया गया कि खिराज की भूमि धर्म-परिवर्तन के पश्चात् भी खिराज की भूमि ही समझी जावेगी। इस नियम ने स्वाभाविक रूप से मुस्लिम वर्ग को प्रभावित किया। क्योंकि एक ओर तो उन्हें बाध्य रूप में 'उस्र' का भुगतान करना पड़ता था और दूसरी ओर उन पर खिराज का अतिरिक्त भार पड़ गया था। इसलिए अबू हनीफ ने यह निश्चित किया कि एक ही भूमि के टुकड़े से खिराज और 'उस्र' नहीं लिए जायेंगे। परन्तु जान-बूझकर भूमि पर खेती न करने की स्थिति में खिराज से विमुक्त नहीं किया जाता था।

खिराज को दो भागों में बांटा गया है—(1) अनुपातिक (Proportional) व (2) स्थिर। अनुपातिक का अर्थ है भूमि की उपज का एक अनुपात वसूल करना जो $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{3}$, $\frac{1}{4}$ तथा $\frac{1}{5}$ भी हो सकता था। स्थिर खिराज का अर्थ भूमि के टुकड़े अथवा प्रति वृक्ष पर निश्चित राजस्व था। इसका अर्थ है कि राजस्व निर्धारण की दो पद्धतियां प्रचलित थीं जिसके अन्तर्गत या तो भूमि की उपज के आधार पर राजस्व निर्धारण अथवा जोती हुई भूमि पर राजस्व निर्धारण करना था।

भूमि की नाप जरीब द्वारा कर उसकी प्रकृति अथवा कोटि का अनुमान मुख्यतः तीन आधारों पर निश्चित कर लिया जाता था—(1) भूमि की उपज देने की क्षमता, (2) बोयी गई फसल तथा (3) सिंचाई की व्यवस्था अर्थात् भूमि प्राकृतिक अथवा कृत्रिम सिंचाई पर निर्भर है। राजस्व का नकद में भुगतान करने की स्थिति में इस पर भी ध्यान दिया जाता था कि भूमि तथा बाजार के बीच कितनी दूरी है क्योंकि ऐसी स्थिति में कृषक को राजस्व देने के लिए अपनी उपज को बेचने-हेतु बाजार में ले जाना आवश्यक था। कोई व्यक्ति जिसके पास खिराजी

भूमि थी वयस्क अथवा अवयस्क स्त्री अथवा पुरुष, दास अथवा स्वतन्त्र व्यक्ति, काफिर तथा मुसलमान को खिराज कर से मुक्ति नहीं दी जा सकती थी।

दास वंशीय भू-राजस्व व्यवस्था—दिल्ली-सल्तनत के संस्थापकों को वित्तीय कार्यों में अनुभव नहीं था। वे मुख्यतः सैनिक थे और प्रशासकीय कार्यों की तुलना में युद्धों तथा विजयों में अधिक रुचि रखते थे। भू-राजस्व के क्षेत्र में उनका ज्ञान अत्यधिक सीमित था और इसी कारण राजस्व की सम्पूर्ण व्यवस्था सुल्तानों के दृष्टिकोण, व्यक्तित्व व उनके उद्देश्यों के आधार पर परिवर्तित होती रही। यदि इन परिवर्तित व्यवस्थाओं में कोई एक तत्व सामान्य रूप से मान्य था तो वह केवल मुस्लिम वित्त सिद्धान्त तथा गजनी के शासकों की नीति ही थी।

इस्लाम के विधिवेत्ताओं ने नितान्त सूक्ष्मता और प्रवीणता से वित्त-व्यवस्था को विकसित रूप प्रदान किया था। खलीफा उमर से लेकर यह प्रक्रिया अब्बासिद खलीफाओं तक चलती रही, दूसरी तथा तीसरी हिजरी तक वित्त और कर-व्यवस्था से सम्बन्धित अपार साहित्य की रचना हो चुकी थी। इसमें वित्त और राजस्व के विभिन्न मदों का सविस्तार वर्णन किया था। इसी के आधार पर आरम्भिक विजेताओं ने राजस्व व्यवस्था को स्थापित किया।

गजनवी शासकों के समय में वज़ीर के अधीन केन्द्रीय वित्त-विभाग के होने के प्रमाण मिलते हैं। स्वयं सुल्तान अथवा केन्द्रीय प्रशासन द्वारा स्थानीय अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी जो कि किसी प्रान्त अथवा जिले के राजस्व की देखभाल करते थे। हमें यह जानकारी नहीं मिल पाई है कि किस आधार पर प्रान्त अथवा जिले का राजस्व निर्धारित किया जाता था। परन्तु हमारा ऐसा अनुमान है कि सल्तनतकालीन शासकों ने पुराने लेखे को ही आधार बनाया था क्योंकि गजनवी शासकों के समय में भूमि के नापने का कोई प्रमाण नहीं मिल पाया है।

इन पुराने लेखों के आधार पर ही वज़ीर प्रान्तों व जिलों से राजस्व वसूल करता था। यह आवश्यक नहीं था कि यह केवल नकद रूप में दिया जावे क्योंकि हमारे पास हीरे-मोती, कपड़ा आदि के रूप में भी राजस्व चुकाने के प्रमाण हैं। प्रत्येक प्रान्तीय अधिकारी की स्वामिभक्ति इसी पर आंकी जाती थी कि वह खिराज तथा भेंट के रूप में कितना धन प्रेषित करता है। वे अधिकारी जो राजस्व भेजने में किसी कारण असमर्थ रहते थे उनको दुर्दिनों का सामना करना पड़ता था। प्रान्तीय अधिकारी स्वयं केन्द्र को राजस्व भेज देते थे परन्तु विलम्ब की स्थिति में केन्द्र के द्वारा एक एजेन्ट भेजकर शीघ्र राजस्व भेजने के आदेश दिये जाते थे। यदि कोई गम्भीर अस्त-व्यस्तता होती तो स्वयं वज़ीर इसको ठीक करने के लिए भी चला जाता था। समस्त भुगतान खजाने में किया जाता था और खजाने का अधिकारी उसकी जांच-पड़ताल कर एक रसीद दे दिया करता था।

यद्यपि यह ठीक है कि राजस्व को वसूल करने में कठोरता से काम लिया जाता था परन्तु जब कभी कोई प्राकृतिक प्रकोप की समस्या सम्मुख आती तो राज्य हर सम्भव सहायता करने के लिए भी तत्पर रहता था।

गजनवी शासकों की ये व्यवस्था गोरी शासकों के समय में भी चलती रही। मुहम्मद गोरी ने विभिन्न स्थानों पर गवर्नरों की नियुक्ति की जो सैनिक व प्रशासनिक अधिकारों का उपभोग करते थे। स्वतन्त्र-प्रभुसत्ता-सम्पन्न शासकों के उद्भव के पश्चात् स्वाभाविक रूप में परिवर्तन आना आवश्यक था और तत्पश्चात् ही एक निश्चित पद्धति ने जन्म लिया।

जिस प्रकार से मुहम्मद गोरी ने विभिन्न भू-भागों को अपने अधिकारियों को सौंपा था ठीक उसी प्रकार दास-वंश के सुल्तानों ने अपने अधिकारियों और अनुयायियों को विभिन्न भू-भाग सौंपे जिनको 'इक्ता' कहते थे। इनका अधिकारी 'मुक्ति' था। मुस्लिम विधि के अनुसार वह पूर्ण रूप से भूमि का स्वामी नहीं था अपितु उसे निश्चित और सीमित आधार पर किसी भी प्रदेश की शासन-व्यवस्था को गठित करने के लिए स्वामित्व प्रदान किया जाता था। साधारणतया किसी योग्य सैनिक को कुछ वर्षों के लिए इक्ता दिया जाता था, परन्तु किसी भी स्थिति में इक्ता वंशानुगत नहीं हो सकता था। हमारे पास ऐसे उदाहरण हैं जबकि मुक्ति को पदच्युत अथवा स्थानान्तरण कर दिया गया था जिससे इक्ता के वंशानुगत न होने की प्रामाणिकता और अधिक स्पष्ट हो जाती है।[1]

इक्ता की विशेषता यह भी थी कि केवल दरिद्रता के आधार के अतिरिक्त "टिथी" (Tithe) भूमि में से इक्ता प्रदान नहीं किया जा सकता था। यदि 'टिथी' भूमि का स्वामी किसी प्रकार से "टिथी" ($\frac{1}{10}$ भाग) देने में असमर्थता प्रकट करे तो मुक्ति उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सकता था। इसी कारण समस्त सल्तनत काल में हमें कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जबकि किसी सैनिक अधिकारी को "टिथी" की भूमि इक्ता के रूप में प्रदान की गई हो। इसलिए केवल ख़िराज की भूमि में से ही सैनिकों को इक्ता प्रदान किये जाते थे।

इक्ता दो प्रकार के थे—छोटे तथा बड़े। छोटे इक्ता वे थे जिनका क्षेत्रफल एक ग्राम के समान था जबकि बड़े इक्ता एक प्रदेश के सदृश्य थे। यूरोपीय विद्वानों ने इक्ता का अर्थ 'सैनिक जागीर' के रूप में लिया है परन्तु इस युग में यह सूबे के पर्यायवाची के रूप में ही समझा जाता था और भविष्य का सूबेदार ही इस युग का मुक्ति था। जिस प्रकार सुल्तान की निरंकुशता पर उलेमाओं की मंत्रणा तथा परम्परायें अंकुश-समान थीं, उसी प्रकार मुक्तियों की स्वतन्त्रता पर स्थानीय शासन की प्रचलित परम्परायें अंकुश का कार्य करती थीं।

---

1. आर. पी. त्रिपाठी, वही, पृ. 245

इक्तादार से यह आशा की जाती थी कि वह अपने भू-भाग से राजस्व एकत्रित कर, स्वय के निर्धारित धन की कटौती कर शेष केन्द्रीय राजकोष मे जमा करे। मुस्लिम विधि के अनुसार यदि इक्ता से प्राप्त आय निर्धारित आय से कम वसूल होती थी तो वह केन्द्रीय सरकार से इस घाटे की पूर्ति करवाने मे असमर्थ था। ऐसी स्थिति मे उसके राजस्व एकत्रित करने के अधिकार को समस्या के हल होने तक निलम्बित कर दिया जाता था। क्योंकि उस युग मे केन्द्रीय सरकार की कार्य-गति अत्यन्त धीमी थी, फलस्वरूप कोई भी मुक्ति इस प्रकार के झंझट को मोल लेने के लिए तत्पर नही था और इसीलिए वह निर्धारित आय से अधिक वसूल करने के लिए प्रयत्नशील रहता था। इस अधिक आय से वो सक्टकालीन स्थिति का सामना करने मे भी समर्थ हो सकता था।

प्राय मुक्ति केन्द्रीय सरकार से इक्ता की वास्तविक आय को छुपाने का प्रयास करता था, क्योंकि अधिक प्राप्ति की दशा मे केन्द्रीय सरकार इस अधिक आय को हथियाने के लिए उत्सुक रहती थी। इस प्रकार की परिस्थिति मे केन्द्रीय सरकार और मुक्ति के बीच एक सतत् तनाव बना रहता था। केन्द्रीय सरकार अधिशेष को प्राप्त करने के लिए उत्सुक रहती थी और मुक्ति यह दर्शाने के लिए प्रयत्नशील रहता था कि अधिशेष राशि प्राप्त ही नहीं हुई है और अगर हुई भी है तो वह केवल नाममात्र की है। इससे एक ऐसे वातावरण को प्रोत्साहन मिलता था जिसमे सन्देह और बेईमानी पनपती थी, जो राज्य के लिए घातक थी।

इक्ता की अतिरिक्त भूमि के एक अन्य वर्ग को खालसा भूमि कहते थे। यह भूमि किसी व्यक्ति-विशेष की न होकर राज्य की थी जिसके निरीक्षण का कार्य प्रत्यक्ष रूप से सरकार के अधीन था। सरकार आमीलो के द्वारा इसकी व्यवस्था करवाती थी। इस वर्ग की भूमि के लिए केन्द्रीय सरकार के द्वारा राजस्व निश्चित किया जाता था।

तीसरे प्रकार की भूमि वह थी जो अधीन हिन्दू शासको के अधिकार मे थी और जिनसे राज्य प्रतिवर्ष एक निश्चित धन-राशि प्राप्त करने का अधिकारी था। ये राज्य अपने-अपने क्षेत्र मे स्वायत्त शासन के अधिकारों का उपभोग उस समय तक करते रहते थे जब तक कि वे सन्धि की शर्तों का निर्वाह करते रहें अथवा सुल्तान उन प्रदेशो के सयोजन का विचार न करे। केन्द्रीय सरकार के द्वारा पारित नियम अथवा सुधार इन पर लागू न थे। भूमि के स्थानीय स्वामी, जमीदार के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता को स्वीकार नही करते थे। यह व्यवस्था केवल केन्द्रीय सरकार तथा जमीदार अथवा सुल्तान के मध्य ही थी।

भू राजस्व के सम्बन्ध मे हमे प्रथम विवरण कुतुबुद्दीन ऐबक के समय का प्राप्त है जिसमें उसने शरा द्वारा निर्धारित करो के अतिरिक्त समस्त करो के उन्मूलन का आदेश दिया था। यद्यपि फखरुद्दीन मुबारकशाह ने इसका कोई विस्तृत वर्णन नही दिया है परन्तु फिर भी यह अनुमान लगाना स्वाभाविक है कि उन्मूलन का ये

आदेश केवल "टिथी" भूमि पर ही लागू किया गया होगा। इस विवरण के आधार पर जो राजस्व प्राप्त होता था वह "सदकाह्" के अन्तर्गत आता था। इससे दो निष्कर्ष स्पष्ट हैं—

(1) यह राज्य के कुछ ही भागों पर लागू किया गया था तथा यह शुद्ध रूप से धार्मिक-कर था जिसका लाभ केवल इस्लाम-समर्थकों को ही प्राप्त था;

(2) यह भूमि पर न होकर उपज पर कर था।

हम यह प्रमाणिक रूप से नहीं कह सकते कि ये पूरी तरह से लागू किया भी गया था अथवा नहीं, क्योंकि समस्त सल्तनत-काल में अनेकों बार इस प्रकार के प्रस्ताव पारित किये गये, परन्तु उन्हें कभी भी सफलता के साथ लागू नहीं किया गया। परन्तु यह कम से कम कुतुबुद्दीन ऐबक की स्पष्ट नीति को बताती है। यह दर्शाती है कि वह उदारता से एक विधि का पालन करने के लिए तत्पर था। क्योंकि इस्लामी विधि के अनुसार उच्चतम कर प्राप्ति की सीमा उपज का आधा भाग था, इसलिये ये स्वाभाविक है कि कुतुबुद्दीन ऐबक ने निश्चित् ही इससे कम कर लगाया होगा।

इल्तुतमिश ने राजस्व की ओर कोई रुचि न दिखाई और समकालीन इतिहासकारों ने इसलिए उसका कोई वर्णन नहीं दिया है। उसे धन की अधिक आवश्यकता अनुभव न हो रही थी और उसकी विजयों ने उसके कोष को परिपूर्ण कर रखा था। बलबन के राज्याभिषेक के समय की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि इल्तुतमिश ने अपने सैनिकों व अमीरों को उनके वेतन के बदले कुछ भू-प्रदेश दे रखे थे।

बलबन जो 13वीं शताब्दी के अधिकतर भाग में सुल्तान रहा, उसे मंगोल आक्रमणकारियों की कठोर समस्या का सामना करना पड़ा था। उसके लिए यह आवश्यक था कि वह अपनी सैनिक शक्ति को दृढ़ करे तथा राज्य विस्तार व विजय-नीति का परित्याग करे।

उसके समय में अधिकतर भूमि मुक्तियों के आधीन थी। बलबन इस व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं था। परन्तु फिर भी वह इसमें परिवर्तन लाने में असमर्थ था। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् राज्य में व्याप्त अव्यवस्था के आधार पर दोआब तथा दूसरे भागों में मुक्तियों ने इक्ता को वंशानुगत बना लिया था। मूल मुक्तियों की मृत्यु पर उनकी विधवाओं और कभी-कभी दासों ने इन पर अपना प्रभावपूर्ण अधिकार जमा लिया था और राज्य की किसी भी प्रकार की सेवा किये बगैर वे राजस्व का उपयोग कर रहे थे। यह स्पष्टतः इस्लामी विधि के विरुद्ध था और इसलिये राज्य के लिए अहितकर था। बलबन ने इक्ताओं की जानकारी कर ऐसे इक्ता जिनके मुक्ति मर चुके थे अथवा सैनिक सेवा के लिए सर्वथा अयोग्य थे,

उन्हें खालसा भूमि मे सम्मिलित करने का प्रयास किया। वह विधवाओं और अनाथों को इसके बदले में उनकी आवश्यकतानुसार कुछ धन देने को भी तत्पर था, परन्तु बलवन के इस सुधार का विरोध इस आधार पर किया गया कि मुक्तियों को इक्ता इनाम के रूप मे दिये गये थे और उनसे इन्हें छीनना उनके सर्वनाश को आमन्त्रित करना था। बलबन दिल्ली के कोतवाल फखरूद्दीन की प्रार्थना पर कोई सक्रिय परिवर्तन करने मे असमर्थ रहा। वास्तविकता यह थी कि बलवन के इस सुधार की प्रतिक्रिया इतनी तीव्र थी कि वह सम्भवत उसका सामना करने मे असमर्थ था और इसलिए उसे समर्पण करना पड़ा। परन्तु जैसा कि डा त्रिपाठी[1] का मत है, "सुल्तान का यह रवैया दूसरो के लिए एक चेतावनी सिद्ध हुआ और सम्भवत कुछ समय के लिए उसने इक्ता को वशानुगत करने पर रोक लगा दी।"

इस प्रयास मे असफल होने पर बलवन ने शासन को कसने तथा आय और उसके स्रोतों पर कठोर नियन्त्रण करने की नीति अपनाई। उसने ऐसे पदाधिकारियों को अपदस्थ कर दिया जो उसके विश्वास-पात्र न थे। उसने उनके स्थान पर विश्वसनीय व स्वामिभक्त अधिकारियों की नियुक्ति की। इल्तुतमिश की तरह उसने राज्य के महत्वपूर्ण प्रभागों को अपने पुत्रों के अधीन रखा। इस प्रकार मुल्तान, समाना, अवध व बगाल के इक्ता उसके पुत्रों के अधीन हो गये। इसी के अन्तर्गत बलबन का ज्येष्ठ पुत्र प्रतिवर्ष खजाना लेकर दरबार में उपस्थित होता था।

इसके अतिरिक्त उसने महत्वपूर्ण इक्ताओं मे 'ख्वाजा' नामक अधिकारी की नियुक्ति की। वह वजीर की सिफारिश पर सुल्तान के द्वारा नियुक्त किया जाता था। वह निश्चित ही एक प्रशासनिक अधिकारी था जो हिसाब का लेखा-जोखा रखने मे अत्यन्त प्रवीण होता था। यद्यपि मुक्ति इक्ता का प्रमुख अधिकारी था और ख्वाजा उसके अधीन था परन्तु क्योंकि वह केन्द्र के प्रति उत्तरदायी था, इसलिए वह मुक्ति पर अकुश रखने का कार्य करता था। ख्वाजा तथा मुक्ति की सांठ-गांठ को रोकने के लिए एक ओर बलवन ने गुप्तचरों की नियुक्ति की थी, जो सुल्तान को हर सम्भव जानकारी देते थे, और दूसरी ओर इक्ता को प्राप्त करने के लिए अनेक लोलुप प्रतिद्वन्द्वी हुआ करते थे जो मुक्ति की कमियों को सुल्तान तक पहुंचाने मे कोई कसर नहीं छोड़ते थे।

इक्ताओं के अतिरिक्त 'इनाम', 'मिल्क' आदि के रूप मे भी भूमि दी जाती थी। ये इनाम अथवा भेंट के रूप मे दी जाती थी और वशानुगत होती थी। सैद्धान्तिक आधार पर सुल्तान प्रतिसहरण (Revoke) कर सकता था परन्तु व्यावहारिक रूप मे ऐसा नहीं होता था और विशेषकर उन भूमियों के सम्बन्ध मे जो कि स्वय सुल्तान ने प्रदान की हों।

---

1. आर. पी त्रिपाठी, वही, पृ. 242

दास वंश के समय में 'खत्त' तथा 'कस्बा' नामक छोटे भाग भी थे जिनमें कारकून, मुतसर्फ, चौधरी व मुकद्दम नामक अधिकारी हुआ करते थे। मुतसर्फ व कारकून राजस्व विभाग के कार्य से सम्बन्धित अधिकारी थे और ऐसा अनुभव होता है कि वे कृषकों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में नहीं थे। चौधरी तथा मुकद्दमों के माध्यम से वे कृषकों के साथ सम्पर्क रखते थे।

जहां तक भूमि-कर आंकने का प्रश्न है बलबन के सम्मुख तीन पद्धतियां थीं—(1) नपाई, (2) बटाई तथा (3) कम्पाउन्डिंग। हमें यह निश्चित जानकारी है कि अलाउद्दीन खल्जी के पहले भूमि को नपवाने का कोई प्रयास नहीं किया गया।[1] इसलिए बलबन के राज्यकाल में इस पद्धति पर भूमि-कर निर्धारित करने की कोई सम्भावना नहीं थी।

हमें यह भी जानकारी है कि दास वंश के कार्यालय में इक्ता साधारण रूप में विद्यमान थे। मोरलेंड के अनुसार इक्ता भूमि का वह भाग जो सैनिक सेवा के लिए दिया गया हो। मोरलैंड ने इक्ता को ऐसी भूमि का टुकड़ा भी स्वीकार किया है जो लगान के समर्पण के बदले दिया गया हो। दोनों ही विवेचनाओं को एक साथ ध्यान में रखने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि इक्ता भूमि का ऐसा टुकड़ा था जिसका राजस्व, प्राप्तकर्त्ता के वेतन के बराबर होता ही था।

इसके अतिरिक्त इक्ता शब्द मूल (तत्सम) शब्द 'किता' से बना है जिसका अर्थ 'भाग' अथवा 'भागों' में बांटने के लिए किया जाता है। इस आधार पर इक्ता पद्धति का अर्थ है कि कृषक उपज का एक निश्चित भाग सुल्तान को देने के लिए बाध्य था। 13वीं शताब्दी में किसी प्रकार से Compounding की पद्धति नहीं थी और इसलिए इक्ताओं में जो भू-राजस्व की पद्धति लागू थी उसे हम विश्वासपूर्वक Farming तथा Compounding का सम्मिश्रण कह सकते हैं।

समस्त सल्तनत काल में चौधरी व मुकद्दम हुआ करते थे जो राज्य अथवा मुक्ति को प्रति वर्ष निश्चित कर चुकाने पर भूमि को अपने अधिकार में ले लिया करते थे और वे स्वयं इस भूमि को कृषकों को देकर उनसे अधिक धन राजस्व के रूप में लेकर लाभ का स्वयं उपभोग करते थे। इस प्रकार की पद्धति निश्चित ही फार्मिंग Farming थी। दूसरी ओर चौधरी व मुकद्दम कृषकों से समझौता कर एक निश्चित भू-भाग से उपज का एक विशिष्ट भाग वसूल कर लिया करते थे और ऐसी स्थिति में जैसा कि डा. डे का मत है कि यह Compounding के अतिरिक्त कोई दूसरी व्यवस्था नहीं हो सकती थी। Compounding पद्धति में क्योंकि समस्त भार कृषकों पर ही पड़ता था (जो बलबन को अरुचिकर था) इसलिए बलबन ने इन दोनों पद्धतियों को मिलाकर भू-राजस्व की व्यवस्था की थी।

---

1. आई. एच. कुरैशी, वही, पृ. 106-07

खालसा भूमि से भू-राजस्व आंकने के लिये बलबन ने बटाई पद्धति को आधार बनाया जो उस युग में सबसे अधिक सुरक्षित समझी जाती थी।

जहाँ तक राज्य के भाग का प्रश्न है समकालीन इतिहासकार पूर्णतया मौन हैं। वे केवल यह स्वीकार करते हैं कि अलाउद्दीन खल्जी ने इस्लामी विधि के अन्तर्गत अधिकतम पचास प्रतिशत भूमि-कर वसूल किया था। इसके आधार पर बलबन के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रतिशत निकालना सम्भव नहीं है, परन्तु इतना अवश्य है कि उसने मंगोलों के भय के कारण तथा उनके विरुद्ध सेना को शक्तिशाली बनाने के लिए इस्लामी विधि के अन्तर्गत अधिक से अधिक प्राप्त करने का प्रयास किया होगा। परन्तु यह किसी प्रकार से भी अलाउद्दीन द्वारा वसूल किये जाने वाले भू-राजस्व के प्रतिशत के बराबर नहीं हो सकता। यदि ऐसा होता तो समकालीन लेखक इस ओर संकेत अवश्य करते।

बलबन की मृत्यु और खल्जियों के उत्थान के बीच सम्भवतः *यही व्यवस्था* चलती रही और भू-राजस्व अधिकारियों ने शासकों की दीन-हीन अवस्था का लाभ उठाकर अधिक से अधिक धन हड़पने का प्रयास किया।

खल्जी-वंशीय भू-राजस्व व्यवस्था—अलाउद्दीन खल्जी अपने चाचा जलालुद्दीन की अपेक्षा अधिक कठोर शासक था। वह शासन-व्यवस्था को झकझोर कर उसे निपुण व प्रभावपूर्ण बनाने के लिए उत्सुक था। आन्तरिक विद्रोह, विदेशी दबाव ने उसका ध्यान शासन-पद्धति की ओर आकर्षित किया और उसे राजस्व व सैनिक विभागों में सुधार हेतु प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त इक्तादारी व्यवस्था राज्य के लिए अधिक अहितकर सिद्ध हो रही थी, क्योंकि राज्य और कृषकों को जोड़ने वाला वर्ग अपने अधिकार-क्षेत्र में लगातार बढ़ोतरी करता जा रहा था और राज्य को इससे कोई लाभ प्राप्त नहीं हो रहा था।

अलाउद्दीन की राजस्व व्यवस्था इतनी व्यापक थी कि इसने समस्त वर्ग के काश्तकारों को प्रभावित किया। उसके पहले राज्य की भूमि का एक बड़ा भाग मिल्क, (राज्य द्वारा प्रदत्त सम्पत्ति) इनाम, इदारात (पेंशनें) तथा वक्फ आदि के रूप में केवल मुस्लिम वर्ग को दी गई थी। यद्यपि कानूनी रूप में इनको पुनर्ग्रहण करने में कोई गम्भीर कठिनाई नहीं थी, परन्तु बलबन के समय में इन्हें प्राप्त करने के प्रयास के विरुद्ध रोष प्रकट किया गया था। इस प्रकार की भूमि की पुनः प्राप्त करना संकटकीय था। परन्तु अलाउद्दीन ने अपने अधिकारी-वर्ग से विचार-विनिमय कर यह निश्चय किया कि ऐसी समस्त भूमि को राज्य के प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत कर इसे राज्य के लिए आय का साधन बनाया जावे। साम्प्रदायिक भावनाओं से अप्रभावित हो, बलबन के विरुद्ध उसने समस्त ऐसी भूमि का हरण कर लिया। बरनी के अनुसार उसने ऐसी समस्त भूमि को हस्तान्तरित कर लिया था परन्तु परवर्ती इतिहासकारों के लेखन से इसकी पुष्टि नहीं होती। तारीख-ए-फीरोजशाही

में अनेक ऐसे विवरण हैं जिनमें अलाउद्दीन के समय से चली आ रही इस प्रकार की भूमि का वर्णन है। डा. त्रिपाठी ने इस सन्दर्भ में लिखा है कि उसने ऐसी समस्त भूमि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर इनके उपभोक्ताओं से इन्हें ले लिया और पुनः अपनी शर्तों पर ऐसे व्यक्तियों को प्रदान किया जो राज्य-सेवा के लिए तत्पर थे। इस प्रकार राज्य के एकाधिकार की पुनः स्थापना की।। मुस्लिम-वर्ग को निश्चित् ही इस परिवर्तन के फलस्वरूप अधिक हानि उठानी पड़ी होगी और बरनी की अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा में वे नितान्त धनहीन हो गये थे।

तत्पश्चात् अलाउद्दीन का ध्यान उन हिन्दू भूमिपतियों की ओर आकर्षित हुआ जिन्होंने राज्य को एक अनुबन्धित राजस्व की राशि देने के आधार पर भूमि प्राप्त की थी। इस सन्दर्भ में सुधार उस वर्ग से सम्बन्धित थे जो राज्य और कृषकों के मध्य राजस्व एकत्रित करने वाले अथवा स्वयं कृषक थे। इनको मुकद्दम (मुखिया), खूत, (स्वयं कृषक) तथा चौधरी (राजस्व एकत्रित करने वाले) की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। ये दलाल के रूप में राजस्व एकत्रित करते थे जिसके लिए इनको विशेष सुविधायें प्राप्त थीं। राजस्व को एकत्रित करने के बदले में इन्हें न केवल इनकी देय-राशि प्रदान की जाती थी, अपितु इन्हें भूमि व चरागाह रखने के लिए विशेष सुविधाएं भी दी जाती थीं, क्योंकि ये वंशानुगत चले आ रहे थे और साथ ही क्योंकि इनका राजस्व-सम्बन्धी समस्याओं पर एकाधिकार था इसलिए अपनी इन विशेषताओं का लाभ उठाकर तथा केन्द्र की शक्तिहीनता का दुरुपयोग कर वे अत्यधिक धन को अवैध रूप में हथिया लेते थे और इस प्रकार राज्य को हानि उठानी पड़ती थी। वे राज्य को खिराज, करी व चराई आदि कर देना भी टाल देते थे। फलस्वरूप वे तुलनात्मक आधार पर अधिक सम्पन्न थे। बरनी की अति-रंजित शैली के पश्चात् भी इस विवेचन में सत्यता का काफी अंश है कि, "वे अच्छे घोड़ों पर सवार होते थे, रुचिकर वस्त्र धारण करते थे, ईरानी धनुषों का प्रयोग करते थे, शिकार अथवा आपस में युद्ध करने में व्यस्त रहते थे तथा शराब आदि की दावतें करते थे। वे खिराज, जजिया, मकान अथवा चराई कर भी न देते थे और इसके अतिरिक्त वे राजस्व एकत्रित करने के लिये धन प्राप्त करते थे।" वे आमंत्रित किये जाने पर अथवा बगैर बुलाये राजस्व-विभाग में उपस्थित नहीं होते थे और विभाग के अधिकारियों का निरादर करते थे।

जब अलाउद्दीन ने मुस्लिम वर्ग को विशिष्ट सुविधाओं से वंचित करने में कोई हिचकिचाहट न दिखाई तो कोई कारण नहीं था कि वह हिन्दू अधिकारियों पर कृपा करता। राजस्व में हानि के अतिरिक्त उनके आपस के झगड़े अनेकों राज-नैतिक अव्यवस्थाओं के लिए उत्तरदायी थे। इस प्रकार राजनैतिक तथा वित्तीय आधार पर उनके प्रति कार्यवाही करना आवश्यक था। अलाउद्दीन द्वारा खूत, चौधरी तथा मुकद्दमों को जो लगान सम्बन्धी सुविधायें दी गई थीं उन सब को रद्द कर दिया

और दूसरे वर्ग के भू स्वामियों के समान ही उनके साथ व्यवहार करने के आदेश दिये। किसी भी हिन्दू अथवा मुसलमान को खिराज के भुगतान के क्षेत्र में कोई विशेष सुविधा का उपभोग करने से वंचित कर दिया। इस प्रकार से हिन्दू तथा मुसलमान अनुचित सुविधाओं के उपयोग के आधार पर अनुपातिक रूप से प्रभावित हुए। भू-राजस्व के क्षेत्र में हिन्दुओं का बहुमत था और वे सुविधाओं का उपभोग काफी समय में करते चले आ रहे थे, इसलिए स्वाभाविक रूप में उनका इन सुधारों से प्रभावित होना निश्चित था। सर वूलजले हैग ने ठीक ही लिखा है, "सम्पूर्ण राज्य में हिन्दुओं को निर्धनता तथा पीड़ा के निम्नतर स्तर पर पहुंचा दिया और यदि कोई एक वर्ग अन्य वर्गों की अपेक्षा अधिक दयनीय स्थिति में था तो वह पैतृक आधार पर कर निर्धारित करने और उसे वसूल करने वाले अधिकारियों का था जो पहले सबसे अधिक सम्मानित थे।" हिन्दुओं की सम्पन्नता नष्ट अवश्य हो गई परन्तु फिर भी बरनी का यह कथन कि, "निर्धनता के कारण धन हेतु खूतों और मुकद्दमों की स्त्रियां मुसलमानों के घरों में काम करने जाने लगीं" अतिरंजित प्रतीत होता है।

अलाउद्दीन ने न तो "इक्ता" और न ही "खूत" पद्धति का उन्मूलन किया और न ही इनकी प्रतिस्थापना किसी दूसरी पद्धति से सम्भव ही थी। उसका एक मात्र उद्देश्य उन सब सुविधाओं को रद्द करना था जिनका इस वर्ग के द्वारा सरकार की कीमत पर उपयोग किया जाता रहा था और जिसके कारण राजस्व एकत्रित करने में कठिनाई के साथ ही अनेक अव्यवस्थायें उत्पन्न होती रही थी। खूत उसी प्रकार से अपना भाग प्राप्त करते रहे परन्तु इसके अतिरिक्त साधारण कृषकों की तरह उन्हें भी भू-राजस्व, मकान तथा चराई कर का भुगतान करना पड़ा।

राज्य की बढ़ती हुई माँगों की पूर्ति के लिए अलाउद्दीन ने मुस्लिम विधि में मान्य उच्चतम कर को वसूल करने की नीति अपनाई। उसने पैदावार का पचास प्रतिशत भू-राजस्व के रूप में वसूल करना आरम्भ किया। समकालीन लेखकों के आधार पर हम पिछले सुल्तानों के द्वारा भू-राजस्व में अलाउद्दीन द्वारा प्राप्त राजस्व की तुलना करने में असमर्थ हैं क्योंकि सही आँकड़े प्राप्त करना सम्भव नहीं हो पाया है। यह सभावना अधिक है कि इल्तुतमिश और बलबन के राज्यकाल से भू-राजस्व में वृद्धि करने की प्रवृत्ति विद्यमान थी परन्तु इसके पश्चात् भी अलाउद्दीन ने जितनी कठोरता से भू-राजस्व में बढ़ोतरी की थी उतनी बढ़ोतरी पिछले सुल्तानों के समय में नहीं हुई थी। इसका औचित्य सम्भवत सेना की कार्यकुशलता और समय की माग में ही निहित था।

अलाउद्दीन ने भू-राजस्व के क्षेत्र में पहली बार पैमाइश (नाप) के आधार पर राजस्व निर्धारित करने की नीति लागू की। यद्यपि यह पद्धति दक्षिण भारत में लागू थी तथा उत्तरी भारत के हिंदू शासक भी इससे परिचित थे परन्तु यह निश्चय

रूप से कहना अत्यन्त कठिन है कि उत्तरी भारत में इसका प्रचलन किस सीमा तक था। मुस्लिम विधि भी कर-निर्धारण में पैमाइश को महत्वपूर्ण अंग मानती थी। परन्तु कुतुबुद्दीन ऐबक से लेकर जलालुद्दीन खल्जी के काल तक तुर्क शासकों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अमील, कारकून आदि कर्मचारियों की सहायता से ही राजस्व वसूल किया जाता रहा। अलाउद्दीन सल्तनत युग का प्रथम शासक था जिसने पैमाइश की पद्धति को अधिक महत्व दिया।

राजस्व वसूल करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि राजस्व को आंकने तथा उसे वसूल करने की प्रक्रिया अभी तक पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाई थी इसीलिये कृषकों पर बकाया राशि रह जाया करती थी। अलाउद्दीन ने इस हेतु "मुस्तकहराज" नामक अधिकारी की नियुक्ति की जिसका एकमात्र कार्य इस बकाया की राशि को वसूल करना था। इसके अतिरिक्त राजस्व विभाग में और विशेषकर निम्न स्तर के अधिकारियों में घूस व बेईमानी अत्यधिक घर कर चुकी थी जिससे राज्य को हानि उठानी पड़ती थी। इस क्षेत्र में अलाउद्दीन ने दो युक्तियां अपनाई। एक ओर तो उसने निम्न स्तर के अधिकारियों के वेतन में बढ़ोतरी की जिससे कि वे सम्मानित रूप में जीवन-यापन करने में समर्थ हो सकें और घूस आदि लेने के प्रति लालायित न हों और दूसरी ओर उसने गबन तथा घूस के आधार पर अधिकारियों को कठोरतम दण्ड देने की नीति अपनाई। बरनी के अनुसार लगभग दस हजार अधिकारियों को इसके अन्तर्गत दण्डित किया गया। इससे घूस और बेईमान अत्यधिक कम हो गई तथा राजकोष को अधिक राजस्व प्राप्त होने लगा। बरनी[1] ने लिखा है कि, "पांच सौ अथवा एक हजार टंक के लिये लगान अधिकारी को वर्षों तक कारागृह में रहना पड़ता था। कोई अधिकारी किसी से एक टंक भी रिश्वत लेने का साहस नहीं कर सकता था। प्रजा भी इतनी भयभीत थी कि एक साधारण लगान अधिकारी बारह खूत और चौधरियों से लगान वसूल करने में समर्थ था। साधारण लोग लगान अधिकारियों से इतनी घृणा करते थे कि कोई भी व्यक्ति उनसे अपनी पुत्री का विवाह करने को तत्पर नहीं था।"

अलाउद्दीन के भू-राजस्व सम्बन्धी सुधारों में उसके द्वारा पटवारियों के लेखे का निरीक्षण करना भी एक महत्वपूर्ण कदम था। यद्यपि यह ठीक है कि ऐसे लेखों का कार्यक्षेत्र अत्यधिक सीमित था और इन लेखों को ढूंढ निकालना भी दुष्कर था, परन्तु फिर भी यही लेख ऐसे थे जिनके आधार पर एक व्यवस्थित प्रणाली आधारित की जा सकती थी। इसके साथ ही अलाउद्दीन प्रथम शासक था जिसने इन आधारभूत लेखों को ढूंढ निकालने का प्रयास किया था।

भूमि-कर के अतिरिक्त अलाउद्दीन ने आवास-कर व चराई-कर भी लागू किये। बरनी के अनुसार सुल्तान ने समस्त दुधारू पशुओं पर कर लगाया था।

1. बरनी, तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ. 296

फरिश्ता के अनुसार दो जोड़ी बैल, एक जोड़ी भैंस, दो गायें तथा दस बकरियाँ इस कर से मुक्त थीं। पशुओं की इस संख्या के ऊपर यदि कोई दुधारू पशु चारागाहों में भेजता था तब ही उससे कर वसूल किया जाता था। स्वाभाविक रूप से वे पशु जो चारागाहों में न भेजे जाते थे, अपितु घर पर ही जिनकी व्यवस्था की जाती थी वे इस कर से निश्चित ही मुक्त रहे होंगे।

चराई-कर लागू करने से मास के भावों में अवश्य ही वृद्धि हुई होगी और अलाउद्दीन ने इसलिये पशुओं पर लगाये जाने वाले कर को रद्द कर दिया परन्तु चराई कर यथावत बना रहा। चराई-कर की अपेक्षा पशुओं पर लगाये जाने वाले कर को रद्द करने का संभवतः यह कारण था कि वह इस आधार पर कृषि योग्य भूमि को चारागाह के रूप में परिवर्तित होने से बचा सकता था। इस प्रकार की बेईमानी खूत और मुकद्दम आदि किया करते थे और अलाउद्दीन इसको रोक कर राज्य की भूमि से प्राप्त आय को बढ़ाने के लिए उत्सुक था।

बरनी के विवरण से ऐसा आभास लगता है कि ये सुधार समस्त राज्य में लागू नहीं किये गये थे। केवल लाहौर, दीपालपुर, समाना, सुनम, दिल्ली, बयाना, अफगानपुर, अमरोहा, कटेहर, झेन, रेवाड़ी व नागौर में ही इन सुधारों को लागू किया गया था। नीचला दोआब, अवध, गोरखपुर, बिहार, बंगाल, मालवा आदि इन सुधारों के कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित नहीं थे।

कर को अलाउद्दीन नकद के रूप में लेने के लिये इच्छुक नहीं था। अलाउद्दीन के बाजार-नियन्त्रण की सफलता के लिये आवश्यक था कि कृषक भूमि-कर उपज के रूप में दें। इसलिये उसने आदेश दिये थे कि दोआब में स्थित समस्त खालसा भूमि का लगान उपज के रूप में वसूल किया जावे तथा शहर-ए-नू व उसके समीपवर्ती प्रदेशों से लगान की वसूली उपज अथवा नकद में वसूल की जावे।

अलाउद्दीन की भूमि-कर की कठोर आलोचना की गई है। कर अत्यधिक था यह पूर्णतया स्पष्ट है और इससे समाज के प्रत्येक वर्ग को—कृषक, भू-स्वामी, व्यापारी आदि सब ही को इसका भार वहन करना पड़ा। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में जहां भूमि-कर ही आय का प्रमुख साधन हो, वहां उस कर में बढ़ोतरी करने पर स्वाभाविक रूप से समस्त वर्गों का प्रभावित हो जाना निश्चित है। यहां यह जान लेना भी उचित होगा कि अलाउद्दीन बाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा के लिये अत्यधिक धन खर्च के लिये बाध्य था और उसे किसी न किसी साधन से धन जुटाने की आवश्यकता थी। परन्तु यह कहना कि भूमिकर को बढ़ाकर वह हिन्दू वर्ग की कमर तोड़ने पर उद्यत था, मात्र अतिशयोक्ति है। समस्त वर्गों पर ही इस बढ़े हुये भू-राजस्व का प्रभाव पड़ा और क्योंकि कृषक व भू-स्वामी अधिकतर हिन्दू ही थे, इसलिए इस वर्ग पर इस बढ़ोतरी का अधिक प्रभाव पड़ना एक साधारण सी बात थी। इसके अतिरिक्त खूत और मुकद्दम क्योंकि हिन्दू थे, इसलिए उनकी स्थिति भी

दयनीय हो जाना एक निश्चित परिणाम था। परन्तु भू-राजस्व में वढ़ोतरी करना भी आवश्यक था क्योंकि आन्तरिक विद्रोहों को कुचलने के मूल्य के रूप में तथा बाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा के लिये प्रत्येक वर्ग का इसमें योगदान अवश्यम्भावी था। इसके विपरीत यह भी मत कुछ अंशों तक उचित है कि भू-राजस्व में वढ़ोतरी के बाद भी कृषकों की आर्थिक स्थिति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि न तो कृषक अपनी भूमि छोड़ कर ही भागे और न ही कर वढ़ोतरी के विरुद्ध कोई विद्रोह ही हुए। अप्रत्यक्ष रूप से कृषक कुछ अंशों में इस आधार पर सन्तुष्ट थे कि उन पर अत्याचार करने वाले खूत और मुकद्दमों की स्थिति उनसे कहीं अधिक दयनीय हो गई थी। परन्तु यह सन्तुष्टि केवल मनोवैज्ञानिक ही थी और स्थायी रूप से इससे सन्तोष मिलना सम्भव नहीं था। कृषक जो भूमि की उपज का पचास प्रतिशत भूमि-कर के रूप में देता था और उसके पश्चात् भी उसे अनेक प्रकार के कर देने के लिये बाध्य किया जाता था, ऐसी स्थिति में कर-चुकाने के पश्चात् भरण-पोषण के लिये उसके पास नाम-मात्र की ही राशि बचती होगी। ऐसी स्थिति में मनोवैज्ञानिक सन्तुष्टि केवल एक भुलावा मात्र थी जिससे अधिक समय तक सन्तुष्ट रहना सम्भव नहीं था। अतः यह स्वीकार करना अधिक उचित होगा कि बढ़ा हुआ राजस्व सर्व-साधारण के हित में नहीं था। डा. ताराचन्द का मत अधिक न्यायसंगत प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था आत्मघातक सिद्ध हुई क्योंकि इसने सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी का ही अन्त कर दिया। इसने उत्पादन-वृद्धि व कृषि में सुधार को किसी प्रकार से प्रोत्साहित नहीं किया। सम्भवतः अलाउद्दीन की कठोर व्यवस्था उसके साथ ही समाप्त हो गई क्योंकि न तो सर्वसाधारण को इससे सहानुभूति थी और न ही इसमें उनकी सम्पन्नता की सुरक्षा थी। इसलिये यद्यपि उसकी इस व्यवस्था ने उसके उद्देश्यों की पूर्ति अवश्य की परन्तु यह किसी प्रकार से स्थायी नहीं बन सकी।

तुगलक-वंशीय भू-राजस्व व्यवस्था—गयासुद्दीन ने राज्यकाल के आरम्भिक वर्षों में राजस्व-सम्बन्धी व्यवस्था की ओर कोई ध्यान न दिया। परिस्थितियों की प्रतिकूलता तथा अपनी स्थिति को देखकर उसने यह उचित नहीं समझा कि मुबारक शाह की नीति में शीघ्र ही कोई आमूल-चूल परिवर्तन किया जावे। सत्ता-प्राप्ति में उसे सैनिक-वर्ग की सहायता प्राप्त हुई थी इसलिये सैनिकों को प्रसन्न रखना आव-श्यक था। ऐसा न करने पर पुनः विद्रोह और उसकी सत्ता को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया जा सकता था। सैनिकों को सन्तुष्ट रखने के लिये उसने उन्हें पुनः इक्ता दिये तथा राजस्व-प्राप्ति में भी अतिसेवन की अनुमति प्रदान की। इसके अतिरिक्त गयासुद्दीन एक वित्त विशेषज्ञ न होकर प्रथमतः एक सैनिक ही था। उसमें अलाउद्दीन की कठोरता की अपेक्षा संतुलन अधिक था।

इस साधारण नीति के अनुसरण तथा जनसाधारण की सहानुभूति प्राप्त करने हेतु उसने अलाउद्दीन की पद्धति में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। अलाउद्दीन की नीति का प्रमुख दोष था कि वह बगैर किसी तर्क अथवा विचार के निर्धारित

राजस्व को एकत्रित करने पर अधिक बल देता था। गयासुद्दीन ने इस नीति को अनौचित्यपूर्ण माना और आदेश दिया कि फसलों के आकस्मिक खराब हो जाने अथवा प्राकृतिक प्रकोप की स्थिति में उचित छूट दी जावे। गयासुद्दीन की इस विवेकपूर्ण नीति ने एक ओर तो कृषकों पर बकाया की राशि को न्यूनतम कर दिया और दूसरी ओर उसे कीर्ति का भागी भी बनाया। डा. त्रिपाठी[1] का मत है कि गयासुद्दीन की इस नीति ने सल्तनतकालीन भू राजस्व व्यवस्था की उपयोगिता के उस उच्चतम शिखर तक पहुँचा दिया जो कि सूर अथवा मुगल वंश में भी प्राप्त नहीं हो सकी।' यदि गयासुद्दीन ने पैमाइश की पद्धति को अपनाया होता अथवा इक्ता देने की प्रथा को पुनर्जीवित नहीं किया होता अथवा मुक्तियों के प्रति उदासीनता न प्रदर्शित की होती तो संभवतः उसकी नीति सर्वश्रेष्ठ होती। परन्तु इसके बाद भी कृषि को हानि होने की स्थिति में छूट देने के सिद्धान्त को स्वीकार कर गयासुद्दीन ने शाही राजस्व नीति के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

गयासुद्दीन भू राजस्व को बढाने की दिशा में पीछे नहीं था परन्तु अलाउद्दीन के विरोध में वह केवल क्रमिक बढोतरी का पक्षपाती था। यह अविश्वसनीय है कि उसने उपज का केवल $\frac{1}{10}$ अथवा $\frac{1}{11}$ भाग भू राजस्व के रूप में स्वीकार किया क्योंकि कहीं पर भी हिंदू अथवा मुस्लिम विधि ने इस प्रकार के सौम्य विचार की अनुशंसा अथवा सिफारिश नहीं की। इसके अतिरिक्त गयासुद्दीन को परिस्थितिवश एक शक्तिशाली सेना को रखने तथा सैनिकों को प्रसन्न मुद्रा में रखने की भी आवश्यकता का आभास था। गयासुद्दीन इतना बुद्धिहीन नहीं था कि वह भू राजस्व को इन परिस्थितियों में इतना कम कर देता।

बरनी का विवरण क्योंकि अस्पष्ट है इसलिए यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। परन्तु यदि इस काल की राजस्व व्यवस्था का समुचित अध्ययन किया जावे तो यह भ्रान्ति स्वयं ही समाप्त हो जाती है। केन्द्रीय सरकार व्यक्तिगत कृषकों से सम्पर्क रखने की अपेक्षा मुक्तियों के माध्यम से ही भू राजस्व वसूल करती थी। साधारण स्थिति में कोई भी मुक्ति अपने इक्ता पर एकदम बढोतरी की नीति का समर्थक नहीं हो सकता था क्योंकि ऐसी स्थिति में उसकी आय बढोतरी के कारण एकदम कम हो जाती जो कि उसके लिये घातक थी। एकदम बढोतरी को स्वीकार करना उसके लिए सम्भव नहीं था। दूसरी ओर स्वयं गयासुद्दीन अमानुषिक बढोतरी की अपेक्षा उत्तरोत्तर बढोतरी का समर्थक था। अधिक संभावना यह प्रतीत होती है कि उसने इक्ता के राजस्व में किसी एक वर्ष में $\frac{1}{10}$ अथवा $\frac{1}{11}$ प्रतिशत की बढोतरी के आदेश दिये हों।

इसके अतिरिक्त गयासुद्दीन द्वारा किये गये सुधारों में एक महत्वपूर्ण आदेश यह भी था कि भविष्य में भू राजस्व की मांग पूर्णतया 'हासिल' पर ही आधारित

---

1 आर. पी. त्रिपाठी वही पृ 269

हो। इससे पहले सरकारी मांग केवल प्राप्त राजकीय आंकड़ों पर आधारित थी जो कि परम्परागत निर्धारण अथवा अनुमान पर आधारित थी। समय के अनुसार मूल्यों तथा उपज के घट-बढ़ के कारण ये आंकड़े न केवल अनुपयोगी अपितु हानिकारक हो चुके थे। "हासिल" के आधार पर भू-राजस्व को निर्धारित करने की गयासुद्दीन की नीति बुद्धिमतापूर्ण तथा न्यायसंगत थी। इससे मुक्ति अनुमानिक उपज के आधार पर जो अधिक राजस्व देते थे उसकी चिन्ता से मुक्त हो गये तथा साधारण कृषक पर की जाने वाली मांग को यथा-सम्भव न्यूनतम कर दिया गया।

मुक्ति, मुतसरफ व कारकून वर्ग के प्रति वह कृपालु था। यद्यपि अलाउद्दीन के कठोर नियमों ने घूस और बेईमानी को अवश्य ही कम कर दिया परन्तु निष्कपट अथवा सच्चरित्र अधिकारियों के लिये यह कठोर था। क्योंकि राज्य द्वारा निश्चित कर उगाहने में उन्हें उचित व अनुचित कार्यों का आश्रय लेना पड़ता था। गयासुद्दीन ने इस कठोरता का अनुभव किया और यह आदेश दिया कि कारकून व मुतसरफ के हिसाबों में यदि थोड़ा अन्तर हो तो उस ओर कोई ध्यान न दिया जावे। इसका यह अर्थ नहीं था कि उसने इन दोनों अधिकारियों को धन गबन करने अथवा 'जमा' के अतिरिक्त अधिक भाग लेने के लिये अनुमति दे दी हो। इसी प्रकार से अमीरों और मलिकों को भी चार से पांच प्रतिशत हथियाने पर उन्हें उत्पीड़ित नहीं किया जाता था।

खूतों को वह उनके पुराने अधिकारों का उपभोग करने के लिये तत्पर था। वह उन्हें भू-राजस्व तथा चराई-कर से मुक्त करने को तत्पर था, यदि वे कृषकों से राज्य द्वारा निर्धारित करों के अतिरिक्त और कोई मांग न करें। उसका यह विचार था कि यदि खूतों के साथ साधारण अधिकारियों के समरूप व्यवहार किया गया तो वे अपने कार्य में रुचि नहीं लेवेंगे। इसके अतिरिक्त क्योंकि उनके उत्तरदायित्व महत्वपूर्ण हैं इसलिये उनको विशेष सुविधायें प्रदान करना न्यायोचित है। हिन्दुओं के प्रति वह सौम्य नीति का पालन करने का समर्थक था जिससे कि वे कर के भार से अधिक बोझिल न हों और इस कारण खेती-बाड़ी न छोड़ बैठें। यदि कोई खूत कृषकों से अधिक कर प्राप्त कर लेता था तो वह कठोर दण्ड का भागी होता था, परन्तु साधारण कठोरता से कर वसूल करने के लिये अधिकारी क्षम्य था। अपनी उदार तथा मध्यम-मार्गी नीति से सुल्तान कृषकों, लगान अधिकारियों और सरकारी कर्मचारियों को सुखी व सन्तुष्ट बनाने में सफल हुआ तथा साथ ही राज्य में कृषि-योग्य भूमि में वृद्धि करने के साथ ही आय बढ़ा सका।

मुहम्मद तुगलक के आरम्भिक वर्षों में गयासुद्दीन के समय के नियम पूर्ववत लागू रहे। वह स्वयं भू-राजस्व में रुचि रखता था, इसलिए उसने अनेकों अध्यादेश लागू किये। उसने सर्वप्रथम सूबों की आय-व्यय का एक रजिस्टर बनवाया और सूबेदारों को नियमित रूप से अपने आधीन प्रदेश की आय-व्यय का हिसाब भेजने के

आदेश दिये। सम्भवत उसका उद्देश्य था कि समस्त राज्य में एक ही प्रकार की भू राजस्व व्यवस्था स्थापित हो तथा किसी भी गाव से लगान वसूली छूट न पाये। परन्तु इसके बाद भी यह जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है कि सुल्तान ने इस रजिस्टर का उपयोग विभिन्नताओं को समाप्त करने म किस प्रकार किया।

उसके प्रारम्भिक वर्षों मे भू राजस्व का कार्य इतनी सुगमता से चलता रहा कि बगाल और गुजरात जैसे दूरस्थ सूबो से भी राजस्व नियमित रूप से जमा होता रहा। बरनी उसकी इस व्यवस्था की प्रशसा करता है। स्वय सुल्तान भी राजस्व विभाग की काय-पद्धति से सन्तुष्ट था। उसने यह उचित समझा कि भू राजस्व की दरो म बढोतरी की जावे और समस्त ऐसे प्रदेश जो तुलनात्मक आधार पर अधिक उपजाऊ है उनसे अधिक राजस्व प्राप्त किया जावे।

राजस्व की बढोतरी क प्रयोग को कार्यान्वित करने के लिये दोआब का प्रदेश अति उपयुक्त था। यह प्रदेश केन्द्र के निकट था तथा इसमे सिंचाई की उचित व्यवस्था थी। क्योकि भू-राजस्व पहले से ही अधिक भारपूर्ण था, इसलिये उसने कुछ अबवाब लागू करने की योजना बनाई जिसमे कि राजस्व म 5 से 10 प्रतिशत की बढोतरी हो सक। यदि बरनी न इन अबवाबो की सूची दी होती तो सम्भवत उसकी नीति का मूल्याकन करना सरल होता। तारीख-ए-मुबारकशाही का कहना है कि सुल्तान न आवास-कर व चराई-कर लागू किये जिसके लिए मकानो को सख्याकित किया गया तथा पशुओ को दागा गया। सुल्तान का उद्देश्य पुन अला-उद्दीन की नीति को एक सीमित क्षेत्र पर लागू करने से अधिक न था।

कर की वृद्धि करन क सम्बन्ध मे इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। डा. मेहदी हुसैन के अनुसार सुल्तान को बाध्य होकर कर बढाना पडा था, क्योंकि खुरासान की विजय के लिए सगठित सेना को बरखास्त करने के कारण कृषकों की सख्या मे अत्यधिक बढोतरी हो गई थी। डा. ईश्वरी प्रसाद के अनुसार कर में वृद्धि नवीन योजनाओं को और विशेषतया कराजल के अभियान को सफल बनाने के लिए की गई थी। बदायूनी का कथन है कि कर की वृद्धि का कारण दोआब की प्रजा को दण्डित करना था जो सदैव ही तुर्कों का विरोध करती चली आ रही थी। इसलिए उनको नियन्त्रण म रखने के लिये यह कर लागू किया गया था। वास्तविकता कुछ भी रही हो परन्तु इतना निश्चित है कि कर मे वृद्धि हुई थी।

सुल्तान की इस कर-वृद्धि का दोआब में कठोर विरोध हुआ। यह कहा जाता है कि 5 स 10 प्रतिशत की वृद्धि समस्त कठिनाई उत्पन्न करने मे असमर्थ थी। अलाउद्दीन खल्जी के समय से ही कर की दरें अत्यधिक थीं और आवास-कर व चराई कर उसी समय से अप्रिय थे, परन्तु जनसाधारण ने केवल इसलिये इनको स्वीकार किया था कि मगोलों का आतक उन्हें स्पष्ट दिखाई दे रहा था। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन ने राज्य के किसी एक अथवा दूसरे भाग में किसी भी प्रकार

का विभेद किये बगैर कर लागू किये थे। परन्तु मुहम्मद तुगलक ने दोआब को ही कर-वृद्धि के लिये चुना और वो भी एक ऐसे समय में जबकि विदेशी आक्रमण की कोई सम्भावना नहीं थी। मुहम्मद तुगलक का ऐसे करों को पुनर्लागू करना और ऐसी स्थिति में जब कि जनता पुराने करों के प्रभावों के दुष्परिणामों से मुक्त भी नहीं हो पाई थी, निश्चित् ही यह उनके असन्तोष को प्रोत्साहित कर विद्रोह करने के लिये सहायक सिद्ध हुई। इसके अतिरिक्त एक निर्बल तथा अशक्त जनता पर 5 से 10 प्रतिशत की बढ़ोतरी किसी प्रकार से नगण्य नहीं कही जा सकती। रही-सही कसर दुर्भिक्ष ने पूरी कर दी।

कर में वृद्धि के कारण दोआब के कृषकों की स्थिति अत्यधिक दयनीय हो गई और अधिकारियों ने जिस कठोरता से करों को वसूल किया उससे कृषकों में और अधिक अधीरता फैली। स्थिति-गम्भीर से गम्भीरतर होती चली गयी। अधिकारियों के क्रूर व्यवहार से तंग आकर कृषकों ने अपने गांव व खेत छोड़ दिये तथा वे भाग खड़े हुए। सुल्तान अपनी विफलता को अनुभव कर अत्यधिक क्रोधित हुआ और जैसा कि समकालीन लेखक बरनी के विवरण से स्पष्ट है कि, "लगान वसूली की असफलता से रुष्ट होकर सुल्तान ने हिन्दुओं का जंगली पशुओं की तरह शिकार किया जिसमें हजारों व्यक्ति मारे गये।"

सुल्तान ने अकाल की विभीषिका को कम करने के लिए अनेक उपाय अपनाये। उसने बीज, बैल आदि के लिए कृषकों को धन दिया परन्तु समस्या इतनी भीषण थी कि कृषकों ने जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करने में इसे व्यय कर दिया। सुल्तान ने अकाल का कारण जल की अत्यधिक कमी को जानकर कुए खुदवाने के आदेश दिये। उसने यह भी विकल्प दिया कि पीड़ित परिवार संकट के समय के लिए दूसरे प्रदेशों में निवास-हेतु चले जावें। सुल्तान ने सहायता हेतु दो करोड़ टंक की राशि भी इस हेतु खर्च की। निश्चित् ही ऐसे कुसमय में कोष पर अधिक भार पड़ा होगा और राज्य की आर्थिक स्थिति और अधिक दयनीय हो गई होगी।

मुहम्मद तुगलक ने इस अकाल से यह अनुभव किया कि केवल एक ही प्रदेश पर निर्भर रहने के भयंकर परिणाम हो सकते हैं और इसलिये दूसरे प्रान्तों की भूमि को भी उपजाऊ बनाने का प्रयास किया जावे। इस उद्देश्य के अन्तर्गत उसने 'दीवानेकोही' नामक विभाग की स्थापना की। इस विभाग का एकमात्र कार्य राजकीय देखरेख और आर्थिक सहायता से अर्ध-उपजाऊ भूमि को कृषि-योग्य बनाने का था। प्रयोग के लिये एक विस्तृत 60 वर्ग मील की भूमि का टुकड़ा चुना गया जिस पर दो वर्षों में 70 लाख टंक व्यय किये गये। इस पर फसलों के चक्रानुसरण (Rotation) द्वारा विभिन्न फसलें उगाने का प्रयत्न किया गया। भूमि गरीबों को अथवा जिन्हें आवश्यकता थी उन्हें दी गई और राज्य की ओर से अनेक अधिकारी इसके निरीक्षण हेतु नियुक्त किये गये।

यह प्रयोग यद्यपि रुचिकर था, परन्तु इसे असफलता ही मिली। इसके लिये अनेक कारण उत्तरदायी थे—जैसे कि यह प्रयोग पूर्णत नवीन था जिसके लिये पूर्ववर्ती (Precedent) उदाहरण नहीं था, प्रयोग के लिये चुनी गई भूमि उपजाऊ नहीं थी तथा तीन वर्ष का प्रयोग-समय इसके लिये अत्यधिक कम था। इसके अतिरिक्त अधिकारियों ने ईमानदारी से काम नहीं किया तथा कृषकों ने धन का उपयोग अपनी स्थिति को सुधारने में किया।

अलाउद्दीन की तरह मुहम्मद तुगलक भी नपाई की पद्धति में विश्वास करता था। नपाई की पद्धति कृषकों को न तो अलाउद्दीन के समय में रुचिकर लगी थी और न ही इस काल में भी वो इसको उचित स्वीकार करते थे, परन्तु मुहम्मद तुगलक इसके प्रति इतना उत्सुक था कि दोआब में उसने इस पद्धति को लागू किया। यह स्पष्ट नहीं है कि अनेक कठिनाइयों के बाद भी उसने इसका परित्याग किया था अथवा नहीं।

मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के समय राज्य की वित्तीय व राजस्व व्यवस्था, राजनैतिक स्थिति के अनुरूप ही शोचनीय थी। इसलिये उसके उत्तराधिकारी फीरोज तुगलक का प्रथम दायित्व था कि वह अधिकारियों और जनसाधारण में राज्य के प्रति विश्वास की भावना उत्पन्न करे जिससे कि वे सामान्य जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकें। जन-साधारण कठोर कर व शासन की अव्यवस्था तथा प्राकृतिक प्रकोप से अत्यन्त दुखी थे, और इसलिये फीरोज ने यदि मुहम्मद तुगलक की नीति का ही पालन किया होता तो यह उसकी विनाश मूल होती। परिस्थिति-वश तथा अपने नम्र स्वभाव के कारण उसने आरम्भ से ही एक उदार व सौम्य नीति को अपनाया।

फीरोज ने सर्वप्रथम जनसाधारण को दिये गये ऋण को रद्द कर दिया जो लगभग दो करोड़ था। ऐसे समय में जब राज्य अकाल ग्रस्त था तथा पिछले सुल्तान द्वारा धन का अपव्यय किया गया था, इतनी बड़ी राशि को रद्द करना सरल नहीं था, परन्तु जनसाधारण की सद्भावनाओं को विजित करने तथा सरकार के सद् निश्चय की अभिव्यक्ति के लिये यह आवश्यक था। यह ठीक है कि अवश्यत. फीरोज त्रस्त कृषकों से इस ऋण को वसूल करने में असमर्थ रहता, परन्तु इसके बाद भी दूरदर्शिता से काम लेकर उसने एक अभिशाप को वरदान में बदल दिया और फिर कभी अपने समस्त राज्यकाल में इसको वसूल करने के सम्बन्ध में सोच विचार भी नहीं किया।

राज क्षमा (Amnesty) उस समय और भी अधिक प्रभावपूर्ण प्रमाणित हुई जब उसने वजीर के द्वारा दी गई समस्त भेंटों को, जो उसने मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के पश्चात् (उसके पुत्र के पक्ष को प्रबल बनाने के लिये) बांटी थी, वसूल करने की अस्वीकृति दे दी। अलाउद्दीन और गयासुद्दीन तुगलक के समय में इस प्रकार

की दी गई भेंटें पुनः वसूल की गई थीं, और यदि फीरोज चाहता तो उसको इन्हें पुनः प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती, क्योंकि इनका समस्त लेखा जोखा पूर्णतया सुरक्षित था, परन्तु फीरोज ने इनको भी रद्द कर दिया।

अधिकारी वर्ग के विश्वास को जीतने के लिये उसने उनका वेतन बढ़ा दिया तथा हिसाब व 'मतालबा' प्रस्तुत करते समय जो उन्हें यातनायें दी जाती थीं उनका निषेध कर दिया। गुप्तचर जो उनकी गतिविधियों की जानकारी देने के लिये नियुक्त किये गये थे उन्हें भी हटा दिया गया।

फीरोज को सत्ता प्राप्ति में उलेमा वर्ग से सहयोग प्राप्त हुआ था, इसलिये वह उन्हें सन्तुष्ट रखने का इच्छुक था। पिछले पचास वर्षों से उलेमा वर्ग के प्रति उदासीनता की नीति अपनाई गई थी, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप वे सल्तनत के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रखते थे। क्योंकि इस वर्ग का जनसाधारण पर सक्रिय प्रभाव था तथा इनसे विद्वेष मोल लेना राज्य के लिये, फीरोज के अनुसार उचित नहीं था, इसलिये उसने उन्हें संतुष्ट करने का प्रयास किया। उसने उनकी शिकायतों को दूर कर उनसे मेल-मिलाप की नीति आरम्भ की। उनको दिये गये समस्त अनुदान जो रद्द कर दिये गये थे, उसने उन्हें पुनः वापिस लौटा दिया। ऐसी समस्त भूमि जो खालसा के अन्तर्गत ले ली गई थी उसे भी वापिस दे दिया गया। डॉ. त्रिपाठी के अनुसार दिल्ली के किसी भी सुल्तान ने उलेमा वर्ग के प्रति इतनी नम्र व उदार नीति नहीं अपनाई थी।

फीरोज की यह नीति कुछ समय के लिये राजनैतिक लाभों से परिपूर्ण थी, परन्तु एक खाली खजाने के लिए अनर्थकारी थी। इस नीति ने यद्यपि फीरोज को लोकप्रिय बना दिया, परन्तु राज्य के साधारण लाभों की प्राप्ति के संदर्भ में इस नीति की उपियोगिता संदेहास्पद है। तत्कालीन समस्या थी कि राज्य में शान्ति व व्यवस्था किसी भी मूल्य पर स्थापित्त की जावे और फीरोज सफल हुआ।

इसके पश्चात् फीरोज ने राजस्व-सम्बन्धी मामलों की ओर ध्यान दिया। वह इस बात को जानने का इच्छुक था कि राज्य की कुल आय कितनी है जिससे कि उसके अनुरूप आवश्यक खर्चे में कटौती की जावे। पिछली 'जमा' का लेखा-जोखा पुराना हो चुका था और इसलिये उसने ख्वाजा हुसामुद्दीन को नये 'जमा' का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के लिये नियुक्त किया। उसने 6 वर्ष के अथक परिश्रम के पश्चात् राज्य के राजस्व को 6 करोड़ 75 लाख टंक निश्चित किया। फीरोज के समस्त राज्यकाल में यही 'जमा' स्वीकार किया जाता रहा। 'जमा' निर्धारित करने में पैमाइश की अपेक्षा अनुमान को आधार बनाया गया और राजस्व विभाग के पुराने लेखे की सहायता ली गई। यद्यपि ये पद्धति वैज्ञानिक नहीं थी, परन्तु फिर भी फीरोज के सम्पूर्ण राज्यकाल में इसी को अपनाया जाता रहा। इस आधारभूत दोष

के होते हुए भी स्थायी रूप में राजस्व को निश्चित् करना फीरोज की एक महान उपलब्धि थी।[1]

फीरोज की इस 'जमा' की विशेषता थी कि इसमें विभिन्न अबवाबों की गणना अथवा उनको हिसाब में नहीं लिया गया था। फीरोज ने स्वयं ऐसे 24 अबवाबों की संख्या बताई है और इस प्रकार के दूसरे अबवाब भी थे। हम यह जानने में असमर्थ हैं कि वास्तव में किन-किन अबवाबों को समाप्त कर दिया गया था अथवा इनमें से कौन से राज्य के लिए समुचित धन जुटाने में समर्थ थे। हम केवल यह कह सकते हैं कि इनमें आवास-कर व चराई-कर राजस्व के लिए निश्चित ही महत्वपूर्ण साधन थे।

फीरोज के राज्य-काल में लगान उपज का 1/3 से 1/5 भाग तक लिया जाता था, परन्तु राजस्व एकत्रित करने के क्षेत्र में फीरोज ने मुहम्मद तुगलक की नीति की अपेक्षा गयासुद्दीन की नीति को लागू करना अधिक उपयोगी स्वीकार किया। उसने आदेश दिये कि खराज और जजिया 'हासिल' के अनुसार लागू किये जावें तथा इनके अतिरिक्त कृषकों से और कुछ न वसूल किया जावे।

फीरोज का सबसे महत्वपूर्ण व स्थायी योगदान उसकी नहरों के निर्माण की नीति थी, जिससे कि पूर्वी पंजाब का वो भाग जहां जल की कमी के कारण उपज उगाना सम्भव नहीं था, उपजाऊ बन सका। नहरों का निर्माण उसकी राजस्व नीति का एक अंग बन गई। इसके अन्तर्गत उसने पांच बड़ी नहरों का निर्माण करवाया। इनमें से एक 150 मील लम्बी थी जो यमुना से हिसार तक जाती थी। दूसरी 96 मील लम्बी थी जो सतलज से घाघरा तक जाती थी, तीसरी नहर सिरमौर की पहाड़ियों से लेकर हांसी तक जाती थी, चौथी घाघरा से फिरोजाबाद तक और पांचवी यमुना से फिरोजाबाद तक जाती थी। इन नहरों का महत्व इसी से स्पष्ट है कि इनमें से केवल दो नहरों—रजीवाव व अलागखानी से लगभग 160 मील की भूमि लाभान्वित थी।

फीरोज की यह नीति लाभदायक सिद्ध हुई। कृषि-योग्य भूमि में बढ़ोतरी हुई व राज्य में सब ओर सम्पन्नता दिखाई देने लगी। नहरों के किनारों पर अनेकों नई बस्तियां बस गईं। अकेले दोआब में लगभग 52 नई आबादियां दिखाई देने लगीं। अफीफ ने लिखा है कि "एक गांव भी अब उजाड़ नहीं रहा और न ही एक वर्ग गज भूमि बगैर जुती हुई रही। जीवन की आवश्यकतायें प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं और फीरोज के सम्पूर्ण राज्यकाल में, बिना किसी प्रयत्न के, अनाज के मूल्य अलाउद्दीन के समान ही सस्ते बने रहे।" समहदह तथा करला से लेकर कोल तक खेत लहलहाने लगे।

---

1 ए. एल. श्रीवास्तव, दिल्ली सल्तनत, पृ. 203

इसके अतिरिक्त फीरोज ने सिंचाई कर लागू कर राजस्व में वृद्धि की। मुहम्मद तुगलक दोआब में केवल 5 से 10 प्रतिशत कर में बढ़ोतरी कर वहां की प्रजा का कोप-भाजक बना था, परन्तु फीरोज ने सिंचाई कर के रूप में उपज का 1/10 भाग बढ़ाकर भी प्रजा की सहानुभूति व विश्वास प्राप्त किया।

इसके अतिरिक्त डा. त्रिपाठी के अनुसार राज्य को यह लाभ भी हुआ कि इसके पश्चात दिल्ली का प्रदेश खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्म-निर्भर हो गया, जिसके कि संकट की स्थिति में दिल्ली प्रदेश स्वयं अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता था। इस प्रकार उसने दिल्ली की उस भयानक प्रकोप से रक्षा के लिये साधन जुटाये जिसका अनुभव मुहम्मद तुगलक के समय में पड़े अकाल के फलस्वरूप हुआ था। फीरोज की इसी नीति के अन्तर्गत दिल्ली के आसपास लगभग 1200 फलों के बाड़े लगवाये गये जिनसे राजस्व के रूप में प्रति वर्ष 1 लाख 80 हजार टंक प्राप्त होते थे।

फीरोज की भू-राजस्व नीति में मुख्यतः दो दोष थे। उसने भूमि को ठेके पर देने की प्रथा को और अधिक विकसित किया। यद्यपि यह ठीक है कि ठेकेदारी प्रथा पूर्व सुल्तानों के समय में भी विद्यमान थी, परन्तु वह पूर्व सुल्तानों की अपेक्षा इस क्षेत्र में अधिक उदार था। उसकी इस नीति की विशेषता थी कि उसने प्रान्तों के राजस्व को भी ठेकेदारी पद्धति के आधार पर सरकारी अधिकारियों को देना आरम्भ कर दिया। ठेकेदार भू-राजस्व के अधिकार को प्राप्त करने के लिये ऊंची बोली बोलते थे, जिसका भार स्वाभाविक रूप में कृषकों पर ही पड़ता था। गुजरात की नियावत के लिये अबु राजा जियाउलमुल्क व शम्सी दमगानी प्रतिद्वन्द्वी थे। दमगानी से गुजरात के औसत राजस्व के अतिरिक्त 40 लाख टंक, कुछ सौ हाथी, दो सौ अरबी घोड़े व चार हजार हिन्दू व अबीसीनियन दास भेंट देने का प्रस्ताव रक्खा। क्योंकि अबु राजा को यह स्वीकार नहीं था, इसलिये गुजरात के राजस्व-वसूली का कार्य दमगानी को सौंपा गया। स्वाभाविक था कि उसने अत्यधिक राजस्व देकर अधिकार कर प्राप्त किया था, इसलिये इस अतिरिक्त भार के भागी एकमात्र कृषक ही रहे होंगे।

इसके अतिरिक्त फीरोज जागीर प्रदान करने में भी बड़ा उदार था। जागीर केवल राज्य के बड़े पदाधिकारियों को ही नहीं अपितु सभी सैनिक व प्रशासनिक अधिकारियों को प्रदान की जाती थी। वजीर को 13 लाख टंक प्रति वर्ष की आय की जागीर दी गई थी। इसमें से अनेक लोग जागीरों को बैंकर अथवा साहूकारों से हाथ बेच दिया करते थे और बैंकर इससे लगभग 17 प्रतिशत तक लाभ उठाते थे। इसकी हानियां स्पष्ट थीं। एक ओर तो जागीर प्राप्तकर्ता परेशानी से मुक्त हो जाता था, बैंकर उसका लाभ उठाता था, परन्तु हर स्थिति में राज्य नुकसान का भागीदार होता था। बैंकरों से यह आशा नहीं थी कि वे कृषकों अथवा राज्य के हितों का ध्यान रखेंगे।

फीरोज की नीति मे दूसरा दोष जजिया के प्रचलन मे बढोतरी करना था। यह ठीक है कि जजिया का उन्मूलन कभी नही किया गया था, परन्तु धीरे-धीरे यह अप्रचलित होता जा रहा था, दिल्ली के योग्यतम सुल्तान जजिया की उपेक्षा कर केवल लौकिक अथवा धर्म-निरपेक्ष करो को वसूल करने के प्रति ही रुचि रखते थे। यद्यपि यह कर हिन्दुओं में अत्यन्त अलोकप्रिय था तथा इसमे अनेको दूसरी कठिनाइया भी थीं परन्तु धार्मिक प्रवृत्ति का होने के नाते फीरोज ने इसे लागू किया। यह राज्य के लिये हितकर सिद्ध नहीं हुआ।

लोदी वशीय भू-राजस्व[1] व्यवस्था—फीरोज की मृत्यु के पश्चात दिल्ली सल्तनत मे अस्त-व्यस्तता व्याप्त हो गई। उत्तरी-भारत तथा राजपूताना मे हिन्दू शासको का उदय, पजाब में खोखरो का उत्थान और तैमूर के आक्रमण ने सल्तनत की शक्ति और सम्मान को प्रभावपूर्ण आघात पहुचाया। ऐसी स्थिति मे भू-राजस्व व्यवस्था को अक्षुण्ण रखना नितान्त असम्भव था। केन्द्रीय सरकार की शक्तिहीनता के साथ ही प्रशासकीय व्यवस्था भी शिथिल पड गई। परन्तु परिपाटियो और सस्थाओं का अन्त इतना सरल नही था और स्थानीय अधिकारी अपनी योग्यतानुसार कार्य चलाते रहे। ऐसे समय सुधार का सोचना सम्भव ही नहीं था।

लोदी वश की स्थापना के बाद ही दिल्ली-सल्तनत के लिए अपनी गतिहीनता की स्थिति से मुक्त होना सम्भव था। परन्तु दुर्भाग्य से न तो लोदी शासको मे किसी प्रकार की शासकीय योग्यता थी और न ही वे इस ओर आकर्षित ही थे। उनके विचार, उनकी सस्थायें अनेक क्षेत्रो मे तुर्क शासकों से भिन्न थीं। इसके अतिरिक्त वे सैनिक गतिविधियो मे अधिक व्यस्त थे जो कि उनके लिए आवश्यक थी।

बहलोल लोदी ने समस्त प्रदेश, इक्ताओ मे विभाजित कर दिया और इन इक्ताओं को अफगान सरदारो मे बाटकर उन्हें सन्तुष्ट रखने की नीति अपनाई। ये अफगान सरदार जब तक स्थानीय एजेन्सियो के माध्यम से राजस्व एकत्रित करते रहे तब तक उन्होने भू-राजस्व की ओर ध्यान देना उचित नहीं समझा। सम्भवत. न तो इनमे रुझान, न ही समय और न ही इतनी योग्यता थी कि वे किसी ऐसे मामले मे हस्तक्षेप करते जिसमें उनकी रुचि ही नही थी।

सिकन्दर लोदी के राज्यारूढ होने तक परिस्थितियो मे कुछ परिवर्तन आ चुका था। जोधपुर के प्रतिद्वन्द्वी राज्य का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, हिन्दू शासको को लोदी शक्ति का आभास हो गया था तथा मध्य पजाब से खोखरो का सकट लुप्तप्राय हो चुका था। धौलपुर, मन्दैल, उतगिर, नरवर व नागौर विजित कर लिये गये थे। इसके अतिरिक्त अफगानों के प्रति सिकन्दर लोदी का दृष्टिकोण बहलोल लोदी से बिल्कुल भिन्न था। इन बदली हुई परिस्थितियों में भू-राजस्व की ओर ध्यान देना सम्भव हो सका।

उसने समस्त सूबेदार और जागीरदारों को यह आदेश भेजा कि वे अपने प्रदेश की आय व व्यय का विवरण प्रस्तुत करें। जिन्होने इस आज्ञा का पालन करने

में आनाकानी दिखाई, सिकन्दर ने उन्हें दण्डित कर राज्य का गबन किया हुआ धन उनसे वसूल किया।

परन्तु सिकन्दर लोदी का महत्वपूर्ण योगदान अनाज पर से जकात-कर की समाप्ति थी। क्योंकि राज्य के कुछ भाग भयंकर अकाल से ग्रस्त थे और सिकन्दर की इच्छा थी कि अनाज बाहर से कम मूल्य पर प्राप्त हो सके इसीलिए उसने इस कर को रद्द कर दिया। सिकन्दर ने पुनः अपने राज्यकाल में इसको लागू नहीं किया।

सिकन्दर लोदी की दूसरी उपलब्धि थी कि उसने भूमि की पैमाइश के लिए एक 41 अंगुल के गज का निर्माण करवाया। यही गज शेरशाह व उसके पश्चात अकबर के शासन काल के 31 वें वर्ष तक मानदण्ड बना रहा।

इब्राहीम लोदी एक दृढ़-प्रतिज्ञ, ओजस्वी, कर्मठ व उच्चाकांक्षी शासक था और सम्भवतः वह शासन की गति को तीव्र करता, परन्तु उसके भाग्य में अधिक समय तक शासन करना नहीं लिखा था। परन्तु इसके बाद भी उसने एक अपूर्व प्रयोग किया। उसने आदेश दिया कि कृषकों से उपज के रूप में ही भू-राजस्व वसूल किया जावे। अलाउद्दीन के पश्चात वह प्रथम शासक था जिसने इस प्रकार की व्यवस्था की थी। यद्यपि इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि भूमि से होने वाली समस्त उपज पर यह नियम लागू किया गया था परन्तु सामान्य बुद्धि के आधार पर सब्जियों तथा फल-फूल आदि पर इसे लागू करना स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इब्राहीम द्वारा इस नीति को लागू करने में क्या उद्देश्य रहे थे इसकी पूर्ण जानकारी नहीं है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि राजस्व को एकत्रित करने के लिए एक ही मापदण्ड को लागू करने की इच्छा से अथवा सामान्य रूप से चांदी की कमी के कारण वह इसके लिए प्रेरित हुआ था। इस नीति का लाभप्रद परिणाम निकला और अनाज तथा आवश्यकता की वस्तुओं के मूल्य में गिरावट आ गई। यह सम्भव है कि सरकारी कर्मचारी जो इक्ता के स्वामी होने के कारण राजस्व, उपज के रूप में एकत्रित करते थे और क्योंकि उन्हें अपना खर्चा चलाने के लिए नकद धन की आवश्यकता होती थी, इसलिए वे अपने भाग की उपज को शीघ्रातिशीघ्र वेचकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लिया करते थे। इन अधिकारियों में प्रतिस्पर्धा अधिक व्याप्त थी। इसी प्रतिस्पर्धा में नकद-प्राप्ति हेतु अनाज कम मूल्य पर वेच दिया जाता था। यदि सरकारी कर्मचारियों की यह दशा थी तो साधारण कृषकों के लिए इस नीति को अपनाना और भी अधिक उचित था और इसीलिए वस्तुओं का मूल्य कम हो गया था।

न्याय-व्यवस्था

भूमिका—सभ्यता के उद्भव काल से जब समाज शनैः-शनैः अपने मूर्त-रूप की ओर अग्रसर हो रहा था तभी से मनुष्य को दुराचारियों के विरुद्ध आश्रय की

आवश्यकता अनुभव हुई। न केवल जीवन व सम्पत्ति अपितु सामाजिक और व्यक्तिगत झगड़ों का निराकरण तथा विरोधी दायित्वों का न्यायिक हल आवश्यक था और इसी कारण न्याय की समुचित व्यवस्था करने की आवश्यकता अनुभव हुई। मुस्लिम नीति-विज्ञों के अनुसार शक्तिहीन और दुराचारियों को दण्डित करना मात्र ही न्याय का अन्तिम उद्देश्य नहीं है, अपितु भू-भाग पर शान्ति-स्थापना, समाज का यथोचित विकास, मनुष्य-मात्र में सौहार्द की भावना उत्पन्न करना तथा सामाजिक स्वार्थों के बीच सामंजस्य उत्पन्न करना, न्याय के प्रमुख चार स्तम्भ हैं।

इस्लामी कानून के चार स्रोत माने जाते हैं—कुरान, हदीस, इज्मा व कयास। कुरान मुहम्मद साहब को पैगम्बर के अधिकार से मुक्त करने के पश्चात वे देवीप्रकाशन हैं जो ईश्वर की आज्ञाएं अथवा इच्छाएं हैं और इसीलिए मुस्लिम-वर्ग इसे शाश्वत और अप्रसंशोधनीय मानते हैं। इस्लामी व्यवस्था में कानून बनाने का एकमात्र अधिकार केवल ईश्वर (खुदा) को ही है और इसलिए कुरान जो कि ईश्वरप्रदत्त है इस्लामी कानून का मुख्य और आधारभूत स्रोत है। कुरान के पश्चात हदीस अथवा सुन्नाह (पैगम्बर की रीतियां और परम्पराएँ) दूसरा प्रमुख आधार है। बहुधा अनेकों बार ऐसी परिस्थिति सम्मुख आई जब कुरान से उनका समाधान निकालना सम्भव नहीं था अथवा कुरान पूर्णतया मौन था अथवा कुरान में उसकी कोई व्याख्या नहीं थी। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि बढ़ते हुए मुस्लिम समाज और साम्राज्य के सम्मुख नवीन समस्याएं आईं और उनके लिए नये समाधान की आवश्यकता अनुभव हुई। ऐसे अवसरों पर पैगम्बर द्वारा दी गई आज्ञा अथवा मर्यादा कुरान जैसी ही पवित्र समझी जाने लगी, किन्तु इससे भी समस्या का पूरा समाधान नहीं निकल पाया और इसीलिए स्मृतिज्ञ अथवा कानूनों में प्रवीण लोगों को मुस्लिम समाज के हित-हेतु कानून बनाने का अधिकार सौंपा गया। इस मान्यता पर कि यह कानून वे हैं जो ईश्वर बनाने का इच्छुक था। कानून के इस स्रोत को इज्मा की संज्ञा दी गई, कयास अथवा सादृश्य दिखाकर व्यापक में व्याप्य का तर्क निकालने की व्यवस्था इस्लाम में काफी समय से प्रचलित थी। इस क्षेत्र में अबू हनीफ (688-766 ई.) द्वारा प्रतिपादित हनीफी विचारधारा के धर्मशास्त्र सम्बन्धी विचार अग्रगण्य थे जिससे कयास को प्रथम बार प्रामाणिकता दी गई। हनीफी के पश्चात मलिकी विचारधारा थी जिसकी स्थापना मलिक इब्न हसन ने (715-75 ई.) की थी। तीसरी और चौथी विचारधारा—शफी तथा हवली के संस्थापक अश-शफी (726-820 ई.) व अहमद बिन-हनबल (780-855 ई.) थे। इन समस्त न्याय-शास्त्रियों ने केवल उन्हीं बातों का स्पष्टीकरण दिया जो कुरान और हदीस पर आधारित थीं। कुरान अथवा पैगम्बर की उक्तियों के मौन होने पर उन्होंने कोई नये सिद्धान्त के प्रतिपादन की धृष्टता नहीं की क्योंकि किसी को भी इस्लामी विधि में परिवर्तन करने का न तो अधिकार था और न ही ये परिवर्तन किसी प्रकार से मान्य

थे। परन्तु ये अपरिवर्तनशील कठोरता इस आधार पर कम हो गई कि कभी-कभी मुस्लिम न्यायशास्त्रियों ने शासकों द्वारा बनाये गये कानून को विधि-सम्पन्न मान लिया, जैसा कि मुहम्मद बिन कासिम द्वारा 712 ई. में सिन्ध और मुल्तान में हिन्दुओं को भी ईसाइयों और यहूदियों की तरह जिम्मी मानना आरम्भ कर दिया और अबू हनीफा ने इसकी पुष्टि भी कर दी।

इस्लामी धर्मशास्त्र सम्बन्धी कानून केवल मुसलमानों पर ही लागू है और इस आधार पर जिम्मियों पर यह लागू नहीं किया जा सकता। परन्तु साधारणतया कानून के दो भाग हैं—धार्मिक व धर्म-निरपेक्ष। जिम्मी लोगों पर धर्म-निरपेक्ष कानून ही लागू होते हैं जो कि साधारणतया सब ही देशों में एक समान हैं। इनको हम चार विभिन्न भागों में विभाजित कर सकते हैं—(1) दीवानी कानून—जिसके अन्तर्गत इस्लाम के धार्मिक कानून केवल मुस्लिम वर्ग पर लागू थे और वाणिज्य व्यापार आदि सम्बन्धित कानून मुस्लिम व गैर-मुस्लिम वर्ग पर एक समान रूप से लागू थे; (2) भूमि-सम्बन्धी कानून, जिसमें अरबों की कर-व्यवस्था को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन करके मुस्लिम और गैर-मुस्लिम वर्ग पर लागू किया गया; (3) गैर-मुस्लिमों के धार्मिक तथा व्यक्तिगत कानून, जिसके अन्तर्गत हिन्दुओं और गैर-मुस्लिमों पर उनके धार्मिक व व्यक्तिगत कानून को लागू किया गया और जहाँ कहीं भी हिन्दुओं के मध्य कोई व्यक्तिगत कानून को लेकर विवाद खड़ा हो पाता वहां विद्वान, पण्डितों की सहायता से विवाद का निर्णय किया जाता था तथा (4) इस्लामी फौजदारी कानून के अन्तर्गत कानूनों का वह भाग जो धार्मिक कानूनों के उल्लंघन से सम्बन्धित था और जो केवल मुसलमानों पर लागू था और शरियत के अनुसार ऐसे अपराधों के लिए गैर-मुस्लिम को दण्डित नहीं किया जा सकता था। इसका दूसरा भाग जो साधारणतया प्रत्येक राष्ट्र में अपराध स्वीकार किया जाता है वह समान रूप से मुस्लिम व गैर-मुस्लिम वर्ग पर लागू किया जाता था; जैसे हत्या, चोरी, डकैती आदिअपराधों में दण्ड व्यवस्था दोनों वर्गों के लिए समान थी।

प्रथम चार खलीफाओं ने न्याय-व्यवस्था सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्व को निभाया परन्तु जैसे-जैसे खलीफात की भौगोलिक सीमाओं में वृद्धि हुई उसी अनुपात में व्यक्तिगत रूप से अपने इस उत्तरदायित्व को निभाना उनके लिए अधिक दुष्कर दिखाई देने लगा तथा प्रान्तीय गवर्नरों को वे अधिकार हस्तान्तरित कर दिये गये। वे खलीफा के नाम पर इस कार्य को करने लगे, यद्यपि खलीफा स्वयं राजधानी के निकटवर्ती प्रदेशों में इस कार्य को सम्पन्न करते रहे। दिल्ली के सुल्तानों ने इस नीति का अक्षरशः पालन किया। स्वयं सुल्तान राजधानी में काजियों और मुफ्तियों की सहायता से न्याय करता रहा और प्रान्तीय गवर्नर अपने-अपने क्षेत्र में इस उत्तर दायित्व को निभाते रहे। सल्तनत काल में काजी और मुफ्ती अत्यधिक प्रभावशाली

हो गये क्योंकि इस काल के अधिकतर सुल्तान निरक्षर थे और धार्मिक कानूनों को समझाने अथवा उनकी व्याख्या करने में असमर्थ थे। काजी और मुफ्ती विधि में अधिक निपुण थे और इसलिए सुल्तानों को उनकी सहायता पर निर्भर रहना आवश्यक हो गया था। समय के साथ ही काजी और मुफ्ती का वर्ग वंशानुगत हो गया, जिनको विधि के समझाने व उसकी व्याख्या करने का अधिक सामर्थ्य और सूझबूझ थी।

इस्लामी विधि—सुल्तानों ने इस्लामी विधि के प्रति सहज ही में पूर्ण सम्मान दर्शाया था और उसका पूर्ण रूप से पालन किया। सम्पत्ति, तलाक, अथवा विवाह के कानून जो मुसलमानों के धार्मिक विश्वास के अंग थे वे पूरी तरह अपरिवर्तनशील रहे। इस्लामी विधि-पारंगतों का कोई भी निर्णय इतना प्रमाणिक नहीं माना जाता था कि वह कोई कानून स्थापित करे अथवा इस्लामी नियम को स्पष्ट करे अथवा कुरान के किसी स्पष्ट मन्तव्य को कोई नया रूप दे अथवा उसके स्पष्ट मन्तव्य को किसी ऐसे सन्दर्भ में पूरा करे जिसके बारे में उसमें विशेष रूप से कुछ उल्लेख न हो।[1] सैद्धान्तिक रूप से यह मान्य रहा परन्तु व्यवहारिक रूप में न केवल गैर-मुस्लिमों के प्रति नियमों में संशोधन किया गया अपितु अपराध-नियमों में भी परिवर्तन किये गये। अलाउद्दीन खलजी व मुहम्मद तुगलक के समय में किये गये परिवर्तन इसके प्रमाण हैं।

सुल्तानों ने समुचित न्याय की ओर विशेष ध्यान दिया और वे सदैव इस बात के लिए उत्सुक रहे कि राज्य के नियमों का किसी प्रकार से उल्लंघन न करने दिया जावे। कुतुबुद्दीन ऐबक यद्यपि भारत में इस्लामी सत्ता को स्थापित करने में व्यस्त था, परन्तु फिर भी अपने राज्य में उचित न्याय के प्रति भी जागरूक था। हसन निजामी ने लिखा है कि, "उसने न्याय रूपी वैभव से कलह रूपी ज्वाला को शान्त कर दिया तथा निर्दयता रूपी अन्धकार का धुआ पृथ्वी पर लुप्त हो गया। ऐसी निष्पक्षता से उसने न्याय-पद्धति अपनायी कि भेड़िया और बकरी एक ही घाट पर पानी पीते थे तथा चोरी आदि के अपराध जो पहले साधारण रूप से घटित होते थे समाप्त हो गये।"[2] यद्यपि हसन निजामी के इस कथन में अतिशयोक्ति दिखलाई देती है परन्तु कम से कम यह कुतुबुद्दीन की न्याय के प्रति भावना की द्योतक है।

व्यवस्था—सुल्तान इल्तुतमिश ने जो वास्तविक रूप में दिल्ली सल्तनत का संस्थापक था, न्याय के क्षेत्र में अपने स्वामी कुतुबुद्दीन की नीति का पालन किया तथा न्याय करते समय सशक्त अथवा शक्तिहीन के बीच कोई भेदभाव न किया। स्वभाव से वह क्योंकि धार्मिक प्रवृत्ति का शासक था इसलिए उसके राज्य-काल में 'शरा' का प्रशासन में साधारण रूप से और न्याय के क्षेत्र में विशेष रूप से प्रभाव रहा।

1. सर. जे. एन सरकार, मुगल एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. 100
2. इलियट एण्ड डाउसन, (अनुवादित, ताजुल मुआसिर), पृ 217

बलबन ने सुल्तान के चार प्रमुख कार्यों में से एक कार्य न्याय को बताया। उसके अनुसार जब तक बादशाह न्याय के विषय में पूर्णतया प्रयत्न नहीं करता और पूरी तरह न्याय नहीं करता तब तक अन्याय और अत्याचार से उसका देशमुक्त नहीं हो सकता। जब तक बादशाह अपने वैभव, ऐश्वर्य तथा आतंक से अत्याचारियों के अत्याचार का अन्त नहीं करता है, तब तक पूर्णतया न्याय होना सम्भव नहीं है। न्याय करते समय वह अपने भाइयों, पुत्रों, निकटवर्ती तथा विश्वासपात्रों का भी पक्षपात न करता था। यदि उसका कोई भी निकटतम सम्बन्धी कोई अत्याचार करता और न्यायधीश उसे क्षमा कर देते तो उसके हृदय को उस समय तक शान्ति न मिलती तब तक कि वह, जिस पर अन्याय किया गया है, उसका बदला अपने विश्वासपात्र से न ले लेता।[1] पीड़ितों और असहायों का तो वह माँ-बाप था क्योंकि उसके पुत्रों, सम्बन्धियों, विश्वासपात्रों आदि को न्याय के विषय में पूर्ण जानकारी थी इसलिए वे साहस नहीं कर पाते थे कि वे अपने दास-दासी अथवा आधीन *कर्मचारियों के साथ दुर्व्यवहार करें। बदायूं के इक्तादार (सूबेदार) मलिक बकबक* को जन-साधारण के सम्मुख इसलिए कोड़ों से पीटा गया कि उसने अपने एक दास को कोड़ों से पीटकर मार दिया था। बदायूं के बरीदों को फाँसी की सजा दी गई क्योंकि वे इस अन्याय की सूचना सुल्तान को न दे सके थे। इसी प्रकार अवध के इक्तादार हैबतखां को अपने एक दास को जान से मारने के अपराध में 500 कोड़े लगवाये जाने की आज्ञा दी गई। उसने बड़ी ही कठिनाई से मृतक दास की विधवा को 20,000 टंक देकर मुक्ति पाई। ये उदाहरण उसकी न्याय के प्रति निष्पक्षता को प्रमाणित करते हैं। प्रो. हबीबुल्ला बलबन के न्याय की प्रशंसा करते हैं और निस्सन्देह बलबन जन-साधारण के प्रति न्यायपूर्ण था। परन्तु प्रभावशाली सरदारों के प्रति इस प्रकार के व्यवहार का कारण तो उनके प्रभाव और सम्मान को नष्ट करना हो सकता है अन्य कुछ नहीं। बलबन अपने और अपने वंश की सुरक्षा और सम्मान के लिए किसी भी साधन को अपनाने में नहीं हिचकता था। डा. के. ए. निजामी भी इस बात को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि, "यद्यपि व्यक्ति और व्यक्ति के झगड़ों के सम्बन्ध में बलबन न्यायपूर्ण था, परन्तु जब कभी किसी एक व्यक्ति और राज्य के बीच टकराव हुआ अथवा जब कभी उसके व्यक्तिगत या वंश से सम्बन्धित प्रश्न सामने आया उसने न्याय और निष्पक्षता के सभी सिद्धान्तों को त्याग दिया।"

बलबन ने न्याय-हेतु अपने राज्यकाल में विलायत और इक्ता में बरीद की नियुक्ति की जो उसके अत्यन्त विश्वासपात्र थे और जिनका एकमात्र उत्तरदायित्व केवल बलबन को अपने प्रदेश की घटनाओं से अवगत कराना था। यदि कोई बरीद इसमें असावधानी दिखलाता तो वह उसे कभी भी क्षमा नहीं करता था।

---

1. फतवाये जहांदारी, पृ. 44–45

सुल्तान बनने के अवसर पर जलालुद्दीन खलजी की अवस्था लगभग 70 वर्ष थी और वृद्धावस्था की दुर्बलतायें उसके चरित्र में प्रकट होने लगी थीं। वृद्धावस्था के कारण ही वह अपराधियों को कठोर दण्ड देने में हिचकता था। दिल्ली में एक हजार ठग और चोर पकड़कर सुल्तान के सम्मुख लाये गये परन्तु उसने दण्ड देने की अपेक्षा उन्हें नाव में बैठाकर लखनौती की ओर भिजवा दिया और ये आदेश दिया कि वे वहीं निवास करें तथा दिल्ली की ओर फिर न आयें। ऐसी उदारता निश्चय ही महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के लिए प्रोत्साहन पैदा करने वाली थी। एक व्यक्ति की दृष्टि से उसकी ये दयालुता और उदारता प्रशंसनीय हो सकती है, परन्तु उसने सुल्तान की योग्यता और उसके निष्पक्ष न्याय के सम्बन्ध में जो मान्यतायें हो सकती थीं उनमें अविश्वास उत्पन्न कर दिया। यह मान लेना कि साधारण अपराधी इस क्षमा की नीति की उपयोगिता को जानकर और शर्म अनुभव कर किसी प्रकार की सुधारात्मक प्रवृत्ति को दिखायेगा उस युग में नितान्त असम्भव था।[1]

अलाउद्दीन खलजी एक दृढ़, कर्मठ व सामान्य बुद्धि वाला सुल्तान था और अपने चाचा की उदार नीति के परिणामों को देखकर वह इसके लिए कटिबद्ध था कि उसे उस व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन करना है। अपने राज्याभिषेक के समय उसने अनुभव किया था कि अपराधों की मात्रा द्रुतगति से बढ़ती चली जा रही है जिससे राज्य में शान्ति और सुरक्षा जैसी कोई भावना ही शेष नहीं बची है और इसलिए वह क्रूरता से इस अव्यवस्था को समाप्त करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ था और इसीलिए वह बड़े और छोटे, अशक्त और शक्तिशाली के बीच बगैर भेदभाव किये हुये कठोरतम दण्ड देने के लिए तत्पर रहता था। वह बलबन की तरह इस बात की ओर कोई ध्यान देने को तैयार न था कि अपराधी महत्वपूर्ण व्यक्ति है अथवा साधारण नागरिक, कोई राज्य का अधिकारी है अथवा साधारण व्यक्ति है। उसने कभी इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया कि उसके दण्ड इस्लामी कानून के विरुद्ध हैं अथवा नहीं। सुल्तान के अधिकारों पर वह धर्म का अंकुश सहन करने को तैयार नहीं था। उसका न्याय व उसकी नीति केवल कल्याणकारी राज्य की परिधि में घूमती थी। उसके अनुसार एक साफ-सुथरे प्रशासन के नियम व कानून पूर्णतया शासन के निर्णय पर निर्भर होने चाहिए और उनका पैगम्बरों से कोई सम्बन्ध नहीं है। काजी मुगीसुद्दीन से उसने कहा था, "मौलाना मुगीस, न मुझे कुछ ज्ञान है और न मैंने कोई पुस्तक पढ़ी है तब भी मैं मुसलमान पैदा हुआ था तथा मेरे पूर्वज पीढ़ियों से मुसलमान रहे हैं। उन विद्रोहों को रोकने के लिए जिनमें हजारों जीवन नष्ट हो जाते हैं, अपनी प्रजा को ऐसे आदेश देता हूँ जो कि मैं उनकी और राज्य की भलाई के लिए लाभदायक समझता हूँ " मैं ऐसे आदेश देता हूँ, जो मैं राज्य के लिए लाभदायक और परिस्थितियों के अनुकूल समझता हूँ, मैं नहीं जानता कि 'शरा'

1. यू. एन. डे, द गवर्नमेन्ट ऑफ द सल्तनत, पृ.163

उनकी आज्ञा प्रदान करता है अथवा नहीं। मैं नहीं जानता कि 'अन्तिम निर्णय के दिन' खुदा मेरे साथ क्या व्यवहार करेगा।" इसका यह अर्थ नहीं कि वह इस्लामी कानूनों को रद्द करने के लिए अत्यधिक आतुर था, अपितु उसने काजियों और मुफ्तियों को मुसलमानों के व्यक्तिगत मामलों में शास्त्रों की आज्ञा के अनुसार काम करने की छूट दी थी, परन्तु इसके अतिरिक्त उसकी न्याय व्यवस्था और उसके न्याय का मापदण्ड केवल कल्याणकारी राज्य ही था और इस क्षेत्र में वह किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप को सहन करने के लिए तत्पर न था। उसने न्याय के क्षेत्र में न तो इस्लाम के सिद्धान्तों का सहारा लिया, न ही काजी वर्ग से सलाह ली और न ही खलीफा के नाम का सहारा लिया। इसी कारण डॉ० ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि इस प्रकार अलाउद्दीन दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने धर्म पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित किया और ऐसे तत्त्वों को जन्म दिया जिनमें कम से कम सिद्धान्ततः तो राज्य असाम्प्रदायिक आधार पर खड़ा हो सकता था। निस्सन्देह अलाउद्दीन पूर्ण मुसलमान था और इस्लाम धर्म के कानूनों का विरोध न करता था, परन्तु बदली हुई परिस्थितियों में आवश्यक था कि उसमें वह कोई परिवर्तन करे यहां तक कि दण्ड देते समय वह निर्धारित सीमाओं का भी उल्लंघन कर लेता था। परन्तु यहां यह जान लेना आवश्यक है कि इस प्रकार के दण्ड पाने के अपराधी धार्मिक कानूनों का उल्लंघन करने वाले नहीं अपितु वो व्यक्ति थे जिन्होंने अलाउद्दीन द्वारा प्रतिपादित राजकीय नियमों को तोड़ा था।

अलाउद्दीन ने बलबन की तरह एक गुप्तचर विभाग की स्थापना की। 'बरीद' (गुप्तचरों का अधिकारी) और 'मुनीहिन' (गुप्तचर) अमीरों के घरों, दफ्तरों, प्रान्तीय राजधानियों और बाजारों में नियुक्त किये गये जो सुल्तान को प्रत्येक बात और घटना की सूचना देते थे। अलाउद्दीन का गुप्तचर-विभाग इतना अधिक सफल हुआ कि बड़े से बड़े सरदार भी उससे आतंकित थे और बरनी के कथन को यदि स्वीकार किया जावे तो "अमीरों ने भय से 'हजार सितून' (खुले मैदानों) में जोर से बोलना बन्द कर दिया था और यदि उन्हें कुछ कहना ही होता था तो वे संकेतों द्वारा या फुसफुसाकर प्रगट करते थे। गुप्तचरों की गतिविधियों के कारण वे रात-दिन अपने घरों में कांपते रहते थे। अलाउद्दीन इन प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इतनी कठोरतापूर्ण न्याय करता था कि राज्य में चोरी व डकैती का नामोनिशान ही मिट गया।[1]

सुल्तान स्वयं न्याय की मुख्य अदालत था। उसके पश्चात् न्याय विभाग का मुख्य अधिकारी मुफ्ती सद्रे-जहां-काजी उलकुजात था। वह साम्राज्य का मुख्य न्यायाधीश था जिसके अधीन नायब काजी होता था, जो मुफ्ती की सहायता से न्याय किया करता था। मुफ्ती कानून का जानकार था और वही उसकी व्याख्या

1. बरनी, तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ. 284

भी करता था। अमीर-ए-दादबेग-ए-हजरत सहायता प्रदान करता था। उसका कार्य दरबार में ऐसे प्रभावशाली व्यक्तियों को प्रस्तुत करना होता था जिन पर अभियोग चल रहे हों पर काजियों द्वारा नियन्त्रण में न आ रहे हो। प्रान्तों की न्याय व्यवस्था भी इसी प्रकार थी। वहा की न्याय व्यवस्था में सूबेदार, काजी तथा अन्य अधिकारी कार्य करते थे। बड़े नगरों में अमीर-ए-दाद न्याय व्यवस्था करते थे।

इन अधिकारियों के अतिरिक्त राज्य के उच्च अधिकारी, सेनापति और राजकुमार ऐसे मामलों का निर्णय किया करते थे जिसमें कानून के दक्षज्ञान की कोई आवश्यकता नही थी। न्याय द्रुत था और क्योंकि उस समय वकील नहीं होते थे इसलिए न्यायाधीश "क्याक" अथवा व्यक्तिगत निर्णय के आधार पर गवाहों को सुनकर निर्णय कर दिया करते थे।

जियाउद्दीन बरनी सुल्तान की न्याय व्यवस्था से सतुष्ट नहीं था। उसके अनुसार प्रथम काजी-ए-मुमालिक सदर जहान सदरुद्दी यद्यपि अत्यन्त अनुभवी व न्यायिक शक्ति से परिपूर्ण था परन्तु उसमें ज्ञान की न्यूनता थी। बयाना का मुख्य न्यायाधीश मौलाना जियाउद्दीन और उसके नायब जलालुद्दीन में वह गौरव नहीं था जो राजधानी के मुख्य न्यायाधीश में होना आवश्यक था। काजी मौलवी हमीदुद्दीन मुल्तानी पूर्णतया अनुपयुक्त था और इस प्रकार से हमीदुद्दीन के होते हुए न्यायाधीशों का सम्पूर्ण सम्मान व यश धूल में मिल गया था।[1] बरनी के असन्तुष्ट होने का कारण बताते हुए डा० के एस. लाल ने लिखा है कि बरनी के चाचा मलिक अलाउलमुल्क को जो कानून का अच्छा ज्ञाता था, अलाउद्दीन ने कोई पद नहीं दिया था। इसके अतिरिक्त काजी धार्मिक कट्टरता के सिद्धान्त को मानते थे, परन्तु अलाउद्दीन ने इस ओर कोई ध्यान नही दिया और वो उलेमाओं को भी कठोरता से दण्डित करता था। ऐसी स्थिति में बरनी का न्यायाधीशों के प्रति निरुत्साहित हो जाना और न्याय व्यवस्था की आलोचना करना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार से मिस्र से आये हुए धर्मशास्त्री मौलाना शमुद्दीन तुर्क की आलोचना भी पक्षपातपूर्ण मालूम पड़ती है। मौलाना ने अलाउद्दीन को लिखा था कि "काले चेहरे के भाग्यहीन मूर्ख घृणित पुस्तकों के साथ मस्जिदों में बैठते थे और वे ही वादी तथा प्रतिवादी दोनों को धोखा देकर धन प्राप्त करते थे परन्तु राजधानी के काजी ने इन सारी बातों की जानकारी सुल्तान को नहीं दी थी।"[2] मौलाना ने यह सब सम्भवत इसलिए लिखा कि उसे काजी हमीदुद्दीन से व्यक्तिगत रूप से ईर्ष्या थी। इसके विरोध में डा के एस लाल का मत है कि अलाउद्दीन के समय में काजियों को अत्यधिक सम्मान मिला था और वे राज्य के शक्तिशाली अधिकारी को भी दण्डित करने में समर्थ थे। सुल्तान अलाउद्दीन इस बात के लिए सतर्क था कि काजी अपने कार्य और

1. वही, पृ. 253
2. के. एस लाल, खल्जीवंश का इतिहास, पृ. 162

यहां तक कि अपने व्यक्तिगत जीवन में भी उचित व्यवहार करें। अलाउद्दीन स्वयं भी किसी प्रकार दण्ड देने में हिचकता नहीं था और उसने एक काजी को शराब पीने पर दण्डित किया भी था। इस आधार पर यह संभव हो सकता है कि दूरस्थ प्रदेशों में जो काजी लोग अपने पद की मर्यादा को न रख पाये हों परन्तु इतना निश्चित है कि न्यायपालिका सामान्यतः निष्पक्ष थी।[1]

गियासुद्दीन तुगलक एक अनुभवी प्रशासक व योग्य सैनिक था। ऐसे समय में जबकि अलाउद्दीन के राज्यकाल के समस्त नियमों का उल्लंघन हो चुका हो उसने यह अनुभव किया कि सुल्तान का पहला कर्तव्य शासकीय काया को व्यवस्थित करना है। प्रशासन को व्यवस्थित करने पर उसने अपना ध्यान न्याय की ओर लगाया। अपने राज्यकाल में उसने "शरा" पर आधारित दीवानी कानूनों की संहिता तैयार की। यह संहिता दिल्ली के सुल्तानों की परम्पराओं पर आधारित थी। उससे केवल हमें यह आभास होता है कि गियासुद्दीन दीवानी मामलों के क्षेत्र में उचित न्याय करने के लिए उत्सुक था।

मुहम्मद तुगलक अपने पिता की तरह न्याय करने के क्षेत्र में उत्साही था। बदाउनी के अनुसार मुहम्मद तुगलक सदैव ही दण्डादेश देने के पहले चार मुफ्तियों की सलाह लेता था। बदाउनी के अनुसार उसने अपने महल में चार मुफ्तियों के लिए अलग-अलग स्थल सुरक्षित कर रखे थे और इस बात के लिए सदैव सतर्क रहता था कि वे अपने स्थानों पर सदैव उपस्थित रहें जिससे कि जब कभी कोई अपराधी उसके सम्मुख प्रस्तुत किया जावे तो वे मुफ्तियों से वाद-विवाद कर कानून के अनुसार उसका दण्ड निर्धारित कर सकें। वह अक्सर इन मुफ्तियों से कहा करता था कि वे सदैव इस बात के लिए सतर्क रहें कि वे तिल मात्र भी सत्य कहने में न झिझकें क्योंकि अगर वे कानून के निरीक्षण में असावधानी बरतेंगे तो वे अपराधी की हत्या के लिए उत्तरदायी समझे जायेंगे। यदि वाद-विवाद के बाद अपराध सिद्ध हो जाता तो वो आधी रात्रि के समय भी अपराधियों को दण्डित करने का आदेश दे देता था।

मुहम्मद तुगलक के कथन से यह स्पष्ट होता है कि वह न्याय के सम्बन्ध में सतर्क था। वह उस समय तक जब तक कि समस्त मामले की पूरी छानबीन न कर ले, दण्ड की घोषणा नहीं करता था। निर्णय लेने के पहले वह मुफ्तियों से पूर्ण मंत्रणा करता था और यदि कोई त्रुटिपूर्ण निर्णय यदा-कदा ले लिया जावे तो उसका पूर्ण दायित्व इन्हीं लोगों पर था। उसने न केवल सम्पूर्ण न्याय व्यवस्था को व्यवस्थित किया अपितु न्याय पद्धति की देखभाल भी की।

न्याय की उमंग अथवा उत्साह में उसने अपने पूर्वज शासकों को पीछे छोड़ दिया और स्वयं को राज्य के साधारण कानूनों के अन्तर्गत ही समझा और यह

---

1. वही

आदर्श उपस्थित किया कि सुल्तान भी इन्हीं कानूनों के अन्तर्गत आता है जो कि साधारण लोगों पर लागू होते हैं। एक अवसर पर सुल्तान एक साधारण व्यक्ति की भाँति काजी के न्यायालय में उपस्थित हुआ। उसे पहले ही आदेश भेज दिया था कि न्यायालय में वह उसके साथ एक साधारण व्यक्ति की भाँति ही व्यवहार करे। उसने काजी के निर्णय को शिरोधार्य किया। इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर वह अपने अधिकारी से 21 बैंत खाता है। वही मुल्तान अन्य अनेक अवसरों पर साधारण से साधारण अपराधों के लिए मृत्यु दण्ड देता है अथवा दण्ड देने में क्रूरता और बर्बरता का परिचय देता है। सम्भवत लगातार असफलताओं ने उसमें मनुष्यत्व की भावना समाप्त कर दी थी और वह कठोर व साधारण अपराधों में भेद करने में असमर्थ हो गया था। उसके स्वयं के शब्दों में "मैं सन्देह तथा विद्रोह अव्यवस्था और षड्यन्त्र की आशंका के आधार पर कठोर दण्ड देता हूँ। मैं आज्ञा की लेशमात्र भी अवज्ञा होने पर उन्हें मृत्यु दण्ड देता हूँ और मैं तब तक इसी प्रकार कठोर दण्ड देता रहूँगा जब तक कि या तो मैं स्वयं नष्ट नहीं हो जाता अथवा प्रजा ठीक नहीं हो जाती तथा विद्रोहों और आज्ञा की अवहेलना करना नहीं छोड़ देती।' इसे न्याय का किसी प्रकार से औचित्य मानना सम्भव नहीं है। परन्तु इसके बाद भी यह कहना पड़ेगा कि न्याय विभाग जिस पर एकमात्र उलेमा वर्ग का एकाधिपत्य था उसे उसने समाप्त कर दिया। उसने अन्य व्यक्तियों को भी काजी के पद पर नियुक्त किया और काजी के जिस निर्णय को भी वह ठीक नहीं मानता था उसे बदल देता था। यदि किसी धार्मिक व्यक्ति पर भी किसी प्रकार का अपराध सिद्ध हो जाता तो वह उसे दण्डित करने में चूकता न था। इसी कारण मुसलमान धार्मिक वर्ग उसके विरुद्ध हो गया और उसके विरुद्ध असन्तोष का कारण बना।

फीरोजशाह तुगलक 'शरा' के प्रति अधिक कठोर था और ऐसे समस्त दण्ड जो 'शरा' में वर्जित थे उसने उन्हें निषेध कर दिया। इतिहासकार यह मानते हैं कि फीरोज तुगलक हिन्दुओं के प्रति आनुपातिक रूप से अधिक कठोर था परन्तु मुस्लिमों के प्रति भी उतना ही कठोर था जितना कि वह हिन्दुओं के प्रति था। दीवानी कानून के क्षेत्र में उसने अपने पूर्वजों की परम्परा को बनाये रखा।

लोदी सुल्तान दरबार-ए-आम में सप्ताह में कुछ निश्चित दिन न्यायालय लगाकर न्याय करते थे। एक मात्र सिकन्दर लोदी प्रतिदिन न्याय करता था। उस समय में *सुल्तान का न्यायालय अपील कोर्ट के साथ ही आरम्भिक मुकदमों की भी* सुनवाई करता था। सुल्तान की व्यस्तता में अथवा उसकी अनुपस्थिति में वकील न्याय करता था। जटिल और पेचीदा फौजदारी तथा न्यायिक मुकदमों की सुनवाई स्वयं सुल्तान ही करता था। सिकन्दर लोदी जो पेचीदा मुकदमों को निपटाने में अत्यन्त दक्ष था उसने एक बार एक विशेष अदालत की रचना की थी जिसमें राज्य के समस्त मुस्लिम विद्वान उपस्थित थे। इसके सम्मुख बोधन ब्राह्मण का मुकदमा

रखा गया जिसका कि ये अपराध था कि उसने मुसलमानों से कहा था कि "हिन्दू तथा इस्लाम धर्म दोनों ही सच्चे धर्म हैं। सुल्तान ने इस सम्बन्ध में इन विद्वानों के परामर्श पर बोधन को दण्डित किया था। इसके पश्चात् शासन की अवस्था जो पहले से ही पतनोन्मुख थी और अधिक पतनशील हो गई और प्रशासन की अव्यवस्था के साथ ही न्याय व्यवस्था भी बिगड़ गई।

सल्तनतकाल में न्याय की व्यवस्था साधारण थी। धर्म-सम्बधी न्यायालयों को दीवानी और फौजदारी न्यायालयों से पृथक रखा था। दीवानी और फौजदारी मुकदमों में सुल्तान सबसे बड़ा न्यायाधीश था। सुल्तान मूल तथा अपील के मुकदमों का निर्णय कर सकता था और कानून की व्याख्या करने के लिए दो मुफ्ती होते थे। सुल्तान के पश्चात् काजी-उल-कुजात का न्यायालय था जो कि राज्य का मुख्य न्यायाधीश होता था, परन्तु 1248 ई. में सदरे-जहांन के न्यायालय के निर्माण से काजी-उल-कुजात की महत्ता घट गई और वस्तुतः सद्रे-जहांन ही राज्य का मुख्य न्यायाधीश बन गया। सुल्तान की अनुपस्थिति में वही मूल मुकदमों को सुनने का अधिकारी हो गया। सदर-ए-जहांन ही काजियों का चयन करता था और उसी के द्वारा उनकी नियुक्ति भी होती थी। सदरे-जहांन के नये पद की व्यवस्था का एक मात्र उद्देश्य यही था कि वह धर्म सम्बन्धी न्यायालयों अथवा वहाँ की व्यवस्था पर अधिक ध्यान दे इसलिए न्याय सम्बन्धी कार्य अधिकतर काजी-उल-कुजात को ही करने पड़ते थे। इस नयी व्यवस्था से अनेकों उलझनें उत्पन्न हो गईं और सम्भवतः अलाउद्दीन ने इन्हों का निराकरण करने के लिए पुनः सदर-ए-जहांन व काजी-उल-कुजात के पद को एक कर काजी सदरुद्दीन आरिफ को इस पद पर नियुक्त किया। सुल्तान फीरोज तुगलक के समय में पुनः इन्हें अलग-अलग कर दो भिन्न व्यक्तियों की इन पदों पर नियुक्ति की गई।

सदर-ए-जहांन शिक्षण संस्थाओं, न्याय अधिकारियों तथा वक्फ और इनाम, गरीबों तथा विद्वानों को दी जाने वाली वित्तीय सहायता के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। सदर-ए-जहांन के नये पद की उत्पत्ति के बाद भी न्याय सम्बन्धी कार्य अधिकतर काजी-उल-कुजात के द्वारा ही किये जाते रहे, क्योंकि सदर-ए-जहांन का कार्य-क्षेत्र अत्यधिक व्यापक था और इसलिए उसे राजधानी से काफी समय तक अनुपस्थित रहना पड़ता था। काजी-उल-कुजात की सहायता के लिए एक अथवा दो काजी हुआ करते थे। काजी-उल-कुजात इनकी सहायता से प्रान्तीय न्यायालयों की अपीलों के अतिरिक्त समस्त दीवानी और फौजदारी मुकदमों का न्याय करता था। ऐसे उत्तरदायी पद के लिए स्वाभाविक रूप से उसका न्याय और कानून के क्षेत्र में पारंगत होना एक मान्य धारणा थी और ऐसा अनुभव होता है कि साधारण नागरिकों को एक अनुचित और अयोग्य व्यक्ति की नियुक्ति पर आपत्ति करने का अधिकार था। काजी-उल-कुजात स्वयं सुल्तान के द्वारा नियुक्ति किया जाता था और वह उसके प्रति ही उत्तरदायी था। सुल्तान ही उसे अपदस्थ कर सकता था।

काजी-उल-कुजात के कार्यों में सबसे महत्वपूर्ण कार्य न्याय सम्बन्धी व्यवस्था करना था, परन्तु इसके अतिरिक्त वह सुल्तान को राज्याभिषेक की शपथ भी दिलाया करता था और राज्य के नियमों को बनाने में सुल्तान का सहायक था। कुछ काजी-उल-कुजात निर्भीक व्यक्ति थे, जो सुल्तान की मान्यताओं के विरोध में भी कानूनी के आधार पर निर्णय देने का साहस रखते थे।

काजी-उल-कुजात के न्यायालय के साथ मुफ्ती हुआ करते थे जो मुकदमों को सुनने अथवा विचार-विनिमय करने में उसके अत्यधिक सहायक थे। मुफ्ती विधि को जानने वाले पारगत विद्वान होते थे और उनके द्वारा दिया गया विधि का विवेचन न्यायाधीश को मान्य होता था। विविध और विभिन्न मतों के होने पर सुल्तान से सलाह ली जाती थी। सुल्तान सैद्धान्तिक रूप से इनकी नियुक्ति करता था, परन्तु वास्तविक रूप मे इनका चयन काजी-उल-कुजात के द्वारा ही होता था। कभी भी जब कोई मुकदमा हिन्दू व्यक्तिगत कानूनों के अन्तर्गत दीवानी क्षेत्र में आता था तो कानून की व्याख्या "पण्डित" के द्वारा की जाती थी और उसकी स्थिति मुफ्ती-समान ही होती थी।

मुहतसिब—न्याय-प्रशासन के क्षेत्र में मुहतसिब का भी अपना एक विशिष्ट स्थान था। वह एक तरह से पुलिस-मुखिया की भाँति था और सार्वजनिक रूप में लोगों के नैतिक आचरण पर दृष्टि रखता था। डा कुरेशी के अनुसार वह सार्वजनिक शालीनता तथा शक्तिशाली के विरुद्ध शक्तिहीन के अधिकारों का सरक्षक था।[1] सार्वजनिक नमाजों का विधिवत् सचालन देखना, सार्वजनिक रूप में मद्य आदि का उत्पादन तथा बिक्री को रोकना, सार्वजनिक स्थानों पर मद्य-निषेध देखना तथा राज्य में बेईमानी और धोखा-धड़ी को रोकना उसके मुख्य कर्तव्य थे। वह जुऐ, गैर-कानूनी विवाहों तथा अश्लीलताओं को रोकता था। सेवकों को उनके स्वामियों द्वारा अधिक कार्य लेने से रक्षा करता था तथा अपविद्ध शिशुओं (foundling) के पालन-पोषण की व्यवस्था करता था। यात्रियों के लिये सुविधा जुटाना तथा सार्वजनिक भवनों की साज-सभाल रखना उसका उत्तरदायित्व था। आम रास्तों की देखभाल करना तथा लदी हुई नावों को देखना जिससे कि वे अधिक बोझ न भर सकें तथा सुरक्षित हों उसका कर्तव्य था। क्षति-ग्रस्त भवनों को गिराने की आज्ञा देना, बाजारों, सरायों, खानकाहों आदि की व्यवस्था वही करता था। डा कुरेशी का मत है कि सक्षिप्त में नागरिक जीवन को निर्विघ्न रूप से चलाने के लिये वह उत्तरदायी था।

मुहतसिबों को अपने उत्तरदायित्वों को निभाने के लिये राज्य की ओर से एक नागरिक टुकड़ी की व्यवस्था की गई थी। धार्मिक आधार पर नैतिक मापदण्डों

1. आई एच. कुरेशी, वही, पृ. 164

को बनाये रखने के अतिरिक्त यह अनुभव किया जाने लगा कि मुसलमानों को यदि नैतिक और धार्मिक नियमों को मानने में यदि ढील दी गयी तो यह सल्तनत के लिये घातक होगी, इसलिये प्रत्येक नगर में मुहतसिब की नियुक्ति की गई। बलबन मुहतसिब को एक अच्छी सरकार के लिये पहली आवश्यकता मानता था और गयासुद्दीन तुगलक मुहतसिबों की कार्यक्षमता को पूर्ण रखता था। मुहम्मद तुगलक के राज्यकाल में मुहतसिब एक उच्च अधिकारी था जिसको 8000 टंक वेतन मिलता था। फीरोज तुगलक ने मुहतसिबों की जुम्मेदारियों को और अधिक विस्तृत तथा कठोर बना दिया था।

परन्तु इस सब के बाद भी यह स्वीकार करना कि सुल्तानों ने 'शरा' का पालन करवाने के लिये ही इन्हें नियुक्त किया था, अधिक उचित नहीं होगा। प्रत्येक सुल्तान इसके लिए अधिक उत्सुक था कि वह राज्य की सम्पन्नता को बनाये रक्खे क्योंकि इसी में उसकी स्वयं की सम्पन्नता भी निहित थी। इस आधार पर सुल्तान राज्य और स्वयं के विरोधी तत्वों को जड़-मूल से कुचल देने के लिए उद्यत थे। इसी कारण उन्होंने ऐसे समस्त स्थानों पर जहां मुस्लिम जनसंख्या अधिक थी, मुहतसिवों की नियुक्ति की जिससे कि वे इन मुस्लिम बहुसंख्यक स्थानों में समस्त सूचनाएँ प्राप्त करते रहें जो उनके लिए खतरनाक सिद्ध हो सकती थीं, क्योंकि यही स्थान सुल्तान के विरुद्ध षड्यन्त्र के अखाड़े थे। सुल्तानों ने मुसलमानों के साधारण जीवन को शरा के अनुसार चलाने की अपेक्षा स्वयं अपने हितों की रक्षा के लिये ही मुहतसिवों की नियुक्ति की थी। इस प्रकार धर्म की आड़ में स्वयं को आने वाले खतरों से बचाना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। हिन्दू बहुमत बस्तियों में मुहतसिवों की नियुक्ति न तो शरा के अनुसार आवश्यक थी और न ही भौतिक आधार पर सम्भव, क्योंकि हिन्दू, सुल्तानों के प्रति उदासीन थे और जब तक उन्हें अत्यधिक परेशान न किया जावे तब तक निष्क्रिय थे। यदि शरा के नियमों को लागू करना ही अलाउद्दीन खल्जी का उद्देश्य होता तो राज्य में मद्य-निषेध के बाद भी वह स्वयं ख्वाजा रशिदुद्दीन को शराब की दावत पर आमन्त्रित नहीं करता।[1] उसने यदि शराब पीने को इस्लामी कानून के विरोध में बताया तो ये केवल इसलिये कि इस प्रकार की अमीरों की दावतें राज्य के लिए षड्यन्त्र की गढ़ थीं। इस प्रकार यद्यपि मुहतसिब न्यायपालिका का एक महत्वपूर्ण अधिकारी था, और वह लोक-नैतिकता को बनाये रखने के लिए उत्तरदायी था, फिर भी उसके कार्य का स्वरूप पुलिस अधिकारी जैसा था। वह व्यावहारिक रूप में सुल्तान की राजनीतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला महत्वपूर्ण व्यक्ति ही था।

पुलिस—आरम्भ से ही सुल्तान राज्य में सुरक्षा के प्रति सचेत थे। साधारणतया पुलिस के कार्य कोतवाल किया करता था और प्रत्येक शहर में इसलिए

---

1. यू. एन. डे, वही, पृ. 170

पद कोतवाल की नियुक्ति की जाती थी। दिल्ली का कोतवाल अधिकतर कोई प्रभावशाली व्यक्ति ही होता था और सुल्तान सार्वजनिक नीति के सम्बन्ध में उससे राय लेना हितकर समझता था। बलबन के समय में दिल्ली का कोतवाल मलिक फखरुद्दीन, बलबन को सलाह देता था। कोतवाल, अला-उल-मुल्क, की सलाह पर ही अलाउद्दीन नये धर्म की स्थापना तथा विश्व-विजय की काल्पनिक योजनाओं की सम्भावित असफलता से सन्तुष्ट हो, उन्हें त्यागने के लिये तत्पर हो गया था।

मुख्य रूप से कोतवाल अपने क्षेत्र में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने, अपराधों को रोकने तथा अपराधियों को बन्दी बनाने के लिए उत्तरदायी था। इसके अन्तर्गत वह अपने अधीन सैनिकों को, क्षेत्र के विभिन्न भागों की रात को गश्त लगाने के लिये नियुक्ति करता था। अलग-अलग भागों के निवासियों के साथ मिलकर वह प्रत्येक क्षेत्र में एक प्रमुख व्यक्ति को वार्डन बनाता था, जिसमें कि उस क्षेत्र में कोई व्यक्ति अपराधियों को अपने यहां शरण न दे। वह प्रत्येक क्षेत्र में आने और जाने वाले नवागन्तुकों से सम्बन्धित एक रजिस्टर रखता था। वह प्रत्येक क्षेत्र के निवासियों की गतिविधियों से पूर्णतया परिचित रहता था तथा उनकी आजीविका के सम्बन्ध में भी उसे पूरी जानकारी रहती थी।

फौजदारी कानून अधिक कठोर था और दण्ड प्रायश्चित निवारक थे। कभी-कभी विद्रोह अथवा असम्मानजनक व्यवहार पर अपराधी को शहर में घुमाया जाता था। क्योंकि विद्रोही की सम्पत्ति का निर्णय सुल्तान पर निर्भर था, इसलिए विद्रोही सोच-समझकर ही इस प्रकार की कार्यवाही करने के लिए तत्पर होता था। अलाउद्दीन ने प्रथम बार यन्त्रणा देकर अपराधियों से अपराध स्वीकार करने की नीति आरम्भ की थी। इसी प्रकार अपराधी के परिवार को दण्डित करने की नीति भी प्रथम बार उसने ही अपनाई थी। फीरोज तुगलक ने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

प्रान्तीय अदालतें—प्रान्तीय अदालतें चार प्रकार की होती थीं—(1) सूबेदार की अदालत, (2) काजी-ए-सूबा की अदालत, (3) दीवान-ए-सूबा की अदालत, (4) सदर-ए-सूबा की अदालत। सूबेदार क्योंकि प्रान्त में सुल्तान का प्रतिनिधि था इसलिए इस आधार पर उसका न्यायालय प्रान्त में उच्चतम था। वह मूल मुकदमों की सुनवाई अकेला ही करता था, परन्तु अपील के मुकदमों में काजी-ए-सूबा तथा दूसरों की सहायता लेता था। सूबे की समस्त न्यायालयों के विरुद्ध उसकी अदालत में अपील की जा सकती थी और वहां से निर्णय होने के पश्चात् उसके निर्णय के विरुद्ध भी केन्द्रीय न्यायालय में अपील की जा सकती थी।

उसकी अदालत के पश्चात् काजी-ए-सूबा की अदालत होती थी। क्योंकि सूबेदार प्रान्त का प्रशासनिक अधिकारी था, इसलिए वह प्रशासन में अधिक व्यस्त रहने के कारण न्यायाधीश के उत्तरदायित्व को निभाने के लिये बहुत ही कम समय निकाल पाता था। इसी कारण काजी-ए-सूबा को न्यायालय का अधिकतर कार्य

सिफारिश पर सदर-ए-जहांन परगनों तथा शिकों में काजी की नियुक्ति करता था। सम्भवतः सल्तनत काल में शिक एक निश्चित उपखण्ड नहीं था और सूबे के सदृश्य था, इसलिये इसकी न्याय व्यवस्था मोटे रूप से सूबे के ही समान थी। परगने में काजी दीवानी और फौजदारी मामलों की सुनवाई करता था और यदा कदा वो धार्मिक मुकदमों को भी सुन लेता था। शिकों में वह काजी, कोतवाल व ग्राम पंचायत के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनता था, परन्तु परगने में उसे ये अधिकार नहीं दिया गया था। फौजदार परगने के प्रत्येक फौजदारी मुकदमे की सुनवाई करता था। उसके प्रमुख कर्त्तव्यों में परगने में शान्ति व्यवस्था तथा कानून को बनाये रखना था। वह इस कार्य में अत्यधिक व्यस्त रहता था, इसलिये उसे अपने क्षेत्र के मुकदमों को सुनने का बड़ा समय मिलता था। उसके निर्णय के विरोध में प्रान्तीय गवर्नर के न्यायालय में अपील की जा सकती थी। आमील भू-राजस्व सम्बन्धी विवादों को देखता था और उसके निर्णय के विरोध में दीवान-ए-सूबा के न्यायालय में अपील की जा सकती थी। ग्राम पंचायतें सल्तनत काल में न्याय की अन्तिम कड़ी थीं, और देहाती जीवन में उनका अत्यधिक महत्व था।

दण्ड विधान—यह अत्यन्त कठिन है कि हम निर्दिष्ट दण्ड विधान की अनुक्रमिका बना सकें, परन्तु विभिन्न समयों पर विभिन्न अपराधों के लिये दिये दण्ड के आधार पर हम सहज में उस समय में प्रचलित दण्डों की जानकारी कर सकते हैं। बलबन के समय में मलिक बकबक को दिये गये दण्ड से हम यह अनुमान लगाते हैं कि किसी व्यक्ति को हत्या स्वरूप, चाहे वह साधारण नौकर ही क्यों न हो, मृत्यु दण्ड दिया जाता था। अलाउद्दीन खल्जी व काजी मुगीसुद्दीन के वार्तालाप से यह स्पष्ट है कि घूसखोरी, बेईमानी आदि के लिये राजस्व अधिकारियों को चाबुक मारे जाते थे, दुल्की चलना पड़ता था और यहां तक कि उन्हें बन्दीगृह में डाल दिया जाता था, परन्तु समरूप अपराध के लिये सरकारी कर्मचारियों का अंग-भंग कर दिया जाता था। साधारण रूप में शिरच्छेद, अंगभंग व अपराधी को हथकड़ी आदि पहनायी जाती थी। कोड़े लगाना भी प्रचलित था और एक बार एक व्यक्ति को एक हजार कोड़े की मार का दण्ड मिला था।

अलाउद्दीन अपराधी को दण्ड देने में अत्यधिक निष्ठुर था। शहर में शराब की तस्करी अथवा सार्वजनिक रूप से शराब पीने पर वह शराबी को बन्दी बनाकर घृणित कुओं में रखता था जो इसके लिये विशेष रूप से तैयार किये गये थे। यह कुएँ इतने भयानक थे कि कुछ बन्दी तो इसमें ही मर जाते थे, और जो बच जाते थे उनका स्वास्थ्य अत्यधिक खराब हो जाता था। बेईमान व्यापारी द्वारा कम तोलकर देने पर उसके शरीर से उतना ही माँस निकाल लिया जाता था। घोड़ों के दलाल यदि सुल्तान अलाउद्दीन की आज्ञा भंग करने के अपराधी होते तो उन्हें दूरस्थ दुर्गों में भेज दिया जाता था। सियारुल औलिया के लेखक अमीर खुर्द ने लिखा है कि एक बार मुहम्मद तुगलक ने देवगिरि के निकट मावसी जैत में संयाल अलाव को

बन्दी बनाकर भेजा। इसमें जीवित निकल आना सम्भव न था क्योंकि यहां पर अत्यधिक चूहे व सांप थे। व्यभिचार के लिए पत्थर मार मार कर मारना तथा माल की नाक पर मृतक शरीर को कई दिनों तक टांक कर पूरे शहर में घुमाना साधारण दण्ड थे।

मुहम्मद तुगलक के समय में लगभग सात अपराधों के लिए मृत्यु दण्ड दिया जाता था। स्वयम् त्यागी विशेषकर जो इस्लाम के सच्चे धर्म को छोड़ें जानबूझकर हत्या विवाहित स्त्री के साथ व्यभिचार शासन के विरुद्ध षड्यन्त्र विद्रोह का नेतृत्व करना विद्रोहियों की सहायता देना शत्रु पक्ष में मिल जाना अथवा उन्हें किसी प्रकार की सहायता करना जो कि राज्य के लिए घातक हो। फीरोज तुगलक ने फतूहात ए फीरोजशाही में लिखा है कि उसके पहले शासकों ने अंग भंग करने और कठोर यातनाएँ देने की नीति अपनाई थी जिससे कि नागरिकों के हृदय में राज्य के प्रति भय उत्पन्न हो जाय और राजाज्ञाओं का कठोरता से पालन करवाया जा सके। उसने ऐसे दण्डों की सूची भी दी है जो उसने अपने राज्य-काल में निषेध किये थे। इस सूची से यह जानकारी मिल सकती है कि पिछले समय में किस प्रकार के दण्ड साधारण रूप में प्रचलित थे। फीरोज के पहले अपराध स्वीकार करवाने के लिये भी अत्यधिक पीड़ा दी जाती थी। इस आधार पर हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि सल्तनत काल में दण्ड अशिष्ट व निर्दयतापूर्ण थे।

इन तथ्यों के आधार पर हम यह परिणाम निकालते हैं कि न्याय और दण्ड व्यवस्था मध्ययुग की परिस्थितियों के अनुसार साधारण थी और सम्पूर्ण सल्तनतकाल में केवल कुछ व्यवस्था सम्बन्धी परिवर्तनों के अतिरिक्त न्याय का स्वरूप स्वयं सुल्तान के धार्मिक विचारों पर आधारित था। सम्पूर्ण सल्तनत काल में किसी भी सुल्तान ने धर्म निरपेक्ष न्यायालयों की स्थापना अथवा उसी आधार पर दण्ड-व्यवस्था और कानून को लागू करने का कोई प्रयास नहीं किया और ऐसी स्थिति में सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बहुसंख्यक प्रजा की स्थिति कैसी दयनीय रही होगी।

कर व्यवस्था तथा मुद्रा

एक ठोस वित्त व्यवस्था की आवश्यकता राज्य के उद्भव से ही अनुभव की जाती रही है। इसकी दुर्व्यवस्था की स्थिति में राज्य का दिवालिया होना सुनिश्चित है और एक दिवालिया राज्य स्वयं के अस्तित्व को बनाये रखने में नितान्त असहाय है। अतः प्राचीनकाल से ही इस आवश्यकता का अनुभव किया जाता रहा है और उसी के अनुरूप इसको व्यवस्थित करने का निरन्तर प्रयास किया जाता रहा है।

मुस्लिम विधि वेत्ताओं (जूरिस्ट) के इस सम्बन्ध में आधारभूत स्रोत यद्यपि एक ही थे परन्तु फिर भी उन्होंने प्रमुख समस्याओं के विभिन्न और कभी कभी

विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। भारत का यह सौभाग्य था कि यहाँ पर हनीफी विचारधारा को ही सार्वधिकता प्राप्त हुई और समस्त मुस्लिम युग में यही राज्य-धर्म के रूप में बनी रही।[1]

सुल्तानों ने वित्त व्यवस्था का आधार शरा व अब्बासिद खलीफाओं की परम्पराओं को स्वीकार किया। क्योंकि हिन्दू वित्त-व्यवस्था किसी प्रकार से अधिक भिन्न नहीं थी इसलिये हिन्दुओं को केवल छोटे-मोटे परिवर्तनों के अनुरूप स्वयं को समायोजित करने में किसी विशेष कठिनाई का अनुभव न करना पड़ा।

मुस्लिम विधि-वेत्ताओं ने मुस्लिम राज्य की आय के साधनों को मुख्यत: दो वर्गों में विभाजित किया है—धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष। प्रथम-श्रेणी में वे कर थे जिनको केवल मुस्लिम वर्ग से ही वसूल किया जाता था और जिनको सामूहिक रूप में जकात की संज्ञा दी गई है। ऐसा स्वीकार किया जाता था कि एक मुस्लिम निर्धन तथा दरिद्र के साथ अपनी सम्पत्ति के बंटवारे से स्वयं को लालच और धन लोलुपता के अभिशाप से मुक्त करने में समर्थ हो सकेगा। हनीफी विचारधारा के विधि-वेत्ताओं ने जकात की परिभाषा करते हुए लिखा है कि कानूनी रूप में निश्चित की हुई अपनी सम्पत्ति के भाग को निर्धन मुसलमानों में दया के आधार पर बांटना जिससे कि दाता स्वयं को किसी लाभ का आकांक्षी न माने, जकात है।

जकात तथा सदाक—धार्मिक करों के रूप में जकात और सदाक में अवसर भ्रांति हो जाती है। वास्तविक रूप में सदाक एक विशिष्ट वर्ग है जिसके अन्तर्गत जकात एक अंग है। अधिक स्पष्ट रूप में जकात भी सदाक है परन्तु एकमात्र सदाक जो कि अनिवार्य है, जकात है। परन्तु शफी और मवार्दी विचारधारा के विधिवेत्ता दोनों में किसी प्रकार का मतभेद स्वीकार न कर इनको एक ही स्वीकार करते हैं। जकात के अधीन सम्पत्ति को पुन: स्पष्ट और अस्पष्ट भागों में विभाजित किया जा सकता है। जकात केवल एक निश्चित तथा न्यूनतम भाग पर ही लगाया जा सकता है, जिसे "निसाव" की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। निसाव के तीन विशिष्ट तत्व हैं:—

(1) इस पर स्वामी का पूर्णाधिकार हो।
(2) यह जीवन की मौलिक आवश्यकताओं से अधिक हो तथा
(3) ऋण-मुक्त हो। इस आधार पर जीवन की मूलभूत आवश्यकतायें जकात से मुक्त थीं। मकान, सवारी, कृषि के काम में लाये जाने वाले पशु, पठन-पाठन के उपयोग में आने वाली पुस्तकें, परिवार के भरण-पोषण के लिये अन्न तथा सम्बन्धित वस्तुयें, सेवा-कार्य के लिये रखे हुए दास, सजावट तथा सुख के लिये उपयोगी परन्तु

1. आर. पी. त्रिपाठी, वही, पृ. 338

आवश्यक वस्तुयें इसके अन्तर्गत नहीं आती थी। इस आधार पर सोना, चांदी तथा व्यापार की वस्तुओं पर ही जकात कर वसूल किया जा सकता था।

इसके अतिरिक्त जकात कर दाता को तीन आवश्यक शर्तों की पूर्ति करना भी आवश्यक था जिनकी अनुपस्थिति में जकात नहीं लिया जा सकता था। वे निम्न थीं[1]—

(1) परिपक्वता तथा बुद्धि अथवा युक्ति क्योंकि इनकी अनुपस्थिति में उत्तरदायित्व को अनुभव करना सम्भव नहीं है,

(2) एक स्वतन्त्र व्यक्ति क्योंकि दास सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित है तथा

(3) राज्य का इस्लामी रूप क्योंकि जकात का चुकाना एक उपासना है जो कि केवल मुसलमानों के द्वारा ही सम्पन्न की जा सकती है।

डा० कुरैशी ने लिखा है कुछ मुसलमान इस कर से स्वयं को बचाने के लिये वर्ष के अन्त होने के पूर्व ही अपनी समस्त सम्पत्ति को अपनी पत्नी अथवा परिवार के किसी सदस्य के नाम कर दिया करते थे और अगले वर्ष के आरम्भ में पुनः उसे अपने पक्ष में कर लिया करते थे। परन्तु यह कार्य निन्दनीय था क्योंकि जकात का फल केवल उन्हीं दाताओं को प्राप्त होना है जो कि इसके महत्व को स्वीकार करते हों।[2]

कर की वसूली—यह कर सम्पत्ति का ढाई प्रतिशत होता था और मुस्लिम विधि-वेत्ताओं के अनुसार धार्मिक कृत्यों, सम्पत्ति-हीन मुसलमान, फकीर, जिहाद (धर्म युद्ध) और कर्जदार आदि मदों पर इसे व्यय किया जा सकता था।

जहाँ तक इस कर के एकत्रित करने का प्रश्न था इमाम को शक्ति से इसे उगाहने का अधिकार न था। यदि वह इस प्रकार से उगाहता है तो मुसलमान ईश्वर के प्रति जकात को चुका कर अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने के कार्य से उन्मुक्त नहीं हो सकता। हनीफी विचारधारा के विद्वानों ने इसको एकत्रित करने का उत्तरदायित्व राज्य को सौंपा है क्योंकि राज्य ही सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान करता है। जकात, दृष्ट अथवा प्रत्यक्ष सम्पत्ति पर निश्चित दर के आधार पर राज्य द्वारा उगाहा जाता था। अदृष्ट सम्पत्ति पर स्वयं सम्पत्ति-धारक द्वारा अपने विवेक व निर्णय के अनुसार दान कर दिया करता था।

अन्य कर—आयात-निर्यात सम्बन्धी वस्तुओं से कर उगाहने के सम्बन्ध में यह नियम बनाया गया कि वस्तुओं के मूल्य का दो प्रतिशत मुसलमान व्यापारियों

---

1 यू एन ड, वही, पृ 106

2 आई एच. कुरैशी, वही, पृ 95-96

से तथा चार प्रतिशत हिन्दू व्यापारियों से वसूल किया जावे। घोड़ों पर आयात कर पांच प्रतिशत था। परन्तु गैर-मुसलमानों से यह दस प्रतिशत वसूल किया जाता था। इब्न बतूता[1] के अनुसार सुल्तान आयात कर के रूप में एक चौथाई वसूल करता था परन्तु मुहम्मद तुगलक ने पुनः इसे घटाकर इस्लामी मान्यताओं के आधार पर निश्चित किया था। सम्भवतः राज्य की आर्थिक स्थिति दयनीय होने के कारण ही इस प्रकार की बढ़ोत्तरी की गई हो परन्तु जब यह अनुभव किया गया कि राज्य की आय व्यापारियों की बेईमानी के कारण और घट गई है तो पुनः इसे कानूनी अनुपात में निश्चित कर दिया गया। सिकन्दर लोदी के समय में अनाज की कमी के कारण, अनाज पर लगाये जाने वाले कर को समाप्त कर दिया गया था और बाद में सुल्तानों ने इसे पुनः लागू करने का कोई प्रयास नहीं किया। कुछ सुल्तान इस कर से संतुष्ट नहीं थे। इसलिए उन्होंने दांगानह नाम का एक और कर लागू किया जिसका फीरोज तुगलक द्वारा रद्द करे हुए करों की सूची में उल्लेख है। जकात की वसूली के लिये अधिकारियों द्वारा बेची जाने वाली वस्तुओं को सराय-ए-आदिल पर कूता जाता था, तत्पश्चात् उन्हें दरिया अथवा खजाने में पुनः भार की जानकारी के लिए ले जाया जाता था। यहां पर कूते हुए अथवा अनुमानित मूल्य पर प्रति टंक एक दाम अतिरिक्त लगाया जाता था।

धर्म निरपेक्ष कर (खम्स)—धर्म निरपेक्ष अथवा सांसारिक करों में खम्स, खिराज व जजिया आय के प्रमुख साधन थे। युद्ध में प्राप्त लूट के माल को 'खम्स गनीम' कहते थे। शरा के अनुसार समस्त लूट की प्राप्ति में से 1/5 भाग राज्य का तथा शेष 4/5 भाग सैनिकों साम्यिक रूप में बांट देने के आदेश हैं। सुल्तान अथवा सेनापति के लिए यह न्यायोचित था कि वह बटवारे के पहले स्वयं के लिये एक पशु, तलवार अथवा कोई एक वस्तु जो उसे अधिक रुचिकर हो चुन ले। सुल्तान द्वारा इस चुनी हुई वस्तु को "सफीयाह्" कहते थे तथा बंटवारे के समय उसका कोई हिसाब नहीं रखा जाता था। राज्यकोष में जमा होने वाले भाग को कानूनी रूप में खम्स कहते थे। अलाउद्दीन ने इस नियम को उलट दिया। इसके अन्तर्गत 1/5 भाग सैनिकों में बांटा जाता था तथा शेष 4/5 वह स्वयं राज्यकोष के लिए सुरक्षित रख लेता था। सम्भवतः अलाउद्दीन ने अपनी विजय-योजनाओं में धन की पूर्ति के लिये ही इस प्रकार की नीति उसने अपनाई हो। फीरोज शाह तुगलक के समय तक यह नियम इसी रूप में बना रहा और उलेमाओं द्वारा इसको शरा-विरोधी घोषित करने पर उसने पुनः पुराने नियम को लागू कर दिया। लूट के विभाजन के समय एक घुड़सवार को पायक अथवा पैदल सैनिक की तुलना में दो अथवा तीन गुना दिया जाता था।

---

1. इब्न बतूता, रेहला, पृ. 210

उत्तरकालीन सल्तनत काल म गढ हुए धन को भी खम्स की श्रेणी म स्वीकार किया जाने लगा। यह स्वीकार किया जाता था कि ये धन पहले काफिरा (हिन्दुओं) का था जो कि विजय के फलस्वरूप इस्लाम के अधिकार क्षेत्र म है। कौटिल्य के अनुसार समस्त गढे हुए धन का स्वामी राज्य ही था। सल्तनत काल म राज्य हिन्दू तथा मुसलमान दोना से ही गढा धन प्राप्त करता था। इसके अन्तगत गढ हुए धन को खोज निकालने वाला स्वय के लिए 4/5 भाग रखकर शेष 1/5 भाग राज्य को प्रदान करता था। यदि गढा धन किसी एसे व्यक्ति के द्वारा ढूढ निकाला गया हो जो स्वय उस भूमि का स्वामी नहीं हो तो ऐसी स्थिति म भूमि का स्वामी 4/5 भाग तथा राज्य 1/5 भाग का अधिकारी था।

गढे हुए प्राप्त सिक्का पर भी राज्य कर लेता था। ऐसे सिक्के जा कि मुस्लिम विजय के पहले ढाले गये हो (रिकाज) राज्य उनके मिलने पर 1/5 भाग प्राप्त करता था। इसके लिए यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि यदि यह धन गढा हुआ नहीं होता तो स्वाभाविक रूप म यह खम्स के अन्तगत आता। सिकन्दर लोदी ने दो बार ऐसे प्राप्त सिक्का से राजकीय भाग लेने से मना कर दिया क्याकि उन पर इस्लामी अनुश्रुतिया अंकित थीं।

सल्तनत काल में किसी मुसलमान की इच्छा-पत्रहीन (Intestate) मृत्यु होने पर अथवा उसके वारिस न होने पर समस्त सम्पत्ति का अधिकार एकमात्र राज्य ही होता था परन्तु सम परिस्थितियो म हिन्दू की मृत्यु होने पर उसकी सम्पत्ति उनके समुदाय का हस्तान्तरित कर दी जाती थी।

इसके अतिरिक्त राज्य को पेशकश भेंट आदि से भी आय होती थी। सम्पूर्ण मध्ययुग म ऐसा माना जाता था कि सुल्तान अथवा बादशाह के सम्मुख भेंट लेकर उपस्थित होना सामान्य शिष्टता है। इसलिये सुल्तान से मिलने की इच्छा रखन वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने पद तथा सम्मान के अनुसार सुल्तान को कुछ भेंट प्रस्तुत करता था जिसे साधारणतया 'पेशकश' कहा जाता था। सल्तनत काल म कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा इस प्रकार से पेशकश स्वीकार करने क हम प्रमाण मिलते हैं। उस समय से लेकर फीरोज तुगलक क समय तक पेशकश किसी न किसी रूप म प्रस्तुत की जाती रही। फीरोज न इसे शरा विरोधी मानकर यह आदेश दिया कि अमीर द्वारा पशकश के मूल्य को उस पर चढ हुए बकाया के अधीन चुकता कर दिया जावे।

सल्तनत काल म हम इस प्रकार की भेंट के अनेक उदाहरण मिलते हैं। जब कभी प्रान्तीय गवनर सुल्तान स मिलने उपस्थित होते तो वे बहुमूल्य भेंट प्रस्तुत करते थे। शाहजादा बुगरा खा न अपने पिता और सुल्तान बलबन से मिलते समय हाथी प्रस्तुत किये थे। इब्न बतूता के अनुसार मुहम्मद तुगलक के वजीर ने सोना और चान्दी क थाला का माणिक आदि म भरकर सुल्तान को प्रस्तुत किये थ। सुल्तान उनका सम्मानित करने के लिय कभी-कभी उनस बगलगीर होता था।

खिराज—खिराज भूमि कर था जो विभिन्न सुल्तानों के द्वारा खेती की उपज पर वसूल किया जाता था, जिसका अध्ययन हम कर चुके हैं। भूमि-कर के अतिरिक्त राज्य की आय के अनेकों साधन थे। सल्तनत काल में अनेक चुंगी लगाई गई परन्तु इनसे राज्य को कोई अधिक आय नहीं थी। अलाउद्दीन ने भूमि-कर के अतिरिक्त मकान-कर, चरागाह-कर को लागू किया था। यह जानना अत्यधिक कठिन है कि मुस्लिम शासन के आरम्भिक काल में और कौनसी चुंगी लगी हुई थी क्योंकि समकालीन इतिहासकार प्रशासकीय व्यवस्था के प्रति उदासीन थे और इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में इसका कहीं विवरण नहीं दिया है। अफीफ और फीरोज शाह द्वारा रचित ग्रन्थों के अध्ययन से केवल यह जानकारी प्राप्त हो पाई है कि फीरोज ने शरा-विरोधी होने के आधार पर किन्हीं चुंगी करों को समाप्त किया था। परन्तु दोनों ही इसको स्वीकार करते हैं कि भूत में ये चुंगी कर लागू थे। अफीफ की सूची में निम्न कर दिल्ली में लागू थे—

1. किरा-जमीन—यह मकानों व दुकानों पर लगाई गई चुंगी थी जो कि गरीब और विधवाओं तक से प्राप्त की जाती थी। राज्य को इससे 150,000 टंक की वार्षिक आय थी।

2. जजारी—यह कसाइयों पर प्रत्येक पशु के वध पर 12 जीतल प्रति पशु के हिसाब से वसूल की जाती थी।

3. दनगान—यह आधुनिक नाका-चुंगी के समान थी। शहर में आने वाली वस्तुओं पर एक निश्चित् स्थान पर उनके भार के अनुसार यह वसूल की जाती थी।

ये 1375 ई. में समाप्त की गई। अफीफ के अनुसार इन चुंगी-करों को समाप्त कर राज्य को लगभग 30 लाख टंक प्रतिवर्ष की हानि उठानी पड़ी थी।

फतूहात-ए-फीरोजशाही में राज्य द्वारा उन्मूलित चुंगी करों का विवरण मिलता है। इनमें प्रमुख इस प्रकार हैं—

1. जजारी (कसाइयों पर कर),
2. अमीरी तरब (वैश्याओं पर कर),
3. गुल फरोशी (फूल बेचने पर कर),
4. जजिया तम्बूल (पान बेचने पर कर),
5. चुंगी गल्ला (अनाज पर कर),
6. नीलगरी (नील पर कर),
7. माही फरोश (मछली बेचने पर कर),
8. साबुन गिरी (साबुन बनाने पर कर),
9. रोगन गिरी (तेल बनाने पर कर),
10. किताबी (लेखक पर कर),
11. दाद बेगी (कोर्ट फीस), छत्ताह (भवन निर्माण पर कर) आदि।

जजिया—धर्म-निरपेक्ष अथवा सांसारिक करों में जजिया कर अत्यधिक विवादास्पद है। विभिन्न लेखकों ने इसकी विभिन्न तरह से व्याख्या की है। क्योंकि यह सुल्तान के धार्मिक उत्तरदायित्वों का एक अंग था जिसे वैधानिक मान्यता प्राप्त थी, इसलिए विस्तार में इसका अध्ययन करना न्यायोचित लगता है।

प्रारम्भिक अवस्था में पैगम्बर ने मुस्लिम राज्य में गैर-मुस्लिमों के निवास की कभी कल्पना भी नहीं की थी। परन्तु जैसे-जैसे इस्लाम की सत्ता अरब के मरुस्थल से निकल कर ईसाई प्रदेशों को अपने अधीन करने में समर्थ हुई वैसे ही वैसे उनके सम्मुख इन नव-विजित प्रदेशों के निवासियों के साथ किये जाने वाले व्यवहार की कठिन समस्या विकट रूप में उपस्थित हुई क्योंकि यह असम्भव था कि समस्त जनता से या तो इस्लाम स्वीकार कराया जावे अथवा उन्हें मृत्यु के घाट उतार दिया जावे। इसलिये इसके समाधान में ईश्वरीय आज्ञाओं की सहायता ली गई। इनके अनुसार गैर-मुसलमान, जो कि मुस्लिम राज्य के नागरिक हों, राज्य की सुरक्षा में अपने जीवन के अधिकार को सुरक्षित रखने के लिये कुछ मूल्य चुकायें अथवा जिम्मी की स्थिति को स्वीकार कर लें जिसमें उनका जीवन एक अनुबन्ध (ठेका) के आधार पर राज्य द्वारा मान्य होगा। इस आधार पर जजिया केवल उन्हीं व्यक्तियों पर लागू किया गया जिनको जिम्मी स्वीकार कर लिया गया है। आवश्यक नहीं था कि यह प्रत्येक गैर-मुसलमान पर लागू किया जावे।

जजिया शब्द "जजा" (मुआवजा) से उद्धरित है जिसका अर्थ है मुआवजा। वास्तविक रूप में यह एक ऐसा कर था जिसको जिम्मियों से उनके अविश्वास के आधार पर तथा अपमानित करने के लिये वसूल किया जाता था अथवा दया के आधार पर मुसलमानों द्वारा सुरक्षा-हेतु वसूल किया जाने वाला कर था। अघनाईड्स[1] ने लिखा है कि, "ऐसों से युद्ध करो जिनको एक धर्म-ग्रन्थ प्रदान नहीं किया गया है और वे जो ईश्वर अथवा कयामत में विश्वास करते हैं, ... उस समय तब तक कि वे स्वयं अपमानित होने के लिये अपने हाथों जजिया का भुगतान न करें।" जजिया देने पर जिम्मी दो अधिकारों का हकदार हो जाता था।

1 उत्पीड़न से मुक्ति तथा,

2 सुरक्षा। प्रथम अधिकार के अन्तर्गत वह सुरक्षित (अमीन) और दूसरे के अन्तर्गत वे रक्षितों (महफूज) की श्रेणी में आ जाते थे।

हनीफा विधि-वेत्ताओं के अनुसार इस कर को जजिया इसलिये कहा जाता है कि जिम्मी मृत्यु के लिये यह ब्याज (मुआवजा) चुकता है। दूसरे विधि-वेत्ताओं के अनुसार काफिर (जो मुस्लिम राज्य का निवासी हो) का मानमर्दन करने, अविश्वास स्वरूप दण्डित करने तथा इस्लाम की श्रेष्ठता को दर्शाने के लिए जजिया

---

1 एन पी अघनाईड्स, थियरीज आफ मुहमेडन फायनेन्स, पृ. 398

वसूल किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि प्रत्येक मुसलमान के लिए इस्लाम की रक्षा हेतु राज्य की सैनिक सेवा करना अनिवार्य है और सुल्तान खलीफा का प्रतिनिधि होने के नाते मुसलमानों से इस सेवा को प्राप्त करने का अधिकार था परन्तु जिम्मी क्योंकि इस्लाम के अनुयायी नहीं थे इसलिए वे इस सेवा के उपयुक्त पात्र नहीं थे और इसलिए उनका साधारणतया रुझान शत्रु-पक्ष के प्रति होगा। इस सेवा के बदले में उन्हें राज्य को कुछ धन देना चाहिए जिससे कि यह धन उन मुस्लिम सैनिकों पर व्यय किया जा सके जो इस उत्तरदायित्व का वहन करते हैं और इसलिये यह कर जजिया के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। परन्तु इस प्रतिज्ञप्ति (Proposition) में सबसे बड़ी कमी है कि वे हिन्दू जिन्होंने मुस्लिम शासकों के पक्ष में युद्ध किया, उन्हें भी क्योंकर जजिया कर से मुक्त नहीं किया गया ?

डा. कुरैशी के अनुसार कतिपय विद्वानों का यह मत है कि मुस्लिम राज्य में गैर-मुस्लिम से जीवन रक्षा के अधिकार को प्राप्त करने हेतु जजिया वसूल किया जाता था अनुचित है क्योंकि अगर ऐसा होता तो औरतों और बच्चों से भी यह कर वसूल किया जाना चाहिये था. परन्तु ऐसा किसी भी समय प्रचलित नहीं हुआ। समुचित रूप में इसका उत्तर देना यद्यपि सम्भव नहीं है परन्तु इतना अवश्य है कि बालकों पर यह कर केवल चौदह वर्ष की आयु तक ही लागू नहीं था। इसके साथ ही इसका भी कोई सन्तोषपूर्ण उत्तर देना सम्भव नही दीखता कि क्योंकर पागल, वृद्ध, भिखारी, साधु-सन्यासी और ब्राह्मणों को इससे मुक्त कर दिया गया था। डा. कुरैशी इस कर के औचित्य को दर्शाने के लिए यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि राजपूताने के राज्यों में भी इसी प्रकार का कर वसूल किया जाता था, अथवा हिन्दू राजाओं के समय में भी किसी न किसी रूप में यह कर विद्यमान था जैसे कन्नौज के गटखर वंश ने राज्य में रहने वाले हिन्दू व मुसलमानों से यह कर वसूल किया था। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर डा० कुरैशी का यह मत ठीक है परन्तु राजपूताने में शत्रु से और विशेषकर मरहठो से राज्य की रक्षा के लिए "ग्नीम" नामक कर वसूल किया जाता था जिससे कि मरहठों को 'पेशकश" के अन्तर्गत दी जाने वाली राशि का भुगतान किया जा सके। इसमें धर्म की रक्षा करने अथवा किसी वर्ग-विशेष से ही कर को उगहाने का प्रश्न नहीं था। राज्य ही सर्वोपरि था और क्योंकि राज्य शक्तिहीन था इसलिये राज्य की रक्षा-हेतु समस्त नागरिकों को वर्ग-भेद मिटाकर, कर देने के लिये बाध्य किया जाता था। इसी प्रकार कन्नौज के शासकों ने भी राज्य के प्रत्येक नागरिक से शत्रुओं के विरुद्ध रक्षा करने हेतु कर प्राप्त किया था। इन करों में न तो किसी प्रकार की धर्मान्धता थी और न ही इन्हें किसी विशेष वर्ग पर ही लागू किया गया था। ऐसी स्थिति में इन करों को जजिया के अनुरूप स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं होगा।

प्रो० पी शरण[1] ने मौलवी मुहम्मद अली के विचारों को (जो पवित्र कुरान के अध्याय 2, पद्य 190) उद्धृत करते हुए लिखा है कि, "मुसलमानों को जो युद्ध करने की अनुमति प्रदान की गई है उसमें यह शर्त निहित है कि शत्रु मुसलमानों को नष्ट करने के लिए प्रथम प्रहार करे।" पैगम्बर न कभी भी इन सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया। युद्ध का आदेश इस आधार पर केवल आत्म-रक्षा तथा धार्मिक उत्पीडन को रोकने के लिये दिया गया था।

जिन परिस्थितियों मे गैर-मुसलमानों से युद्ध करना अथवा जजिया लगाना मान्य है उन परिस्थितियों का अध्ययन करने से ऐसा अनुभव होता है कि जिन विधिवेत्ताओं ने पैगम्बर की निषेधाज्ञाओं को प्रतिपादित किया अथवा उन्हें प्रस्तुत किया (जिसके अन्तर्गत समस्त गैर मुसलमानों पर चाहे वे शान्तिप्रिय ही क्यों न हों युद्ध करने का अधिकार देकर) निश्चित ही पवित्र कुरान व पैगम्बर के प्रति घोर अन्याय किया है। यदि इसके पश्चात भी निषेधाज्ञायें समस्त विरोधी गैर-मुसलमानों पर लागू की जावें तब भी इनम उस अर्थ को स्वीकार करने की कोई गुंजाइश नहीं है जो बयाना के काजी मुगीसुद्दीन ने कर अधिकारियों का दी थीं। कर-अधिकारी को जिम्मी के मुह मे थूकने का विशेषाधिकार केवल मुगीसुद्दीन और उसके वर्ग की विदग्ध (ingenious) कल्पना का ही परिणाम है। यहा यह कहना अनुचित नहीं होगा कि अबू हनीफ ने जिम्मियों को कर देते समय अपमानित करने को संकेत दिया है परन्तु इसका अर्थ निश्चित ही वह नहीं है जो काजी मुगीसुद्दीन ने प्रतिपादित किया था।

इस प्रकार से जजिया की उत्पत्ति तथा पैगम्बर द्वारा गैर-मुसलमानों के प्रति किये जाने व्यवहार से सम्बन्धित निषेधाज्ञाओं को ध्यान मे रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि इन अनपकारक निषेधाज्ञाओं को या तो गलत ढग से समझा गया है, अथवा अधिकतर मुसलमान शासकों द्वारा अपने राजनैतिक उद्देश्यों की अथवा साम्राज्यवादी इच्छाओं की पूर्ति के लिए कपटपूर्ण ढंग से प्रयुक्त किया है और उनके इस अधार्मिकता तथा अनुचित कार्य म धर्मतत्वज्ञों ने अपने स्वार्थ हेतु न केवल सहायता की अपितु उनको पूर्णतया बहकाया।

जजिया को साधारणतया दो वर्गों म विभाजित किया जा सकता है—

1 सन्धि द्वारा जजिये की राशि को निश्चित करना जिसमे बाद में किसी प्रकार से रद्दोबदल नहीं किया जा सकता था। इस सम्बन्ध मे हनीफी व शफीटी विचारधारा के मानने वालों की ऐसी मान्यता है कि यह प्रति व्यक्ति एक दीनार से कम नहीं होना चाहिए। ईमाम इस प्रकार के जजिया की शर्तों को निश्चित करने के लिए प्राधिकृत है।

---

1 पी शरण, वही, पृ 131–32

2. दूसरी प्रकार का जजिया वह है जो कि विजेताओं द्वारा पराजितों पर लागू किया जाता है और इसके लिये ईमाम प्राधिकृत है। इस श्रेणी में आरम्भिक दर 48, 24 तथा 12 दिरहाम धनवान, मध्यमवर्गी व गरीब वर्ग से क्रमशः वसूल करने का प्रावधान था। यह जानकारी हमें सुलभ नहीं हो पाई है कि धनवान, मध्यमवर्ग व गरीबों का वर्गीकरण किस आधार पर किया गया था।

जजिया वर्ष के आरम्भ होते ही देय हो जाता था परन्तु इसकी वसूली के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं। अबू हनीफ के अनुसार इसे वर्ष के अन्त में दो-तीन दिन पूर्व एकत्रित किया जावे परन्तु दूसरे विचारकों के अनुसार प्रत्येक दो अथवा तीन मास के बाद इसे एकत्रित किया जावे। मृत्यु, इस्लाम स्वीकार करने अथवा साल के अन्त तक इसको वसूल न कर पाने की स्थिति में यह रद्द समझा जाता था। अबू हनीफ की इस अन्तिम शर्त को दूसरे विचारक स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं हैं।

जजिया के भुगतान की विधि में भी मत-मतान्तर है, केवल अबू हनीफ की विचारधारा के विद्वानों को छोड़कर सब एकमत हैं कि जब जिम्मी जजिये का भुगतान करने प्रस्तुत हो तो वह स्वयं खड़ा रहे तथा जजिया प्राप्त करने वाला अधिकारी बैठने की स्थिति में रहे। जजिया भुगतान करने की प्रक्रिया में जिम्मी की भर्त्सना की जावे तथा उसको अपमानित अथवा लज्जित किया जावे। व्यक्तिगत रूप से अपमानित अथवा मानमर्दन करना जजिया के भुगतान का एक आवश्यक अंग था। इसलिए इसका व्यक्तिगत रूप में ही भुगतान करना आवश्यक था। इसीलिए प्रतिनिधि मुख्तार (proxy) के माध्यम से यह स्वीकार नहीं किया जाता था।

सुल्तानों ने अपनी गैर-मुस्लिम जनता से इस कर को प्राप्त किया। हमारे पास समुचित रूप से यह जानकारी नहीं है कि इस कर के अन्तर्गत राज्य को वार्षिक आधार पर कितना धन प्राप्त होता था परन्तु क्योंकि भारत में हिन्दू अत्यधिक बहुमत में थे इसलिये स्वाभाविक रूप से राज्य को इससे पर्याप्त आय प्राप्त होती रही होगी। हमें यह भी जानकारी नहीं है कि विभिन्न सुल्तानों ने किस दर से इसको लागू किया था परन्तु अफीफ के अनुसार फीरोज तुगलक ने अमीर मध्यम व गरीब वर्ग से क्रमशः 40, 20 व 10 टंक प्रति व्यक्ति लिया था। स्त्रियां, दास व 14 वर्ष से कम आयु के बालक इससे मुक्त थे। अन्धे, लूले-लगड़े व पागल, धनवान होने की स्थिति में इस कर के भुगतान के लिए उपयुक्त समझे जाते थे।

ब्राह्मण, मठवासी तथा पुरोहितों के रूप में फीरोज तुगलक के काल के पहले इस कर से मुक्त परन्तु फीरोज ने उलेमाओं से विचार-विमर्श कर और यह मानकर कि वे मठवासी और पुरोहित जो स्वयं को अनन्य रूप में धार्मिक अनुष्ठानों में अर्पित नहीं करते हैं, ब्राह्मण समझे जाने योग्य नहीं हैं इसलिए उन पर भी इस कर

को लागू कर दिया। इससे राज्य में बडी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई परन्तु फीरोज कर प्राप्त करने के लिये दृढ रहा। अन्त में दिल्ली के धनी हिन्दुओं ने ब्राह्मणों की ओर से इस कर का भुगतान करने का भार वहन किया। इस घटना से यह सम्भावना प्रतीत होती है कि जजिया केवल दिल्ली के ब्राह्मणों से ही उगाहने की नीति अपनाई गई थी क्योंकि सम्पूर्ण राज्य के ब्राह्मणों की ओर से दिल्ली के धनी हिन्दुओं द्वारा इस कर के भुगतान करने का औचित्य प्रतीत नहीं होता है। इस घटना से यह भी सम्भावना लगती है कि जजिया केवल नगरों में ही वसूल किया जाता था क्योंकि यहाँ सुल्तान तथा राज्य के प्रशासन की पकड पूर्ण थी। गावों में इस कर को वसूल करने की स्थिति में भीषण विद्रोह की प्रबल आशंका बनी रहती थी।

अफीफ के अनुसार फीरोज तुगलक ने तदन्तर धनी ब्राह्मणों पर कर को घटाकर केवल 10 टक कर दिया। डा कुरैशी[1] के अनुसार समस्त सल्तनत काल में केवल यही एक मात्र घटना है जबकि इस कर के प्रति रोष प्रकट किया गया और इस आधार पर उनकी मान्यता है कि इसका निर्धारण सौम्य था।

कुछ विद्वानों के अनुसार अलाउद्दीन खल्जी ने न तो हिन्दुओं को जिम्मी स्वीकार किया और न ही उनसे जजिया वसूल किया परन्तु समकालीन लेखकों ने कहीं पर भी इसको समाप्त करने का उल्लेख नहीं किया है और न ही अलाउद्दीन ने काजी मुगीसुद्दीन द्वारा हिन्दुओं के लिये जिम्मी शब्द के प्रयोग करने का कोई विरोध ही किया था। इससे हम यह निर्णय नहीं ले सकते कि अलाउद्दीन जजिया-विरोधी अथवा धर्म-निरपेक्ष विचारों का समर्थक था।

आधुनिक युग में जजिया के औचित्य को दर्शाने के लिए विभिन्न प्रकार के तर्कों को प्रस्तुत करना एक सामान्य मान्यता बन गई है। व्यावहारिक रूप में यह उचित भी है परन्तु सैद्धान्तिक आधार पर इतिहास को झुठलाकर तथा उसकी घटनाओं को परिवर्तित कर सामने रखना इतिहास के प्रति अन्याय है। आधुनिक बुद्धिजीवियों ने जजिया कर का भुगतान करते समय जो प्रताडना और मानमर्दन हिन्दुओं को सहन करने के लिए बाध्य किया जाता था उसे पूरी तरह से भुला दिया है। समस्त गैर-मुस्लिमों से धर्म के स्वतन्त्र पालन के आधारभूत और मानवीय अधिकार को छीनकर निश्चित् ही सल्तनत काल का जो स्वरूप हमारे सम्मुख उभर कर आता है उसे साम्प्रदायिक राज्य के अतिरिक्त किसी प्रकार की दूसरी संज्ञा देना सम्भव नहीं जान पडता। सुल्तानों ने इस अनुचित कर को लागू कर स्वयं अपने हाथों सल्तनत की कब्र खोदने में सक्रिय सहयोग किया।

मुद्रा—राज्य में व्यापार और उद्योग के समुचित विकास के लिए एक ठोस मुद्रा नीति की आवश्यकता प्राचीन समय से ही अनुभव की जाती रही है।

---

1 आई एच कुरैशी वही, पृ 97

विनिमय की व्यवस्था के साथ भी इसकी आवश्यकता इससे अनुभव की जा सकती है कि ईसा की दूसरी शताब्दी पूर्व से ही हमें मुद्रा अथवा सिक्कों के प्रचलन के प्रमाण मिलते हैं। परन्तु उस समय में यह स्वीकार करना कि सिक्कों को वैज्ञानिक आधार पर ढाला जाता रहा होगा नितान्त असम्भव है। उद्योग और व्यापार के विकास के साथ ही सिक्कों के प्रचलन और प्रमाणिकता की कमी अधिक अखरने लगी और इसलिए समय-समय पर सिक्कों के क्षेत्र में विभिन्न शासकों ने अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न प्रयोग किये तथा इनको व्यवस्थित करने का समुचित प्रयास किया।

तुर्की विजेताओं ने एकदम एक नवीन मौद्रिक पद्धति को आरम्भ किया हो, ऐसा स्वीकार करना सम्भव नहीं है। उन्होंने उपयोग के लिए उस समय में प्रचलित सिक्कों को ही रूपान्तरित कर लिया। पिछले समय के मिश्रित धातु के सिक्के जिनको "देहली वाला" के नाम से सम्बोधित किया जाता था वे ही प्रचलित रहे और यद्यपि उनमें रूपान्तरण होता रहा परन्तु यह अत्यधिक क्रमिक व धीरे-धीरे हुआ। हिन्दू सिक्कों का परिरूप अथवा योजना और रचना उसी प्रकार से बनी रही। तुर्की राज्य की स्थापना के लगभग 60 वर्ष पश्चात् बलबन ने प्रथम बार पुरानी रचना, जिसमें एक सांढ तथा अश्वरोही अंकित था, के स्थान पर सुल्तान का नाम देवनागरी लिपि में अंकित करवाया। इसलिये तुर्की राज्य की स्थापना के प्रारम्भिक काल में यह "देहली वाला" नामक सिक्का ही साधारण रूप से प्रचलित रहा। सिराज के अनुसार इसी दूषित सिक्के को जिसको कुछ समय पश्चात् जीतल की संज्ञा दी गई, का सदैव ही प्रयोग किया जाता रहा। तत्पश्चात् जीतल ही साधारण मुद्रा स्वीकार की जाने लगी और "देहली वाला" का प्रचलन समाप्त हो गया। यल्दौज ने अपने अल्पकालीन शासन में भी इसी प्रकार की मुद्रा को ढलाया था।

स्वर्ण मुद्रा के क्षेत्र में भी महमूद के शासनकाल तक नव स्थापित शासन की मुद्रा सम्बन्धी विशिष्ट विशेषतायें सुस्पष्ट नहीं हो पायी थीं। मुइज़ुद्दीन के समय की जो तीन स्वर्ण मुद्रायें प्राप्त हैं वे पूर्णतया हिन्दू शासकों की नकलमात्र है यहां तक कि लक्ष्मी की आकृति की भी हूबहू नकल है। इनमें केवल शासक का नाम ही इनकी भिन्नता का परिचायक है। यहां तक कि तीसरी मुद्रा जो उत्तरी भारत में प्रचलित थी तथा जो दीनार के आधार पर ढाली गई थी एक संस्मारक के रूप में प्रचलित की गई थी। उस पर भी चौहानों की मुद्रा के अनुसार एक घुड़सवार का चित्र अंकित है तथा देवनागरी में 15 अनुश्रुति अंकित हैं। इस प्रकार की स्वर्ण मुद्रायें इल्तुतमिश के द्वारा ढलवाई गईं और केवल कलमा और खलीफा के नाम के अतिरिक्त इनमें गजनी के दनारी से निम्नतम सादृश्य है। इस काल की ताम्बे की मुद्रा पुराने "देहली वाला" मुद्रा के सदृश थी और सम्भवतः इन्हें "अदल" की संज्ञा दी गई थी।

इल्तुतमिश के द्वारा चादी क सिक्के क ढालने के साथ ही इन्डो मुस्लिम मौद्रिक पद्धति का प्रारम्भएए स्वीकार किया जाता है। इस सिक्के को टक की सज्ञा स सम्बोधित किया गया। इमम तथा दिरहाम में केवल रूप और अनुश्रुति के अतिरिक्त किसी प्रकार का मूलभूत सामिप्य नहीं है। टक म 1 तोला अथवा 96 रति चाँदी रखने का विचार किया गया जो कि 172 8 ग्रेन के बराबर था। न कि 175 ग्रेन जैसा थामस ने भ्रमवश ग्राका है। उत्तरवर्ती सोने के टक को भी इसी मानदण्ड के आधार पर व्यवस्थित किया गया।

फारसी अनुश्रुति तथा कलमा और सुल्तान की उपाधियो को इस पर अकित करन के साथ ही टक दिल्ली सल्तनत की मानक मौद्रिक इकाई स्वीकार की जान लगी। इसके मुख पर खलीफा के नाम क अकित होन पर प्रयोगात्मक स्थिति की समाप्ति हो गई। सम्भवत इस प्रकार की स्पष्ट मुद्रा 1225 ई म पहली बार मुद्रित हुई जिसम सुल्तान को खलीफा का नायब सम्बोधित किया गया था। 1230–31 ई से खलीफा का नाम नियमित रूप मे सिक्का पर अकित किया जाने लगा। इसी वर्ष सुल्तान इल्तुतमिश का खलीफा द्वारा प्रतिष्ठापन हुआ और सम्भवत इसी का कीर्तिमान करने हेतु इल्तुतमिश ने एक अदिनाकित (undated) मुद्रा को प्रचलित किया जिसम कलमा तथा खलीफा का नाम अकित था।

टक के क्रम विकास की खोज म अधिकतर लेखको न केवल दिल्ली स्थित टकसाल का ही लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है और बगाल की टकसाल क योगदान का कोई उल्लेख नही किया है। वास्तविकता यह है कि लखनौती क शासक गियासुद्दीन एवाज न जो 1219 ई म सिक्क को प्रचलित किया था वह इल्तुतमिश द्वारा 1234 ई म चलाय गये सिक्क क सादृश्य है। एवाज के 1221 ई तथा 1222 ई म सिक्को म खलीफा का नाम तथा 172 ग्रेन का मानक भार भी रखा गया था। एवाज की उपाधियों क साथ ही इसम मुद्रित होने का वर्ष तथा मास भी अकित है जो कि इसकी अद्वितीय विशेषता है। थामस क अनुसार खलीफा द्वारा प्रतिष्ठापन क स्मरणोत्सव (Commemoration) के लिए ही इस ढाला गया था।

इल्तुतमिश का निम्न मूल्यवर्ग के सिक्का को जिनको जीतल की सज्ञा दी गई सगठित कर उन्ह टक क मूल्य क अनुसार समायोजन करन का श्रेय है। जीतल म पुरान देहली वाला सिक्क का तुलना म चादी के भार को कम रखने की व्यवस्था जान बूझकर की गई थी। थॉमस आदि के अनुसार टक की तुलना म इसका मूल्य 1/48 था। इस आधार पर महमूद बलबन तथा कैकुबाद के द्वारा प्रचलित माशा जिसका भार 14 4 ग्रेन था चार जीतल क मूल्य क समरूप होगा। बलबन के समय से एक मिश्रित धातु का सिक्का जिसम चाँदी का अश देहली वाला म कम परन्तु जीतल म अधिक था सम्भवत इसी उद्देश्य म प्रचलित किया गया था कि यह मौद्रिक व्यवस्था म एक औसत सिक्क क रूप म बना रह। इसका

मूल्य टंक की तुलना में 1/24 था। इस मूल्य के आधार पर यह और अधिक प्रमाणित हो जाता है कि टंक में 48 जीतल ही हुआ करते थे।

जहां तक ताम्बे के सिक्कों का जीतल और टंक से मूल्य आंकने का प्रश्न है हमारा ज्ञान केवल अनुमान पर आधारित है क्योंकि हमें इसके मूल्यवर्ग (denomination) की जानकारी नही है। इनमें से कुछ पर "अदल" अंकित है परन्तु बाद में चांदी के सिक्कों पर भी इस प्रकार "अदल अंकित मिलता है। 14वीं शताब्दी में मुहम्मद तुगलक द्वारा "फल्स" नामक सिक्का भी मिलता है जो जीतल का 1/4 भाग था। इसके अतिरिक्त दूसरी कठिनाई यह है कि ताम्बे के सिक्कों का भार 12 से लेकर 71 ग्रेन के बीच अदल-बदल होता रहा और ऐसी स्थिति में उसका टंक की तुलना में वास्तविक मूल्य आंकना तर्क संगत न होगा।

इल्तुतमिश के कुछ अदल का भार केवल 8 ग्रेन ही है और सम्भवतः इनका उच्च मूल्य के सिक्कों से कोई सम्बन्ध नहीं था। उनका महत्व केवल तात्विक धातु पर ही आधारित था। विभिन्न भारों के ताम्बे के सिक्कों का वर्गीकरण करने यह अनुभव होता है कि इनको भी चांदी के टंक के अनुसार श्रेणीकृत किया गया था। इस समय के 49, 36, 24, 18 व 12 ग्रेन के ताम्बे के प्राप्य सिक्कों को 72 ग्रेन फाल्स के ताम्बे के सिक्कों के अनुपात में $\frac{2}{3}$, $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{3}$, $\frac{1}{4}$ व $\frac{1}{6}$ के उपभागों में विभाजित किया गया था। इसी प्रकार से 172 ग्रेन चांदी के टंक को भी उपभागों में विभाजित किया गया था और 86.4, 57.6, 28.8 व 14.4 ग्रेन के सिक्कों का मूल्य टंक के अनुपात में $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{3}$, $\frac{1}{6}$ व $\frac{1}{12}$ था। इसी प्रकार से सोने के सिक्कों को भी उपभागों में विभाजित कर चाँदी के सिक्कों के साथ उनका अनुपात निश्चित किया गया था।

आरम्भिक सिक्कों पर टकसाल का नाम अंकित नहीं रहता था। इल्तुतमिश ने प्रथम बार टंक पर टकसाल का नाम अंकित करने की व्यवस्था की थी। उसके दो चांदी के टंक पर नागौर आदि का नाम अंकित है। दिल्ली की टकसाल का नाम पहली बार 1230-31 ई. में एक टंक पर प्राप्त होता है। 1235 ई. के एक चांदी के टंक पर लखनौती की टकसाल का नाम विवादास्पद है। 1226 ई. में रजिया द्वारा लखनौती की टकसाल से टंक को ढलवाने के स्पष्ट प्रमाण हैं। बलबन ने अनेकों टकसाल स्थापित कीं जिनमें से सुल्तानपुर व अलवर की टकसालों के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

13वीं शताब्दी के प्रचलित सिक्कों के पारस्परिक सम्बन्धों के लिए प्रो. हबीबुल्ला[1] द्वारा प्रस्तुत की गई तालिका अधिक उपयोगी है। इसके अनुसार—

---

1. ए.बी. एम. हबीबुल्ला, वही, पृ. 291

36 ग्रेन ताम्बे का सिक्का	= 1 Fals or Adl
4 फाल्स	= 1 Billion Jital
48 जीतल	= 1 silver tankah of 172 8 gr
10 टंक (चांदी)	= 1 Gold tankah

इसी प्रकार

1 टंक (चांदी)	= 2,86 4 gr ½ Tankah coins
	=3, 57 6 gr Four-masha coins
	=6 double mashas
	= 12 mashas (14.4 gr. silver)
	=16 three-Jital pieces
	=24 double Jitals
	=192 fals
	=288, 48 gr copper coins
	=384 half fals

लोदी काल में बहलोल लोदी ने "बहलोली" नामक सिक्का चलाया था जो कि शेरशाह के 'दाम' के अनुसार ही टंक का 1/40 भाग माना जाता था। सिकन्दर लोदी ने भी ताम्बे का सिक्का ढलवाया था जो चांदी के सिक्के का 1/20वां भाग होता था। यह अकबर द्वारा चलाये गये दाम का अग्रगामी था। सल्तनत युग के सिक्कों की यह विशेषता रही कि इनका महत्व सांकेतिक न होकर केवल मौद्रिक था। राज्य सदैव इसके लिये प्रयत्नशील था कि सिक्कों की शुद्धता तथा भार को बनाये रक्खा जावे। समस्त सल्तनत युग में अलाउद्दीन खल्जी ही ऐसा शासक था जो सिक्कों में खोट मिलाने की नीति को स्वीकार करता था, अन्यथा सुल्तानों ने सिक्कों में धातु की शुद्धता को बनाये रक्खा। अलाउद्दीन ने इसी नीति के आधार पर चांदी के टंक का भार 175 ग्रेन की अपेक्षा 140 ग्रेन रक्खा।

मुख्य स्रोतों का सर्वेक्षण

प्रसद्धि इतिहासकार गोथे ने लिखा है कि, "मैं एक ऐसे समय की अनुभूति करता हूँ जब इतिहास आँखों देखी घटनाओं के आधार पर लिखा जावेगा।" सौभाग्य से सल्तनतकालीन इतिहास की जानकारी इस कसौटी पर वड़ी खरी उतरती है, क्योंकि अनेकों लेखक ऐसे थे जिन्होंने या तो आँखों देखी घटनाओं का वर्णन किया अथवा विश्वस्त सूत्रों से जानकारी प्राप्त की थी। मुसलमान उच्चकोटि के इतिहासकार थे और हिन्दुओं ने इतिहास-रचना के प्रथम पाठ उन्हीं से सीखे हैं जिसकी पुष्टि अलबरूनी के वर्णन से हो जाती है, परन्तु इसके वाद भी उनके सामने एक बड़ी दुविधा थी कि वे एक ऐसे देश के वारे में लिख रहे थे जो उनका अपना नहीं था और फिर एक ऐसी जाति के बारे में विवरण दे रहे थे जो सम्भवतः आचार-विचार, उनकी सभ्यता और उनके मापदण्डों के प्रतिकूल पड़ती थी। ऐसी स्थिति में अपनी विषयनिष्ठता (Objectivity) को वनाये रखना उनके लिये कठिन था। अपने एक विशेष दृष्टिकोण को दर्शाने के लिये उन्होंने एक ओर तो अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण दिया और दूसरी ओर अलंकारिक भाषा का प्रयोग कर उसमें अस्पष्टता और सन्देह की गुंजाइश छोड़ दी। यदि यहीं तक होता तो भी वे क्षम्य थे, परन्तु उन्होने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया कि उपलब्ध सामग्री का किस प्रकार उपयोग किया जावे अथवा सामग्री को क्रमवद्ध व व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जावे। परिणामस्वरूप वे इतिहासकार की अपेक्षा वृत्तान्तकार अधिक रहे। उन्होंने घटनाओं के कारणों और प्रभावों के परिणामों में तालमेल वैठाने का कोई प्रयास नहीं किया इसीलिये उनका विवेचन विश्वसनीय नहीं हो पाया। परन्तु इन कमियों के वाद भी हमारे पास सल्तनतकालीन इतिहास को जानने के आधार-भूत स्रोत वहुत ही कम हैं, अतएव हमें जाने-अनजाने में इनकी सहायता लेनी ही पड़ेगी।

मिनहाज-उस-सिराज व तवकात-ए-नासिरी

तवकात-ए-नासिरी में आदम से लेकर नासिरुद्दीन महमूद के राज्यकाल के 1260 ई. तक के इतिहास का उल्लेख मिलता है। उसने इसे सुल्तान नासिरुद्दीन को समर्पित की थी। सम्पूर्ण रचना को उसने 23 तवकों (अध्यायों) में बांटा है

जिनमे अंतिम चार अध्यायों में भारत के इतिहास का विवरण मिलता है। सुल्तान इल्तुतमिश के राज्यकाल से लेकर सुल्तान नासिरुद्दीन के राज्यकाल के पन्द्रहवें वर्ष तक का हाल उसने स्वयं की जानकारी के आधार पर लिखा है। वह देहली के मुख्य मदरसे का अध्यक्ष था इसलिये उस राज्य की समस्त घटनाओं की अच्छी जानकारी थी। अनेक आक्रमणों के समय व शाही सेना के साथ था इसलिये उसने उनका बड़ा ही रोचक वर्णन दिया है। ग्वालियर विजय (1231 ई) के समय उसने ईद व जुम्मे की नमाज पढ़ी थी और सुल्तान इल्तुतमिश ने उसे खिलअत प्रदान कर उसका सम्मान किया था।

मिनहाज स्वयं अमीर था इसलिये समकालीन अमीरों और मलिकों से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। इसी कारण वह अपनी रचना में मलिकों और अमीरों के संगठन तथा स्वरूप का वर्णन कर पाया है। उसने अपने समय की अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन दिया है जो दूसरे स्रोतों में मुश्किल से मिल पाती हैं।

ग्रन्थ का विश्लेषण—मिनहाज की रचना में उत्तरी भारत में मुस्लिम आधिपत्य का अच्छा वर्णन मिलता है। यह इसलिये और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि वह एक समकालीन लेखक था। अधिकतर यह सुल्तानों उनके सैनिक अधिकारियों और अमीरों का इतिहास है जिसमें लेखक ने समकालीन समाज की सामाजिक व आर्थिक स्थिति को दर्शाने का कोई प्रयत्न नहीं किया है। इसके साथ ही मिनहाज ने न तो अपने आधारभूत स्रोतों का ही विवरण दिया है और न ही उसने घटनाओं को कालक्रम के अनुसार ही लिखा है। परन्तु इतना होते हुए भी हम यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बरनी की तुलना में उसने घटनाओं को क्रमानुसार देने का प्रयत्न किया है।

उसने घटनाओं का वर्णन एक नहीं अनेक बार किया है। सम्भवतः इसका कारण था कि एक बार तो सुल्तानों का विवरण देते हुए वह अमीरों के योगदान अथवा विरोध का वर्णन करता है और दूसरी बार जब वह अमीरों-सम्बन्धित विवरण लिखता है तो पुनः उन घटनाओं को दोहराता है। इस दोहरान में मिनहाज की विशेषता है कि घटनाओं के विवरण में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आता है।

मिनहाज ने घटनाओं का वर्णन पूर्णतया निष्पक्षता से नहीं किया है। इसमें उसके सामने दो कठिनाइयाँ थीं। प्रथमतः वह काजी वर्ग से सम्बन्धित था और दूसरे वह तुर्क दल का था। ताजिकों के सत्ता प्राप्त करने पर स्वाभाविक रूप से उसे कुछ समय के लिये दुर्दिन देखने पड़े और ऐसी स्थिति में रोष उत्पन्न हो जाना साधारण सी बात थी। तुर्कों के सत्तारूढ़ होने पर वह पुनः अपने सम्मान को प्राप्त कर सका और इसीलिये ताजिकों सम्बन्धी उसका वर्णन पूर्ण विश्वसनीय नहीं हो सका। उसका विश्वास था कि उच्च पदों के दावेदार एकमात्र तुर्क हैं।

इसीलिये उसके विवरण में एमादुद्दीन रैहान के प्रति जो विवरण मिलता है वह उसके ताजिक-विरोधी विचारों का प्रमाण है। मिनहाज अपने समय के दूषित वातावरण से ऊपर न उठ पाया, यद्यपि वह अद्वितीय विद्वान था।

मिनहाज ने घटनाओं का विवरण भी बड़ा ही संक्षिप्त दिया है और कहीं-कहीं तो वर्णन इतना संक्षिप्त है कि उससे किसी प्रकार का परिणाम निकालना भी सम्भव नहीं है। इल्तुतमिश के द्वारा राजपूताना में जो कार्यवाहियां की गईं, मिनहाज के वर्णन से उनसे कोई सार नहीं निकाला जा सकता है, यद्यपि वह समकालीन था। हमारे सामने कठिनाई यह है कि कोई ऐसा अन्य ग्रन्थ भी नहीं मिल पाता है जिससे उसके द्वारा छोड़े गये रिक्त स्थानों की पूर्ति की जा सके।

मिनहाज ने अपनी रचना में मुईजुद्दीन बहरामशाह के सिंहासनारोहण की बधाई तथा नासिरुद्दीन के गद्दी पर बैठते समय जिन कविताओं की रचना की थी, उन्हें भी इसमें लिख दिया है।

मिनहाज के ग्रन्थ की महत्ता इसलिये बढ़ जाती है कि इस काल के इतिहास को जानने के लिये वह एकमात्र इतिहासकार है। बाद के इतिहासकारों ने उसके ग्रन्थ को आधार मानकर अपने ग्रन्थों में उसको उद्धरित किया है। उसकी विशेषता है कि उसने हसन निजामी की तरह अलंकारिक भाषा का उपयोग नहीं किया है।

अमीर खुसरो

खुसरो का जीवन—दिल्ली सल्तनत के इतिहासकारों में अमीर खुसरो का प्रमुख स्थान है। उसका जन्म 1252 ई. में पटियाली (उत्तर प्रदेश के एटा जिले में स्थित) में एक तुर्क परिवार में हुआ था। उसका पूरा नाम अबुल हसन यामिन-उद-दीन खुसरो था, परन्तु वह अधिकतर अमीर खुसरो के नाम से ही जाना जाता है। उसका पिता अमीर सैफुद्दीन महमूद सुल्तान इल्तुतमिश व उसके उत्तराधिकारियों के समय में उच्च पदों पर आसीन था। उसकी माता बलबन के एक उच्चाधिकारी की पुत्री थी। अमीर खुसरो को बचपन से ही फारसी में कविता रचने का चाव था। उसने आठ वर्ष की अवस्था में ही अपनी पहली कविता लिख ली थी।

सुल्तान बलबन के राज्यकाल (1266-86 ई.) में वह, उसके पुत्र बुगराखां, जो समाना का इक्तादार था, की सेवा में था। फिर उसके बाद लगभग पांच वर्ष तक वह बलबन के बड़े लड़के मुहम्मद के 'नदीम' के रूप में रहा। अपनी साहित्यिक रुचि के कारण उसे दोनों का ही संरक्षण प्राप्त होता रहा। जब 1284-85 ई. में मुहम्मद मंगोलों के हाथों मारा गया तो उसे भी मंगोलों ने बन्दी बना लिया। किसी तरह से मंगोलों के चंगुल से भाग कर वह बलबन के दरबार में पहुंचा। मुहम्मद की मृत्यु पर उसने बलबन के सम्मुख एक मसनवी पढ़ी। सुल्तान कैकुबाद (1287-89 ई.) के राज्यकाल में वह अमीर हातिमखां की सेवा में था। इसी

समय उसने पिता-पुत्र (बुगराखा व कैकूबाद) का मिलन देखा और उस पर एक कविता भी रची।

कैकूबाद की मृत्यु के बाद वह जलालुद्दीन खल्जी के समय में 'किताबदार' (पुस्तकालय का अध्यक्ष) नियुक्त किया गया। सुल्तान ने उसे हर प्रकार से प्रोत्साहित किया। अलाउद्दीन खल्जी व मुबारकशाह के समय में भी वह सुल्तानों का संरक्षण पाता रहा। गयासुद्दीन तुगलक (1320-25 ई.) के समय में भी उसे राजकीय संरक्षण मिलता रहा। 1325 ई. में अपने गुरु शेख निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु के कुछ समय बाद ही उसकी भी मृत्यु हो गई और उसे शेख की कब्र के पास ही दफना दिया गया।

इस प्रकार जियाउद्दीन बरनी के विरोध में उसे आजीवन राजकीय संरक्षण मिलता रहा। दिल्ली के छः सुल्तानों का संरक्षण मिलने तथा अमीरों और शेख निजामुद्दीन औलिया से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण खुसरो को राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक स्थिति को समझने का अच्छा अवसर मिल सका।

अमीर खुसरो ने बड़ी ही सहायता से अपनी रचनाओं को लिखा है। उसकी रचनाओं के बारे में अनेक मत है। समकालीन लेखक बरनी इस बारे में मौन है और नफाजत-उल-उन्स के लेखक के अनुसार उसकी रचनाओं की संख्या 99 है। डा. वाहिद मिर्जा[1] ने लिखा है कि खुसरो ने एक बार स्वयं अपने छंदों की रचना की संख्या चार हजार से अधिक बताई थी। इन आंकड़ों को स्वीकार करना कठिन है क्योंकि खुसरो की जीवनी लिखने वाले किसी लेखक ने भी इन रचनाओं की सूची को नहीं दिया है। डा. मिर्जा[2] इस अतिशयोक्ति-पूर्ण संख्या को मानने के लिये तैयार नहीं है क्योंकि खुसरो ने स्वयं अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में 'बेट' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ एक छन्द से लेकर एक काव्य तक हो सकता है। दूसरे उसने अपने बारे में उपर्युक्त कथन अपनी मृत्यु के कुछ समय पहले कहा था और हमें यह अच्छी तरह मालुम है कि वह जीवन के अन्त तक लिखता ही रहा और ऐसी स्थिति में किसी दूसरे के द्वारा ही उसकी रचनाओं की संख्या देना अधिक न्यायोचित होता। खुसरो क्योंकि बड़ा ही लोकप्रिय कवि रहा था, यहाँ तक कि गन्दी गलियों में गोली खेलने वाले लड़कों को भी उसके नाम की जानकारी थी, इसलिये बड़े आदमियों के साथ साधारण रूप से जो दन्तकथायें जोड़ दी जाती हैं वही खुसरो के साथ भी जुड़ गई, जिससे कि उसे महान् से महानतम दर्शाया जा सके। ऐसी अनेक रचनायें हैं जिनको खुसरो ने नहीं लिखा परन्तु फिर भी वे खुसरो के नाम के साथ जुड़ गईं जैसे "चार दरवेश"।

---

1. वाहिद मिर्जा—द लाइफ एण्ड वर्क्स आफ अमीर खुसरो पृ. 142
2 वही

साहित्यिक रचनाएँ—(1) खुसरो ने पांच 'दीवान' की रचना की। इनमें विभिन्न विषयों पर उसके छन्द हैं। दूसरे दीवान में बलवन, उसके पुत्र मुहम्मद व अन्य अमीरों से सम्बन्धित छन्द हैं और अन्तिम दीवान में उसके जीवन के अन्तिम वर्षों में लिखे गये छन्द मिलते हैं—(2) (अ) खम्सा, मतल-उल-अनवार (1298-99 ई.), (ब) शिरीं व खुसरों, (स) मजनू-लैला (1299-1300 ई.), (द) ऐन-ए-सिकन्दरी (1299-130 ई.), (य) हरत-बहिश्त (1301-02 ई.), (3) एजाज खुसरवी (1283-1320 ई.) व (4) अफजालुल फवाइद।

ऐतिहासिक रचनाएँ—किरानुस्सादैन की रचना 1289 ई. में की गई। इसमें उसने बुगराखां व उसके पुत्र कैकूबाद के स्मरणीय मिलन का वर्णन किया है। बुगराखां और कैकूबाद के चरित्र की झांकियों के अतिरिक्त इसमें उस समय की राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्थिति का वर्णन भी मिलता है। सुल्तान कैकूबाद के समय में अमीरों द्वारा शक्ति हथियाने तथा अमीरों और राज्य के पदाधिकारियों के पारस्परिक व्यवहार का बड़ा ही विस्तृत वर्णन उसने इस ग्रन्थ में किया है।

मिफ्ताहुल फुतूह की रचना 1291 ई. में की गई। इसमें उसने सुल्तान जलालुद्दीन खल्जी के राज्याभिषेक के प्रथम वर्ष की विजयों का वर्णन किया है। मलिक छज्जू के विद्रोह और झायन की विजय के सम्बन्ध में भी इससे जानकारी मिलती है।

आशिका अथवा देवलरानी-खिज्रखां की रचना 1316 ई. में की गई। इसमें गुजरात के राजा करन की पुत्री देवल देवी व अलाउद्दीन के बड़े लड़के खिज्रखां के प्रेम की कथा का उल्लेख है। खिज्रखां के साथ अलपखां की पुत्री के विवाह के वर्णन में खुसरो ने उस समय की वैवाहिक-विधि, प्रथाओं का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। इसमें उसने उस समय के खेल-तमाशों, नाच-गानों, बरात के जलूस तथा अन्य दूसरी रस्मों का भी बड़ा ही सजीव विवरण दिया है। उच्च-वर्ग की सामाजिक मान्यताओं की जानकारी के लिये यह रचना अत्यन्त सहायक है। कन्या-जन्म के अवसर पर स्वयं अमीर खुसरो कितना अधिक खिन्न था, इसकी जानकारी इससे मिल पाती है। गयासुद्दीन तुगलक के समय में उसने इसमें कुछ और छन्द जोड़ दिये जिनमें खिज्रखां की हत्या, मलिक काफूर की नृशंसता और भारत की सुन्दरताओं का वर्णन है।

नूह सिपेहर की रचना 1318 ई. में की गई। इसके नौ भागों में 4,509 छन्द हैं। क्योंकि यह रचना नौ भागों में विभाजित है इसीलिये खुसरो ने इसका नाम नूह सिपेहर रक्खा। पहले दो भागों में सुल्तान मुबारक शाह (1316-20 ई.) की विजयों और उसके द्वारा निर्मित भवनों का वर्णन है। तीसरे भाग में भारत के गौरव और वैभव की प्रशंसा की है तथा यहाँ की जलवायु, पशु-पक्षी, फल-फूल और

भाषाओं का बड़ा ही सजीव वर्णन दिया है। चौथे भाग में शासक, अमीर व सेना के लिये कुछ दृष्टान्त हैं। पाचवें भाग में शाही शिकार और भारत की शीत ऋतु का वर्णन है। छठे व सातवें भाग में सुल्तान मुबारक शाह के पुत्र उत्पन्न होने तथा नौरोज के उत्सव का वर्णन है। आठवें भाग में चौगान के खेल तथा नवें में समकालीन कवियों और उनकी रचनाओं का वर्णन मिलता है।

खजाइनुलफुतूह की रचना 1311-12 ई. में की गई। डॉ रिजवी[1] का यह मत है कि उसने गद्य में अपनी योग्यता बनाने के लिये ही इसकी रचना की थी, क्योंकि इसके अतिरिक्त सभी रचनाएं पद्य में हैं। उसे यह ग्रंथ सुल्तान अलाउद्दीन को प्रस्तुत करना था, इसलिये वह खुलकर अपने भावों को प्रकट नहीं कर पाया है। मलिक काफूर से अप्रसन्न होने पर भी वह इसमें उसकी प्रशंसा करता है।

सुल्तान अलाउद्दीन के सुधारों का वर्णन उसने इस प्रकार किया है कि बरनी के विवरण को कई जगहों पर इससे प्रामाणिकता प्राप्त हो जाती है। खुसरो ने कुतलुग ख्वाजा, सल्दी तथा तरगी के आक्रमणों का वर्णन नहीं किया है, सम्भवतः इसलिये कि सुल्तान अलाउद्दीन को इसमें बड़े संकटों का सामना करना पड़ा था। परन्तु जब वह अलाउद्दीन की उत्तरी भारत की विजयों का वर्णन लिखता है तो वह किलों पर पहुंचने की तारीखों, आक्रमण के ढंगों, किले वालों के प्रतिरक्षण तथा शाही सेना के उत्साह आदि का मार्मिक विवरण देता है। इसी तरह से दक्षिण के अभियानों के बारे में भी वह साधारण स्थानों के नाम, आक्रमण और विजय का उल्लेख, विजय-प्राप्ति की तारीखों और लूट के माल का विशद विवरण देता है। युद्ध-वर्णन में उसने घटनाओं का उल्लेख बड़े ही निष्पक्ष भाव से किया है और ऐसा अनुभव होने लगता है जैसे वह स्वयं युद्ध कला में निपुण था।

तुगलकनामा उसकी अन्तिम मनसवी है। इसे उसने अपने अन्तिम वर्षों में लिखा था। खुसरोखां पर गयासुद्दीन तुगलक की विजय का वर्णन इसमें मिलता है। मनसवी के प्रारम्भ में सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खल्जी की विलासप्रियता, खुसरोखां की पदोन्नति और उसका अपने स्वामी के प्रति विश्वासघात का उल्लेख मिलता है।

अमीर खुसरो ने इसमें सरल भाषा में अधिक से अधिक ऐतिहासिक तथ्यों को देने का प्रयत्न किया है। इसी से यह जानकारी मिलती है कि खुसरो की पराजय संयोगवश ही हुई अन्यथा गाजी मलिक (गयासुद्दीन तुगलक) पूर्णतया पराजित हो गया था। गाजी मलिक की विजय के बाद खुसरो ने बढ़ा-चढ़ा कर उसकी प्रशंसा की है। यह सम्भवतया यह भूल जाता है कि खुसरोखां की पराजय उसके साथ किये गये विश्वासघात और कुशल सेना-नायकों की कमी के कारण हुई थी। उसने खुसरो खां की अच्छाइयों को छिपाकर उस पर अनेक प्रकार के आक्षेप लगाये हैं।

---

1. ए. ए. रिजवी–खलजीकालीन भारत, दो शब्द।

उसकी रचनाओं में कमियों के बाद भी उनका ऐतिहासिक महत्व कम नहीं है क्योंकि वह समकालीन दरबारी था जिसे हम खलाई राज्य का शाही इतिहासकार भी कह सकते हैं।

इतिहासकार के रूप में खुसरो—अमीर खुसरो ने पांच दीवान, चार ऐतिहासिक मनसवी और दो गद्य में रचनाएं लिखीं परन्तु इसके बाद भी उसके इतिहासकार होने में कुछ संदेह है। इसका प्रमुख कारण है कि आधुनिक युग की इतिहास की मान्यताएं मध्यकालीन मान्यताओं से बिल्कुल भिन्न हैं। मध्यकाल में इतिहास-लेखन की एक विशेष शैली थी जिसमें वाक्पटुता और पद्य का अपना स्थान था। घटनाओं का एक शुष्क रूप में वर्णन करना मध्यकालीन इतिहास-लेखन की अन्य विशेषता थी। आधुनिक युग में इतिहास ने एक व्यापक रूप ले लिया है। कुछ लोग आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक गतिविधियों को अधिक महत्व देते हैं तो दूसरे राज्य और राजनीति अथवा सरकार और शासन को इतिहास का महत्वपूर्ण अंग मानते हैं, परन्तु ये सभी यह स्वीकार करते हैं कि इतिहासकार के लिये कारण और परिणामों को दर्शाना अत्यधिक आवश्यक है। इतिहासकार को यह ढूंढ निकालना है कि किसी विशेष घटना के लिये कौन-कौन से तत्व उत्तरदायी थे। वकील की तरह उसका काम किसी तथ्य को सही अथवा गलत साबित करना नहीं है, अपितु उसे एक न्यायाधीश और जुरी की तरह कार्य करते हुए सम्पूर्ण स्थिति का समस्त प्राप्य सामग्री के आधार पर निरूपण करना है।

इस कसौटी पर खुसरो को यदि कसा जावे तो **पीटर हार्डी**[1] के अनुसार उसने कविता की रचना अवश्य की है, इतिहास की नहीं। उनके अनुसार इतिहासकार का काम भूत का पुनर्निमाण है जिससे वर्तमान और भविष्य को समझना सरल हो सके। *परन्तु अमीर खुसरो के लिये भूत का महत्व नगण्य था और यदि उसने* भूत को चित्रित किया भी तो केवल इनाम-इकराम प्राप्त करने अथवा सुल्तानों को प्रसन्न करने के लिये ही किया है। उसकी समस्त ऐतिहासिक रचनाओं में कोई क्रम-बद्धता नहीं मिलती है। उसमें वाक्पटुता, अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण, कवि-कल्पना और बनावटी कुशाग्रता ही अधिक है। इतिहासकार व्यक्तियों की अपेक्षा समूह से अधिक सम्बद्ध है, और उसके लिये ईश्वर-प्रदत्त कारण कोई महत्व नहीं रखते हैं। प्रो. हार्डी के इन विचारों का विरोध डा. सैयद हसन असकरी ने किया है और उन्होंने खुसरो को एक इतिहासकार दर्शाने का प्रयास किया है। हमें इन विरोधी विचारों को आँकना आवश्यक है।

डा. असकरी यह स्वीकार करते हैं कि इन विचारों की उपयुक्तता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, यदि हम 13 वीं शताब्दी के वातावरण को भूल

---

1. पी. हार्डी—हिस्टारियन्स ऑफ मेडिवल इंडिया, पृ. 43

जावें जिसमे खुसरो रहा था। उसका मूल्याकन मुख्यरूप मे एक साहित्यकार के रूप म किया गया है और निश्चित ही वह इस क्षेत्र मे अद्वितीय था, परन्तु उसके बाद भी आधुनिक मापदण्डो के आधार पर यह मान लेना कि उसमे ऐतिहासिक महत्व की कोई सामग्री नही है उचित नहीं होगा। अपनी स्थिति और राजकीय क्षेत्रों मे सम्बन्धो के कारण उसे अनेक घटनाओ को स्वय देखने व सुनने का अवसर प्राप्त था। परन्तु इतिहास न तो उसकी पहली रुचि थी और न ही उसने कही इतिहासकार होने का दावा ही किया है। धर्म, कला और साहित्य के प्रति उसका लगाव अत्यधिक था और उसने कभी ऐतिहासिक घटनाओ का वर्णन किया है तो केवल अपनी रचनाओं को सुल्तानो को प्रस्तुत करने को किया है, अथवा दूसरे के सुझावो पर किन्ही घटनाओ का उल्लेख कर दिया है। इसीलिये उसने घटनाओ का चयन मनमाने ढग से किया है और क्योकि वह उस समय की राजनीति मे स्वय को फसाना नहीं चाहता था इसलिये वह विवादग्रस्त वर्णनो से दूर ही रहा है। हमे तो यह भी अनुभव होता है कि घटनाओं को चुनने की स्वतन्त्रता भी उसे नही थी। इसीलिये उसने अलाउद्दीन खल्जी व उसके उत्तराधिकारी की अत्यधिक प्रशसा की है और अलाउद्दीन द्वारा जलालुद्दीन के वध की घटना अथवा कुतलुग ख्वाजा और तार्गी द्वारा सुल्तान अलाउद्दीन को दिये गये कष्टों को छिपाया है। सम्भवत: वह मनुष्य मात्र में केवल गुणो को ही देखता था और यह भूल गया था कि मनुष्य गुण व अवगुण का सम्मिलित रूप है। डा अस्करी[1] का कहना है कि हम खुसरो का समस्त घटनाओं का सही रूप मे निरूपण न करने के लिए माफ तो नहीं कर सकते, परन्तु उसकी परिस्थितियों को देखते हुए हम उस पर जान-बूझकर घटनाओ को तोड़नेमरोड़ने का आरोप भी नहीं लगा सकते हैं। उसने ख़ुशरव खा और गाजी मलिक (गयासुद्दीन तुगलक) के बीच हुये युद्ध का जो वर्णन किया है उससे उसकी सत्यता और निष्पक्षता आकी जा सकती है। गाजी मलिक की खिन्नता का जो वर्णन (खुशरवखा के युद्ध के समय) उसने दिया है वह बरनी में भी नही मिलता है। बरनी ने यद्यपि कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खल्जी के चरित्र को बड़े ही नग्न रूप मे प्रस्तुत किया है परन्तु अमीर खुसरो ने बड़ी ही शालीनता से यह कहकर कि सुरा और सुन्दरी मे लिप्त शासक राज्य करने के योग्य नहीं है, सम्भवत उसके चरित्र के सम्बन्ध मे सब कुछ ही कह दिया है। ऐसे चरित्र-चित्रण को हम तुच्छ अथवा रूढ़िवादी नही कह सकते हैं।

इसके अतिरिक्त अमीर खुसरो की रचनाओ मे ऐतिहासिक सामग्री है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि स्वय बरनी भी अनेक स्थानों पर उसे उद्धृत करता है। बरनी गयासुद्दीन तुगलक के बारे मे बहुत कम जानकारी देता

---

1 सैयद हसन अस्करी-वही, पृ 26

है, परन्तु खुसरो की रचनाओं में यह अत्यधिक है। इसी प्रकार अलाउद्दीन द्वारा रणथम्भौर पर आक्रमण का वर्णन भी खुसरो ने खुल कर किया है।

अमीर खुसरो पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि उसके द्वारा दिया गया भौगोलिक अथवा स्थान-वर्णन उपयोगी नहीं है। खुसरो ने दिल्ली की मस्जिदों व मीनारों, हौज-ए-शम्सी, शहर-ए-नू, रोजा-ए-बाग तथा दिल्ली की किलेबन्दी का जो वर्णन दिया है वह निश्चित ही इस आरोप का खंडन करता है। दिल्ली से अवध, दीपालपुर से दिल्ली के अभियानों में उसने जो सेना के विभिन्न स्थानो पर डेरा डालने का विवरण दिया है वह उपयोगी है। अलाउद्दीन के उत्तरी और दक्षिण भारत के अभियानों में उसने तिथियां और अनेक स्थानों के नाम दिये हैं परन्तु फिर भी वे इतिहासकार के मापदण्ड पर खरे नहीं उतरते हैं। हमें यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके द्वारा दिये गये अनेक स्थलों के नाम बदल चुके हैं और उनको आज पहचानना कठिन है।

इसी तरह से यह मान लेना कि उसके विवरण में सामाजिक व आर्थिक स्थितियों का वर्णन नहीं मिलता है ज्यादा उचित नहीं होगा। खुसरो ने दरबारी साज-सज्जा, अमीरों के विलास-प्रिय जीवन व यहां की सामाजिक मान्यताओं का विशद वर्णन किया है। खिज्र खां के साथ अलप खां की पुत्री के विवाह के वर्णन में खुसरो ने उस समय की वैवाहिक-विधि आदि का विस्तार से वर्णन दिया है। नगर-वासियों के उत्साह, बाजों, खेल-तमाशों, नाच-गानों, बरात के जलूस, निकाह, विदा व उससे सम्बन्धित अन्य रस्में आदि का उसने बड़ा ही सजीव वर्णन दिया है।[1] वह यहां के विज्ञान, धर्म व भाषाओं के बारे में भी समुचित जानकारी देता है तथा जलवायु, पशु-पक्षी, फल-फूल आदि के बारे में उसके ग्रन्थ में कम जानकारी नहीं है।[2] वह भारत को स्वर्ग समान मानता है और इस सम्बन्ध में सात तर्क देता है। इन स्थितियों का वर्णन करने में खुसरो की यह गलत धारणा रही कि समाज केवल उच्च व अमीर-वर्ग से ही बना है और इसलिये उसने निम्न वर्ग के बारे में जानकारी नहीं दी, जो जरूरी थी।

खुसरो ने अनेक घटनाओं का कारण ईश्वरीय इच्छा बताई है। *सम्भवतः* इसका कारण था कि वह धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था, प्रसिद्ध सूफी संत निजामुद्दीन औलिया का भक्त था और स्पष्ट बात कहने की अपेक्षा उसे वह ईश्वरीय-इच्छा का रूप दे देता था। इसके अतिरिक्त 13 वीं शताब्दी में इस प्रकार से लिखना बड़ी ही साधारण बात थी। खुसरो की इस प्रवृत्ति को आज के इतिहासकार के आस्तिक अथवा नास्तिक दृष्टिकोण के आधार पर ही आंका जा सकता है। मार्क्सवाद और

---

1. सैयद. ए. ए. रिजवी, खलजी कालीन भारत (समीक्षा)
2. वाहिद मिर्जा—द लाइफ एण्ड वर्क्स ऑफ अमीर खुसरो, पृ.181–89

भौतिकवाद के इस युग मे हम खुसरो के विचारो से सहमत होने मे कठिनाई अनुभव करते हैं। इसीलिये पश्चिम के इतिहासकारो के लिये यह बात गले उतरना सम्भव नही है। भारत मे भी हम आज अपनी मजबूरियो और शक्तिहीनता को ईश्वरीय-इच्छा का जामा पहना देते हैं। खुसरो का यह तर्क हमारे लिए भी मानना कठिन है।

इन सब के बाद भी खुसरो मे अन्य समकालीन इतिहासकारो की तरह गुण व अवगुण थे। यह ठीक है कि उसकी भाषा बनावटी थी, उसकी शैली अधिक स्पष्ट नहीं थी अथवा उसने कई ऐसी घटनाओं का वर्णन नही किया है जिनकी उसे जानकारी थी तथा सुलतानो के दुर्गुणों को छिपाने का प्रयास किया है, परन्तु फिर भी इसमे 13 वी शताब्दी के इतिहास-लेखन के तत्व तो थे। आज के इतिहास-लेखन के मापदण्ड पर उसका मूल्यांकन करना उसके प्रति अन्याय होगा। वह कवि के साथ ही इतिहासकार भी था।[1]

जियाउद्दीन बरनी

बरनी का जीवन—मौलाना बरनी का जन्म 1286 ई मे सुल्तान गियासुद्दीन बलबन के काल मे हुआ था। ननिहाल की ओर से वह कैथल के सैय्यदो से सम्बन्धित था। उसका नाना सिपहसालार हुसामुद्दीन बलबन का बड़ा विश्वासपात्र था। उसका पिता मुइदुल मुल्क कैथल के प्रसिद्ध परिवार सैयद जलालुद्दीन कैथली का धेवता था। सैयद परिवार न केवल एक अत्यन्त सम्पन्न अपितु प्रतिष्ठा-प्राप्त परिवार था जो अपनी विद्वता व सज्जनता के लिये प्रसिद्ध था। बरनी की बुद्धिजीवी प्रवृत्तियां उसे इसी परिवार से विरासत में मिली थीं। बरनी का पिता मुइदुल मुल्क जलालुद्दीन खल्जी के राज्यकाल मे अरकली खा का 'नायब' था। अलाउद्दीन के राज्यकाल मे भी उसने अपनी उच्च स्थिति को बनाये रखा तथा वह उस समय का एक शक्तिशाली अधिकारी बना रहा। अमीर, मलिक व उच्च पदाधिकारी सदैव ही उसके आते रहते थे। बरनी का चाचा अलाउलमुल्क, अलाउद्दीन का विश्वासपात्र था। देवगिरी की विजय पर जाते समय उसने अलाउलमुल्क को कड़ा के अपने इक्ता का नायब नियुक्त किया था। सुल्तान बनने पर उसने उसे कड़ा और अवध का सूबेदार नियुक्त किया था, परन्तु क्योंकि वह अधिक वृद्ध व कमजोर था, इसलिये उसे वहा से बुलाकर दिल्ली का कोतवाल बना दिया था। मगोलों का विरोध करने के लिये जब अलाउद्दीन ने सीरी मे डेरे लगाये तो उसने दिल्ली का शासन अलाउलमुल्क के हाथों मे छोड़ दिया था। अलाउद्दीन समय-समय पर अपने कोतवाल से विभिन्न विषयों पर सलाह लिया करता था। इस प्रकार बरनी के पूर्वज खल्जियों के समय म ऊचे-ऊंचे पदो पर आसीन थे और बरनी का सौभाग्य था कि

1. सैयद हसन असकरी—वही, पृ. 34-35

वह एक ऐसे सम्मानित और सम्पन्न वंश से सम्बन्धित था। वरनी के पूर्वज क्योंकि वारां (बुलन्द शहर) के थे इसलिये उसका उपनाम (Surname) वरनी पड़ गया।

वरनी ने अपनी आरम्भिक शिक्षा दिल्ली में प्राप्त की। मंगोलों के भय के कारण एशिया के विद्वान, सूफी सन्त आदि ने क्योंकि दिल्ली में शरण ले ली थी इसलिये बरनी को इनकी संगति का लाभ मिल सका। अमीर खुसरो उसका मित्र था और शेख निजामुद्दीन औलिया का वह भक्त था। अन्य समकालीन विद्वानों और कलाकारों से भी वह भली प्रकार परिचित था।

वरनी ने खल्जियों के समय में सत्ता और शक्ति का उपभोग किया। मुहम्मद तुगलक के समय में वह लगभग 17 वर्ष व 3 माह तक 'नदीम' के पद पर रहा।[1] सुल्तान उससे प्रसन्न था और उसकी विद्वता तथा इतिहास में माहिति के कारण उससे सलाह लिया करता था।[2] सुल्तान ने समय-समय पर वरनी को न केवल सम्मानित किया अपितु उसे धन भी दिया। स्वयं बरनी लिखता है कि. "सुल्तान (मुहम्मद तुगलक) ने मुझे आश्रय प्रदान किया, वह मेरा पोषक है, उसके द्वारा जो इनाम-इकराम मुझे प्राप्त हो चुके हैं, उतने न इससे पूर्व मैंने देखे और न इसके उपरान्त स्वप्न में भी देखूंगा।" सुल्तान ने विद्वानों, सूफियों और आलिमों से सम्पर्क स्थापित करने में उसकी सेवाओं का लाभ उठाया। वरनी के प्रभुत्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि राज्य के अमीर और अधिकारी सुल्तान को उसके द्वारा ही अपने प्रार्थना-पत्र प्रेषित किया करते थे। फीरोजशाह, मलिक कबीर और अहमद अयाज ने देवगिरि की विजय की बधाई उसी के द्वारा सुल्तान को भेजी थी।

अपने अन्तिम दिनों में वरनी दिल्ली के निकट ग्यासपुर में रहने लगा। सुल्तान फीरोजशाह तुगलक का विश्वास उसने खो दिया और स्थिति इतनी दयनीय हो गई कि सुल्तान ने उसे 1353 ई. में कुछ दिनों के लिये बन्दीगृह में डाल दिया। सुल्तान से उसे न तो कोई सम्मान ही मिला और न ही सम्पदा। जीवन की संध्या में उसने मात्र अपनी स्मृति के आधार पर 'तारीख-ए-फीरोजशाही' की रचना की जिससे कि वह फीरोज का विश्वास जीत सके और उसे ही वह अर्पित भी की, परन्तु वरनी अपने उद्देश्य की प्राप्ति में पूरी तरह असफल रहा। अपने जीवन के 73 वर्षों में उसने खट्टे-मीठे का पूरी तरह रस लिया और अन्त में 1359 ई. में अत्यन्त दरिद्र अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई। स्थिति इतनी खराब थी कि उसके अन्तिम संस्कार के लिये एक चटाई से अधिक नहीं जुटा पाया गया। निजामुद्दीन औलिया के कब्रिस्तान में उसे उसके पिता की कब्र के पंगायत दफना दिया गया।

---

1. मोहिबुल हसन–हिस्टारियन्स आफ मेडिवल इण्डिया, पृ. 39
2. वही

बरनी की रचनाओं में उसकी इस घोर दरिद्रता तथा नैराश्य और हार की स्पष्ट झलक है।

बरनी का चरित्र—बरनी लगभग 73 वर्ष तक जीवित रहा और अपनी विद्वता के कारण ख्याति पा सका। अपने इसी अद्वितीय गुण के कारण वह अमीर खुसरो और अमीर हसन से निकटता के सम्बन्ध बना सका। इन कवियों और सूफियों की संगति के बाद भी वह अपनी धार्मिक कट्टरता से मुक्त न हो सका। उसका विचार था कि सुन्नियों के अतिरिक्त किसी दूसरे समुदाय को सम्मानित जीवन बिताने का अधिकार नहीं है। वह हिन्दू-विरोधी था और इसीलिये उसने अपनी रचनाओं में हिन्दू-विरोधी नीतियों का जमकर आह्वान किया है, अथवा अपने विचारों को सुल्तानों के माध्यम से रखा है। अलाउद्दीन खल्जी व काजी मुगसुद्दीन के बीच वार्तालाप बरनी के अपने मस्तिष्क की उपज है जो उसके सोचने-समझने के ढंग को प्रमाणित करता है।

बरनी की रचनायें—फतवा-ए-जहांदारी और तारीख-ए-बरमकिया के अतिरिक्त बरनी ने छः जिल्द और लिखी हैं। उसकी रचनायें इस प्रकार है—

सन्-ए-मोहम्मदी, सलात-ए-कबीर, इनायतनाम -ए-इलाही, मासिर-ए-सादत, तारीख-ए-फीरोजशाही व हसरत नामा।

सलात-ए-कबीर, इनायतनामा-ए-इलाही व मासिर-ए-सादत अभी तक नहीं मिल पाये हैं, परन्तु इसके बाद भी तारीख-ए-फीरोजशाही व फतवा ए-जहांदारी उसके प्रमुख ग्रन्थ हैं।

तारीख-ए-फीरोजशाही की रचना उसने अपने जीवन की सन्ध्या में की (1358 ई) जबकि वह दाने-दाने को मोहताज था। फीरोज के आश्रय को प्राप्त करने के लिये ही उसने इसे उसे समर्पित की परन्तु दुर्भाग्य ने उसका साथ न छोड़ा और दरबार तथा अमीरों के षडयन्त्रों के कारण वह व्यक्तिगत रूप में सुल्तान को अपनी ये रचना प्रस्तुत न कर सका।

तारीख-ए-फीरोजशाही—बलबन के शासन काल से प्रारम्भ होकर यह सुल्तान फीरोजशाह तुगलक के प्रथम छः वर्षों का विवरण देती है। बरनी ने अपने इस ग्रन्थ में 'तबकात-ए-नासिरी' में दिये गये विवरण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। बलबन और अलाउद्दीन खल्जी के समय की घटनाओं का उसने विस्तार से वर्णन किया है। बलबन के विषय में उसने अपने नाना, सिपहसालार हुसामुद्दीन से काफी कुछ सुना था और वह स्वीकार करता है कि ये समस्त विवरण उसी पर आधारित है। सुल्तान कैकूबाद का वृत्तान्त उसे अपने पिता और शिक्षकों से सुना था और बरनी को ये स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट भी नहीं है। सुल्तान जलालुद्दीन खल्जी से लेकर फीरोज के प्रथम छः वर्षों का विवरण उसने स्वयं देखी हुई घटनाओं के आधार पर लिखा है। यह बात बिलकुल अलग है कि इन घटनाओं

और नीतियों को बरनी की अपनी मान्यताओं ने बुरी तरह रंग दिया। उसने 1358 ई. में इसे लिखी थी।।

'तारीख-ए-फीरोजशाही' के सम्बन्ध में बरनी स्वयं लिखता है कि, "यह एक ठोस रचना है जिसमें अनेकों गुण सम्मिलित हैं। जो इसे इतिहास समझ कर ही पढ़ेंगे, उनको इसमें राजाओं और मलिकों का वर्णन मिलेगा। यदि पाठक इसमें प्रशासन के नियम और आज्ञापालन कराने के साधन टटोलेंगे तो इसका भी इसमें अभाव नहीं है। यदि पाठक यह देखना चाहें कि सुल्तानों और प्रशासकों के लिये इसमें क्या चेतावनी है, तो वे भी जितनी पूर्ण रूप में इसमें मिलेंगी अन्यत्र नहीं मिलेंगी। और क्योंकि मैंने जो कुछ लिखा है वह सही और सच्चा है इसलिये यह इतिहास विश्वास-योग्य है। इसके साथ ही मैंने बहुत ही कम शब्दों में अत्यधिक अर्थ भर दिया है इसलिये मेरा यह उदाहरण अनुकरणीय है।"[1]

'तारीख-ए-फीरोजशाही' के सम्बन्ध में बरनी के इन विचारों को बगैर जिरह के स्वीकार करना सम्भव नहीं है और इसी के बाद उसके ग्रन्थ की निष्पक्ष रूप से उपयोगिता को आंका जा सकता है। हमें यह जानना पड़ेगा कि बरनी के इतिहास के बारे में क्या मान्यतायें थीं, उसने सामग्री को किस प्रकार जुटाया, उसे किस प्रकार से आंका और फिर उसकी किस प्रकार से व्याख्या की? उसके विचारों में कौन-कौन से व्यक्तिनिष्ठ तत्व थे और उन्होंने उसके सामग्री-संकलन, चुनाव और व्याख्या को किस प्रकार किस हद तक प्रभावित किया? इन्हीं आधारों पर बरनी के ग्रन्थ की उपयोगिता निश्चित की जा सकेगी।

इतिहास के विषय में उसके विचार व उससे होने वाले सम्भावित लाभ तारीख-ए-फीरोजशाही की भूमिका में विस्तार से मिलते हैं। मध्यकालीन उलेमा-वर्ग की तरह उसने प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान का एकमात्र स्रोत पवित्र कुरान को माना है। मुसलमानों में इतिहास के प्रति जागरूकता भी वह कुरान की देन ही मानता है जिसमें, मनुष्य-मात्र को उन घटनाओं और सभ्यताओं से सीखने की ओर इशारा किया गया है जो किसी समय समस्त संसार पर हावी थीं। बरनी के विचारों के इस आधार को ढूंढ निकालना कठिन नहीं है क्योंकि मध्यकालीन शिक्षा-पद्धति धर्म-पेक्षित थी और फिर बरनी उलेमा-वर्ग से ही सम्बन्धित था और इसीलिये उसे मौलाना जियाउद्दीन बरनी की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था, जो स्पष्टतः उसके धार्मिक झुकाव को बताती है।

बरनी इतिहास को मानव-गतिविधियों की एक चित्रावली (दृश्यपटल) मानता है जो अनेक कठिनाइयों और जिन्दगी के सफर में उसे की हुई गलतियों से आगाह करता है। राज्यों के उत्थान और पतन के कारण सावधानी से इसका अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाते हैं। मानवीय व्यवहार को समझने में यह, वह

---

1. बरनी, तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ.23

सूक्ष्मदृष्टि देता है जिससे अच्छे और बुरे, शत्रु व मित्र में भेद किया जा सके। यह मनुष्य को यथार्थवादी बनाता है क्योंकि वह पुराने अनुभवों से कुछ सीखता है। बरनी के अनुसार एक साधारण मनुष्य भी जब यह जान लेता है कि पैगम्बरों और देव-दूतों को भी किस प्रकार की यातनायें सहन करनी पड़ी तो स्वाभाविक रूप में उसमें सहनशीलता की शक्ति बढ़ जाती है। परन्तु दुर्भाग्य यह था कि ये सब जानते हुये भी बरनी अपने दुर्दिनों से इस आधार पर स्वयं को सन्तुष्ट नहीं कर पाया।

इसके अतिरिक्त बरनी के इतिहास-लेखन के दो और मूल आधार हैं। प्रथमतः उसके अनुसार इतिहास की आधारशिला एकमात्र सत्यता है। एक इतिहासकार को अपने कथन में सच्चा अथवा यथातथ्य होना चाहिये तथा मिथ्या-वर्णन, अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन व चाटुकारिता से दूर रहना चाहिये। गलत-कथन इतिहासकार की छवि को कलंकित करते हैं तथा उसकी रचना की महत्ता को घटाते हैं। इसके अतिरिक्त वह दूसरी दुनियाँ में स्वर्ग (जन्नत) का अधिकारी नहीं रह जाता है। इस आधार पर प्रो० निजामी[1] की धारणा है कि बरनी की लेखनी व्यावहारिक और धार्मिक सोच-विचार में बंधी हुई है। इस व्यावहारिकता का विवरण बरनी के शब्दों में ही देना अधिक उचित होगा। उसने लिखा है कि,[2] "इतिहास की रचना करते समय सबसे बड़ी शर्त जो इतिहासकार के लिये उसकी धर्मनिष्ठता की दृष्टि से आवश्यक है, वह यह कि बादशाहों की प्रतिष्ठा, गुणों, उत्तम बातों आदि का उल्लेख करे। उसे यह भी चाहिये कि उनकी बुरी बातों और अनाचार को न छिपाए, इतिहास को लिखते समय पक्षपात न करे। यदि उचित समझे तो स्पष्ट अन्यथा संकेत या इशारे से बुद्धिमानों और ज्ञानवान् व्यक्तियों को सचेत कर दे। यदि भय के कारण अपने समकालीन बादशाह के विरुद्ध कुछ लिखना सम्भव न हो तो इसके लिये वह अपने आप को विवश समझ सकता है, किन्तु पिछले लोगों के विषय में उसे सच-सच लिखना चाहिये। ...... वह किसी की अच्छाई या बुराई सत्य के विपरीत न लिखे।"

डा० रिजवी यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि बरनी ने तारीख-ए-फीरोज शाही में इस नियम के पालन करने का प्रयत्न किया है परन्तु कुछ ही पंक्तियों के बाद वे स्वयं लिखते हैं[3] कि, "लोगों के गुणों की प्रशंसा और दोषों का उल्लेख करते समय वह इतना उत्साहित हो जाता है कि अपने ही निर्धारित किए हुए नियमों की उपेक्षा करने लगता है।" डा० रिजवी मनोविज्ञान के साधारण नियम से कुछ अपरिचित लगते हैं जिसके अनुसार मनुष्य का मूल्यांकन केवल असाधारण परिस्थितियों में ही किया जा सकता है—अति हर्ष अथवा अति-दुःख। साधारण परिस्थितियों में मनुष्य के गुण अथवा दुर्गुण अपनी प्राकृतिक स्थिति से मुक्त नहीं हो

1 के ए निजामी, जियाउद्दीन बरनी (हिस्टोरियन्स आफ मेडिवल इण्डिया), पृ. 37
2 एस ए ए रिजवी, तुगलककालीन भारत, भाग 1, पृ ग (समीक्षा)
3. वही

पाते हैं, इसलिये साधारण परिस्थितियों में मनुष्य, मात्र मनुष्य है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। दूसरी ओर व्यावहारिकता और सत्य एक दूसरे के पूरक न होकर परस्पर विरोधी हैं। इलियट एण्ड डाउसन की टिप्पणी को यहां देना अधिक उचित होगा। उन्होंने[1] लिखा है कि, "बरनी अपने समकालीन शासकों के आदेश से और उनके सामने लिखा करता था, इसलिये वह ईमानदार इतिहासकार नहीं है। बहुत सी महत्वपूर्ण घटनाएं बिल्कुल छोड़ दी गई हैं या उनको साधारण मानकर थोड़ा सा स्पर्श किया है। अलाउद्दीन के राज्यकाल में मुगलों के कई आक्रमण हुये, परन्तु उसने उनका उल्लेख नहीं किया है। मुहम्मद तुगलक ने भीषण हत्या और बेईमानी से राज्य प्राप्त किया था परन्तु इसका भी उल्लेख नहीं किया गया है।.........बरनी ने इतिहास में सुल्तान की स्तुति सी की है।"

प्रो. निजामी के अनुसार बरनी का दूसरा मूलभूत विचार यह है कि वह इतिहास तथा 'इल्म-ए-हदीस' को जुड़वां मानता है। बरनी ने जिस प्रकार 'इल्म-ए-तवारिख' व 'इल्म-ए-हदीस' के बीच अभिन्नता बताई है, उससे डा. हार्डी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि बरनी की इतिहास की पकड़ धर्मविज्ञान (Theology) से बंध गई है। **प्रो. निजामी** इसे स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि बरनी ने जो हदीस और इतिहास में अभिन्नता बताई है वह हदीस के धर्मविज्ञान का अंग न होकर 'उसूल-ए-असनद' से सम्बन्धित है जो आधुनिक इतिहास-लेखन की एक आवश्यक मांग अथवा अपेक्षा है। इसके अनुसार प्रत्येक घटना को उसके कर्त्ता अथवा दृष्टा के आधार पर ही देखना चाहिये और फिर घटना को कर्ता अथवा दृष्टा के चरित्र, परिस्थिति के आधार पर ही आंकना चाहिये। हदीस का यह मूल आधार है और इसीलिये बरनी ने हदीस व इतिहास में अभिन्नता बताई है। सैद्धान्तिक आधार पर प्रो. निजामी की बात मान्य है परन्तु जब बरनी हिन्दुओं की राज्य में स्थिति अथवा जजिये के सम्बन्ध में बात करता है तो वह इस सिद्धान्त को ताक में रख देता है।

केवल इन दो आधारों पर बरनी की तारीख-ए-फीरोजशाही को आंकना तथा उनसे परिणाम निकालना सम्भव नहीं है। इसके लिए यह जरूरी है कि हम उसके सामाजिक वातावरण व मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं को देखें, तब ही कोई ठोस निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

बरनी एक कुलीन परिवार से सम्बन्धित था, जिसने इल्बारी, खल्जी और तुगलक वंशों के समय में सत्ता और सम्मान का उपभोग किया था। कई पीढ़ियों तक इसके उपभोग ने बरनी में एक वर्गचेतना को जन्म दे दिया था जिसकी पूर्ति समकालीन विद्वानों की संगति ने पूरी कर दी थी। अमीर खुसरो, अमीर हसन ने इसको और अधिक मांज दिया था। खल्जी शासकों के समय के लगभग 46 विद्वान उसके शिक्षक रहे थे और इन सब तत्वों ने मिलकर बरनी को यह अनुभव करा

---

1. इलियट एण्ड डाउसन, भारत का इतिहास, तृतीय खण्ड, पृ. 63

दिया था कि वह समाज के उच्चतम स्तर से सम्बन्धित है। यह ठीक है कि वह शेख निजामुद्दीन औलिया जैसे एक साधारण वर्ग के आदमी के सम्पर्क में भी आया था परन्तु यह केवल अपने अन्तिम समय मे जब वह निराशा और कुण्ठा से जकड गया था और आत्मिक शान्ति की तलाश म था।

इस वर्गचेतना ने उसम धीरे धीरे एक मनोग्रन्थि को जन्म दिया जिसन समाज के निम्न-वर्ग क प्रति उसको अत्यधिक कटु बना दिया। इस आधार पर प्रो निजामी का कहना है कि बरनी की ये कटुता धार्मिक अथवा सामाजिक आधार पर न होकर राजनैतिक आधार पर है। जब उसन देखा कि लड्ढा, नजब, मनका व पीरा जैसे साधारण वग के लोग मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा सम्मानित पदा पर नियुक्त कर दिये गये हैं और वे स्वय को कुलीन मानकर पुरान कुलीन वर्ग स बराबरी कर रहे हैं तो बरनी य सहन न कर सका। यह ठीक है कि उसकी स्थिति दृढ और सुनिश्चित थी परन्तु वह अपनी आखो के सामने कुलीन वर्ग की ढहती दीवारा को नहीं देख सकता था। मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के साथ ही घटना चक्र इतनी तेजी से चला कि 'रात को वह अमीर के रूप मे सोया था, परन्तु सुबह फकीर क रूप म जागा। बरनी न मुहम्मद तुगलक की सिन्ध म मृत्यु पर ख्वाजा जहाँन का पक्ष लेकर अपन सब करे धरे पर पानी फेर दिया। यद्यपि बरनी फीरोज के हस्तक्षेप स बच अवश्य गया परन्तु उसकी सम्पत्ति सम्मान और प्रतिष्ठा धूल म मिल गई। वह लिखता है[1] 'ईश्वर न मुझ आरम्भ म सम्मानित किया परन्तु अन्त म कलकित किया।" बरनी क जीवन की यह अत्यन्त दुखान्त स्थिति थी। तीन पीढियो तक अमीर' तथा मुहम्मद तुगलक का नदीम' रहने के बाद बरनी इन दिना को जब उसके साथियों, मित्रों ने उसका साथ छोड दिया हो सहन नहीं कर सकता था। हतोत्साहित हो उसने लिखा है कि, "चिडिया और मछलिया भी अपने घरो म खुश हैं परन्तु मैं नहीं।" इन सब के ऊपर खान ए-जहा मकबूल, जो कि एक भारतीय मुसलमान था, राज्य का कर्णधार बन गया था और पुरान कुलीन वर्ग की जड़ों को खोखला कर रहा था। बरनी के लिये यह असहनीय था। इसीलिये उसने लिखा कि निम्न वर्ग को शिक्षा से वचित रक्खा जावे, क्योकि यह उन्ह राज्य के उच्च पदा के लिये प्रत्याशी बनाती है। उन्ह सतत् ज्ञान से दूर रक्खा जावे। इस तरह धीरे धीरे उसम निम्न वर्ग के लिए घृणा और कुण्ठा पैदा हो जाती है और यह उस प्रतिक्रिया का फल है जिसम कि वह जी रहा था। इस तरह से उसकी य मान्यताए एक विफल, कुण्ठित और हतोत्साहित व्यक्ति की आहें थीं। यह जानत हुए कि इस्लाम के सिद्धान्तो के आधार पर निम्न वग और कुलीन वर्ग में जन्मित धारणाओं को उचित ठहराना सम्भव न होगा, उसने इसे 'धर्म' और काफिर' का स्वरूप देने की कोशिश की। वह यह जानता था कि इस्लाम में परिवर्तित लोगो को

---

1 बरनी, तारीख ए-फीरोजशाही, पृ 166

काफिर कहना उचित नहीं होगा इसीलिए उसने लिखा कि निम्न-वर्ग का धर्म-परिवर्तन सदैव ही अधूरा रहता है क्योंकि, वे कभी भी वे असली मुसलमान नहीं हो सकते।

बरनी की इन परिस्थितियों के बाद अधिक अच्छा होगा कि हम यह देखें *कि इतिहास के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण था।* बरनी ने इतिहास में अपने उत्थान और पतन के कारणों को ढूंढना चाहा और इसीलिये उसके विवरण में आत्मपरकता (Subjectivity) आ गई है। अपनी निरापद स्थिति के लिये वह सुल्तानों और मलिकों को उत्तरदायी मानता है। बलबन के समय की कोई अप्रिय घटना यदि उसके जीवन से मेल खाती दिखती है तो वह बलबन को छोड़ अपनी बातों को लिखने लगता है। इसी तरह जलालुद्दीन खल्जी की व्यक्तिगत महफिलों का वर्णन करते हुये वह अपने दुःखों को याद करता हुआ उन पर आंसू बहाने लगता है और प्रसंग को भूल जाता है। जीवन की असफलता का बोझ उस पर इतना अधिक है कि वह तनिक सी उत्तेजना पर भड़क उठता है और ऐतिहासिक सामग्री को अपने नैराश्य-जीवन की गुत्थियों के स्पष्टीकरण में झोंक देता है। ऐसे मानसिक और भावावेश में लिखी हुई रचना में आत्म-परकता का आ जाना नितान्त स्वाभाविक है। इसलिये वह मुहम्मद तुगलक की प्रत्येक नीति की आलोचना करता है, परन्तु जब वह उसकी मृत्यु का विवरण देता है तो गदगद हो जाता है और बड़े ही मार्मिक ढंग से उसे प्रस्तुत करता है। मुहम्मद तुगलक के पहले भी अनेक सुल्तान उससे भी अधिक विषम परिस्थितियों में मरे परन्तु बरनी ने उनके बारे में कोई हृदय-विदारक विवरण नहीं दिया। दूसरी ओर मुहम्मद तुगलक की मृत्यु पर, जिस प्रकार का दृष्टिकोण उसने उसके लिये अपना रक्खा था, उसे राहत मिलनी चाहिये थी परन्तु मुहम्मद तुगलक की मृत्यु में वह अपनी स्थिति, सम्पदा और सम्मान का अन्त देख रहा था, इसलिये वह खूब दुःखी हुआ। मुहम्मद तुगलक का समस्त विवरण बरनी की इस बदलती हुई मनोवैज्ञानिक स्थिति का प्रतिरूप है। इस आधार पर सुल्तान के चरित्र में विरोधी गुणों का सम्मिश्रण न होकर बरनी के व्यक्तित्व में विरोधाभास था। जब वह सुल्तान की प्रशंसा पर उतरता है तो वह उसे आसमान पर चढ़ा देता है परन्तु जब वह उसकी बुराई करने लगता है तो प्रत्येक शब्द अपने रक्त से लिखता है। **प्रो. निजामी** ने लिखा है कि, "जब बरनी अपने वर्तमान में है, उसे मुहम्मद तुगलक से स्नेह है परन्तु भूत में उसके लिये उसके पास घृणा के अतिरिक्त कुछ नहीं।" स्नेह और घृणा इस प्रकार से बरनी की मनोदशा बन गई। इतिहासकार की इस मनोदशा को समझने के साथ ही उसके द्वारा दिया गया विवरण भी स्पष्ट हो जाता है।

बरनी, **प्रो. निजामी** के अनुसार एक ईमानदार इतिहासकार है। उसने तथ्यों को तोड़ने-मरोड़ने अथवा उन्हें दबाने का कोई प्रयत्न नहीं किया है, चाहे वे उसके

अनुकूल हो अथवा नहीं। वह स्वीकार करता है कि उसकी यह हिम्मत न हुई कि वह मुहम्मद तुगलक के सम्मुख तथ्यों को रख सके इसलिये वह ढोंगी होने का दोषी है परन्तु अलाउद्दीन के षडयन्त्रकारी क्रियाकलापों का विवरण देते हुये उसने कभी भी अपने चाचा अला उल मुल्क को निर्दोष दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। उसने उन्हीं घटनाओं का विवरण दिया जो उसकी स्मृति में थी और स्मृति में वे ही घटनाएं थीं जिनने उस पर किसी प्रकार का अमिट प्रभाव छोड़ा था परन्तु उसने इनमें से घटनाओं को चुन चुन कर किसी ऐसे सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का प्रयत्न नहीं किया जो उसे रुचिकर हो। यह ठीक है कि बरनी ने घटनाक्रम को तिथिवार नहीं लिखा परन्तु बरनी का उद्देश्य सूचीपत्र बनाने की अपेक्षा उस युग प्रवृत्तियों की एक झांकी प्रस्तुत करना था। बरनी का विवरण उस समय अधिक जानदार हो जाता है जबकि घटनाक्रम दूसरे साधनों से उपलब्ध हो। बरनी, मिनहाज उस सिराज की तरह इल्तुतमिश के अभियानों का वर्णन नहीं करता, *(उसके क्षेत्र में भी नहीं था)* परन्तु जब भी वह *बलबन के सन्दर्भ में इल्तुतमिश की* बात करता है तो वह उस युग की प्रवृत्तियों को एकदम स्पष्ट कर देता है। मिनहाज इल्तुतमिश के अपने विरोधियों के विरुद्ध किये गये अभियानों का लम्बा-चौड़ा विवरण देता है परन्तु वह यह बताने में असमर्थ रहता है कि किस प्रकार इल्तुतमिश ने 'मुइजी' और 'कुतबी गुलामों' का अन्त किया। जब बरनी यह कहता है कि इल्तुतमिश दरबार में ये कहा करता था कि, "जब मैं इन अमीरों को खड़े हुये देखता हूं तो मेरी इच्छा होती है कि तख्त से उतर कर इनके हाथ पैर चूम लूं", तो सम्भवतः वह समकालीन लेखकों की अपेक्षा उस समय की स्थिति और इल्तुतमिश की नीति को अधिक स्पष्ट कर देता है। इसी प्रकार मिनहाज के पृष्ठों में कहीं ढूंढने पर भी नहीं मिल पाता है कि कौन कौन सी ऐसी सामाजिक और सांस्कृतिक शक्तियां थीं जो मध्य-युग में एक महानतम राज्य की स्थापना के समय क्रियाशील थीं परन्तु बरनी जब खल्जी साम्राज्यवाद की विवेचना करता है तो वो उस युग की समस्त प्रवृत्तियों को देने में अमीर खुसरो से भी आगे निकल जाता है।

डा. हार्डी[1] के अनुसार बरनी इतिहास को धर्मविज्ञान का एक अंग मानता है और भूत को अवगुणों सद्गुणों के बीच एक संघर्ष मानता है परन्तु प्रो. निजामी इसको स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने बरनी की इस विवेचना को आधार बनाया है कि *उसने शरियत की अपेक्षा 'जवाबीत' को लागू करने का संकेत दिया है।* उन्हीं के अनुसार बरनी निश्चित् ही विद्वान (आलिम) था परन्तु उसकी तुलना सैय्यद नुरुद्दीन मुबारक अथवा काजी मुगीसुद्दीन से नहीं की जा सकती क्योंकि उसमें वास्तविकता अथवा अमलियत को समझने की शक्ति अधिक थी। प्रो निजामी के

1 पी हार्डी हिस्टोरियन्स आफ मेडिवल इण्डिया पृ 39

इस कथन से ही बरनी के सम्बन्ध में प्रो. हार्डी का मत अधिक वजनदार हो जाता है।

(तारीख-ए-फीरोजशाही लिखते समय बरनी के पास पुरानी टिप्पणियां थीं अथवा नहीं, इसके सम्बन्ध में **प्रो. मुहम्मद हबीब** का मत[1] है कि स्मरण-शक्ति, कागज और कलम के अतिरिक्त उसके पास कुछ नहीं था। तारीख के अधिकतर भाग के लिये यह मत ठीक है परन्तु इसके साथ ही बरनी ने तारीख में कहीं-कहीं प्रमुख अधिकारियों, गवर्नरों की जो सूची दी है उससे ऐसा आभास होता है कि उसके पास कुछ टिप्पणियां अवश्य थी।

बरनी ने पहले 'तारीख-ए-फीरोजशाही' लिखी अथवा 'फतवा-ए-जहांदारी' एक विवादास्पद विषय है। इसके उत्तर पर ही यह निर्भर होगा कि बरनी क्या राजनैतिक दार्शनिक था जो इतिहासकार हो गया अथवा इतिहासकार, राजनैतिक दार्शनिक बन गया जिसने अपने विचारों के आधार पर इतिहास को लिखा। विषय, शैली आदि से ऐसा लगता है कि 'फतवा-ए-जहांदारी' की रचना तारीख के बाद की गई थी।

बरनी ने तारीख की रचना क्यों की, इसके बारे में अधिकतर यह मान्यता है कि वह फीरोज को प्रसन्न कर पुनः अपने सम्मान और सम्पदा को प्राप्त करना चाहता था। **प्रो. निजामी** इस उद्देश्य को मानने के लिए तैयार नहीं है। उनका कहना है कि स्वयं को अमर करने तथा अपनी दुःखी आत्मा की सन्तुष्टि के लिये ही उसने इसकी रचना की थी। उनका यह मत अधिक उचित नहीं है क्योंकि बरनी की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी और वह प्रत्येक आधार पर दीन-हीन ही था।

सम्भवतः तारीख-ए-फीरोजशाही एक नहीं अपितु दो पुस्तकें हैं। ऐसा लगता है कि बरनी, बलबन से लेकर मुहम्मद तुगलक तक का विवरण एक भाग में और फीरोज का विवरण दूसरे भाग में लिखना चाहता था। वह दूसरा भाग पूरा न कर सका, इसलिये उसने समस्त लेखों को तारीख के अन्तर्गत ही रख दिया। बरनी के दोनों भाग एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। पहले भाग में वह अत्यन्त कटु आलोचक और कभी-कभी बहुत ही तीखे रूप में उभरता है परन्तु दूसरे भाग में वह एक निर्लज्ज चाटुकार ही दीखता है। इस के अतिरिक्त बरनी ने जो फीरोज से सम्बन्धित विषय-वस्तु की सम्भावित योजना दी है उससे भी यह प्रमाणित हो जाता है कि बरनी तारीख को दो भागों में ही लिखना चाहता था।

विषय-वस्तु—बरनी ने खल्जियों का विवरण दिया है जो उसने स्वयं देखा था अथवा अत्यन्त विश्वसनीय लोगों से सुना था। उसके द्वारा अलाउद्दीन खल्जी का दिया गया विवरण यद्यपि विश्वसनीय है परन्तु उसने सुल्तान के दरबार और हरम

1. मुहम्मद हबीब, द पोलिटिकल थियरी आफ द देहली सल्तनत, पृ. 126

की गुप्त गोष्ठियों का जो वर्णन दिया है उस पर उस समय तक विश्वास नहीं किया जा सकता जब तक कि उसकी पुष्टि किसी अन्य ऐतिहासिक स्रोत से न हो जावे। अलाउद्दीन की जो बातें मुगीसुद्दीन अथवा अलाउलमुल्क से हुई वे बरनी के अपने विचार हैं क्योंकि अलाउद्दीन के राज्यकाल में बरनी सुल्तान का उतना अधिक विश्वासपात्र नहीं था जितना कि मुहम्मद तुगलक के समय में था।

बरनी ने अलाउद्दीन के समय की अनेक घटनाओं का वर्णन किया है जो अन्य किसी समकालीन ग्रन्थ में नहीं मिलती हैं। अमीर खुसरो ने जो बाजार-नियन्त्रण तथा मंगोलों के आक्रमणों को छोड़ दिया है उसकी पूर्ति बरनी के विवरण से होती है। बाजार नियन्त्रण का वो विस्तृत वर्णन करता है और सम्भवत: एक ही वाक्य में वह उस समय की आर्थिक स्थिति को स्पष्ट कर देता है। वह लिखता है कि, "एक ऊंट एक दाम में खरीदा जा सकता है, परन्तु एक दाम कहां से आये।" बरनी ने हिन्दुओं के बारे में बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण विवरण दिया है और सम्भवत: वह हिन्दुओं से इतना अधिक कुंठित था कि दिये गये विवरण के अतिरिक्त उससे और कुछ आशा करना भी निरर्थक थी। प्रो॰ मुहम्मद हबीब का यह मत अधिक उचित लगता है कि "जब वह हिन्दुओं से सम्बन्धित बात करे तो बरनी विश्वास के योग्य नहीं है।" बरनी का सुल्तान कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के समय का विवरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि उसके समय का विवरण हमें अमीर खुसरो से नहीं मिल पाता है। उसका इस समय का विवरण इसीलिये भी रोचक है कि उसे कुतुबुद्दीन मुबारकशाह से बड़ी सहानुभूति थी।

ग्यासुद्दीन तुगलक के सम्बन्ध में लिखते समय उसने उसकी धर्मनिष्ठता, न्यायप्रियता, सेना-प्रबन्ध, लोकोपकारी-कार्य, कर वसूली, दान-पुण्य, संयम आदि के बारे में जानकारी दी है। उसने सुल्तान की कटु आलोचना करने वालों की भर्त्सना की है। उसने उलूगखां (मुहम्मद तुगलक) की दक्षिण-विजय का हाल बड़े ही संक्षेप में लिखा है, और जाजनगर की विजय का हाल केवल दो पंक्तियों में ही समाप्त कर दिया है। इसी प्रकार उसने मंगोलों के आक्रमण का हाल भी बहुत ही संक्षिप्त में लिखा है। उसने जान बूझकर गुजरात पर शाह्दी के आक्रमण का वर्णन नहीं किया है। सम्भवत: वह पराओं जाति की विजय, जिन्हें वह नीच समझता था, लिखने योग्य नहीं मानता था। उसने अफगानपुर में सम्बन्धित ग्यासुद्दीन तुगलक की मृत्यु का इतना कम विवरण दिया है कि स्वयं ही उस पर शंका उत्पन्न होती है। वह (उलूगखां) मुहम्मद तुगलक के प्रतिकूल सत्य को बोलने का साहस न कर सका।

बरनी के मुहम्मद तुगलक के विवरण को पांच भागों में बांटा जा सकता है—(1) सुल्तान के चरित्र की समीक्षा, (2) आरम्भिक शासन प्रबन्ध, (3) सुल्तान की योजनाएं, (4) राज्य में विद्रोह व अशान्ति व (5) अब्बासी खलीफा से सम्बन्ध।

बरनी ने सुल्तान के गुण और दोषों का विशद वर्णन दिया है। वह उसकी विद्वता, बुद्धिमता, योग्यता, धर्मनिष्ठता से बहुत प्रभावित था, परन्तु वह उसके द्वारा निर्दोष हत्याओं से बड़ा क्षुब्ध था। उसने लिखा है कि, "सुल्तान ने निरपराध मुसलमानों का रक्त इतनी क्रूरता से बहाया कि सर्वदा उसके महल के दरवाजे से बहता हुआ खून का दरिया देखा जाता था।" उसने सुल्तान की इस क्रूरता के कारणों की भी व्याख्या की है।

उसने सुल्तान के आरम्भिक शासन प्रवन्ध के सम्बन्ध में केवल खराज की वसूली का उल्लेख किया है। उसने सुल्तान की छः योजनाओं का वर्णन दिया है— (1) दोआब में कर-वृद्धि, (2) राजधानी परिवर्तन, (3) तांबे की मुद्रा, (4) खुरासान विजय, (5) सैनिकों की भर्ती व (6) कराजिल पर आक्रमण। बरनी ने इन योजनाओं का उल्लेख क्रम से नहीं किया है तथा वस्तुस्थिति यह है कि पांचवीं व छठी योजनाएं एक ही हैं। इसी प्रकार बरनी ने सुल्तान के समय में हुये उपद्रवों को भी क्रम से नहीं लिखा है। वास्तविकता यह है कि खल्जी शासकों के समय को छोड़कर उसका कालक्रम अत्यधिक दोषपूर्ण है। मुहम्मद तुगलक के समय की घटनाओं को उसने इस प्रकार से उलझा दिया है कि अनेक ऐसी घटनाएँ जो उसके राज्यकाल के आरम्भिक वर्षों में हुई थी, ऐसा मालूम पड़ता है कि राज्यकाल के अन्त में हुई हों। इन घटनाओं को कालानुसार जमाना अत्यन्त कठिन है। उसने स्वयं लिखा है कि, "मैंने इस इतिहास में सुल्तान मुहम्मद तुगलक के शासन के सिद्धान्तों का वर्णन किया है और घटनाओं के क्रम की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है।" इसलिये बरनी के द्वारा सुल्तान का विवरण बहुत ही उलझा हुआ है। आश्चर्य की बात है कि मुहम्मद तुगलक के समस्त शासनकाल में उसने केवल चार तिथियां ही दी हैं।

बरनी ने मुहम्मद तुगलक के समय के विद्रोहों का वर्णन दिया है और विशेषकर दोआब के विद्रोहो के कारणों की भी विवेचना की है, परन्तु उसने बहाउद्दीन गुर्शास्प व मसूद खां (सुल्तान का सौतेला भाई) के विद्रोहों का कहीं भी विवरण नहीं दिया है।

खलीफा के प्रति सुल्तान की श्रद्धा, विनम्रता पर बरनी को बड़ा आश्चर्य होता है। वह इस बात से भी बड़ा स्तम्भित है कि सुल्तान विदेशियों के प्रति क्योंकर उदार है ?

बरनी ने तारीख में ग्यारह अध्यायों में फीरोज का विवरण दिया है। वास्तव में उसने 101 अध्याय में इस विवरण को देने की योजना बनाई थी, परन्तु अपनी वृद्धावस्था और दरिद्रता के कारण वह इसे कार्यान्वित न कर सका। उसने इन ग्यारह अध्यायों में फीरोज के समय की प्रमुख घटनाओं का ही वर्णन किया है। उसने फीरोज के जन-कल्याणकारी कार्यों की बड़ी प्रशंसा की है तथा उसके द्वारा निर्मित नहरों और कृषि-सुधार सम्बन्धी नीतियों का विस्तार से वर्णन दिया है।

फतवा-ए-जहांदारी—इस रचना मे बरनी ने आदर्श राजनीतिक संहिता का वर्णन किया है जिसे उसके अनुसार प्रत्येक मुसलमान शासक को अपनाना चाहिये। विश्व की रचना से लेकर वह पैगम्बर की शिक्षाओं का वर्णन करता है। वह इस्लाम का प्रचार करने तथा हिन्दुओं की समाप्ति के लिये अनेक उपायो को बताता है। उसके अनुसार सुन्नी पंथ की रक्षा के लिये सुल्तान को राज्य के प्रत्येक साधन का उपयोग करना चाहिये।

फतवा ए-जहांदारी को मोटे रूप से दो भागो म बांटा जा सकता है—शासन प्रबन्ध के आदश तथा सिद्धान्त व इतिहास से दृष्टान्त। बरनी ने लिखा है कि महमूद गजनवी एक आदर्श शासक था जिसम शासक के समस्त गुण मौजूद थ। दूसरे मुस्लिम शासकों को उसका अनुकरण करना चाहिये।

आर्थिक नीति के सम्बन्ध मे बरनी फतवा ए जहांदारी म भी अलाउद्दीन क द्वारा प्रतिपादित आर्थिक नियमो को स्वीकार करता है। उसक अनुसार समस्त वस्तुओं का मूल्य राज्य के द्वारा निर्धारित किया जाना चाहिये तथा किसी को भी निश्चित मूल्य से अधिक पर वस्तुओं को बेचने की अनुमति नहीं होना चाहिये। क्योंकि हिन्दुओं ने व्यापार पर एकाधिकार कर रक्खा था इसलिये बरनी कहीं कहीं यह संकेत देता है कि हिन्दू व्यापारियों की सम्पत्ति छीन लेना चाहिये व उनको सामाजिक आधार पर अपमानित करना चाहिये। ब्राह्मणो के सम्बन्ध म भी बरनी के यही विचार हैं।

बरनी की शैली—भूमिका को छोडकर बरनी की लेखन शैली स्पष्ट, सीधी तथा सुबोध है। यद्यपि उसने फारसी म अपने ग्रन्थो की रचना की है परन्तु फिर भी उसने अनेक प्रचलित शब्दो का प्रयोग किया है जैसे चराई, छप्पर, मंडी, ढोलक चाकर चौकी आदि। कभी-कभी उसकी भाषा टूट सी जाती है और फिर उसस कोई स्पष्ट अर्थ निकालना काफी कठिन हो जाता है।

बरनी इतनी सुबद्धता से घटनाओं का विवरण देता है कि पाठक मजबूर होकर उसकी बात मानने लगता है। काजी मुगीसुद्दीन और अलाउद्दीन के बीच कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के बीच हुई बातचीत को बरनी ने इस तरह से लिखा है जैसे वह इस वार्ता मे स्वय उपस्थित हो। कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के वध की रात्रि का वर्णन उसने इस प्रकार किया है जसे वह स्वय उस समय उपस्थित हो।

बरनी न युद्ध दरबार और अमीरो के वर्णन के अतिरिक्त सुल्तानों क समय की सामाजिक व आर्थिक स्थिति, राजस्व नियम व कर उगाहने की पद्धति की विशद विवेचना की है। साधारण जीवन म काम आने वाली वस्तुओं खान पान, साज सज्जा वस्त्र व आहार के विवरण की भी उसकी रचनाओं म कमी नहीं है। अपने समय के विद्वानों कवियों सूफियों तथा मदरसो का भी विवरण बरनी ने भरपूर किया है। इसी कारण मध्यकालीन इतिहासकारो मे उसका प्रमुख स्थान है।

बरनी की कमियां—बरनी के इतिहास-लेखन में अनेक कमियां हैं। (1) वे घटनाएं जो बरनी की रुचि की नहीं थीं उसने उनका अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन दिया है और वे घटनाएं जो उसको रुचिकर लगीं उनका विस्तार से वर्णन किया है। युद्ध, सैनिक गतिविधियां, विजयें आदि का वर्णन उसने बहुत ही थोड़े में किया है। उसकी रुचि और अरुचि उसके द्वारा दिये गये विवरण से स्पष्ट हो जाती है। जब वह किसी की प्रशंसा करने पर उतारू होता है तो वह उसे आसमान की बुलंदियों तक चढ़ा देता है और यदि वो बुराई करने पर उतर जावे तो ढूंढ-ढूंढ कर उसकी कमियां निकालता है। फीरोज तुगलक की प्रशंसा करते समय वह लिखता है कि, "उस जैसा शासक मुहम्मद गोरी के बाद कोई नहीं हुआ।" ख्वाजा जहांन के प्रति वह अपना रोष छिपाने में असमर्थ रहा और इसीलिये उसने अनेक प्रकार के कलंक उस पर लगाये। अपनी इन प्रवृत्तियों के बाद भी बरनी ने जो चरित्र-चित्रण किया है वह निश्चित ही उत्तम है। वह एक दार्शनिक-कम इतिहासकार है न कि विशुद्ध इतिहासकार, यद्यपि उसकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक थी।

(2) बरनी ने कालक्रम की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। मुहम्मद तुगलक के विवरण को पढ़ने के बाद पाठक भ्रम में पड़ जाता है कि कौन सी घटना पहले हुई थी और कौन सी बाद में? उसने घटनाओं को मात्र स्मरण-शक्ति से लिखा था और इसलिये वह घटनाचक्र को सही रूप में नहीं दे पाया। मुहम्मद तुगलक के समय की वह केवल चार तिथियां ही देता है। वह उस समय के अनेक विद्रोहों का वर्णन करता है, परन्तु न तो वह उनकी ठीक तिथि ही देता है और न ही उनका सम्पूर्ण विवरण। उसने बहाउद्दीन गुर्शास्प व मसूदखां के विद्रोहों का वर्णन नहीं दिया यद्यपि ये आरम्भिक और महत्वपूर्ण विद्रोह थे।

(3) बरनी की रचनाओं में व्यवस्था की कमी है। कभी-कभी वह पैराग्राफ बनाता है और अपनी सम्पूर्ण विषय वस्तु को भिन्न-भिन्न शीर्षकों में बांटता है परन्तु इसके बाद भी उसके लेखन में कोई सुधार नहीं आ पाता है। जब वह दक्षिण की घटनाओं का वर्णन करता है तो पूरी तरह से उत्तर भारत को भूल जाता है, इसलिये *1308 से 1313 ई. तक* की उत्तर-भारत की घटनाएं उसके विवरण में ढूंढने पर भी नहीं मीलती है।

(4) बरनी उलेमा-वर्ग से सम्बन्धित था और इसलिये उसका समस्त दृष्टिकोण उन्हीं के रंग में रंगा दिखाई पड़ता है। उसने घटनाओं को धर्म रूपी चश्मे से देखा और स्वाभाविक था कि ऐसी स्थिति में उसके निर्णय एक-पक्षीय थे। उसने लिखा है कि अलाउद्दीन के समय में हिन्दू संसार में पायी जाने वाली 72 जातियों में सबसे निकृष्ट थे। बरनी प्रत्येक चीज को 'शरा' की तराजू में तोलता है जो बरनी जैसे इतिहासकार के लिए उचित नहीं दीखता। हमें केवल एक ही बात का ध्यान रखना है कि बरनी के समय में धर्म-निरपेक्षता का कहीं नामों-निशान भी नहीं था।

(5) बरनी ने मोटे रूप से सुल्तान तथा अमीरों को ही इतिहास की विषय-वस्तु मान लिया और इसलिये उसके विवरण में साधारण मनुष्यों का जीवन, उनके आचार-विचार कोई स्थान न पा सके। इसके साथ ही बरनी ने केवल उन घटनाओं का विश्लेषण किया है जिनमें उसकी रुचि थी अथवा जिनसे वह अधिक जुड़ा हुआ था। इसलिये उसका मूल्यांकन बगैर उचित और निष्पक्ष जांच-पड़ताल के बिना मानना सम्भव नहीं है।

(6) बरनी ने बड़ा विरोधाभासी विवरण दिया है। समकालीन होने के नाते उसने अनेक घटनाओं के विभिन्न पहलुओं को देखा परन्तु वह उनका व्यवस्थित वर्णन नहीं कर पाया। उसने अलाउद्दीन खल्जी की अत्यधिक प्रशंसा की परन्तु साथ ही उसने उसे पाखण्डी भी दिखाया। ऐसी स्थिति में हम यह जानने में असमर्थ रह जाते हैं कि बरनी उसे उदार, उपकारी शासक बताना चाहता है अथवा एक तानाशाह ?

(7) बरनी ने बहुत सी घटनाएं और नीतियां वार्तालाप के रूप में लिखी हैं जैसा कि पिछले पृष्ठों में बताया गया है। डॉ॰ हार्डी इस आधार पर उसकी कटु आलोचना करते हैं क्योंकि बरनी के पास न तो कोई टेप था और न ही बरनी सचिव ही था कि वह एक-एक शब्द को लिख सकता। डॉ॰ हार्डी की यह आलोचना ठीक है परन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वार्तालाप की यह शैली मध्य-युग में बड़ी मान्य थी और बरनी इसका अपवाद न था। दूसरे बरनी के सम्पर्क प्रभावशाली अमीरों और दरबारियों से थे और सम्भवत: उन्हीं से उसने जानकारी प्राप्त की होगी।

इन सब कमियों के बाद भी बरनी की रचनाओं का काफी महत्व है। समकालीन इतिहासकारों की तुलना में वह अधिक विश्वसनीय है और विशेषकर खल्जी काल के लिये उसका विवरण अधिक मान्य है। बाद के इतिहासकारों ने उसके विवरण का खुलकर प्रयोग किया है।

शम्स सिराज अफीफ

जीवन व रचनाएँ—शम्स सिराज अफीफ का जन्म 1350 ई. में अबूहर में हुआ था। उसके प्रपितामह मादुलमुल्क शिहाब अफीफ को फीरोजपुर के निकट अबूहर नामक स्थान पर गयासुद्दीन तुगलक ने राजस्व अधिकारी का पद दिया था। उसने ही रजब से रणमल भट्टी की पुत्री का विवाह करवाया था जिसके गर्भ से सुल्तान फीरोजशाह का जन्म हुआ था। अफीफ का पिता सिराजुद्दीन फीरोजशाह के दरबार में अनेक पदों पर कार्य कर चुका था। सम्भवत: शम्स सिराज अफीफ दीवान-ए-वजारत में काम करता था। वह सुल्तान फीरोज तुगलक का समकालीन था तथा उसका विश्वासपात्र था। इसीलिये सुल्तान तक उसकी पहुंच थी। वह सुल्तान के साथ शिकार खेलने जाता था और अक्सर दरबार में उपस्थित रहता

था। उसने इसी आधार पर अमीरों और प्रशासन सम्बन्धी बातों का विस्तृत विवरण दिया

अफीफ ने तारीख-ए-फीरोजशाही के अतिरिक्त चार अन्य ग्रंथों की रचना की थी परन्तु उनमें से अब कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है। डा. अतहर अब्बास रिजवी की मान्यता है कि उसके चार ग्रन्थ कोई स्वतन्त्र कृति नहीं थे अपितु उसने दिल्ली के तुर्क सुल्तानों के बारे में अनेक जिल्दों की एक विस्तृत रचना की थी जिसमें उसने खल्जी और तुगलक सुल्तानों का वर्णन लिखा था।

तारीख-ए-फीरोजशाही की रचना लगभग 1411-12 ई. में की गई थी। बरनी का इतिहास जहां पर समाप्त होता है तारीख-ए-फीरोजशाही वहीं से आरम्भ होती है। इसमें केवल फीरोजशाह का इतिहास ही है। यह पांच भागों में विभाजित है और प्रत्येक भाग में 18 अध्याय हैं, परन्तु अन्तिम भाग के केवल 15 अध्याय ही मिल पाये हैं। कुल मिलाकर इसमें 90 अध्याय होते हैं जो 1388 ई. तक का विवरण देते हैं।

अफीफ ने फीरोज तुगलक के चरित्र का विस्तृत वर्णन किया है परन्तु उसने सदैव ही फीरोज के गुणों की प्रशंसा की है और उसके दुर्गुणों को किसी न किसी आधार पर छिपाने का प्रयास किया है। वह फीरोज की राजगद्दी का अपहरण-कर्त्ता नहीं मानता है अपितु वह उसे उसका न्यायोचित अधिकारी स्वीकार करता है। वह लिखता है कि फीरोज का गद्दी पर बैठना नियत था क्योंकि चार विभिन्न संतों ने विभिन्न समयों पर इस प्रकार की भविष्यवाणी की थी। उसने लिखा है कि "सुल्तान बहुत ही दयालु और धर्म-परायण व्यक्ति था। वह अवसर अपराधियों को क्षमा कर दिया करता था और दरिद्रों के लिये उसने अनेक संस्थाएं राज्य के अनेक भागों में खोली थीं। सुल्तान मुसलमानों का बड़ा शुभचिन्तक था।" अफीफ की रचना को ध्यान से पढ़ने पर सुल्तान की कई कमजोरियां सामने आ जाती हैं जैसे कि उसमें सैनिक गुणों का अभाव था अथवा उसके द्वारा किये गये अभियान असफल ही रहे। बंगाल के अभियान से वह यह बहाना करके लौट आया कि इसमें असंख्य मुसलमानों का रक्त बहेगा और दक्षिण के प्रदेशों को उसने पुनः जीतने का कोई प्रयास ही नहीं किया। हिन्दुओं के विरुद्ध अभियान करते समय वह अपनी झिझक को अलग रख निर्मम व्यवहार करता था जैसा कि जाजनगर के अभियान से सिद्ध होता है।

अफीफ ने सुल्तान के शासन प्रबन्ध का भी वर्णन किया है। केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत विभिन्न विभागों और राज्य के 36 'कारखानों' का वर्णन केवल उसी से प्राप्त होता है। फीरोज के द्वारा जो नई कर व्यवस्था स्थापित की गई थी अथवा नहरों और नगरों का निर्माण जो उसके समय में हुआ था वह अफीफ ने विस्तार से लिखा है। उसने फीरोज के समय की टूटती हुई शासन-व्यवस्था का

भी वर्णन किया है और छोटे तथा बड़े कर्मचारियों म रिश्वत लेने की ग्राम प्रथा की भर्त्सना की है। स्वय फीरोज के द्वारा सैनिक को अपना घोडा पास कराने के लिये एक टक रिश्वत क रूप म अधिकारी का देन का विवरण भी अफीफ न ही दिया है। फीरोज द्वारा रक्खे गये गुलामो और उनकी देख रेख की व्यवस्था का वर्णन भी अफीफ ने ही किया है।

सुल्तान के धार्मिक जीवन व उसकी धार्मिक भावनाओं का विवरण भी अफीफ की रचना म खूब मिलता है। उसने लिखा है कि किस प्रकार फीरोज अपन व्यक्तिगत जीवन म इस्लाम के नियमो का पालन करता था। वह इन्हीं नियमो को पूरी तरह से अपनी जनता पर भी थोपना चाहता था। वह पहला शासक था जिसने दिल्ली के ब्राह्मणो से जजिया कर वसूल किया। उसने ब्राह्मणों क द्वारा जजिया के विरोध म प्रदर्शन करने क बाद भी उसे माफ नहीं किया। उसने दिल्ली के एक ब्राह्मण का उल्लेख किया है जिसको सुल्तान ने केवल इसलिये जिन्दा जलवा दिया कि वह इस्लाम और हिन्दू धर्म को समान मानता था तथा इस्लाम स्वीकार करने क लिये तत्पर न था। वह मुसलमानों के दूसरे सम्प्रदायों जसे—शिया, इस्माइली आदि से भी घृणा करता था। सुन्नी मुसलमान स्त्रियो के लिये उसन कठोर नियमो को लागू किया था। वह इस बात को जानने के लिये सतत प्रयत्नशील रहता था कि मुसलमान इस्लाम के नियमों का पालन कर रहे हैं। शरा के विरुद्ध जितने कर थे उसने उन्हें समाप्त कर दिया तथा जकात कर को कठोरता स वसूल करना शुरू किया। यद्यपि अफीफ ने सुल्तान फीरोज को एक कट्टर सुन्नी मुसलमान दर्शाने का भरसक प्रयास किया है परन्तु इसके बाद भी समकालीन इतिहास से फीरोज का पाखण्डी व्यवहार स्पष्ट हो जाता है।

रचना के अन्तिम भाग में वह अमीरो के सम्बन्ध मे जानकारी देता है। वह उनकी शान शौकत व फिजूल खर्ची के बारे म उनकी भर्त्सना करता है। वह यह स्वीकार करता है कि जन-साधारण की तुलना म उनकी आर्थिक स्थिति काफी अच्छी थी। साधारण वर्ग की आर्थिक स्थिति अधिक सन्तोषजनक नहीं थी।

अफीफ न लिखा है कि समाज म अनेक कुप्रथाए मौजूद थीं। दहेज प्रथा के उसन अनेक उदाहरण दिये हैं। वह लिखता है कि स्त्रियो की स्थिति लगातार गिरती जा रही थी और कन्या का उत्पन्न होना अप्रिय माना जाता था। अफीफ ने लिखा है फीरोज ने मध्यमवर्गीय मुसलमानो की लड़कियों के विवाह के लिये धन देकर किस प्रकार उनके सकटो को दूर किया था। उसन इसके लिये 'दीवान-ए खैरात' नामक विभाग की स्थापना की थी। मुसलमानो को काम दिलाने के लिये उसने इसी प्रकार स एक रोजगार दफ्तर की भी स्थापना की थी। इस प्रकार अफीफ न फीरोज के समय के हर पहलू की जानकारी देकर इतिहास लेखन और ज्ञान म योगदान दिया है।

अफीफ की कमियाँ—अफीफ की सबसे बड़ी कमी है कि उसने घटनाओं को इस्लाम के संदर्भ में देखा है। उसने घटनाओं का विवरण अपने धार्मिक दृष्टिकोण से ही किया है। वह सुल्तान को एक आदर्श मुस्लिम शासक बताता है और उसकी धार्मिक कट्टरता का पक्षपाती है। फीरोज की स्तुति करने में वह इतना अधिक खो जाता है कि न केवल वह उसके दुर्गुणों को भुला देता है अपितु उनको किसी न किसी आधार पर उचित साबित करने की कोशिश करता है। फीरोज का बंगाल का अभियान उसकी सैनिक अयोग्यता तथा भीरू होने के कारण असफल हुआ, परन्तु अफीफ यह विश्वास दिलाना चाहता है कि इस अभियान की असफलता उसके धार्मिक दृष्टिकोण के कारण हुई। वह फीरोज की उदार नीति, उसकी दानवीरता तथा उसकी दयालु प्रवृत्ति की अत्यधिक प्रशंसा करता है। परन्तु वह भूल जाता है कि सुल्तान की इस नीति ने प्रशासन को कितना अधिक गतिहीन बना दिया था। उसकी नीति के कारण ही रिश्वत और घूसखोरी प्रशासन का एक मूलभूत आधार बन गई थी।

अफीफ इतिहासकार की निष्पक्षता को भूल जाता है और उनके विश्लेषण में अपनी मान्यताओं को ठूंस देता है। उसके साथ ही वह अपना विवरण काव्यमयी भाषा में लिखता है जिससे किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना कठिन हो जाता है। इन दोषों के होते हुए भी उसने जो फीरोज तुगलक का विस्तारपूर्ण वर्णन दिया है उसकी उपेक्षा करना सम्भव नहीं है।

एसामी–फुतुहुस्सलातीन

आरम्भिक जीवन—ख्वाजा अब्द मलिक एसामी का जन्म 1311 ई. के लगभग हुआ था। उसके पूर्वजों में से सबसे पहले फखरुलमुल्क एसामी इल्तुतमिश के राज्य-काल में दिल्ली पहुंचा और तभी से यह परिवार दिल्ली सुल्तानों की सेवा में बना रहा। इल्तुतमिश ने फखरुलमुल्क एसामी को अपना वजीर बनाया। उसके वंशज दिल्ली सुल्तानों के समय में खास हाजिब तथा सिपहसालार के पद पर रहे। सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के राज्य-काल में (1327 ई.) एसामी को अपने दादा के साथ दिल्ली से देवगिरि जाना पड़ा। उसके दादा इज्जुद्दीन की रास्ते ही में मृत्यु हो गई। एसामी 40 वर्ष की आयु तक दौलताबाद रहा परन्तु वह स्वयं को नई परिस्थितियों के अनुसार न ढाल सका। उसने हज करने का विचार किया परन्तु अपनी आयु के कारण वह न जा सका। तत्पश्चात् उसने स्वयं को इतिहास-लेखन में लगा दिया। यद्यपि वह मूलतया एक कवि था, परन्तु उसमें इतिहास को शुद्ध एवं तिथिक्रम से लिखने की आश्चर्यजनक क्षमता थी।

विषय-वस्तु—महमूद गजनवी से लेकर सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक तक के राज्यकाल का पद्य में विवरण उसने इसमें दिया है। 10 दिसम्बर, 1349 ई. को आरम्भ कर 14 मई, 1349 अर्थात् 5 मास व 9 दिन में उसने इसे लिखकर

पूरा किया था। बहमनी वंश के संस्थापक सुल्तान अलाउद्दीन हसन का उसे संरक्षण प्राप्त था। उसने अपने ग्रन्थ की रचना फिरदौसी के 'शाहनामा' के आधार पर की है। प्रो० मेंहदी हुसैन का मत है कि वह अपने युग का श्रेष्ठ महाकाव्य-लेखक है।

एसामी ने अपनी रचना में अलाउद्दीन खल्जी का जो वर्णन दिया है, वह अधिकतर विश्वास के योग्य है। उसने लिखा है कि, "मैंने जो कुछ लोगों से सुना एवं पुस्तकों में पाया उसे इस रचना में लिखा है। पुरानी कहानियों की सत्यता को आंकने में मैंने बड़ा परिश्रम किया है।" इस आधार पर उसके जानकारी के क्षेत्र अच्छे थे। उसने अलाउद्दीन के समय में होने वाले मंगोल-आक्रमणों के सम्बन्ध में अनेक नये तथ्य दिये हैं। 1296 ई. में अलाउद्दीन का दक्षिण अभियान और रणथम्भौर पर अलाउद्दीन के आक्रमण का उसने विस्तार में वर्णन किया है। वह युद्ध-सम्बन्धी विवरण तो बड़ी सतर्कता से देता है परन्तु अलाउद्दीन के प्रशासनिक व आर्थिक सुधारों के प्रति वह अधिक जानकारी नहीं दे पाता है।

ग्यासुद्दीन तुगलक के राज्यकाल की घटनाओं का विवरण उसने विस्तार से किया है। उलूगखां (मुहम्मद तुगलक) के तेलंगाना पर आक्रमण के सम्बन्ध में उसने अनेक नई घटनाओं का उल्लेख किया है जिसकी जानकारी सम्भवतः उसे दक्षिण से ही मिली होगी। उलूगखां द्वारा जाजनगर पर किये गये आक्रमण व मंगोलों की चर्चा भी उसने विस्तार से की है। गुजरात पर शादी दावर के आक्रमण, पराओं की वीरता तथा शादी की हत्या का जो विवरण एसामी ने दिया है, वह बरनी में नहीं मिल पाता है। एसामी के विवरण से ग्यासुद्दीन तुगलक के दान और संयम की प्रवृत्ति प्रमाणित नहीं हो पाई है यद्यपि बरनी ने इस सम्बन्ध में सुल्तान की अत्यधिक प्रशंसा लिखी है।

मुहम्मद तुगलक के बारे में उसका विवरण पक्षपातपूर्ण है। उसे तथा उसके परिवार को राजधानी-परिवर्तन के समय अनेक कष्ट भोगने पड़े थे इसलिये वह सुल्तान का कटु-आलोचक बन गया और उसके विरुद्ध उसने अन्धाधुन्ध दोषारोपण किये हैं। उसने मुहम्मद तुगलक को नीच, कमीना और पाखण्डी बताया है। वह लिखता है कि सुल्तान, ग्यासुद्दीन की मृत्यु पर प्रसन्न था तब गद्दी पर बैठते समय उसने लोगों से कुशल प्रशासन के लम्बे-चौड़े वायदे किये थे जिन्हें वो कार्यान्वित करने में असफल रहा। शासन-प्राप्ति पर उसका चरित्र बिलकुल बदल गया और वह क्रूर तथा अत्याचारी बन गया। जहां कहीं भी सुल्तान का नाम आता है, एसामी का क्रोध उबल पड़ता है और वह फिर मनमाने लाञ्छन लगाना शुरू कर देता है। वह प्रत्येक विद्रोह का समर्थन करता है तथा प्रत्येक विद्रोही की प्रशंसा करता है। वह बहाउद्दीन गुर्शास्प (1326-27 ई.) के विद्रोह का वर्णन करता है, सुल्तान के द्वारा दिये गये अमानवीय दण्ड की आलोचना करता है और विद्रोह को उचित ठहराने

का प्रयास करता है। ताँबे के सिक्कों का वर्णन करते हुये वह लोहे तथा चमड़े के सिक्कों के कुप्रभाव की भी चर्चा करता है। दिल्ली से दौलताबाद राजधानी परिवर्तन का वह बड़ा ही पक्षपातपूर्ण विवरण देता है और सुल्तान के द्वारा दी गई अमानवीय यातनाओं के बारे में अनेकों कहानियाँ कहता है। दुर्भाग्य से इन कहानियों की पुष्टि इब्नबतूता के वर्णन से नहीं होती है। एसामी ने सुल्तान के द्वारा इस्लाम विरोधी कार्यवाहियों की निन्दा की है। इस सन्दर्भ में ईद की नमाज बन्द कराने से सम्बन्धित आदेश की उसने चर्चा की है। एसामी के इस विवरण को स्वीकार करना सम्भव नहीं है क्योंकि इब्नबतूता ने इसके अनुकूल विवरण दिया है और उसने सुल्तान की धार्मिक प्रवृत्ति की प्रशंसा की है। प्रत्येक वर्ष जो ईद के अवसर पर समारोह किये जाते थे उनका विवरण भी इब्नबतूता से मिल पाया है। सम्भवतः एसामी को सुल्तान के हाथों जो यातनायें मिलीं उनसे क्रुद्ध हो उसने ऐसा लिखा हो। इसके साथ ही एसामी यह भी भूल जाता है कि सुल्तान ने सम्भवतः यह सब बातें अब्बासी खलीफा द्वारा अधिकार-पत्र प्राप्त करने के पहले की हों क्योंकि वह यह दर्शाना चाहता था कि खिलअत प्राप्त करने के बाद वह कितना अधिक सच्चा मुसलमान बन गया है।

एसामी की रचना का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग दक्षिण के इतिहास की जानकारी का है। सुल्तान ने देवगिरि के शासन-सम्बन्धी सभी अधिकार अपने गुरु कुतलुगखां को प्रदान कर दिये थे। कुतलुगखां के गुणों से लेखक बहुत प्रभावित था और बरनी ने भी उसके गुणों की प्रशंसा की है। कुतलुगखां ने दक्षिण में जिन विद्रोहों को दबाया, एसामी ने बड़ी ही निष्पक्षता से उनका विवरण दिया है। हसन कांगू के समय का बहमनी राज्य का विवरण भी एसामी ने बड़ी सजीवता से किया है।

एसामी और बरनी दोनों ही समकालीन लेखक थे परन्तु ऐसा लगता है कि वे कभी एक दूसरे से नहीं मिले। अधिक सम्भावना यह है कि दोनों ही एक दूसरे से अपरिचित थे। एसामी ने अनेक स्थलों पर बरनी के विवरण को न केवल आगे बढ़ाया है अपितु संपूरक के रूप में भूमिका निभाई है। बाद के इतिहासकारों ने जैसे निजामुद्दीन अहमद, बदायूंनी व फरिश्ता आदि ने एसामी के विवरण का खूब उपयोग किया है।

लेखन शैली—एसामी ने रुचिकर और बड़ी ही स्पष्ट शैली में अपने ग्रन्थ की रचना की है। परन्तु इसके बाद भी उसकी भाषा अतिशयोक्तियों से पूर्ण है। उसने जो अनेक कहानियां अपनी रचना में दी हैं उनसे इसकी पुष्टि हो जाती है। इसके अतिरिक्त एसामी ने कहीं पर भी अपनी जानकारी के स्रोतों का वर्णन नहीं किया है, और यह स्पष्ट है कि अपनी रचना के पहले उसने निश्चित ही कुछ स्रोतों का अध्ययन किया होगा। परन्तु एसामी की सबसे बड़ी कमी यह है कि वह सुल्तान

मुहम्मद तुगलक के प्रति पक्षपाती थी। इसलिये अनेक स्थलों पर उसकी रचना में अतिशयोक्ति दिखती है जो यह स्पष्ट कर देती है कि वह सुल्तान से कितना अधिक पूर्वाग्रही था। एसामी अलाउद्दीन की अत्यधिक प्रशंसा करता है परन्तु मुहम्मद तुगलक की वह उतनी ही भर्त्सना करता है।

एसामी की कमियां—एसामी इतिहास की घटनाओं को मानवीय शक्तियों से परे की बात मानता है और उसका यह मत कि सब कुछ ही ईश्वरीय इच्छा से होता है यह बताता है कि उसमे विश्लेषण के गुणों का अभाव था। वह परिणामों को कारणों से जोडने मे असमर्थ रहा है। इसके बाद भी उसकी रचना का महत्व कम नही है क्योंकि वो एक ऐसा लेखक था जो सल्तनत-कालीन दरबार की चकाचौंध से दूर था और दिल्ली से दूर रहकर वह अपने विचारों को खुले रूप मे लिख सकता था। सुल्तान से सम्मान प्राप्त करने अथवा उसके द्वारा दण्डित किये जाने का भय उसे न था। उसने अपनी रचना बहमनी राज्य के शासक सुल्तान अलाउद्दीन बहमान शाह के सरक्षण मे लिखी और उसे ही वह समर्पित भी की। मुहम्मद तुगलक के सन्दर्भों को छोडकर एसामी को एक तटस्थ इतिहासकार माना जा सकता है।

इब्ने बत्तूता-रेहला

उसका जीवन—इब्ने बतूता (शेख फकीह अबू अब्दुल्लाह मुहम्मद इब्ने (पुत्र) अब्दुल्लाह इब्ने मुहम्मद इब्ने इब्राहीम) तानजीर निवासी था। वह पूर्व के देशों मे शम्सुद्दीन के नाम से भी पुकारा जाता था। वह अरब यात्रियों की शृंखला की एक कडी था जिन्होने भारत की यात्रा के सम्बन्ध मे अपना विवरण छोडा है।

21 वर्ष की आयु मे 14 जून 1325 ई को वह तानजीर से मक्का के लिये रवाना हुआ, जहां वह 27 अक्टूबर 1327 को पहुंचा। अगले सात वर्ष वह अरब और अफ्रीका के प्रदेशों की यात्रा करता हुआ सितम्बर 1333 ई मे सिन्ध पहुँचा। मार्च 1334 ई मे बत्तूता दिल्ली पहुँचा और सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने उसकी विद्वता से प्रभावित हो उसे दिल्ली के काजी के पद पर नियुक्त किया, जिस पर वह लगभग आठ वर्ष तक बना रहा। दिल्ली में वह मौलाना बदरुद्दीन के नाम से जाना जाता था। दुर्भाग्य-वश उसने मुहम्मद तुगलक का विश्वास खो दिया, परिणाम-स्वरूप उसे बन्दी बना लिया गया, परन्तु अनुनय विनय के बाद उसे मुक्त कर दिया गया। भारत मे रहते समय वह बडे मुक्त रूप से यहा के लोगो मे मिला-जुला, विवाह किये और सरल ढग से जीवन-यापन करता रहा। यहा रहते समय दरबारियो और सुल्तान से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध रहे। सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक ने 1342 ई मे उसे अपना राजदूत बनाकर चीन भेजा। परन्तु रास्ते ही मे उसका जहाज क्षतिग्रस्त हो गया और दिल्ली आने की अपेक्षा वह श्रीलका के पूर्वी प्रदेशों की ओर चला गया। 1345 ई. मे वह मदुरा लौट आया। उसने इस बीच भारत

के अनेक स्थानों की यात्रा की और उनका विवरण उसने दिया है। अगस्त 1346 ई. में वह पुनः चीन के लिए रवाना हुआ और अनेक देशों का भ्रमण करता हुआ अन्त में 1353 ई. में मोरक्को पहुँच गया। मोरक्को के सुल्तान अबू इनन मरीनी के संरक्षण में उसने अपनी यात्राओं का वर्णन अबू अब्दुल्ला मुहम्मद को लिखवाया जिसने इसको सम्पादित कर इसे 'रेहला' की संज्ञा दी।

रेहला (यात्राएँ)—बत्तूता भारत में 14 वर्ष रहा जिसमें से आठ वर्ष दिल्ली में ही बिताये। वह एक विद्वान था और विशेषकर विधि तथा धर्मविज्ञान में अधिक रुचि रखता था, उसे क्योंकि सुल्तान मुहम्मद तुगलक का विश्वास प्राप्त था इसलिए अनेक घटनाओं को स्वयं देखने अथवा उनकी सत्यता तक पहुंचने की सुविधा उसे प्राप्त थी। बरनी की तुलना में नई और सही जानकारी प्राप्त करने की सुविधा होने के कारण उसने रेहला में उसके राज्यकाल की अनेक घटनाओं का विवरण दिया है। विदेशी होने के कारण वह शाही इतिहासकार पर पड़ने वाले दबावों से मुक्त था और स्वतन्त्र रूप से लिखने में समर्थ था।

रेहला में उसने सुल्तान मुहम्मद तुगलक के पहले के सुल्तानों का संक्षिप्त में वर्णन किया है। अलाउद्दीन खल्जी की मृत्यु के 17 वर्ष बाद वह भारत आया था इसलिये अवश्य ही उसे कुछ ऐसे व्यक्ति मिले होंगे जिन्होंने उस समय की घटनाओं को स्वयं देखा होगा। इसलिये समकालीन इतिहासकारों की अपेक्षा उसका विवरण अधिक विश्वसनीय है।

रेहला में न केवल महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं का ही वर्णन है अपितु सामाजिक, आर्थिक व अन्य संस्थाओं का भी खुलकर विवरण मिलता है। इसलिये डा. महदी हुसैन[1] रेहला को 'इतिहास की खान' मानते हैं।

इब्न बत्तूता का भारत-वर्णन

भौगोलिक वर्णन—बत्तूता ने यहा के स्थानों, नदियों, पहाड़ों, वनस्पति आदि का जो विवरण दिया है, उससे ऐसा लगता है कि उसकी जानकारी पुस्तकों के अध्ययन की अपेक्षा स्वयं के अवलोकन और अनुभव पर आधारित थी। वह जहां भी पहुँचा उसने बड़ी ही गम्भीरता और गहन दृष्टि से उस जगह का अध्ययन किया। दिल्ली की चहार-दीवारी, विभिन्न द्वार, जामा मस्जिद, कब्रों तथा शहर के बाहर के दो बड़े हौजों का उसने बड़ा ही विशद वर्णन किया है।

सामाजिक दशा—इब्न बत्तूता ने हिन्दुओं में प्रचलित जाति-व्यवस्था का वर्णन किया है। ब्राह्मण व क्षत्रिय उच्च वर्ग के थे जो मांस-भक्षण से दूर थे। चावल व शाक आदि ही उनके मुख्य भोजन-पदार्थ थे। हिन्दू लोग गाय को अत्यधिक सम्मान देते थे। वे अधिकतर शान्तिप्रिय व्यवसाय करते थे। कुछ हिन्दू सुल्तान की सेना में भी भर्ती किये जाते थे। दक्षिण भारत में हिन्दू तथा मुसलमानों में

---

1. महदी हुसैन—द रेहला आफ इब्न बत्तूता, पृ. XVIII

विभेद करते हुये उसने लिखा है कि वहाँ मुसलमानों को हिन्दू घरों में जाने अथवा उनके बर्तनों का उपयोग करने की सुविधा नहीं थी। यदि कोई हिन्दू अपनी इच्छा से इस्लाम स्वीकार कर लेता तो उसे सुल्तान के सम्मुख ले जाया जाता था जो उसे एक अच्छी पोशाक तथा उसकी स्थिति के अनुसार उपहार देता था। वह हिन्दुओं के धार्मिक अनुष्ठानों को मानने की प्रशंसा करता है। मुसलमान अपनी धार्मिक विधि मानने के लिए अधिक उत्सुक नहीं थे। राज्य मुसलमानों से शरियत की आज्ञाएँ मनवाने के लिये प्रयत्नशील रहता था। मुहम्मद तुगलक ने नौ मुसलमानों को इसलिए मृत्यु दंड दिया क्योंकि वे सामूहिक नमाजों की उपेक्षा करते थे।

विद्वान ब्राह्मणों योगियों को सुल्तान यथोचित सम्मान देता था। हिन्दू सूफियों का बहुत आदर करते थे। वस्तुतः हिन्दुओं के नैतिक चरित्र व उनकी ईमानदारी से बहुत प्रभावित था। वे दान आदि देने के लिये सदैव तत्पर रहते थे।

वेश भूषा तथा खान-पान—हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सफेद कपड़े पहनते थे और सफेद चादरों का ही प्रयोग करते थे। खाने में अधिकतर गेहूँ, चावल मूँग, उड़द और जौ का अधिक प्रयोग किया जाता था। मोठ पशुओं को दी जाती थी। उसने चपातियों (रोटियों) की बड़ी प्रशंसा की है। पराठा, सिकिया कबाब मुर्ग मुसल्लम व समोसों की भी उसने प्रशंसा की है। फलों के सम्बन्ध में आम अंगूर, अनार नारियल व नारंगी के सम्बन्ध और उनके दैनिक प्रयोग के सम्बन्ध में भी लिखा है। अनेक मिष्ठानों का भी वर्णन उसने किया है। खाने के बाद पान का प्रयोग सब ही किया करते थे। उसने लिखा है कि पान प्रस्तुत करना बड़ा ही सम्मानजनक माना जाता था। अधिकतर भारतीय सोते समय पानों को अपने बिस्तर के पास रखकर ही सोते थे और किसी भी समय नींद खुलने पर खा लिया करते थे।

वस्तुतः ने सरकारी और गैर सरकारी दावतों का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। सरकारी दावतों में वह स्वयं उपस्थित रहता था और इसलिए वह उनका एक सजीव चित्र दे पाया है। उसके अनुसार सरकारी दावतों में कभी-कभी पचास प्रकार के अलग अलग व्यंजन बनाये जाते थे। सुल्तान कभी भी अकेला भोजन नहीं करता था। अधिकतर अनेक अमीर उसके साथ ही भोजन करते थे। वस्तुतः ने भोजन को परोसने का विवरण दिया है। उसने लिखा है कि किस प्रकार क्षुधा की वृद्धि के लिये अनेक प्रकार के शर्बतों का उपयोग किया जाता था। सुल्तान यदि एक व्यंजन में से दूसरी बार ले लेता तो इसका अर्थ था कि वह व्यंजन सुल्तान को अधिक पसन्द था।

स्त्रियों की स्थिति—वस्तुतः ने 14वीं शताब्दी की स्त्रियों का वर्णन किया है।

हिन्दू स्त्रियों की पतिव्रता से वह अत्यधिक प्रभावित था।[1] मालवा व मराठा स्त्रियों की सुन्दरता की उसने प्रशंसा की है। उत्तरी भारत में पर्दे की प्रथा प्रचलित थी और यह सामाजिक श्रेष्ठता की प्रतीक थी। सती-प्रथा व बहुपत्नी-प्रथा प्रचलित थी। बतूता ने स्वयं एक स्त्री को सती होते देखा था और उसने उसका विशद् विवरण दिया है।[2]

दास-प्रथा समाज में प्रचलित थी। बतूता ने स्त्री दासियों का वर्णन किया है। वह उन्हें अत्यधिक चाहता था और अपनी पत्नियों के होने न होने पर वह उन्हें सदैव साथ रखता था। स्त्री-दासी से उसके एक लड़की भी उत्पन्न हुई थी। बगैर स्त्री-दासी के वह यात्रा नहीं करता था। उसने लिखा है कि मुस्लिम दासियों को कुरान कण्ठस्थ था, वे अच्छी तैराक व घुड़सवार थीं तथा रमजान व नमाज नियमित रूप से पढ़ती थीं। मुसलमानों में तलाक की प्रथा थी। स्वयं बतूता ने अपनी पत्नी को तलाक दिया था।

मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद—बतूता ने अनेक प्रकार के मनोरंजनों का वर्णन किया है। साधारण लोगों को जादू-टोने में विश्वास था। हिन्दू और मुसलमान जोगियों का बड़ा आदर करते थे। उसने अनेक ऐसी कहानियाँ लिखी हैं जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि साधारण वर्ग पर जोगियों का कितना अधिक प्रभाव था। उसने लिखा है कि सुल्तान के अभियानों से लौटने पर अनेक प्रकार के मनोरंजन आयोजित किये जाते थे।

आलिम तथा सूफी सन्त—बतूता ने अपनी यात्रा के विवरण में जिन सूफी सन्तों से भेंट की उनका वर्णन दिया है। उसके अनुसार वे आदर्श जीवन व्यतीत करते थे और आलौकिक शक्ति से पूर्ण थे। समस्त लोगों पर उनका अच्छा प्रभाव था और सब ही उनसे दया, धर्म व आत्मिक शान्ति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करते थे। स्वयं बतूता सूफी सन्तों से प्रभावित था। उसे शेख अलाउद्दीन से प्रेरणा मिली थी।

आर्थिक दशा (व्यापार व वाणिज्य)—बतूता के अनुसार अनेक क्षेत्र अपनी विशेष उपज के लिए प्रसिद्ध थे। कोल (अलीगढ़) व सागर में आम, कन्नौज में गन्ना, धार में गेहूँ और सिरसा आदि में चावल बहुतायत से होते थे। मलाबार के किनारे पर चावल, काली-मिर्च आदि होते थे।

कालीकट, केम्बे, थाना व सन्दापुर विदेशी व्यापार के प्रमुख बन्दरगाह थे। कालीकट के बन्दरगाह की भव्यता से वह अधिक प्रभावित था। इन बन्दरगाहों से विदेशों को वस्तुएं निर्यात की जाती थीं। रूई, गेहूँ, चावल, मसाले, नारियल व अन्य वस्तुएं ईरान, खुरासान व अरब के प्रदेशों को भेजी जाती थीं। इनके बदले में घोड़े, सोना-चांदी तथा चीनी-मिट्टी के बर्तन आयात किये जाते थे। घोड़ों का व्यापार बड़ा ही लाभपूर्ण था। एक घटिया नस्ल का घोड़ा लगभग एक सौ चांदी

1. इब्न बतूता, रेहला (अनुवादित, बड़ोदा 1976) पृ. 170
2. वही, पृ. 22

के टके में खरीदा जा सकता था। अच्छी नस्ल के घोड़े एक हजार से चार हजार चांदी के टके में मिलता था। हिन्दू व मुसलमान व्यापारियों के बीच भेद किया जाता था।

बतूता ने समुद्री डाकुओं का वर्णन किया है। ये व्यापारियों के जहाजों को लूट लिया करते थे परन्तु किसी की भी हत्या नहीं करते थे। स्वयं बतूता इनका एक बार शिकार हुआ था।

सिक्के—उसके समय में चांदी और सोने के टका प्रचलित थे। चांदी का टका 'दीनार' कहलाता था। यही दीनार शेरशाह सूरी के समय में रुपया कहा जाने लगा। सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने 140 ग्रेन का एक चांदी का टका चलाया था। सोने के सिक्के को भी टका कहते थे। इसका भार 175 ग्रेन था। चांदी तथा सोने के टका में विनिमय का अनुपात 1 : 10 था।

तौल व माप—सेर और मन साधारण रूप से तौलने की इकाई थे। एक मन दिल्ली में 14 सेर के बराबर था। लम्बाई आदि को नापने में गज, फरसंग आदि का उपयोग किया जाता था। फरसंग लगभग 18,000 फुट के बराबर था।

डाक व्यवस्था—बतूता यहां की डाक-व्यवस्था से आश्चर्यचकित था। डाक या तो घुड़सवारों अथवा हरकारों द्वारा ले जाई जाती थी। समस्त राज्य में डाक-चौकियों का जाल बिछा हुआ था। डाक ले जाने वालों के लिये सरायों आदि की व्यवस्था थी। डाक बहुत ही तेजी के साथ ले जाई जाती थी, यहां तक कि विद्रोह के दिनों में सुल्तान को प्रतिदिन विद्रोहियों और अमीरों की गतिविधियों की जानकारी मिल जाती थी।

इब्नबतूता ने शासन के प्रत्येक पहलू का भी वर्णन किया है। उसने सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक, उसके वजीर, उलेमा-वर्ग, सेना, न्याय व्यवस्था और यहां तक कि प्रान्तीय शासन-व्यवस्था का विशद वर्णन दिया है। उसने अपने समय में हुये विद्रोहों की भी जानकारी दी है।

बतूता की कमियां—(1) बतूता के नोट्स क्योंकि यात्रा में ही गुम गये थे इसलिए उसने अपने अनुभवों को ही लिखवाया। स्वाभाविक है कि उसका विवरण जो हमें प्राप्त है वह उसके द्वारा दिये गये आज्ञापन (Dictation) का संक्षिप्त रूप है। (2) दूसरे समकालीन इतिहासकारों की तरह बतूता को फारसी कम आती थी और हिन्दुस्तानी से भी वह अनभिज्ञ था। इसके साथ ही विदेशी होने के नाते वह जन-समूह में घुलकर घुल-मिल भी नहीं सकता था। (3) उसने घटनाओं को कालक्रमानुसार नहीं दिया है और साथ ही वह बाजार में प्रचलित अफवाहों में भी विश्वास करता था। इसलिये उसने तथ्यों को कल्पनाओं में मिला दिया है।

इसके बाद भी यह मानना पड़ेगा कि उसकी रचना बहुत महत्वपूर्ण है। उसने सरल और साधारण भाषा में लिखवाया है तथा उसकी रचना में अलंकारिक भाषा का कम से कम प्रयोग है। बाद के इतिहासकारों ने उसकी रचना को अपना आधार बनाया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Abdul Halim : History of the Lodi Sultans of Agra and Delhi.
2. Aghnides, Nicholas P. : Muhammadan Theories of Finance.
3. Ahmad, M. B. : The Administration of Justice in Medieval India.
4. Ahluwalia, M. S. : Muslim Expansion in Rajasthan.
5. Ameer Ali : The Spirit of Islam.
6. Arnold, W. : The Caliphate.
7. Ashok, K. Srivastava : India as Described by The Arab Travellers.
8. Baksh, S. Khuda : Politics in Islam.
9. Baksh, S. Khuda : Studies : Indian and Islamic.
10. Basu, K. K. Eng. Tr. of Tarikh-i-Mubarkshahi.
11. Barthold, W. : Turkistan down to the Moghal Invasion.
12. Baylay, Sir, E. C. : Local Muhammadan Dynsties.
13. Bhandarkar, R. G. : Early History of the Deccan.
14. Carl Brocket Mann : History of the Islamic People.
15. Carpenter, J. E. : Theoism in Medieval India.
16. Commissariate, M.S. : History of Gujrat, Vol. I.
17. Crook, W. : Herkelot's Islam in India.
18. Cunningham, A. : Reports of the Archaeological Survey of India.
19. Das Gupta, J. N. : Bengal in the Sixteenth Century.
20. Day, U. N. : The Administrative System of Delhi Sultanate.
21. Day, U. N. : Medieval India.
22. Dorn, R. : History of the Afghans.
23. Elliot and Dowson : History of India as told by its own Historians Vols. II, III and IV.
24. Encyclopaedia of Islam :
25. Enam, M.A. : Decisive Moments in the History of Islam.

26 Farquhar, V N — An outline of Religious literature of India
27 Ghoshal, U N. · Agrarian System in Ancient India
28 Grewal, J S : Medieval India
29 Habib Mohammed — Life and Works of Hazrat Amir Khusrau
30 Habib Mohammed · Introduction to Vol II of Elliot and Dowson.
31 Habia and Nizami — Dilli Sultanat (Tr)
32 Habibullah, A B M · Foundation of Muslim Rule in India
33 Haig, Sir Wolseley — The Cambridge History of India, Vol. III.
34. Havel, E B — A Short History of India
35 Hitti, P K. . History of the Arabs
36 Hodiwala, S H : Studies in Indo-Muslim History.
37 Hughes, T.P . Dictionary of Islam
38 Husain, A M — Rise and Fall of Muhammed-bin-Tughluq
39 Husain, Wahed · Administration of Justice
40 Ishwari Prasad : History of Qaraunat Turks.
41 Lal, K S : History of the Khaljis
42 Lal, K S : Growth of Muslim population in Medieval India
43 Lanepoole, S. : Muhammadan Dynasties
44. Law, N.N : Promotion of Learning under Muhammadan Rule.
45 Law, N N. : Studies in Indian History and Culture.
46 Levy, R. : The Sociology of Islam, Vol I.
47. Mirza Wahid : The Life and Works of Amir Khusrau
48 Moreland, W H : The Agrarian System of Muslim India
49. Moreland, W.H. . India at the Death of Akbar.
50 Muir, Sir W : The Caliphate—Its Rise, Declive and Fall.
51 Majumdar, R C. : The Delhi Sultanate.
52 Nizami, K A. : Studies in Medieval Indian History.
53 Nizami, K A : *Some Aspects of Religion and Politics in* India during the Thirteenth Century.
54 Nigam, S B.P. : Nobility under the Sultans of Delhi (1206–1398 A D)
55 Panday, A.B : The First Afghan Empire in India
56 Qureshi, I H · The Administration of the Sultanate of Delhi

57. Rahim, Abdur : Principles of Muhammadan Jurisprudence.
58. Rees, J.D. : The Muhammadans.
59. Sahu, K.P. : Some Aspects of North-Indian Social Life.
60. Saran, P. : Studies in Medieval Indian History.
61. Saran, P. : Islamic Polity.
62. Sarkar, Jagdish Narain : History of History Writing in Medieval India.
63. Sircar, D.C. : Studies in the Religious Life of Ancient and Medieval India.
64. Smith, V.A. : The Oxford History of India.
65. Sharma, S.R. : The Crescent in India.
66. Tripathi, R.P. : Some Aspects of Muslim Administration.
67. Topa, Ishwar : Politics in Pre-Mughal India.
68. Trittion, A.S. : The Caliphs and their Non-Muslim Subjects.
69. Vaidya, C.V. : History of Medieval Hindu India.
70. अवधबिहारी पाण्डेय : पूर्व मध्यकालीन भारत
71. आर. के. सक्सेना : अमीर तीमूर की आत्मकथा
72. आर. के. सक्सेना : तारीख-ए-किला रणथम्भौर
73. आर. के. सक्सेना : सल्तनतकालीन शासन-प्रणाली
74. आर. के. सक्सेना : मुगल शासन-प्रणाली
75. आर. के. सक्सेना : मध्यकालीन इतिहास की संस्थाएँ
76. इलियट एण्ड डाउसन : भारत का इतिहास भाग 2, 3 व 4
77. एस. आर. शर्मा : भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास
78. मोरलैण्ड, डब्ल्यू.एच. : मुस्लिम भारत की ग्रामीण व्यवस्था
79. सैयद अतहर अब्बास रिजवी : आदि तुर्ककालीन भारत
80. सैयद अतहर अब्बास रिजवी : खल्जीकालीन भारत
81. सैयद अतहर अब्बास रिजवी : तुगलुककालीन भारत, भाग 1 व 2
82. सैयद अतहर अब्बास रिजवी : उत्तर तैमूरकालीन भारत, भाग 1 व 2